क्र०
८२

वैराग्य सदीपनी

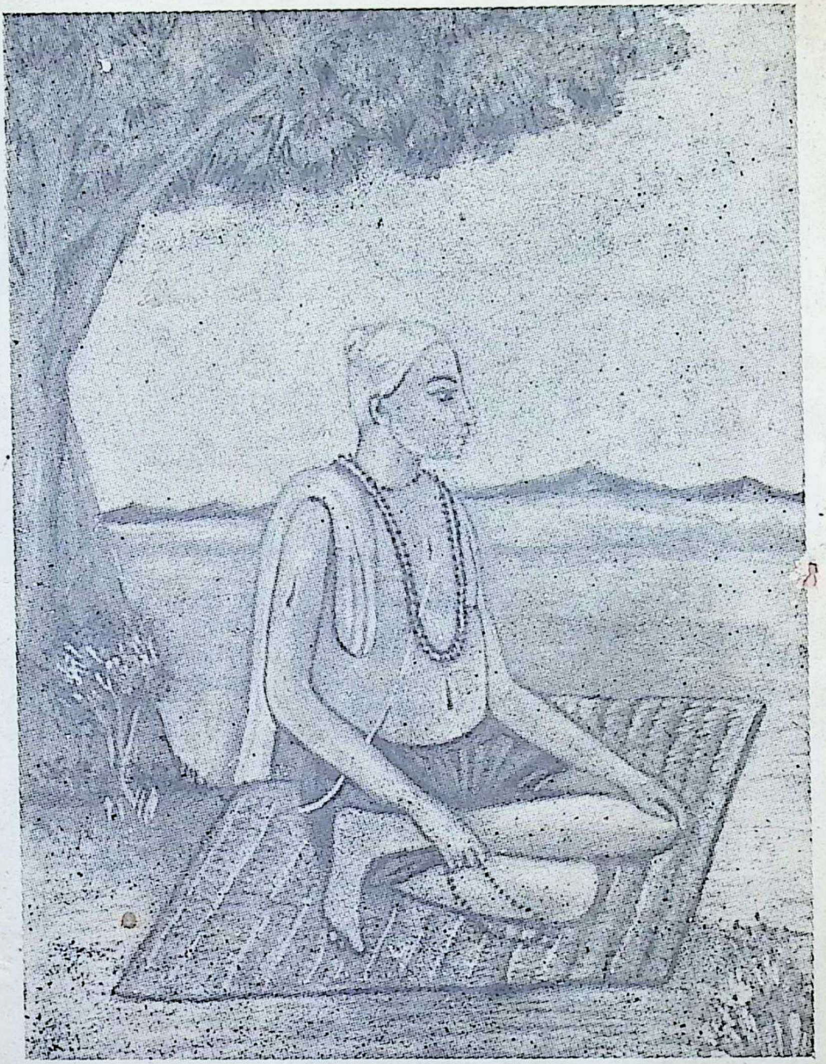

श्री गोस्वामी तुलसीदास कृत ।

भाष्यकार

अवधेश दयाल

वैराग्य संदीपनी

[श्री गोस्वामी तुलसी दास कृत]

[विशद भाष्य सहित]

भाष्यकर्ता–
अवधेश दयाल

प्रकाशक–
टी० सी० ई० जर्नल्स् ऐण्ड पब्लिकेशन्स, लि०
१० स्टाफ़ कालोनी, जय नारायण कालेज,
लखनऊ

१९८४
प्रथम बार १०००

मूल्य : ४० रुपये

मुद्रक : ग्लोब प्रिंटिंग प्रेस, दुर्विजयगंज, लखनऊ
फोन : 35215

निवेदन

चालीस वर्ष से अधिक हो गए जब से श्री वैराग्य संदीपनी की यह घोषणा कि यह अखिल ज्ञान का सार है, मन में खटकती रही है। श्री मानस पीयूष के प्रकाशन के बाद से यह कल्पना उठती थी कि अन्य शास्त्रों का भी हिन्दी में विशद भाष्य होना चाहिए। एक बार मैं परम पूज्य श्री १०८ बाबा रामदास जी (ग्वालियर वाले) के पास सियावर निवास, शिवाजी मार्ग, लखनऊ में बैठा था। मैंने कहा जैसे नारद भक्ति सूत्र पर श्री हनुमान प्रसाद पोद्दार जी की सरल, विशद व मधुर व्याख्या हैं, वैसी ही शाण्डिल्य भक्ति सूत्रों की भी होनी चाहिए। यह भी कहा कि श्री वैराग्य संदीपनी जी की भी वैसी ही व्याख्या होनी चाहियें।

श्री बाबा जी ने श्री वैराग्य संदीपनी पर कार्य करना अधिक उपयोगी वताया, क्योंकि ग्रन्थ हिन्दी में होने से पाठकों को अधिक बोधगम्य होगा। यह बात लगभग पन्द्रह वर्ष पहले की है। मैंने आशा प्रकट की कि पाँच वर्ष में यह कार्य हो सकेगा, परन्तु उतना समय बीत गया, भाष्य प्रारम्भ भी न हो सका। श्री बाबा जी के पूछने, उत्साहित करने व मार्ग दर्शन करने से कुछ समय बाद यह कार्य प्रारम्भ हुआ और कई वर्षों में पूरा हो सका। कुछ दिनों तक ग्रन्थ अप्रकाशित रक्खा रहा, अब धीरे धीरे प्रायः एक वर्ष में छप सका है।

मैं अंग्रेजी का अध्यापक रहा हूँ। संस्कृत भाषा का आधिकारक ज्ञान नगण्य रहा है, परन्तु सन्तों के आशीर्वाद से यह कार्य हो सका। भगवान् चाहेंगे तो सक्षम विद्वानों का ध्यान इस ओर जायगा कि श्री गोस्वामी तुलसी दास जी के छोटे छोटे ग्रंथों पर भी सारगर्भित भाष्य व टीकाएँ हों।

प्रस्तुत प्रयास इस उक्ति को चरितार्थ करता है कि —

'मति अति नीच ऊँच रुचि आछी।' अथवा 'भूमि परा कर गहत अकासा' परन्तु मेरे लिए यह आश्चर्य जनक नहीं क्योंकि श्री ज्ञानेश्वर जी के प्रताप से भैंस का पड़वा भी वेद मत्रोंच्चार कर गया था। भगवत्कृपा ऐसी ही है कि मूकं करोति वाचालं।

इस ग्रंथ को ऐसा ही समझा जाय कि 'सन्तों की उच्छिष्ट उक्ति है मेरी बानी।' जो कुछ अच्छा और सच्चा है, सन्त भगवन्त का प्रसाद है, त्रुटियाँ मेरी हैं।

भाष्य में धार्मिक दृष्टि रक्खी गई है। आज के समाज में प्रचलित धर्म से पृथक तथाकथित साहित्यिक दृष्टि का आश्रय नहीं लिया गया है। कोरी साहित्यिक दृष्टि से श्री वैराग्य संदीपनी जी का मर्म समझा भी नहीं जा सकता। साधु समाज, भक्त समाज, साधक समाज, ज़िज्ञासु समाज, को लक्ष्य करके निवेदन हुआ है, आलोचक, तार्किक और विद्वत् समाज को लक्ष्य करके नहीं। प्रबुद्ध समाज को जहाँ कहीं संशोधनीय त्रुटियाँ मिलें उनकी सूचना मेरे पास भेज देना महती कृपा होगी।

श्री तुलसी पर्व के पावन अवसर पर यह नैवेद्य श्री गोस्वामी-तुलसी दास जी को ही समर्पित है। सन्त जन इस प्रसाद को ग्रहण करें।

६६ नवैया, गणेशगंज लखनऊ
३-८-१९८४

निवेदक—
अवधेश दयाल

प्रकाशक का वक्तव्य

श्री अवधेश दयाल जी यद्यपि अंग्रेज़ी व राजनीति शास्त्र के एम॰ ए॰ हैं, और एल॰ एल॰ बी॰ हैं, वे प्रवक्ता के रूप में प्राय: अंग्रेजी ही पढ़ाते रहे हैं, परन्तु उनकी शास्त्राध्ययन में रुचि लगभग पचास वर्ष से है और अवकाश प्राप्ति (१९७५) के बाद अब तक भी बनी हुई है इधर प्राय: दस बर्षों से इन्होंने अन्य धर्मों के ग्रन्थों का भी अध्ययन किया है। अंग्रेजी, हिन्दी व संस्कृत के अध्येता होते हुए भी श्री गोस्वामी तुलसीदास जी के साहित्य के विषय में इनका दृष्टिकोंण धार्मिक रहा है।

श्री वैराग्य संदीपनी पर प्रस्तुत भाष्य अभूतपूर्व, अत्यन्त विशद साधन सम्बन्धी रहस्यों का प्रकाशक व मर्म को समझाने वाला है।

हमारी सहयोगी संस्था इसे प्रकाशित करके गौरवान्वित है और विश्वास करती है कि सुधीजन इससे आनन्दित व लाभान्वित होंगे।

१-८-८४

प्रबन्ध संचालक

शिव कुमार दीक्षित

वैराग्य संदीपनी

राम वाम दिसि जानकी. लखन दाहिनी ओर।
ध्यान सफल कल्यानमय. सुरतरु तुलसी तोर॥

श्री राम चन्द्रजी की बाईं ओर श्री जनकनन्दिनी सीताजी विराजमान हैं और दाहिनी ओर श्री लक्ष्मणजी विराजमान हैं। ऐसा, तीनों सरकारों का ध्यान सभी कल्याणों का निधान है, हे तुलसी! तेरे लिये तो कल्पवृक्ष ही है।

यह श्री वैराग्य संदीपनी का मंगलाचरण का पहला दोहा है। इससे मंगलाचरण भी हो जाता है और बीजरूप में ग्रन्थ के विषय का समावेश भी हो जाता है। आर्ष ग्रन्थों में व विद्वान् सन्तों के प्रबन्धों में प्राव: इसी प्रकार का दिव्य मंगलाचरण रहता है।

ग्रन्थ की निर्विघ्न समाप्ति के लिये भगवान् को पहले ही स्मरण करना अस्तिकों की मान्य परम्परा रही है। इसीलिए ज्ञानप्रधान वेदान्त ग्रन्थों में भी प्रारम्भ में मंगलाचरण का श्लोंक या छन्द मिलता है। उपासना से विक्षेप या विघ्न का नाश भारतीय दर्शन को मान्य है। अन्य आस्तिक धर्म भी प्रारम्भ में भगवत्स्मरण को मान्यता देते हैं। यथा क़ुरान का प्रत्येक अध्याय करुणावरुणालय दयासिंधु के नाम पर ही प्रारम्भ होता है। बाइबिल भीं जगत्सृष्टा के उल्लेख से प्रारम्भ होती है। बौद्ध. भगवान् बुद्ध

का स्मरण करके मंगलाचरण करते हैं, जैन श्री महाबीर का, सिक्ख श्री अकाल पुरुष का स्मरण करते हैं।

नितान्त निराकार निष्ठ सन्त भी भगवदोन्मुख वृत्ति से अपना ग्रन्थ आरम्भ करते हैं, महर्षि दयानन्द जी ने भी अंकित किया कि उनका वेदभाष्य ईश्वर की कृपा कटाक्ष से ही पूर्ण हो सकता है। जो सर्वब्यापी ब्रह्म में निष्ठ हैं, और 'अहं ब्रह्मास्मि' वृत्ति रखते हैं, वे भी सच्चिदानन्द स्वरूप का स्तवन करते हैं, और प्राय: गुरुरूपमें भगवान का स्मरण करके मंगलाचरण करते हुए देखे जाते हैं।

मंगलाचरण की भावना में ही अहंकार का विसर्जन और इष्टदेव की कृपामय प्रेरणा की स्वीकृति है। अहंकारमयी वृत्ति से अत्युत्तम ग्रन्थ का प्रणयन लौकिक विषयों में भी कठिन है, पारलौकिक या पारमार्थिक विषयों की बात ही क्या है।

पूज्यपाद कलिपावनाबतार श्री गोस्वामी महाराज सभी मर्यादावादियों के शिरोमणि हैं, अत: भूल से भी उत्तम शास्त्रीय मर्यादा का कभी अतिक्रमण नहीं करते। अत: ग्रन्थ मंगलाचरण से ही प्रारम्भ करते हैं।

श्री रामचरित मानस एक ब्रहत् ग्रन्थ् है और सभी जनों के लिए है। अत: उसमें विस्तार से देवों, सन्तों आदि की वन्दना की गई है, परन्तु वैराग्य संदीपनी में व्यास शैली नहीं समास शैली है। अत: केवल ६२ छन्दों के ग्रन्थ में एक दोहा ही मंगलाचरण के लिये पर्याप्त है। इसमें इष्टदेव का स्मरण किया गया है।

मंगलाचरण में इष्टदेव का ध्यान शास्त्र विधि के अनुकूल हैं और उत्तम परम्परा से रूढ़ है। निर्गुण निराकर वादी भी अपने ढँग पर ध्यान करते हैं और इसलिए ऐसे सन्तों और विद्वानों के ग्रन्थों में मंगलाचरण उनकी साधना के अनुकूल ध्यान से युक्त होता है। मंगलाचरण और उसमें

वर्णित ध्यान सभी पाठकों के लिए रुचिकर और उपयोगी है। साधारण पाठक इस ध्यान की गहराई में प्रवेश नहीं कर पाता वह केवल साधारण शब्द और शब्दार्थ तक सीमित रहता है। इतने परभी यह प्रारम्भिकध्यान प्रेरक और उपयोगी सिद्ध होता है। तार्किक विद्वान के लिए ध्यान का वर्णन भी अर्थ-गाम्भीर्य के कारण रोचक और आकर्षक है। कोरे विद्वान् से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह सचमुच ध्यान की गहराई में उतर कर उसके वास्तविक फल को प्राप्त करे। इसलिए वह मंगलाचरण के शब्दों में भी विविधि प्रकार के गम्भीर अर्थों के अनुसंधान से सन्तोष करता है। यह नहीं कहा जा सकता कि उसका अनुसंधान ग़लत है। ऐसे वचनों में गागर में 'सागर' भरा रहता है, इसलिए अर्थ के अनुसंधान की भी सार्थकता है। परन्तु वर्णित ध्यान का तात्विक प्रयोजन और परमोत्कृष्ट परिणाम बुद्धि के विलास से बहुत आगे निकल जाता है।

महर्षि पंतजलि ने योग के आठ अंग बताये हैं। इनके फल भी योगदर्शन में निर्दिष्ट हैं यम और नियमों के अनुष्ठान के बाद आसन और प्राणायाम की उपयोगिता और सार्थकता है। इस प्रकार मनोविकारों का शमन करके शरीर को स्थिर करके प्राणायाम से श्वास की गति नियमित करके चित्त को इष्ट विषय में लगाया जाता है। इतने पर भी चित्त अपने पूर्व संस्कारों व विक्षेपों आदि के कारण इधर उधर भ्रमित होता है। तब उसे अन्यान्य विषयों से निग्रहीत करके इष्ट विषय में पुनः पुनः योजित करना प्रत्याहार है। इस प्रकार एक ही विषय में चित्त का स्थिर करना धारणा है। योग दर्शन ने कहा है कि, देश बन्धश्चित्तस्य धारणा' [३/१] अर्थात चित्त का एक ही जगह पर, एक ही विषय पर ठहरा देना यही धारणा है। तत्र प्रत्यैकतानता ध्यानम्।[३/२] चित्त का बराबर एक ही विषय पर केन्द्रित रहना ध्यान है। इस प्रकार योगाचार्य महर्षि पतंजलि के अनुसार केवल दोहे का पाठ कर लेना ध्यान नहीं है। जिस ध्यान को श्री गोस्वामी जी महाराज ने सकल कल्याणमय कहा है। उसे महर्षि पतञ्जलि कथित

ध्यान ही समझना चाहिए। यह नहीं कहा जा सकता कि साधारण पाठक या श्रोता जिस प्रकार का नाम मात्र का ध्यान करता है, वह मांगलिक या हितकर है ही नहीं। परन्तु ध्यान का सकल कल्याण मय होनां कोई अर्थवाद या अतिशयोक्ति नहीं है। यदि हम तीनों सरकारों का ध्यान उसी प्रकार करें जैसा कि योग दर्शन में बताया गया है तो हमें सकल कल्याणमय की अनुभूति हो सकती है। श्री गोस्वामी जी का वास्तविक तात्पर्य यही है कि हम तीनों सरकारों के परम सुन्दर कल्याणमय स्वरूप के ध्यान में डूब जाएें। क्योंकि ऐसे ध्यान में डूब जाने वाले संसार सागर से तर जाते हैं और जो इस प्रकार के ध्मान के सागर में ऊपर ही तैरते रहते है, डूबते नही, वे संसार समुद्र में डूबते हैं। अनबूड़े बूड़े तरे जे बूड़े सब अंग" (बिहारी)।

महर्षि पंतजलि के अष्टांगयीग में ध्यान सातवाँ अंग है, इसी के बाद समाधि हैं, जो योग का अन्तिम सोपान और फल है। ध्यान से ही समाधि की सिद्धि होती है। योग दर्शन का आदेश है कि समाधि सिद्धिरीश्वर प्रणिधानात्। [२.४५]। अर्थात् ईश्वर प्रणिधान (उपासना) से समाधि सिद्ध होती है। पूज्यपाद गोस्वामी जी का मन्तव्य यही है कि तीनों सरकारों के चरण कमलों के ध्यान में तन्मय होकर समाधिस्थ हो जाएें। यही सकल कल्याण का दायक होगा।

सन्त जनों ने इस बात पर भी बिचार किया है। कि इस ग्रन्थ के आरम्भ में तीनों सरकारों के रूप का ध्यान अंकित करने का विशेष प्रयोजन या औचित्य क्या है। भगबान श्री राम चन्द्र जी श्री गोस्वामी जी के इष्टदेव थे। उनके विविध रूप और उनको लीला की विविधि झाँकियाँ, सभी श्री गोस्वामी तुलसीदास जी के लिए इष्ट हैं। फिर भी इस ग्रन्थ के आरम्भ में तीनों सरकारों का वर्णित ध्यान ही सहज और सबसे उपयुक्त पाया गया। जब हम इस बिषय पर विचार करते हैं तो हमें ग्रन्थ के बिषय और प्रयोजन और ग्रन्थ कार के विवेक और कौशल का षता चलता है।

शब्द ग्राही बुद्धि से यह ग्रन्थ भक्ति प्रधान नहीं जान पड़ता। मान्य मिश्र बन्धुओं ने यह सन्देह प्रगट किया था कि यह ग्रन्थ गोस्वामी जी का नहीं है, क्यों कि इसमें शान्ति को परम सुख माना गया है। भक्ति की परम श्रेष्ठता का प्रतिपादन नहीं है। उक्त विचार में गम्भीरता की कमी है। श्री राम चरित मानस में भी भगवत कृपा के लवलेश मात्र से परम विश्राम की प्राप्ति ग्रन्थ के अंत में कहीं गई है। परन्तु इस कथन को भक्ति सिद्धान्त का विरोधी किसी ने नहीं मानां। श्री राम चन्द्र भगवान के सगुण साकर श्री विग्रह को इष्ट देव मानने वाला रामोपासक तीनों सरकारों के ध्यान से युक्त होकर ही सम्पूर्ण ग्रन्थ का स्वाध्याय करेगा। स्वाध्याय का फल यह भी हैं कि इष्ट देव का दर्शन हो। 'स्वध्यायादिष्ट देवता सप्रयोग: [२/४४] स्वाध्याय से इष्टदेव का साक्षात्कार होगा और उसी से समाधि सिद्ध होगी। इसलिए जिस समग्र ज्ञान का सार ग्रन्थ में दिया गया है उस ज्ञान के प्राप्त करने के साधन का बीज ग्रन्थ के प्रारम्भ में मंगला चरण के दोहे में ही रखा है।

श्रीं राम चन्द्र भगवान का स्वरूप उज्जल नील मणि के समान है। 'नील सरोरुह नील मणि, नील नीर धर श्याम। लाजहिं तनु सोभा निरखि, कोटि कोटि सत काम।। राम चरित मानस बाल काण्ड [१४६] सरकार के स्वरूप को श्री गोस्वामी जी महाराज ने इन्दीवर (नील कमल) के समान बताया है। और उत्तर काण्ड के प्रारम्भ में उसे केकी कंठाभनीलम् मोर के गले की आभा लिए हुए कहा है। श्री शंकराचार्य जी ने भी सच्चिन्मयी नीलिमा सत् चित्मय नीलिमा (अर्थात नील वर्ण) माना है। भगवान् के श्याम स्वरूप की अदभुत अपार महिमा हैं। श्री बिहारी दास जी ने लिखा है कि .

या अनुरागी चित्त की, गति बूझै- महिं कोय।।
ज्यों-ज्यों भीजै स्यामरँग, त्यों-त्यों उज्जल होय।।"

श्री भगवान के सुन्दर दिव्य श्याम स्वरूप में रमण करते करते चित्त काला नहीं होता, शुभ्र, श्वेत (सफेद, ज्योतिर्मय) हो जाता है। श्री शंकराचार्य जी महराज कहते हैं :–

शुद्धयति हि नान्तरात्मा, कृष्ण पदाम्भोजरति र्विना"
वसनमिक्षवारोदैर्, भक्त्या प्रक्षाल्यते चेत: ।।"

श्री मधुसूदन सरस्वती जी के भक्ति भावभरित श्लोक विद्वज्जनों के के लिए सुविदित हैं। एक श्लोक यहां हमारे लिए विशेष उपयुक्त हैं।

उपदेशम् परममिममाद्रियध्वम्
निगम वनेषुनितान्त चार खिन्ना: ।
विचिकुत भवनेषु ब्रजबल्लवीनाम्
उपनिषदमर्थंमुलूखले निबद्धम् ।।

इस प्रकार श्री मधुसूदन सरस्वती जीं नें श्री यशोदा जी के द्वारा ऊखल में बाँधे हुए सच्चिदानन्द स्वरूप श्याम वर्ण श्री कृष्ण चन्द्र को ही उपनिषदों का परम तत्व ओर अर्थं माना है। उसी प्रकार यह समझना चाहिए कि प्रस्तुत ग्रन्थ में भी भक्त शिरोमणि श्री गोस्वामी जी महाराज का मन्तव्य यह है कि यह ग्रन्थ सकल शास्त्रों के ज्ञान का सार है और उस ज्ञान के द्वारा प्राप्त परम तत्व श्री राम चन्द्र भगवान हैं, जिनका आदि शक्ति महारानी सीताजी तथा अनन्य सेवक श्री लक्ष्मण जी के साथ ध्यान करते रहना जीव का परम पुरुषार्थं और सकल कल्याण का देने वाला है। जैसे प्रबोध सुधाकर में श्री शंकराचार्य महराज ने कहा है–]

अस्माकं यदुन्दनांघ्रि युगल ध्यानावधानार्थिनाम् ।
कि लोकेन दमेन किं सुकृतिना स्वर्गापवर्गैश्च किम् ।।

(हमारा इतना ही प्रयोजन है कि श्री यदुनन्दन के चरण कमलों में ध्यान बढ़ता रहे, हमें संसार से, दम से पुण्य से , स्वर्ग से अथवा मोक्ष से भी क्या प्रयोजन ?)

उसी प्रकार हमारे गोस्वामी जी भी कहते हैं–

मन मधुकर पन करि तुलसी, रघुपति पद कमल बसैहों । विनयपत्रिका

जैसे रसिक शिरोमणिश्री विल्व मंगल जी श्री कृष्णकर्णामृत में कहते हैं कि –'' बालं नीलममी वय मधुरिम स्वाराज्यमाराध्नुम; । मधुरिमा के सम्राट इस नीलवर्ण बालक की हम आराधना करते हैं ।, वैसे ही –– नेवछावरि प्रान करैं तुलसी, बलिजाउँ लला इन बोलन की
(कवितावली)

जिस समय सिहासनाधीन राम का ध्यान होता है , पच्चायतन स्वरूप प्रमुख हैं, जिस सभय बाल रूप का ध्यान होता है, या तो अकेले श्री सम लाला का ध्यान आता है अथवा चारों भइयों का–

अवधेस के बालक चारि सदा, तुलसीमन मन्दिर में विहरैं ।
(कवितावली,

श्री राम वन गमन के प्रसंग से लेकर श्री सीताहरण के प्रसंग तक तीनों सरकारों का ध्यान लीला में प्रमुख है । यह तीनों सरकार तीन रूपों में मिलते है पथिक रूप में ,चित्रकूट निवास मैं, पंचवटी निवास में ।

श्री राम चन्द्र भगवान का बन गमन उनके चरित्रों में त्याग और तप से भरा हुआ एक अनुपम रत्न है । अतः एक श्लोकी रामायण में पहेले श्री राम बन गमन का ही उल्लेख है । ''आदौ राम तपो बनादि गमनम् ।।'' वस्तुत: श्री राम चन्द्र जी के ज्ञान तप और वैराग्य की मूर्ति होने का अत्यन्त उज्जल और प्रबल प्रमाण हमें बन गमनके प्रसंग में मिलता है । ज्ञानी की ही यह प्रसंशा है कि बड़े से बड़े दुख

प्राप्त करने पर भी उसकी मुख कान्ति मलीन नहीं होती । श्री गोस्वामी तुलसीदास जी ने राम चरित मानस के अयोध्या काण्ड में, जिसमें राम बन गमन का चरित्र है, प्रारम्भ में श्री राम चन्द्र जी की बन्दनां करते हुए कहा हैं –,

प्रसन्नताम्यानगताऽ मिषेकतस्: ,
तथा न मम्ले वनवास दु:खत: ।
मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे,
सदास्तु सा मंजुल मंगलप्रदा ।।

इसी से श्री राघवेन्द्र सरकार का उत्कट वैराग्य प्रगट होता हैं । इस ग्रन्थ के मंगलाचरण में श्री राधवेन्द्र सरकार का यह वैराग्यमय स्वरूप निश्चय ही स्मरणीय है । भगवान की बनगमन लीला का महत्व और प्रभाव अनोखा है । जिस समय सबसे अधिक सुख का अवसर था, सरकार नवयौवन की अवस्था को प्राप्त थे, विवाह कर के लौटे थे और राज्यतिलक होने ही वाला था, ऐन मौके पर राज्य के स्थान पर बनबास की प्राप्ति हुंई । उस समय श्री राघवेन्द्र का अविचलित और प्रसन्न रहना सचमुच परम वैराग्य का अनुठा उदाहरण है । इतिहास में राज्य मक्ष्मी के त्याग के अन्य उदाहरण भी मिलते हैं, और भारतीव परस्परा में, अन्तहु उचित नृपहि बनवासू‘ है, तथापि नई उमर में ही राज्य प्राप्ति के ही समय बनवास हो जाना अत्यन्त दुखद प्रसंग माना जाएगा । बनवास के प्रसंग में श्रीराम चन्द्र जी की परिस्थिति यह थी कि यच्चिचन्तितं मया द्रतरम् प्रयाति‘ (जो कुछ मैंनें सोचा था वह दूर हुआ जाता है । नो चिन्तितं च मनसा तदिहाम्युपेति (जिसका मन में भी खयाल नहीं था वह प्राप्तहो रहा है । सोचा तो यह था कि प्रात भंवामि भुपनेश्वर चक्रवर्ती (सवेरा होते ही मैं चक्रवर्ती सम्राट हो जाऊँगा)

सोऽहम् व्रजामि विपिने जटिलस्तपस्वी। (परन्तु मैं जटाधारी तपस्वी के रूप में वन को जा रहा हूं)

उक्त श्लोक श्री गोस्वामी जी महराज़ का नहीं है। श्रीं रामचरितमानस में श्री राम चन्द्र भगवान वन गमन की बात सुन कर कुछ भी चकित या व्यथित नहीं हुए और और उनके मुख की इसी एकरस शोभा की वन्दना श्रा गौस्वामी जी नें अयोध्या काण्ड के प्रारम्भ में की है। परन्तु इस प्रसंग में स्मरणीय है कि श्री राम बन गमन के चरित्र के चित्रण के समय श्री गोस्वामी जी महाराज नें श्री रामचन्द्र जी को केवल अव्यथित हीं नहीं दिखाया, बल्कि निश्चित रूप से हर्षित बताया है। जिस प्रकार जंगल का जवान हाथी पकड़ कर राज्य दरबार में लाया जाय और जजीर से बाँधकर राजद्वार पर रक्खा जाय तो उसे गौरव नहीं अपितु दुख ही होता है, और यदि जजीर खोल दी जाय तो यह बड़ी खुशी से जंगल की ओर भागता है, उसी प्रकार श्री राम चन्द्र भगवान का भी बन गमन दिखाया गया है।

नव गयंद रघुवंश मनि, राज अलान समान।
छूटि जानि बन गमन सुनि, उर अनन्द अधिकान ।।अयोध्या काण्ड

इस प्रकार उत्तम वैराग्य राज्य को ही बन्धन कारी और दुखदायी मानता है, तथा बनबास को ही सुखकारी व मोक्षकारी रूप में देखता है। स्पष्ट है कि जब श्री गोस्वामी जी महाराज नें गृहस्थ आश्रम का त्याग कर दिया और एकांतिक रूप से भगवत् स्मरण में समय बिताने लगे तो श्री राम चन्द्र जी का बनगामी रूप उनके स्मृति–पटल पर अकित रहना स्वाभाविक था। सन्तो का अनुमान है कि यह ग्रन्थ श्री गोस्वामी जी नें प्रबल वैराग्य की दशा मे लिखा है और ग्रन्थ के नाम और विषय वस्तु को देखते हुए श्री राम चन्द्र जी का वैराग्यमय स्वरूप इस ग्रन्थ के मगला चरण के लिए सबसे अधिक अनुकूल है।

कहा जाता है कि श्री गोस्वामी जी के वैराग्य ले लेनें के बाद उनकी पत्नी नें उनको पत्र लिखा था और दाम्पत्य प्रणयपूर्वक यह आशंका प्रगट की थी कि उनकी रातें कहीं और किसी अन्य स्त्री के साथ न कटनें लगें। इस पत्र के उत्तर में श्री गोस्वामी जी नें निम्न दोहा लिखा:–

कटती है रघुनाथ सँग बाँधि जटा सिर केस।
हम तो चाखा प्रेम रस, पत्नी के उपदेस।।

इससे भी यह संकेत मिलता है कि गृह स्थिति त्यागनें के बाद श्री गोस्वामी जी नें अपने मन में बनवासी राम को बसा लिया था। वैराग्य संदीपनी का अर्थ है वैराग्य को जगानें वाली। अत: ऐसे ग्रन्थ के आदि में श्री भगवान का परम वैराग्यमय रूप सबसे उपयुक्त, वन्दनीय और और मंगलकारी है।

जिस वस्तु पर अपना अधिकार नहीं होता उसके छोड़ने में कठिनाई भी नहीं होती, क्यों कि वह तो अपनी है ही नहीं, परन्तु जिस पर अपना पूरा अधिकार होता है उसे छोड़ने में दुख होता है। पिता की वस्तु पर पुत्र का पूरा अधिकार है, परन्तु श्री राम चन्द्र जी की वैराग्य वृत्ति को स्पष्ट करते हुए श्री गोस्वामी जी नें कवितावली जी में कहा है—

राजिब लोचन राम चले, तजिबापु को राज बटाऊ की नाई।

पथिक के समान श्री राम चन्द्र जी पिता के राज्य को छोड़ कर चल दिए।

मंगलाचरण में अकेले श्री राघवेन्द्र सरकार का स्मरण नहीं है, तीनों सरकारों का स्मरण है और उसका भी औचित्य है। श्री राम चन्द्र जी के बाई ओर श्री जानकी जी और दाहिनीं ओर श्रीं लखन लाल जी ऐसा तीनों सरकारों का एक समग्र ध्यान बनता है जो सकल कल्याणों का निधान है। श्रीं राम चरित मानस के अयोध्याकाण्ड में चित्रकूट के ही प्रसंग में श्री राम चन्द्र जी से कहा गया है—

श्रुति सेतु पालक राम तुम्ह जगदीस माया जानकी ।
जो सृजति जगु पालति हरति, रुख पाइ कृपा निधान की ।।
जो सहस सीस अहीसु महिधर, लखनु सचारचर धनी ।
सुरकाज धरि नरराजतनु चले दलन खल निसिचर अनी ।।

इस प्रकार श्री राम चन्द्र परात्पर ब्रह्म हैं श्री जानकी जी उनकी माया हैं और लक्ष्मण जी शेषावतार हैं । यह ग्रन्थ अखिल ज्ञान का सार है । ज्ञान के अनुसार ब्रह्म एकदम निष्क्रिय, निरीह, विश्चेष्ट सत्ता मात्र है । जगत की उत्पत्ति, स्थिति और लय में भी उसकी प्रवृत्ति नहीं । सृष्टि की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय, ब्रह्म की रहस्यमय अभिन्न आदि शक्ति, माया के द्वारा होते रहते है । शक्ति के विनां शिव भी शव हैं । श्री राम चरित मानस में बालकाण्ड के आदि में श्री सीता जी की स्तुति में कहा गया है, कि" उद्भव स्थिति सहार कारिणीम् क्लेश हारिणीम् ।

सर्व श्रेयस्करीम् सीताम् नतोऽहम् रामबल्लभाम् ।।

इस प्रकार जगत् के सम्पूर्ण व्यवहार की सचालिका आदि शक्ति श्री जानकी जी हैं । वे श्री रास जी के रुख के अनुसार ही कार्य करती हैं । परन्तु भक्तों के लिए 'सर्व श्रेयस्करीं अर्थात् सब प्रकार के कल्याणों की देनें वाली हैं । यहाँ तीनों सरकारों के ध्यान में चित्रकूट वासी तीनों सरकार ध्यातव्य हैं । यहाँ श्री जानकी जी तपस्विनी के वेष में हैं ।

जब सरकार श्री अयोध्या से बन के लिए चले तो उन्होनें वहीं राज महल में ही तपस्वी वेश धारण कर लिया था । इसी समय श्री जानकी जी भी तपस्विनी का वेश बनानें को उद्यत हुई. परन्तु श्री वाल्मीकि रामायण के अनुसार श्री वसिष्ठ जी ने अपनी विशेष आज्ञा से श्री महारानी जी द्वारा तपस्विनी के वेश के धारण को वर्जित कर दिया । उन्होनें कहा कि वरदान में सीता के तपम्विनी वेश या बनबास की बात नहीं है । अत: वे ऐसा वेष बनानां सहन नहीं करेंगे । उन्होने आदेश दिया कि सीता राजसी

वेश में ही प्रस्थान करेगी। परन्तु जब तीनों सरकार चित्रकूट में रहने लगे और वहाँ जनक जी का आगमन हुआ तो जनक जी ने श्री सीता जो को तपस्विनी के वेश में ही पाया —

तापस भेस जनक सिय देखी। भयउ प्रेम परितोष विशेषी ।।

श्री जनक जी महराज ज्ञानियों के शिरोमणि हैं। आपने तो श्री शुकदेव जी को भी ज्ञानोपदेश किया था। इस लिए पुत्री को तपस्विनी वेष में देख कर आपकी आँखों से आँसू नहीं बहे, पुत्री की तपस्या को देख कर आपका प्रेम और परितोष जागृत हुआ, क्योंकि आपको आदर्श धर्म पालन देखकर ही प्रसन्नता होती है। आपकी दृष्टि मे दुनिया के आराम की कोई कीमत नहीं है।

जिस प्रकार का वैराग्य श्री राघवेन्द्र सरकार के चरित्र में प्राप्त होता हैं, श्री जानकी जीं के चरित्र के वैराग्य की छटा उससे कम नहीं है। श्री राम जी को तो श्री केकयी जी के वरदान के अनुसार 'तापस वेष विशेष उदासीं बनकर रहना था, परन्तु श्री जानकी जी के लिए कोई ऐसा प्रतिबन्ध नहीं था। इसी लिए श्री वसिष्ठ जी नें श्री जानकी जी का तपस्विनी के वेष में राजमहल से निकलना सहन नहीं किया। परन्तु अवसर मिलते ही श्री सीता जी ने तपस्विनी का वेष धारण कर लिया। यह भी कम महत्व पूर्ण नहीं है कि जिन वस्त्राभूषणों के साथ श्री सीता जी राजमहल से चलीं थी उनमें भी उनकी कोई आसक्ति नहीं थीं। इसीलिए हम देखते हैं कि जब केवट ने तीनों सरकारों को गंगा पार उतारा और श्री राम चन्द्र जी को संकोच हुआ कि इनको उतराई नहीं दी गई तो श्री रामजीके भाव को समझ कर उनके बिनां कुछ कहे हुए ही श्री जानकी जी ने मणि जटित अँगूठी अपनी उँगली से उतार कर प्रसन्नता पूर्वक श्री राम जी को दे दी। तब श्री राम जी नें वह रत्न जटित अँगूठी केवट को उतराई मे देनीं चाही। जब केवट ने उसे लिया नहीं तो राघवेन्द्र सरकार के हांथ में वह

रह गई । संयोग से इस ललित चरित्र का यह परिणाम आया कि जिस समय श्री जनकी जी लंका की अशोक वाटिका में विरह व्याकुल विराजमान थीं, श्री हनुमान जी के द्वारा वहीं अँगूठी राम जी की चिन्हारी के रुप में उन्हें प्राप्त हुई । ध्यान देने योग्य बात यह हैं कि श्री जानकी जी नें श्री वसिष्ठ जी की आज्ञा से, धर्म पालन की दृष्टि से विवश होकर राजसी वेष में अयोध्या से प्रस्थान किया था । प्रसन्नता से या शौक से नहीं । श्री राम यद्यपि तपसी वेष में गगा पार हुए थे परन्तु उन्हें उतराई न दे सकने के कारण राजकुमारोचित संकोच हुआ । ऐसे समय में वह अँगूठी सरकार के सकोच को दूर कर सके और केवट को उत्तम उतराई प्राप्त हो जाव इसके लिए श्री जानकी जीं ने मुदित होकर वह अँगूठीं उतार कर दे दीं । यह आदर्श भक्ति है जिसमें कोई भीं बहुमूल्य वस्तु केवल उतने हीं अंश तक सुखद है जितनें अंश तक वह श्रीं भगवान कीं सेवा में प्रयुक्त हो या उनकीं आज्ञानुसार काम में लाई जाय ।

यदि श्रीं राम चन्द्र भगवान का राजतिलक होता तों श्रीं जानकी जी भीं उनकीं बाईं ओर सिंहासन पर विराजतीं । इस लिए राज्याभिषेक से वचित होना दोनों सरकारों के लिए एक समान था । परन्तु बनबास कीं शर्त श्रीं जानकीं जी के लिए नहीं थीं । उन्होने श्रेष्ठ जनों के विपरींत आग्रह को भीं न मान कर स्वयं हीं बनबास का वरण किया और बन में रहते हुए भीं साक्षात् विग्रहवान् धर्म श्रीं राम चेन्द्र कीं तपस्या में कुछ भीं बाधा न डालते हुए सहचर्या में रहीं । तपस्या का आदर्श या वैराग्य का रस श्री जानकीं जी के के चरित्र में राम चरित्र से कम नहीं । बन में रहते हुए महारानीं जीं को श्री अयोध्या कभी भी सुगम या सुखद रूप में याद नहीं आई—

सिय मन राम चरन अनुरागा । घर न सुगम वन विषम न लागा ।।
अयोध्या काण्ड

इस प्रकार दोनों सरकार वैराग्य के रस से परिपूर्ण हैं। उनके ध्यान से भक्त से चित्त में वैराग्य कीं दृढ़ता आतीं है। भक्तों को इस ध्यान से यह प्रेरणा भीं मिलती है कि उनका वैराग्य भगवान के प्रेम का सहज परिणाम होना चाहिए क्यों कि—

रमा विलास राम अनुरागी। तजत वमन जिमि नर बड़ भागी॥

भक्तों का उत्तम वैराग्य भागवत प्रेम का ही सहज और स्वभाविक प्रतिफल है। परम वैराग्य कोई नीरस वस्तु नहीं, इसी से पराभक्ति और भगवान के स्वरूप के आनन्द की प्राप्ति होती है। श्री गोस्वामी जी का वचन है कि—

सात टूक कोपीन में, अरु भाजी बिनु लौन।
तुलसी रघुवर हिय वसैं, तो इन्द्र बापुरो कौन॥ दोहावली॥

श्री गोस्वामी जी नें जो ध्यान मंगलाचरण में अकित किया है वह इस लिए भी अत्यन्त उपयुक्त और अनुकूल है कि बहुत से वैष्णव भक्त युगल सरकारोपासक होते हें। और श्री राम और जानकी दोनों का एक साथ ध्यान करना उन्हें अभीष्ट है। युगल सरकार सिंहासनासीन भी हो सकते हैं और वनवासी भी, चित्रकूट वासी भी हो सकते हैं और गोकावरी के निकट पंचवटी वासी भीं, अथवा पथिक के रुप में भीं उपास्य हैं। स्पष्ट है कि वन-वासीयुगल सरकार का ध्यान श्रीं वैराग्य संदींपनीं के मंगलाचरणार्थ स्वाभाविकऔर अधिकअनुकूल है। तींनों सरकारों में श्री राम परात्पर ब्म्ह हैं श्रीं जानकीं जीं आदि शक्ति, पराभक्ति स्वरूप, अनन्य अनुगता देबीं हैं और श्रीं लक्ष्मण जीं परम वैराग्य से युक्त शरणागत सेवक हैं। आप शरणागत दास भाव और आज्ञा पालन के धर्म में अप्रतिम् हैं।

श्रीं राम के तींनीं भाइयों में श्रीं लखन लाल जीं अधिक अभिन्न हैं। श्रीं गींतावलीं जीं में शब्द है कि—

"जीवन जग जानकीं लखन को, मरण महीप सँवारो।"

श्री जानकी जी और श्री लक्ष्मण जी का जीवन इसलिए विशेष धन्य माना गया कि वे वनवासी राघवेन्द्र सरकार को सेवा में रहे, बनवास काल में इन्हें अलग होकर अयोध्या में नहीं रहना पड़ा। इसीं से श्री भरत जी ने कहा है कि—

अहह धन्य लक्ष्मण बड़भागी/राम पदारबिन्दु अनुरागी ।। उत्तरखण्ड

श्री लक्ष्मण जी के लिए कोर्ट त्याग ऐसा महान नहीं हैं जो वह श्री राम के लिए न कर सकें, न कोई ऐसी आज्ञा है जिसका उन्होंने पालन न किया हो। इसलिए जेसे श्री राम जानकी की जोड़ी हैं वैसे ही श्री राम लक्ष्मण की भी जोड़ी है। श्री राभ दोनो जोड़ियो में है इसलिए दोनो जोड़ी मिलाकर तीनों सरकारो का ध्यान बनता है जोपरम मांगलिक है।

यद्यपि श्री जानकी जी परमसती है, पतिव्रत धर्म, वैराग्य, शरणा मति, अनन्य सेवा, समर्पण आदि का आदर्श उनमें उत्कृष्टतय रुप में पाया जाता है परन्तु युगल सरकोरोपासक वैष्णव के लिए वह इष्ट देवी के ही रूप में हें, शरणागत भक्त के आदशं के रूप में नही हैं। श्री लक्ष्मण जी का चरित्र उपासकों के लिए अनुकरणीय हैं। उनमें प्रखर वैराग्य है, अखण्ड पुरुषार्थ एवं परमबल है। श्री गोस्वामी ज़ी महराच ने रामचरित मानस, बालकाण्ड में, श्री लक्ष्मण जी की वन्दना में कहा है कि 'रघुपनि कीरति विमल पताका, नेण्ड समान भयऊ जस आका।' यहाँ श्री गोस्वामी जी, जान पड़ता है कि उपमा देने में प्रसिद्ध महाकवि कालीदास से भी वढ़ गए। ऊँचा झन्डा विशेष सम्माननीय माना जाता है। आदर तो पताका का होता है परन्तु दण्ड की ऊँचाई पताका की ऊँचाई चा कारण बनती है और उसे अधिक सम्माननीय बनाती है। पताका से प्रथक दण्ड का कोई सम्मान नही होता। श्री लक्ष्मण जी के सारे चरित्र में हम यह पाते

हैं कि उनका वैराग्य उनका पुरूषार्थ, उनकी अखण्ड, सेवा आदि सब कुछ श्रीं राम चन्द्र जी के यश को बढ़ाने के लिए ही था, अपने लिए कुछ नहीं। सम्पूर्ण बनवास काल में श्रीं युगल सरकार की सेवा में दिन रात अखण्ड पुरुषार्थ पूर्वंक लगे रहे। उन्होने पूर्ण इन्द्रिय विजय प्राप्त की, बनवास में निद्रा को त्याग दिया, दिन भर तो सेवा करते हीं थे रात भर पहरे पर रह कर चौकसी करते थे।

कछुक दूरि सजि बान सरासन। जागन लगे बैठि वीरासन ।।
अयोध्याकाण्ड

इस प्रकार श्री लक्ष्मण जी अंकेले ही दिन रात श्री युगल सरकार की सेवा में रहते थे।

श्री राम चरित मानस अयोध्या काण्ड में तीनो सरकार वन पथ गामी रूप में प्राप्त होते है। उस रूप में श्री राम चन्द्र जी आगे-आगे चलते हैं। महारानी सीता श्रीं राम की अनुगामिनी हैं। वे श्री राम चन्द्र जी के साथ-साथ नहीं अनुचरी बन कर उनके पीछे-पीछे चलती हैं, परन्तु इस प्रसंग में श्री गोस्वामी जी द्वारा मर्यादा का निर्वाह देखते ही बनता है। श्री जानकी जी श्री राम चन्द्र ज्री के चरण चिन्हों का अनुसरण तो करती हैं परन्तु परम आदरपूर्वक यह सावधानी रखती हैं कि श्री राम जी के चरण चिन्हों पर पैर न पड़ जाय। अनुसरण कही अतिक्रमण न हो जाय—

प्रभु पद रेख, बीच बिच सीता।
धरति चरन मग चलति सभीता ।। अयोध्या काण्ड

श्रीं सीता जी के पीछे पीछे श्री लक्ष्मण जी वन पथ गामी हैं। वे श्रीराम जानकी के चरण चिन्हों का अनुसरण कर रहे हैं। उनके लिए यह कठिन है कि वे उसी पंक्ति में पैर रखते हुए साथ साथ उसी गति से

चलते हुए भी पूरी सावधानी रखें कि युगुल सरकार के चरण चिन्हों पर कभी पैर न पड़ जाय। इसलिए श्री लक्ष्मण जी,

सीय राम पद अंक बराए।
लखन चहिं मगु दाहिन लाए। (अयो० का०)

इस प्रकार श्री लखन लाल जी दोनों सरकारों की सेवा में अनुचर वत् जा रहें हैं। श्री गोस्वामी जी का कहना है कि—

अजहुं जासु उर सपनेहुं काऊ।
बसहिं राम सिय लखन बटाऊ॥
राम-धाम पथ पाइहि सोई।
जो पथ पाव कबहुँ मुनि कोई॥ अयो० कां०

वन पथ पर चलनें वाले तीनों सरकारो को हृदय में बसा लेने से सरकार की प्राप्ति और पराभक्ति का मार्ग निरापद हो जाता है। जिस साधक का मन उत्कृष्ट वैराग्य से युक्त है, जो धर्म अर्थ काम तीनों की इच्छा से ऊपर उठ चुका है, उसके लिए बन पथ गामी तीनों सरकारों का ध्यान अत्यन्त मांगलिक है। क्योंकि सकल कामनाओं को छोड़ देने पर भगवत् प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त हो जायगा और पराभक्ति भी उसी के लिए है जो सकल कामना हीन(सभी इच्छाओं से रहित)हो चुका है। पराभक्ति और संसार की आसक्ति दोनों साथ-साथ नहीं चल सकतीं। युगुल सरकार की उपासना चाहे दास भाव से हो चाहे मधुर भाव से, उसी के लिए है जो सब प्रकार की काम वासना से तथा विषयासक्ति से नितान्त अलग हो चुका है। जिसकी विषयासक्ति कुछ शेष है वह इस पराभक्ति का इच्छुक और साधक हो सकता है, इसमें प्रतिष्ठित नही हो सकता। भगवान की दिव्य लीला में सम्मिलित होनें और भगवान के स्वरूप की दिव्य झाँकी करने के लिए मोक्ष की भी इच्छा का छूट जाना आवश्यक है। श्री रूप

गोस्वामी जी ने भक्ति रसामृत सिंधु में लिखा है कि भुक्ति मुक्ति स्पृहा-यावत् पिशाची हृदि वर्तंते ।अर्थात् जब तक भोग और मोक्ष की इच्छा रूपी चुड़ैल हृदय में वर्तमान् है तब तक हरि भक्ति के रस के अमृत का अभ्युदय कैसे हो सकताहै ? श्री रूप गोस्वामी जी ने अपने ग्रन्थ में श्री हरि भक्ति रसामृत सिंधु की मछलियों की वन्दना की है, जिन्होने मुक्ति रूपी नदी में कभी भी प्रवेश नही किया । इस प्रकार अलौकिक भक्तों के लिए भगवान की भक्ति ही सागर है और इसी की वे मछलियाँ हैं । इस जल के बाहर उनके ज़ीवन की कल्पना नहीं की जा सकती । यह समुद्र खारे जल का नहीं अमृत का समुद्र है । आज कल विज्ञान ने बताया है कि समुद्र की गहराई में रहने वाली मछली समुद्र के ऊपरी जल तल पर कभी नहीं आती, न ऊपर आकर वह जीवित रह सकती है । जिस गहराई पर नदियों का पानी समुद्र में मिलता है वह ५०-१०० फीट हो सकती है, परन्तु ६०० फीट तक समुद्र बहुत कम गहरा माना जातगा । इसी से गहरे समुद्र की मछली किसी नदी में नहीं पाई जाती । श्री राम चरित मानस में उत्तर काण्ड के अन्त में कहाहै—

जिमि जल बिनु थल रहि न सकाई ।
कोटि भांति कोऊ करै उपाई ।।
तथा मोक्ष सुख सुनु खगराई ।
रहि न सकइ हरि भगति विहाई ।। उत्तर काण्ड

मोक्ष रूपी नदियां भक्ति रसामृत सिंधु में मिले बिना नहीं रह सकतीं परन्तु भक्ति रसामृत सिन्धु की गहराई में रहने वाली मछलियां उस गहराई से ऊपर उठकर मुक्ति रूपी नदियों में कभीं प्रवेश नहीं करतीं । ऐसी–''अप्रविष्ट मुक्ति नदीकानाम्'' (जो मुक्ति की नदियों में कभी नहीं घुसीं)मछलियों को श्री रूप गोस्वामी जी ने नमस्कार किया है । श्री लखन लाल ज़ी इसी प्रकार की पराभक्ति का स्वरूप हैं । ऐसे भक्तों

के लिए श्री भगवान की सेवा का ही एक मात्र कर्त्तव्य हैं । अन्य किसी कर्त्तव्य का इससे स्वतन्त्र कोई महत्व नहीं हैं । जिस समय श्री राम चन्द्र जी के लिए श्री अयोध्या से वनवास के लिए चलने का प्रसंग आया उस समय श्री राम चन्द्र जी से अभिन्न और अनन्य श्री जानकी जी ने भी साथ ही वन गमन करने का अनुमति प्राप्त कर ली । इस समय श्री लखन लाल जी भी श्री राम चन्द्र जी के साथ वन जाने के लिए अत्यन्त उत्सुक हुए । श्री राम चन्द्र जी ने राज धर्म के आधार पर उन्हें बहुत समझाया कि वे अयौध्या में ही रहकर प्रजा पालन करें । भरत और शत्रुघ्न की अनुपस्थिति में श्री दशरथ जी के बृद्ध होने और राम बन गमन से अत्यन्त दुखित होने के कारण प्रजा पालन के लिए उन्होने श्री लखन लाल जी का श्री अयोध्या में रुक जाना अत्यन्त आवश्यक बताया–

रहहु करहु सब कर परितोषू ।
नतरु तात होइहि बड़ दोषू ।। अयोध्या काण्ड

इस सब उपदेश पर भी श्री लखन लाल जी का समाधान नहीं हुआ । जो विनम्र निवेदन उन्होंने किया उससे पराभक्ति सम्बन्धी उनकी निष्ठा भली भाँति प्रकट होती है, उन्होने कहा—

धरम नीति उपदेसिय ताही ।
कीरति भूति सुगति प्रिय जाही ।।
मैं सिसु प्रभु सनेह प्रतिपाला ।
मन्दर मेरु के लेहिं मराला ।। अयोध्या काण्ड

यहाँ श्री लखन लाल जी नें स्पष्ट कर दिया कि धर्म पालन करने का प्रयोजन त्रिविधि होता है—१. कीर्ति—(दुनिया में नेकनामी रहे बदनामी न होंने पाए) । २. भूति—दुनिया में सुख सुविधा वैभव प्राप्त हो । ३. सुगति—मरने के बाद परलोक में स्वर्ग वैकुण्ठ, गोलोक,

साकेत, ऐसी किसी जगह बास मिले या भगवान में मिल जानें का अवसर हो। उक्त तीनो फलों मे से जिसे कोई भी फल अभीष्ट हो, उसे धर्म पालन का कर्त्तव्य प्राप्त होता है। श्री लखन लाल जी कहते हैं कि मैं तो आपके प्रेम से पला हुआ बच्चा हू, मुझें कीरति, भूति, सुगति कुछ नहीं चाहिए। धर्म पालन का भार मन्दराचल या सुमेरु पर्वत के समान भारी है उसे हंस का बच्चा नहीं उठा सकता। उसी प्रकार मैं आप के स्नेह से पला हुआ बच्चा, आपसे अलग रहकर आपके द्वारा उपदिष्ट कठोर धर्मं के पालन का भार नहीं उठा सकता हूँ।

इस संवांद से यह स्पष्ट हो जाता है कि श्री लखन लाल जी को लोक परलोक के कोई भी सुख प्यारे नहीं हैं और भगवान् की सेवा को छोड़कर अन्य किसो कत्तंव्य का उनके लिए कोई मूल्य नहीं। सुगति का भी प्रयोजन वे मान्य नहीं करते। उनके लिए एक मात्र प्रभु की भक्ति का ही प्रमोजन है। यहाँ, यह भी विचारणीय है कि श्री भगवान ने तो केवल प्राप्त संकट काल में प्रजापालन की आवश्यकता पर बल दिया था, तो फिर श्री लक्ष्मण लाल जी नें उस बात की उपेक्षा क्यो कर दी? बस्तुत: सभी धर्म व्यक्ति और समाज की लौकिक और पारलौकिक आवश्यकताओं को लक्ष्य करके ही निश्चित किए जाते हैं; परन्तु भगवान के शरणागत भक्त के लिए भगवान् की सेवा से बढ़कर कोई भी धर्म नही है। वनवास काल में श्री राम चन्द्र जी की सेवा के लिए कोई और अनुचर नहीं जा सकता था न जा रहा था, अत: केवल उस सेवा की आवश्यकता को श्री लखन लाल जी ने मान्य किया और अलग रहकर किसी अन्य धर्म का निर्वाह करना उन्हें सहन करने योग्य नहीं लगा। श्रीयद्भगवत गीता के अन्त में श्री भगवान कृष्ण ने कहा है कि—

'सर्व धर्मान् परित्यज्य, मामेकं शरणम् ब्रज। गीता १८/६६ (सब धर्मो को छोड़कर एक मात्र मेरीशरण में आओ)। श्री

लक्ष्मण जी का चरित्र श्री गीता जी के इस अन्तिम उपदेश पर विशद व्यावहारिक भाष्य है। श्री सुमित्रा जी उपासना की सूर्तिमयी देवी की तरह हैं। श्री लक्ष्मण जी को सहर्ष वन गमन की अनुमति देते हुए उन्होंने कहा—

तुम्हरेहि भाग राम बन जाहीं।
दूसर हेतु तात कछु नाही ।। तथा,
तात तुम्हार मातु वैदेही।
पिता राम सब भाँति सनेही ।। अयोध्या काण्ड

पुन: राम जानकी की कैसी सेवा होनी चाहिए इसके लिए श्री सुमित्राजी ने उपदेश किया कि—

सकल प्रकार विकार विहाई।
मन क्रम वचन करेहु सेवकाई ।। अयोध्या काण्ड

इस प्रकार उपासना की दृष्टि से लक्ष्मण जी के लिए यह एक गौरव पूर्ण अवसर माना गया कि श्री युगुल सरकार के बनवास काल में वे उनके एक मात्र अनन्य सेवक के रूप में साथ जायं और साथ रहें। इस प्रकार तीनों सरकारों में युगुल सरकार इष्ट देव के रूप में है और श्री लखन लाल जी उनके अनन्य सेवक के रूप में हैं। तीनों सरकारों का ध्यान करने वाले को इष्ट का भी ध्यान आता है और सेवा के आदर्श स्वरूप का भी। इस लिए भी यह तीनों सरकारों का ध्यान सकल कल्याण का देने वाला है। यहाँ यह विचार कर लेना भी उपयुक्त होगा कि श्री लखन लाल जी श्री राम जी के अनुज हैं और भक्ति के महान् आचार्य, सम्प्रदाय प्रवर्तक, श्री रामानुजाचार्य जी श्री लखन लाल ही के अवतार मान्य हैं। तदनुसार उनका नाम भी हैं। श्री लखन लाल जी के वचनों और क्रिया में हमें भक्ति का जो दर्शन प्राप्त होता है

वही श्रीं रामानुजाचार्य के दर्शन का सारांश है । श्रीं रामानुजाचार्य ने विशिष्टाद्वैत दर्शन का प्रतिपादन किया है । उन्होंने भी यह भावना रखी कि मुझमें धर्म पालन करके मर्यादा मार्ग से मुक्त हो जाने की सामर्थ्यं नहीं है । मेरा उद्धार भगवत् कृपा से, अनुग्रह मार्ग से, हीं सम्भव है । इस प्रकार श्रीं लखन लाल जी की भक्ति और श्री रामानुजाचार्य का भक्ति दर्शन तत्वत: भिन्न नहीं है । सच तो यह है कि जब तक हम निज पुरूषार्थ से स्वधर्मानुष्ठान करके मोक्ष पाने का आग्रह रखेंगे तब तक हम अभिमान से छूट नहीं सकते और हमारे लिए श्री भगवान की उपासना की कोई प्रबल प्रेरणा भी नहीं हो सकेगी । जब हमारी अभिलाषाओं का अन्त हो जायगा तो लोक परलोक में सुख-सुविधा, सुयश, सुगति आदि प्राप्त करने की लालसा भी क्षींण हो जाएगी । इसलिए उस कारण से धर्म पालन की विवशता भी समाप्त हो जाएगी । वासना क्षय होने पर अधर्म करने की प्रेरणा भी नहीं होगी । ऐसी दशा में अनन्य सरणागत दिव्य भक्त को केवल भगवत् सेवार्थ कर्म करने की प्रेरणा होगी । तभी वह पराभक्ति की भूमिका में प्रवेश कर सकेगा और भगवान की दिव्य लींला का परिकर होने का अधिकारी होगा । इस लिए तीनों सरकारों के ध्यान में हमें इष्ट, साधना, तपस्या, सेवा का आदर्श आदि सब कुछ प्राप्त होता है, इस लिए यह ध्यान सकल कल्याणमय कल्प वृक्ष के समान है । वन पथ गामी तीनों सरकारों का ध्यान परमार्थ पथ की प्राप्ति और उसका दृढ़ अनुसरण करने के लिए परम प्रेरक और सहायक है । यहाँ, प्रथम दोहे में जो वर्णन किया गया है, उसमें तीनों सरकारों की झाँकीं मार्ग में चलते हुए नहीं प्रस्तुत की गई है । तीनों सरकार सुख पूर्वक आसीन हैं । इसलिए ऐसा मानना चाहिए कि वर्णित झाँकीं चित्रकूट कीं है या पंचवटी की है । बिल्कुल यही दोहा श्री दोहावली के प्रारम्भ में भीं लिखा गया है वहाँ इस दोहे के बाद दूसरा दोहा निम्न प्रकार है—

सीता लखन समेत प्रभु सोहत तुलसीदास ।
हरषत सुर बरसत सुमन, सगुन सुमंगल वास ।।

पहला दोहा श्री रामाज्ञा प्रश्नावली में ७.३.७ पर भी पाया जाता है और दोहावली जी का उपर्युक्त दूसरा दोहा भी श्री रामाज्ञा प्रश्नावली में ३.१.७ पर पाया जाता है। इस दूसरे दोहे से प्रगट होता है कि श्री गोस्वामी जी नें तीनों सरकारों के दिव्य स्वरूप का वर्णन किया हैं जिसका दर्शन करके देवता प्रसन्न होते हैं, पुष्प वृष्टि करते हें और इस झाँकीं में सकल सुमंगलों का वास पाया जाता है। पराभक्ति की भूमिका यह है कि अपने इष्ट वे बढ़कर या भिन्न कोई तत्व मान्य नहीं रह जाता। श्री मधुसदन सरस्वती जी ने श्री कृष्ण की छवि वर्णन करके यह घोषित किया कि,

'कृष्णात् परम् किमपि् तत्वमहम् न जाने।'

(कृष्ण से परे कोई तत्व हम नही जानते)। भगवान् के अनन्य व्यक्त श्री विल्व मंगल जी रास लीला स्थित श्री कृष्ण के उपासक थे। उन्होने श्रीं कृष्ण कर्णामृत के द्वितीय श्लोक में वस्तु या तत्व के रूप में रास लींला स्थित श्री कृष्ण का ही वणंन किया है जिनकीं छवि को देखकर स्वर्गादि लोगों की अप्सराएँ कल्प वृक्ष के सुमनों की वर्षा कर रहीं है, जिनसे वे ढके जा रहे हैं।

अस्ति स्वस्तरुणी कराग्रविगलत् कल्प प्रसूनाप्लुतम्

इसी प्रकार तींनों सरकारों की यह झाँकी श्री गोस्वामी जी को इष्ट है और उनकी अनुभूति के अन्तर्गत देवगण छवि दर्शन से प्रसन्न होकर पुष्प वृष्टिकर रहे हैं।

उक्त दोहा श्री चित्र कूट वासी तीनों सरकारों से सम्बन्धित मान्य है, इसीं के बाद श्री दोहावली जी का तृतीय दोहा है जिसमैं पंचबटी में आसीन तीनों सरकारों की झाँकी है।

पंचवटी वट विटप तर, सीता लखन समेत ।
सोहत तुलसीदास प्रभु, सकल सुमंगल देत ।।

यह दोहा पंचवटी में तीनों सरकारों की झाँकी कराता है । और यह झांकी भी सकल सुमंगल दायिनी हैं । यह दोहा श्री राभाज्ञा प्रश्नावली में ३.२.७ पर पाया जाता है । श्री वैराग्य संदीपनी के मंगलाचरण में यह स्पष्ट नहीं किया गया है कि झाँकी चित्रकूट की है या पंचवटी कीं परन्तु दोनों झाकियां सकल कल्याणप्रद हैं । संतजनों का मत है कि श्री वैराग्य संदीपनी में चित्रकूट की झाँकी ही मानना चाहिए । वनवास काल में तीनों सरकार दीर्घ काल तक चित्रकूट में आसीन रहे तब कुछ समय तक पंचवटी में भी वास दिया । पचेवटी में सीताहरण की लीला हुई जिससे लीला में तीनों सरकारों की झाँकी नहीं रह गई । परन्तु चित्रकूट धाम में जब तक निवास रहा तीनों सरकार साथ-साथ ही निवास करते रहे । श्रीं गोस्वामी जी के विषय में यह सुविदित है कि वे स्वयं पर्याप्त समय तक चित्रकूट में वास करते रहे । जिस गिरि पर सरकार वास करते थे उसका नाम आज तक कामद गिरि है। इसलिए ऐसा मानना ठीक हो सकता है कि श्री गोस्वामी जी ने जो झांकी प्रस्तुत की हें उसे चित्रकूट की समझा जाय । तीनों सरकारों की झांकी तों दोनो जगह एक सी है परन्तु स्थान का भेद है । चित्रकूट में भी और पंचवटी में भी पाँच वृक्षों के बीच स्थान बनाया गया था वहीं तीनों सरकार विराजते थे और सतसंग आदि होता था । पंचवटी राक्षसों से अधिक आक्रान्ता थी और सरकारों के आगमन के पहले अभिशप्त भी थी, परन्तु चित्रकूट में बराबर सन्त समागम होता रहता था । चित्रकूट में जो सतसंग का स्थान था बहीं पर श्री राम और भरत की भेंट हुई थी । चार वृक्ष पाकर जामुन आम और तमाल के लगे हुए थे और—

तिनु तरुवरन मध्य वट सोहा ।
मंजु विशाल देखि मन मोहा ।।
वट छाया वेदिका वनाई ।
सिय निज पानि सरोज सुहाई ।। अयोध्या काण्ड

पंचवटी में भी पाँच वृक्ष थे, जिनके बीच सरकार विराजते थे, परन्तु वहां पांचों वृक्ष बरगद के थे इसी लिए इसका नाम पंचवठी था। दोनों जगह तीनों सरकार पाँच वृक्षों के बीच मध्य वृक्ष की वेदिका पर अविचल छाँह में विराजते थे और उनका दर्शन और ध्यान सकल कल्याण प्रद, सकल, शुमंगल दायक कल्प वृक्ष के समान है ।

चित्रकूट वासी तीनों सरकार श्री गोस्वामी जी के लिए विशेष आराध्य थे । यह बात सुविदित है कि श्री गोस्वामी जी को श्री राघेवन्द्र सरकार के दर्शन चित्रकूट में हुए थे । इस सम्ब्रन्ध में दोहा भी प्रसिद्ध है कि--

चित्रकूट के घाट पै, भइ सन्तन की भीर ।
तुलसिदास चन्दन घिसैं, तिलक देत रघुबीर ।।
मूल गोसाईं चरित

इस प्रकार चित्रकुट वासी सरकारों में श्री गोस्वामी जी की विशेष निष्ठा होनां स्वाभाविक है । श्री गीतावली जी में कहा गया है --

लोने लाल लखन, सलोने राम, लोनी सिय, ।
चारु चित्रकूट बैंठे सुरतरु तर हैं ।।',

इससे प्रतीत होता है कि चित्रकूट में जिस वट के नीचें वेदिका बनाई गई थी उसे कल्प वृक्ष माता गया है । वह वृक्ष भी सकल काम-

वृक्ष है और गिरि भी कामद गिरि है, सब कामनाओं को पूरा करने वाला है। श्री बरवै रामायण में भी चित्रकूट के उस वट वृक्ष को कल्पतरु कहा गया है—

चित्रकूट पयतीर सो सुरतरु वास।
लखन राम सिय सुमिरहु तुलसीदास।।

दोहावली जी के पांचवे दोहे में यह भी कहा गया है कि ––

पय नहाइ फल खाइ जपु, राम नाम षट् मास।
सकल सुमंगल सिद्धिसब, करतल तुलसीदास ।।

सरकार के अनन्य भक्तगण इष्ट स्वरूप का इष्ट स्थान से विछोह नहीं मानते। व्रज रस के रसिक अपनी निष्ठा के अनुसार कृष्ण का वृन्दावन से कहीं और जाना स्वीकार नहीं करते, उनके लिए श्री कृष्ण का नित्य लीला धाम वृदावन ही है जिसे छोड़ कर कृष्ण एक कदम भी कहीं नहीं जाते––

वृदावनम् परित्यज्य पादमेकं न गच्छति

इसी प्रकार श्री अयोध्या के रसिक दिव्य भक्तों के लिए श्री अवध ही साकेत धाम है। वे ऐसा नहीं मानते कि श्री राघवेन्द्र सरकार अवतार की लीला पूरी करके श्री अयोध्या जी को छोड़कर निज दिव्य धाम साकेत को चले गए। हो सकता है कि इसी निष्ठा की रक्षा करते हुए श्री गोस्वामी जी ने राम चरित मानस में श्री राघवेन्द्र सरकार के प्रजा सहित निज धाम गयन का चरित्र नहीं लिखा। श्री गीतावली जी में श्री गोस्वामी जी नें कहा है कि राघवेन्द्र सरकार के चरित्र सरित में स्नान करने वाले दिव्य भक्तों के लिए श्री अयोध्या अब भी वही हैं और श्री राम चन्द्र जी अब भी वहीं विराजमान है—

"तुलसी तबके से अजहु जानिबे, रघुबर नगर बसैया।"

इसी प्रकार चित्रकूट में तीनों सरकारो का बास भी अनन्य भक्तों की निष्ठा में नित्यवास माना गया है—

चित्रकूट सब दिन बसत, प्रभु सिय लखन समेत :
रामनाम जप जापकहि, तुलसी अभिमत देत ।। दो० ४।।

तीनों सरकार ज्ञान भक्ति वैराग्य के प्रतीक भी हैं। श्री राम चन्द्र जी ज्ञान स्वरूप है –

''ज्ञान अखंड एक सीतावर। माया वस्य जीव सचराचर ।।' उत्तरकाण्ड

इसी प्रकार श्री जनक नन्दिनी जी भक्ति स्वरूपा हैं—भक्ति तव गेहिनी, (विनय पत्रिका)। श्री लखन लाल जी प्रबल वैराग्य के साक्षात् स्वरूप हैं। इस प्रकार तीनों सरकार ज्ञान भक्ति और वैराग्यकी साक्षात् मूर्ति हें और सकल कल्याण के देने वाले हैं।

वेद त्रिकाण्डमय कहे गए है। वेदों में कर्म-काण्ड, उपासना-काण्ड और ज्ञान काण्ड हैं—

"कर्म उपासन ज्ञान वेद मत, सो सब भांतिखरो,, (विनय पत्रिका)।

यहाँ श्री लखन लाल जी प्रबल वैराग्य की भावना के साथ सरकार की सेवा में अहर्निशि कर्म निष्ठ हैं, श्री महारानी जी अनन्य उपासना का स्वरूप हैं और श्री राम चन्द्र श्री सच्चिदानन्द विग्रह हैं—

चिदानन्दमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी ।।
अयोध्याकाण्ड

इस प्रकार तींनों सरकारों के दर्शन में हम त्रिकाण्ड युक्त वेद का सन्देश ओर सारांश प्राप्त होता है ।

तीनों सरकारों के स्वरूप से हमें कुछ और भी सन्देश प्राप्त होता है ।श्री राम चन्द्र जी परात्पर ब्रह्म स्वरूप इस जगत् के आधार हैं परन्तु, जगत की रचना स्थिति और संहार परब्रह्म की, रहस्य मयी शक्ति माया के ही द्वारा होता है । श्री वाल्मीकि जीनें कहा है कि; —

श्रुति सेतु पालक राम तुम जगदीशमाया जानकी
जो सृजति जग पालति, रूख पाइ कृपा निधानकी ।।,,
जो सहस सीस अहीस महि धरु , लखन सचराचर धनी ।
सुरकाज धरि नरराज तनु चले दलनि खल निसिचर अनी ।।
(अयो० का०)

इस वचन में श्री वालमाकि जी ने श्री लखन लाल जी का शेषावतार होना भी घोषित किया है । श्री गोस्वामी जो नें श्री राम चरित मानस में स्वयं भी कहा है कि--

पय पयोधि तजि, अवध विहाई । जहँ सिय राम लखन रहे आई ।।
अयोध्या काण्ड

पय पयोधि अर्थात क्षीर सागर में श्री विष्णु भगवान् का निवास है । वहां वे शेषशायी हैं और श्री लक्ष्मी जी उनकी सेवा में हैं । श्री राम विष्णु के अवतार माने गए हैं । श्री सीता जी लक्ष्मी कीं अवतार हैं श्री लखन लाल जी शेषावतार हैं । तीनों सरकारों ने क्षीर सागर को छोड़कर श्री अयोध्या को अपनी लीला स्थली बनाया । किन्तु धन्य-२ श्री चित्रकूट धाम हैं जहाँ तीनों सरकार श्री अयोध्या जी को छोड़ बसे और अनेक वर्षों तक तपस्या करते रहे । श्री विष्णु भगवान की अनन्य

भक्ति के लिए चित्रकूट की झाँकी क्षीर सागर की ही झाँकी का रूपान्तर हैं।

यहाँ इस बात पर भी विचार कर लेना चाहिए कि कुछ राम भक्त इस बात पर विशेष विश्वास करते हैं कि उनके इष्टदेव परात् परब्रह्म के अवतार हैं, जिनके अंश से प्रत्येक ब्रह्मांड में त्रिदेव की उत्त पत्ति होती रहती हैं। अत: वे अपने इष्ट देव श्री राम जी को विष्णु का अवतार माननें के लिए तैयार नहीं। परन्तु इस विषय में अभीष्ट यह है कि राम चन्द्र जी का श्री विष्णु भगवान का अबतार होना अमान्य न किया जाय। श्री गोस्वामी जी नें ऐसा किया भी नहीं है। श्री राम चरित मानस में कहा गया है कि—

मीन कमठ सूकर नर हरी। वामन परशुराम वपु धारी॥
जब जब नाथ सुरन दुख पायों सगना तनु धरि तुम्हहि नसायो

श्रीरामचन्द्रजी ने जिन अवतारों को धारण करके समय-समय पर देवताओं के कष्ट दूर किए उनके नाम गिनाने में ऊपर उद्धत किए हुए वचन में श्री विष्णु के ही अवतार क्रमानुसार गिनाए गए हैं। पहला अवतार मत्स्यावतार (मीन), दूसरा अवतार कच्छप अवतार (कमठ), तीसरा अवतार वाराह अवतार (सूकर), चौथा अवतार नृसिंह अवतार (नरहरि), पाँचवाँ अवतार वामन अवतार (वामन), छठा अवतार परशुराम अवतार (परशुराम)। श्री विष्णु भगवान के छ: अवतार ऊपर गिनाए गए हैं। दशावतारों में से शेष चार अवतार नहीं गिनाए गए क्योंकि साववें अवतार श्रीरामचन्द्रजी स्वयं हैं और उनसे कहा ही जा रहा है कि जब जब देवताओं पर दुख पड़ा आपने नाना शरीर रखकर उसे दूर किया। विष्णु के दस अवतारों में आठवें श्रीकृष्ण थे, नवें बुद्ध माने गये हैं और दसवां नाम कल्कि का है जिसका कलियुग के अन्त में

प्रगट होना पुराणों में कहा गया है। यहाँ छः अवतार गिनाए गए हैं, सातवें अवतार श्रीरामचन्द्रजी को सम्बोधित किया जा रहा है और अन्तिम तीन अवतारों का श्रीरामचन्द्रजी के सामने इसलिए उल्लेख नहीं किया गया कि वे बाद में आने वाले हैं। श्री राघवेन्द्र सरकार श्री विष्णु के अवतार हैं अथवा उस परम प्रभु के कि—उपजहिं जासु अन्त ते नाना, सम्भु बिरंचि विष्णु भगवाना ?— इस विवाद में पड़ना अच्छा नहीं। श्री सीताजी के विषय में भी इसी प्रकार का विवाद है कि वे श्री लक्ष्मीजी का अवतार हैं या उस आदि शक्ति का अवतार हैं—

जासु अंश उपजहिं गुनखानी। अगणित उमा रमा ब्रम्हानी।। बालकाण्ड

यह विवाद भी वैसा ही निरर्थक है। श्री गोस्वामीजी का वचन है कि—

लहै लड़ाई देवता, इष्टदेव जब होय। (दोहावली)

तत्व की बात यह है कि जिस किसी देवता को इष्टदेव रूप से अराध्य बनाया जाय, उसे केवल एक ब्रम्हांड का सृष्टि, पालन या संहार कर्ता नहीं मान सकते। उसे परात्पर ब्रह्म के ही रूप में लेना होगा जो कि सृष्टि की समस्त क्रियाओं का आधार है। इसीलिये श्री गोस्वामीजी ने श्री सीताजी कीं बन्दना करते हुए बालकाण्ड के आदि में उन्हें— "उद्भव स्थिति संहार कारिणीम, क्लेशहारिणीम् सर्वश्रेष्ठयस्क सीतां" कहा है स्वयं श्री सीताजीने जब पुष्प वाटिका में गौरी देवी का स्तवन किया तो उन्हें—"भव-भव विभव पराभव कारिणि कहा। यहाँ भी श्री पारवतीजी को केवल संहारकारिणी देवी नहीं माना, सृष्टि स्थिति और संहारकारिणी आदि शक्ति के रूप में ही स्तुति की गई। इसी प्रकार अन्य देवताओं को भी जब अराध्य इष्टदेव के रूप में लिया गया है तो वैदिक और पौराणिक स्तुतियों में वे परात्पर ब्रह्म के रूप में ही ग्रहीत हुए हैं।

अत: रामोपासना और विष्णु उपासना के बीच किसीं कल्पित विरोध का खड़ा किया जाना उचित या आवश्यक प्रतीत नहीं होता । ऋगवेद में ही ऋषियों का उदघोष है .

एकं सद् विप्रा: बहुधा वदन्ति (सत्य एक ही है उसका विप्रगण अनेक प्रकार से निरूपण करते हैं) ।

भगवान के ध्यान और उपासना में अनन्यता के स्वरूप को लेकर भी बहुत सा विवाद उठता रहा है । कुछ उपासना पद्धतियों के मानने वालों का यह आग्रह रहा है कि वे एक ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य को पूज्य नहीं मान सकते । निराकार के उपासक अपनी उपासना पद्धति पर आग्रह करते हुए किसी भी प्रकार के साकार विग्रह के ध्यान को अमान्य कर देते हैं । इस विषय में हमारे लिए यह आवश्यक नहीं कि निराकार और साकारोपासना के विवाद में पड़ें । इतना पर्याप्त है कि हम यह समझ लें कि साधारण साधकों के लिए साकार स्वरूप का सहारा छोड़ देना लगभग असम्भव है । इसीलिए ऐसा परिणाम आया कि बौद्ध जैन, सिख पद्धतियों में जहाँ भगवान की मूर्ति की पूजा नहीं रखी गयी वहाँ बुद्ध, महाबीर या अन्य तीर्थंकारों की मूर्तियों की पूजा होने लगी । इसी प्रकार के कारणों से ईसाइयों के लिए शूली पर चढ़े हुए ईसा पूज्य हो गए, शूली का निसान (क्रास) पूज्य चिन्ह बन गया और ईसाइयों के बहुत से चर्चों में ईसा की माता मेरी की मूर्ति पधराई गई और पूजी गई । सिक्खों में दस गुरुओं के चित्रों को पूज्य माना गया और गुरुग्रंथ साहब की भी पूजा होने लगी । जिस पद्धति में घोषित किया गया कि एक ईश्वर के सिवा कोई भी पूज्य नहीं उसमें भी उस एक मात्र ईश्वर के सन्देश-वाहक को पूज्य पुरुष मानना पड़ा और अनेक सन्त, फकीरऔर तीर्थ पूज्य हो गये । इतिहास साक्षी है कि बड़े पैमाने पर प्रचलित और विस्तृत कोई भी उपासना पद्धति साकार स्वरूप या प्रतीक की उपासना को बिलकुल छोड़कर नही चल सकती ।

किसी किसी तार्किक या दार्शनिक के मन में यह सन्देह पैदा हो सकता है, कि यह बात भले ही ठीक हो कि अत्यन्त निर्गुण निराकारवादी को भी गुरुमूर्ति के ध्यान के माध्यम से साकार का सहारा लेना पड़ता है। परन्तु वह एक से अधिक मूर्ति ध्यान में नहीं लाता मंगलाचरण के दोहे में तीन सरकारों के ध्यान का अनन्यता से किस प्रकार सामंज य होगा। इस विषय में गोस्वामीजी की अनन्यता को ठीक-ठीक समझ लेना चाहिए। इस अनन्यता में विभिन्न देवताओं की बन्दना या स्तुति सम्भव है परन्तु सभी देवताओं से श्रीरामचन्द्रजी की भक्ति की ही याचना की जाती है। इस प्रकार इष्ट की अनन्यता कायम रहती है कुछ भी भंग नहीं होती। जैसे विवाहित होने पर कुल कन्या के लिए यह आबश्यक नहीं है कि वह पति के अतिरिक्त किसी की सेवा न करे या किसी के पैर न छुए परन्तु सभी से वह सौभाग्यवती होने का आशीर्वाद प्राप्त करती है। पति के प्रति उसकी अनन्यता खण्डित नहीं होती।

ईसाइयों को एकेश्वरवाद पर बड़ा गौरव है परन्तु उनके यहाँ भी ईश्वर के तीन रूप मान्य किए गए हैं। यथा—ईश्वर परम पिता रूप में ईश्वर पुत्र रूप मे अबतरित रूप में (ईसा) तथा ईश्वर पवित्र व्यापक शक्ति के रूप में। इन तीनों रूपों को मिलाकर (ट्रिनिटी) तीन रूप कहे गए हैं। यदि ठीक से समझा जाय तो हमारे तीनों संस्कारों में श्रीरामचन्द्रजी परात्पर व्रह्म परमपिता रूप में हैं श्री लक्ष्मणजी उनके पुत्र रूप में हैं और श्री महाराणीजी आदि शक्ति व्यापक और सक्रिय भगवान की माया शक्ति सर्वश्रेयस्करी हैं। इस प्रकार यह तीनों संस्कारों की झाँकी एक ट्रिनिटी है। तत्वतः तीनों सस्कारों के ध्यान में एक ही परमशक्ति, कृपामयी शक्ति का प्रकाश है ईसाइयों की तरह अन्य एकेश्वरवादी भी किसी न किसी रूप में भगवान की त्रिमूर्ति को जाने या बेजाने मानने के लिए विवश होते हैं क्योंकि जितने ईश्वरवादी हैं उनको भगवान का एक वह रूप मानना पड़ेगा जो सृष्टि के बनने के पहले भी विराजमान् था

यह अधिष्ठान रूप है। इसी के सहारे और इसी की शक्ति से सृष्टि की उत्पति हुई। जगत् के उत्पन्न हो जाने के बाद भगवान के जगन्नियम्ता नियामक या ईश्वर वाला रूप सक्रिय हुआ। इस सर्वशक्तिशाली रूप का विशेष वर्णन एकेश्वरवादी करते ही रहते है प्राय: इस नियन्त्रक को उच्चतम लोक के शासक प्रभु के रूप में वर्णित किया गया है। जिस उच्चतम लोक में पहुंचकर सदैव के लिये ईश्वर के साथ रहने की आकांक्षा एकेश्वरवादी साधक करता है। इसके अतिरिक्त उसी एक ईश्वर का सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान सक्रिय स्वरूप भी है जो सभी जगत् के व्यवहार का साक्षी है, कर्मफ़ल का देने वाला है, जिसकी मर्ज़ी के बिना एक पत्ता भी नहीं हिलता और जो शरणागत भक्तों की सार-सँभाल करने वाला है, तथा सर्व समर्थ होते हुए भी अत्यन्त क्षमाशील, सहिष्णु, करुणा वरुणालय और दया सिन्धु है। कामिल फकीरों को उसका साथ इसी जीवन में प्राप्त है। उसकी प्राप्ति के लिये मरकर उच्च लोकों में पहुँचना अनिवार्य नहीं। इस प्रकार एकेश्वर निष्ठा वाले अनन्य भक्तों के लिए भी भगवान तीन रूपों में मान्य हो जाते हैं। ठीक तरह से समझने पर हमारे तीन रूपों की झाँकी, अनन्य भक्ति की विरोधिनी बिलकुल नहीं है। वस्तुत: उसमें श्री गोस्वामी जी की अनन्य भक्ति का ही प्रकाश है।

अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष चार प्रकार के पुरुषार्थ माने गए हैं। गोस्वामीजी द्वारा वर्णित ध्यान सकल कल्याण का देने वाला है। अर्थात् इस ध्यान से धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों की प्राप्ति होती है। श्री गोस्वामीजी का यह चातुर्य है कि उन्होंने इस ध्यान को सकल कल्याशमय तो सभी के लिए बताया परन्तु कल्पवृक्ष विशेषत: अपने लिये ही बताया। इसमें रहस्य यह है कि इस ध्यान के सहारे सभी लोग साधन क्रम से चतुर्वर्ग कल्याण को प्राप्त हो सकते हैं परन्तु श्री गोस्वामीजी के लिए साधनक्रम नहीं हैं, वे श्री भगवान के प्रति ऐसी निष्ठा से सम्पन्न हैं कि उन्हें तो जो कुछ भी माँगें तुरन्त मिलेगा। बाइबिल में ईसा ने कहा है

कि खटखटाओ और द्वार तुम्हारे लिए खुलेगा, मांगो और अभीष्ट वस्तु तुम्हें दी जाएगी। (मैथिड ७.७)सच्ची श्रद्धा से सम्पन्न भक्त के लिए श्रीभगवान कल्पवृक्ष के समान तुरन्त ही मनोवांछित फल देने वाले हैं। इसीलिए श्री गोस्वामीजी के लिए यह ध्यान कल्पवृक्ष ही है।

यह भी समझ लेना चाहिए कि कल्पवृक्ष केवल कल्याणमय नहीं होता उसके समीप जाकर अनिष्ट कल्पना हो जाय तो उस अनिष्ट की भी प्राप्ति हो जाकगी परन्तु भगवान उस पेड़ की तरह नहीं हैं। वे परम कृपालु हैं। हमारी अनिष्ट कल्पना को पूरा नहीं करेंगे। कल्याणमयी कल्पनाओं को पूरा करेंगे। इसलिए सभी के लिए वे कल्पवृक्ष के समान हैं, ऐसा कहना ठीक न होगा। कल्पवृक्ष की अपनी सीमा भी है वह मोक्षदायक नहीं हो सकता, परन्तु भगवान सकल कल्याणमय हैं। चित्रकूट की झांकी का ध्यान मोक्ष देने में समर्थ है। जिन भक्तों की संसार की सभी तृष्णा क्षय हो गई है, उनकी चेष्टा, उनकी स्पृहा, उनकी याचना केवल भगवद् भक्ति के अपूर्व रसामृत के लिए है। भगवान की दिव्य रसमयी लीला में प्रविष्ट ऐसे अनन्य रसिक भक्तों की लिए भगवान की अपार कृपा का प्रसाद सदैव उपलब्ध रहता है। पराभक्ति में डूबा हुआ विशुद्ध अनन्य अन्तःकरण भगवान की लीला सम्बन्धी, भगवत् प्रीतिमयी कल्पनाएँ ही करता है और भगवान की दिव्य लीला में उसकी जो भी याचना होती हे उसकी पूर्ति तत्काल होती है। इसलिए विशेषतः श्री गोस्वामीजी के लिए यह ध्यान कल्पवृक्ष ही है।

श्री गोस्वामीजीं के आदर्श श्री भरतजी हैं। भरतजी के भाव को लेकर ही श्री गोस्वामीजी भगवान के सम्मुख हुए हैं। यह समझना चाहिए कि अपनी साधना में श्री गोस्वामीजी भरतजीके भाव में ही प्रतिष्ठित हैं। श्री भरतजी ने भी चित्रकूट वासी सरकार को कल्पवृक्ष ही कहा—

जाइ निकट पहिचानि तरु, छाँह समनि सब सोचु।
माँगत अभिमत पाव जग, राव रंकु भल पोचु। अयोध्याकाण्ड

जिस प्रकार श्री भरतजी ने श्रीरामजी का स्वभाव कल्पवृक्ष के समान माना है—'देव देवतरु सरिस सुभाऊ' इसी प्रकार की गोस्वामीजी की भी निष्ठा है, अतः मंगलाचरण में वर्णित ध्यान सभी लोगों के लिए सकल कल्याणमय है, परन्तु श्री गोस्वामीजी के लिए वह कल्पवृक्ष के समान नहीं वरन् साक्षात् कल्पवृक्ष ही है। इसी से श्री गोस्वामीजी ने उपमा के स्थान पर रूपक का प्रयोग किया। अतः हम सबके लिए यह अभीष्ट है कि पाँच वृक्षों से घिरे हुए चित्रकूट के सतसंग स्थल में केन्द्रीय वट वृक्ष की छाया में श्री महाराणीजी के द्वारा बनाई गई वेदिका पर बिराजमान् तीनों सरकारों के ध्यान में मग्न हों और सकल प्रकार के कल्याण के भाजन बनें। इसी सकल कल्याण के अन्तर्गत यह भी है कि इस परम मंगलमय ध्यान से हमें ऐसी भगवत् कृपा की प्राप्ति हो कि हम इस दिव्य प्रभाव से युक्त संक्षिप्त ग्रन्थ वैराग्य संदीपनी का वास्तविक अर्थ, तात्पर्य, सन्देश, हृदयंगम कर सकें और इस गागर में जो सागर भरा है, केवल वासठ छन्दों में 'अखिल ज्ञान का सार' रख दिया गया है, इसे समझें और धारण करने में और अपने को कृतकृत्य करने में समर्थ हों।

हमारे तीनों सरकार रामनाम के र, अ और म के रूप में भी हैं। उनकी झाँकीं श्री रामनाम की झाँकी है। श्री हनुमन् नाटक में केवल श्रीराम नाम की ही वन्दना प्रारम्भ में की गयी है और श्रीराम नाम को ही 'कल्याणानां निधानं' कहा गया है। श्री गोस्वामीजी भी श्रीराम नाम के अनन्य अनुरागी हैं—

शंकर साखि जो राखि कहौं कछु तो जरि जीह गरो।
अपनो भलो राम नामहि ते, तुलसिहि समुझि परो।
(विनय पत्रिका)

अतः श्रीं गोस्वामीजी श्रीरामनाममय और सकल कल्याण निधान झांकी से ग्रन्थारम्भ करते हैं।

तुलसी मिटै न मोह तम, किये कोटि गुन ग्राम ।
हृदय कमल फूलै नहीं बिनु रबि कुल रवि राम ।।२।।

श्री गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं कि करोड़ों गुण समूहों के अर्जित करने और बरतने से भीं मोह का अन्धकार नहीं मिटता। सूर्यं वंश के भी सूर्य के समान भगवान श्रीरामचन्द्रजी के प्रताप के आदित्य के प्रकाशित हुए बिना हृदय कमल नहीं खिलता।

पूज्यपाद श्री गोस्वामींजी प्रथम दोहे द्वारा मंगलाचरण करके इस दूसरे दोहे में ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय प्रारम्भ करते हैं। ग्रन्थ का प्रयोजन वैराग्य को बढ़ाने का है। ग्रन्थ समास शैली में सूत्र मात्र प्रस्तुत करता है। वैराग्य स्थापना के लिए पूर्व पक्ष मोह है। मोह के क्षय और विनाश से ही वैराग्य प्रकट व उद्दीप्त होगा। यह ग्रंथ मुमुक्षु जनों के हितार्थ प्रणीत किया गया है। जो विषयी जन संसार को हीं सुख का धाम जानते हैं, और उसमें नितान्त आसक्त हैं, उन्हें जगत् के प्रति राग है, और इस राग से वे सन्तुष्ट हैं, ऐसे लोगों को यह अभिलाषा ही नही है कि वे वैराग्य को प्राप्त करें। परन्तु विकास क्रम में जीव किसी समय उस सोपान पर पहुँच जाता है, जहाँ वह संसार के व्यवहार से सन्तुष्ट नहीं रहता। किसी वड़ी विपत्ति या किसी कठिनाई के समय संसार से या अपने जीवन से असन्तुष्ट होने का अवसर आता है। परन्तु जहाँ केवल

इतनी ही चिन्ता होती है कि प्राप्त विपत्ति या कठिनाई कैसे हल हो वहाँ न वैराग्य की प्राप्ति होती है न उसकी खोज होती है। परन्तु समय समय पर विभिन्न विपत्तियों और कठिनाइयों के आते रहने पर धीरे धीरे यह अनुभव होने लगता है कि जीवन को सुखी बनाने के लिए एक एक विपत्ति का निवारण पर्याप्त नहीं है, क्योंकि नई नई बिपत्तियाँ हमेशा आतीं ही रहेंगी और पुरानी विपत्तियाँ भी पुनः आ सकती हैं। लौकिक उपायों से एक एक विपत्ति का तात्कालिक निवारण कर भी सकें तो उससे काम नहीं चलेगा। ज़ीब का वास्तविक प्रयोजन यह है कि दुख का अत्यन्ताभाव हो जाय, सभी दुख मिट जायँ और नये दुखों की प्राप्ति का सिलसिला भी समाप्त हो जाय। जब जीव अपने इस लक्ष्य को पहचान लेता है, तब उसे अध्यात्म की और मोक्ष की प्रेरणा होती है, क्योंकि विशिष्ट विपत्तियों के निवारण के साधनों के अनुष्ठान से दुख का अत्यन्ताभाव कभी नहीं हो सकता।

जब यह संसार सत्यं शिवम् सुन्दरम् का स्वरूप न जान पड़े, जब जीव अपने अज्ञान के प्रति सचेत हो जाय और वास्तविक सत्य को पहिचानने के लिये, सांसारिक बन्धनों से छूटने के लिए, प्रेरित हो तब वह मुमुक्षु कहलाता है। जगत् को आसक्ति को सुख रूप जानने वाला आसक्ति के बन्धन को दृढ़ रखना चाहता है, तोड़ना नहीं चाहता, परन्तु अज्ञानवश यह जीव भव कूप में पड़ा है और कर्म बन्धन में निबद्ध है। जान बूझकर कोई भी धोखे या अज्ञान की दशा को पसन्द नहीं करता। अपना अज्ञान ही मोह का कारण है। अपने मोह को पहचान लेने से अवश्य उसके निवारण की प्रेरणा होगी। मोह में विपरीताभास होता है। विपरीताभास से जगत् के पदार्थों में आसक्ति होती है। आसक्ति से बंधन और दुख की प्राप्ति होती है। मुमुक्षु जनों ने पहचान लिया है कि जीवों के व्यावहारिक कार्य में उन्हें जो सत्य असत्य, हानि लाभ, सुख दुख आदि का आभास होता है वह सत्य नहीं हैं। आसक्त अन्तःकरणों को

मिथ्याभास होता है और इस मिथ्याभास के कारण अनेक अनर्थों की प्राप्ति होती है। विपरीताभास होना ही मोह है।

मोह सकल व्याधिन कर मूला।
तेहि ते पुनि उपजहिं बहु शूला।।

मोह से अनर्थों की प्राप्ति होती है इसलिए मुमुक्षु जो इस तत्व को जानता है मोह से छूटने के लिये आकांक्षा रखता है। श्री वैराग्य सदीपनी का अधिकारी मुमुक्षु जन है जो मोह के दुष्परिणामों को जान और समझ चुका है। अत: ग्रन्थकार ने मोह के दुष्परिणामों का विवेचन आवश्यक नहीं समझा उसे अन्धकार रूप बताना ही पर्याप्त समझा। मोह का यहाँ वास्तविक अर्थ वही है जो महर्षि पतंजलि कथित अविद्या का है। महर्षि पतंजलि ने कहा है कि--

“अविद्या अस्मिता, राग द्वेषाभिनिवेशा: पंच क्लेशा:”
(साधन पाद २/३)

महर्षि ने यह भी कहा है कि अविद्या अन्य क्लेशों का कारण है–

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छन्नोदाराणाम्। (पाद २/४)

इसी अविद्या को श्रीराम चरित मानस में व इस ग्रन्थ में मोह कहा है--अज्ञानवश विपरीताभास होना ही अविद्या है और यही मोह है। योग दर्शन में कहा है--

अन्त्याशुचिदु: खानात्मसु नित्य शुचि सुखात्मख्यातिर विद्या।
(योगसूत्र २/५)

अनित्य वस्तु में नित्य का आभास होना अपवित्र वस्तु में पवित्र का आभास होना, असुख वस्तु में सुखाभास होना तथा अनात्म वस्तु में आत्म स्वरूप का आभास होना ऐसा विपरीत अनुभव ही अविद्या है। श्री गोस्वामीजी ने लिखा है कि—

साचे कहूँ झूठो समुझि झूठे कहूं साँचो जानि।
को न गयो को न जात है, को न जैहै करि हित हानि।(वि०प०)

इस प्रकार मिथ्याभास ही अनर्थों की जड़ है। मोह वश संसार रमणीक और सुखकारी प्रतीत होता है—

जग नभ वाटिका रही है फल फूलि रे।
धुवां के से धौरहर देख तू न भूलि रे। (वि० प०)

जगत् जिस रूप में हम लोगों को दिखाई पड़ता है और हमारे अनुभव में आता है वह रूप सत्य नहीं है उसमें जो सुख दिखाई पड़ता है वह भी मिथ्याभास है--

तहँ मगन मज्जसि पान करि त्रैंकाल ज़ल नाहीं जहां।। (वि० प०)

श्री कवितावली में गोस्वामीजी कहते है --

झूठो है झूठो है, झूठो सदा है जग,
वेद पुरान सुसंत कहा है।
ताको सहै सठ संकट कोटिक,
काढ़त दन्त करंत हहा है
ज्ञान पनी को गुमान बड़ो,
तुलसी के विचार गँवार महा है।
जानकी जीवन जान न जान्यो,
तो ज्ञानी कहावत जान्यो कहा है।।

इस प्रकार विपरीत ज्ञान वाला मोह वश है और सत्य ज्ञान वाला मोह से रहित ज्ञानी है। स्पष्ट है कि मोह जन्य मिथ्याभास के कारण जगत् सुखमय भासता है और इसी से उसमें आसक्ति होती है। जहाँ जिसको सुख भासता है वहीं उसकी आसक्ति होती है—

सुखानुशयी रागः (पातंजलि, योग दर्शन पाद २/७)

इसी प्रकार जहाँ जगत् में दुख भासता है तो उसके निवारण या अभाव की कामना होती है–

दुखानुशयी द्वेषः (पतंजलि, योग दर्शन पाद २/८)

हमारा भौतिक शरीर स्वयं अनित्य अपवित्र, असुख व अनात्म है। परन्तु इसमें नित्य पवित्र, सुख, आत्म भाव की प्रतीति होती है। अनात्म शरीर में आत्म भाव होने से अस्मिता उत्पन्न होती है हम अपने को देह समझने लगते हैं। असुख शरीर में सुख बुद्धि होने से देहासक्ति पैदा होती है। अत्यन्त आसक्ति जहां भी हो मोह कहलाती है।

ग्रन्थकार ने मोह को अन्धकार रूप माना है। मोह वश जो मिथ्याभास होता है उसको अवास्तविक होने के कारण, असत्य होने के कारण, स्वप्न के समान माना गया है—

मोहनिशा सब सोवनिहारा। देखहिं सपन अनेक प्रकारा।।
एहि जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच वियोगी।।

जानिय तबहिं जीव जब जागा। जब सब विषय विलास विरागा।।
होइ विवेक मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा।।

हम लोग मोह रूपी रात्रि में सो रहे हैं और मिथ्याभास जनित हमारी अनुभूति स्वप्न की तरह है। दिन और रात में से दिन सुप्रकाशित

है। रात्रि में अन्धकार रहता है। मोह निशा में हम सोते हैं तो मोह को अन्धकार कहना ही ठीक है। साधारण बात में खुशी और प्रकाशका का सम्बन्ध चलता है और दुख शोक से भरा हुआ घर अँधियाला कहलाता है। सुख और प्रसन्नता की अत्यन्त प्राप्ति होने पर घर या जीवन या समाज प्रकाशमान कहा जाता है। खुशी मनाने के लिए दीपावली सजाई जाती है या बिजली के बल्बों की सजावट की जाती है। नाटकों में भी जहाँ अत्यन्त सुखकारी अभिनय होता है, वहाँ रंगमंच पर तेज़ रोशनी की व्यवस्था की जाती है, जबकि दुख, शोक, मृत्यु आदि दृश्यों में मन्द प्रकाश की व्यवस्था की जाती है। तत्व विचार में ही नहीं, लोक व्यवहार में भी सुख और प्रकाश का सम्बन्ध माना गया है तथा दुख और अन्धकार का। घरों में विवाह आदि अवसरों पर प्रबल प्रकाश अच्छा लगता है और दुख या मृत्यु आदि के अवसरों पर प्रकाश को मन्द कर दिया जाता है। मनुष्य प्राय: शयन रात्रि में ही करता है और अँधेरे स्थान में नींद अच्छी आती है और नींद में ही स्वप्न का मिथ्याभास प्राप्त होता है। इस प्रकार सम्यक विचार से प्रतीत होता है कि मोह को तम रूप अर्थात् अन्धकार रूप ही मानना चाहिए।

प्रकाश में ही चीजें दिखाई पड़ती हैं अन्धकार में नहीं दिखाई पड़ती हैं। यह ठीक है कि जिस अन्धकार में हमें कुछ नहीं दिखाई पड़ता उसमें उल्लू या बिल्ली जैसे जीवों को दिखाई पड़ता है। परन्तु विज्ञान की दृष्टि से मानना पड़ेगा कि हमारे लिए जो अन्धकार है वह उल्लू की आँख के लिए नहीं है, उल्लू की आँख के लिए जो प्रकाश है उसी में उसे दिखाई पड़ता है, अन्धकार में नहीं। कभी कभी प्रकाश की कमी में यदि कोई दृष्टि भ्रम होता है तो विशेष प्रकाश लाकर अच्छी तरह देखकर भ्रम निवृत्ति करते हैं। सभी तरह प्रकाश और ज्ञान का सम्बन्ध स्पष्ट है तथा सन्देह अज्ञान, मतिभ्रम या विपरीत ज्ञान का सम्बन्ध अन्धकार से है इसलिए मोह को अन्धकार कहना स्वाभाविक और सही है।

एक बात और है, सांख्य दर्शन और योग दर्शन का सामंजस्य है। दोनों का तत्व ज्ञान एक ही है। सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष और प्रकृति दो तत्व माने गये हैं, गीता में भी कहा है—

"प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्धयनादी उभावपि" (गीता १३।१९)

सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष में ज्ञान है परन्तु क्रिया नहीं, जबकि प्रकृति में क्रिया है ज्ञान नहीं। इस तत्व को समझने के लिये पुरानी कहावत का प्रयोग किया जाता है कि —

राम बनाई जोड़ी। एक अन्धा एक कोढ़ी ।।

प्रकृति ज्ञान से रहित होने के कारण अन्धी है। पुरुष क्रिया से रहित होने के कारण कोढ़ी (लँगड़ा) है। इस जोड़ी के लिए गतिमान् होना तभी सम्भव है जब लँगड़ा अन्धे के कंधे पर सवार हो जाय। इसी प्रकार सांख्य दर्शन के अनुसार शरीर प्रकृति का विकार है, उसमें क्रिया है, ज्ञान नहीं सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष इस अन्धे पर सवार है उसमें ज्ञान है क्रिया नहीं। सांख्य दर्शन के अनुसार पुरुष प्रकृति की क्रिया का दृष्टा है, परन्तु मोहवश उसे ऐसा मालूम पड़ता है कि वह स्वयं कर्ता है। इस प्रकार प्रकृति की क्रियाओं को अपना लेने के कारण पुरुष बन्धन को प्राप्त है। मिथ्याभास ही उसका बन्धन है। इस प्रकार जड़ चैतन्य की ग्रन्थि पड़ गई है। इस भ्रम के निवारण होने पर प्रकृति लुप्त हो जाती है और पुरुष अकेला रह जाता है। यही उसका मोक्ष है। "अति दुर्लभ कैवल्य परम पद। सन्त पुरान निगम आगम वद"।। श्री रामचरित मानस में जीव के बन्धन का वर्णन इस प्रकार है—

ईश्वर अंश जीव अविनासी। सत चेतन घन आनन्द रासी ।।
सो माया बस भए गोसाईं। बँधेउ कीर मरकट की नाईं ।।
जड़ चेतनहिं ग्रंथि परि गई। यद्यपि मृषा छूटत कठिनाई ।।
जीव हृदय तम मोह विसेषी। ग्रंथि छूटि किमि परइ न देखी ।।

इस वर्णन के अनुसार जिस आवरण के कारण प्रकृति और पुरुष की गाँठ दिखाई नहीं पड़ती और इसलिए सुलझाई नहीं जा सकती तो उसे अन्धकार रूप मानना ही ठीक है। सांक्ष्य कारिका के लेखक श्री ईश्वर कृष्ण ने कहा है कि "प्रकृति से बढ़कर कोई शर्मीली लड़की दुनियाँ में नहीं है।" दूसरी दूसरी लड़कियाँ यदि किसी के द्वारा देख लिए जाने पर शरमा जाती हैं तो लज्जित होकर भाग जाती हैं परन्तु ऐसा नहीं होता कि फिर जीवन भर कभी उसके सामने न आयें। परन्तु पुरुष के द्वारा अपने से भिन्न रूप में देख और पहचान लिये जाने पर प्रकृति सदैव के लिए अदृष्ट हो जाती है। और पुरुष को केवल्य (अकेलापन, मोक्ष) प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार दिखाई पड़ते ही ग्रंथि खुल जाती है, ऐसा कहा जा सकता है। इसलिए मोह अन्धकार है और वही बन्धन है, ज्ञान के प्रकाश से उसका नाश हो जाना मोक्ष है।

मोहान्धकार के विवेचन के बाद उसकी निवृत्ति का प्रश्न उठता है। एक बार मोह को अन्धकार रूप जान लेने पर यह स्वीकार करना पड़ेगा कि उसकी निवृत्ति का उपाय प्रकाश ही है, अन्य कुछ नहीं। अतः मोह नाश और मोक्ष प्राप्ति के लिये ज्ञान का प्रकाश एक मात्र साधन है ज्ञान प्राप्ति के अतिरिक्त अन्य गुणों का साधन या कोई अन्य साधन व्यवस्था सक्षम और उपयुक्त नहीं हो सकती।

ग्रन्थकार ने कहा है कि करोड़ों गुण समूहों का संग्रह करने से भी मोह रूपी अन्धकार का नाश नहीं हो सकता। साधारण विचार के साधक का यह अनुमान हो सकता है कि सम दम संयम नियम आदि गुणों या साधनों का मोहतम के नाश करने में उपयोग है। परन्तु ग्रन्थकार ने प्रबल शब्दों में कहा कि करोड़ों गुण भी मोहतम को नहीं मिटा सकते। उसके लिए भगवतानुभूति का प्रकाश चाहिए। किसी किसी को यह खटक सकता है कि मोहान्धकार का उल्लेख करने के बाद ग्रन्थकार को

वैराग्य का वर्णन करना चाहिए था। आशा की जा सकती थी कि वैराग्य से मोह का नाश बताया जाता, और तब वैराग्य से ज्ञान की प्राप्ति का निरूपण होता। जो शब्दावली यहाँ दूसरे दोहे में प्रयुक्त है। उसमें यह सकेत मिलता है कि ज्ञान से ही मोहतम मिटेगा यानी वैराग्य होगा, न कि वैराग्य से मोह का नाश होगा और तव ज्ञान की प्राति होगी। इस दूसरे दोहे से तो ऐसा जान पड़ता है कि श्री गोस्वामीजी महाराज ज्ञान सदीपनी लिख रहे हैं, न कि वैराग्य संदीपनी। परन्तु हमें ज्ञान के सार रूप इस अत्यन्त संक्षिप्त ग्रंथ में ग्रंथकार के प्रयोजन को समझने में सावधानी बरतनी चाहिए। शास्त्र सम्मत जो तत्व ज्ञान है उसे पूज्य ग्रथकार ने कम से कम शब्दों में प्रस्तुत कर दिया है। सूत्र या समास शैली में दिये गये संकेतों को ठीक ठीक समझने में गहन विचार और सतत् सावधानी की आवश्यकता है।

वैराग्य दो प्रकार का है। एक वह जो राग का उल्टा है। कहा गया है--

विरागी विषयद्वेष्टा, रागी विषयलोलुपः।

विरागी विषयों से द्वेष करता है और रागी विषयों की लालच करता है। रागी को विषयों में सुख जान पड़ता है इसलिए वह विषयों को पाने के लिए लालायित रहता है, विरागी विषयों को दुख रूप जानता है इसलिए उनसे बचना चाहता है, दूर भागता है। इस प्रकार रागी राग से पीड़ित है, विरागी द्वेष से पीड़ित है। महर्षि पतंजलि ने राग और द्वेष दोनों को क्लेशों में गिना है। जब तक जो जिससे बचना चाहता है, डरता है, भागता है. तब तक उसकी धाक उसके दिल में जमी है। साँप को देखकर हम भागते हैं, क्योंकि उससे क्लेश की आशंका है परन्तु यदि यह सिद्ध हो जाय कि सर्प की प्रतीति मिथ्या है, वस्तुतः वहाँ रस्सी है,

तो फिर हम डर कर भागेंगे नहीं। इस प्रकार जब तक विषयों का आकर्षण या विकर्षण हमारे अन्त:करण में प्रबल है तब तक विषयों का महत्व हमारे अन्त:करण में प्रतिष्ठत है। विषयों में चाहे सुखाभास हो या दुखाभास, दोनों की सम्भावना तभी तक है, जब तक विषवों में सत्याभास है। मिथ्याभासहोने पर विषय महत्वहीन हो जायंगे। न वे अर्थ रूप रहेंगे न अनर्थ रूप रहेंगे। छाया प्रतिध्वनि, प्रतिबिम्ब, परछाहीं, स्वप्न-दृश्य, सिनेमा के पर्दे के दृश्य या टेलीविजन के पर्दे पर दृश्य या रंगमंच पर किया हुआ अभिनय, जैसे इनमें से किसी में भी हमारी वस्तुबुद्धि या सत्यबुद्धि नहीं होती, इनमें मिथ्याभास बुद्धि ही होती है, और हम इनके प्रति वास्तविक आकर्षण या विकर्षण का अनुभव नहीं करते, उसी प्रकार सच्चा वैराग्य तभी होगा जब आकर्षण के बाद विकर्षण की भावना भी शान्त हो जायेगी। विषयों के मिथ्यात्व ज्ञान से उनका महत्व एकदम निर्मूल हो जायेगा।

महर्षि पतंजलि ने वैराग्य की परिभाषा इस प्रकार की है—

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम्। (१।१५)

देखे हुए और सुने हुए विषयों में उत्पन्न तृष्णा को वश में करने का नाम वैराग्य है। यहाँ दृष्ट से मतलब इस दुनिया के अनुभव किए हुए विषयों से है। आनुश्रविक (सुने हुए) विषय वे कहे गये हैं, जो अनुभूत नहीं हैं, परन्तु शास्त्र श्रवण आदि से जिनकी सूचना मिलती है। ऐसे विषयों में सुख का आभास होना और प्राप्ति की लालसा होना, विषयासक्ति है, इस आसक्ति पर पूर्ण नियन्त्रण होना, उसका निरसन होना ही वैराग्य है। साधारण विषयी व्यक्ति इस जगत् के दृष्ट [अनुभूत] विषयों के आकर्षण से ही कर्त्तव्य भ्रष्ट हो जाता है। परलोक के, स्वर्गादि लोकों के सुख इनसे कहीं अधिक मूल्यवान हैं। अत: श्रद्धा विश्वास और किंचित्

विवेक रखने वाले को परलोक के विषयों का अधिक आकर्षण होता है, और वह उसे इस लोक के जीवन में कर्तव्य पालन की प्रेरणा देता है। क्योंकि धर्म पालन से ही परलोक में सद्गति होगी। इस प्रकार का साधक परलोक के विषयों में आसक्त रहता है। क्षुद्र विषयों से श्रेष्ठतर विषय मे उसकी आसक्ति रहती है। शास्त्र का कथन है कि "अदृष्टमपि दृष्टवत्" परलोक के अदृष्ट सुख भी इस लोक के विषयों की ही तरह हैं, उतने ही नश्वर, असार, तुच्छ, व्यर्थ, मिथ्याभासयुक्त हैं। इसलिए—

कहिय तात सो परम विरागी।
तृण सम सिद्धि तीन गुन त्यागी।। (रामचरित मानस)

श्री हनुमान् जी "ब्रम्ह लोकादि वैभव विरागी" [वि० प्र०] हैं। परलोक तक के किसी विषय में उन्हें कोई आकर्षण नहीं जान पड़ता।

श्रीमद्भगवद् गीता में कहा है कि विषयों का सेवन न करने से वे विषय ही वाह्य जगत में छूटते हैं, उनमें सुखाभास, रमणीयता का भास, रसाभास नहीं समाप्त होता, पर तत्व के दर्शन से वह निवृत्त होता है। (गीता २/५९] जब तक सत्य स्वरूप परमात्मा का अनुभव नहीं होता, जगत् के "दुखालयमशाश्वतं [गीता ८/१५] दुखमय, क्षणभंगुर स्वरूप का ठीक ठीक निश्चय भी नहीं होता। मोह बना रहता है। विपरीताभास होता है असुख में सुखबुद्धि होती है। वाह्य बिषयों का स्वरूप से त्याग देना व्यर्थ नहीं है, शास्त्र के अनुसार वैसा करना आध्यात्मिक विकास में सहायक है। परन्तु इस प्रकार के त्याग को बढ़ाते रहने से ही सच्चा और पक्का वैराग्य नहीं हो सकता। जैसे कोई स्वप्न में सन्यासी हो जाय तो स्वप्न के भीतर ही उसका वैराग्य है, परन्तु स्वप्न की सारीं दुनिया से बैराग्य तब होगा जब वह जाग जायगा और सम्पूर्ण स्वप्न सृष्टि ही उसके लिए मिथ्या ठहरेगी। 'एहि जग जामिनि जागहि योनी।" इस प्रकार जागने वाले योगीजन ही है इस प्रकार मोह

नाश की पूर्णता और वैराग्य की परिपक्वता भगवत् प्राति से ही सम्भव है अन्यथा नहीं। परन्तु भगवत् प्राप्ति संयोग से नहीं होती वह तमाम साधनों का सुन्दर फल है। इस तत्व को द्वितीय दोहे में बड़े ही सुन्दर ढँग से पिरोया गया है।

शास्त्रकारों के समक्ष एक विरोधाभास आता है। भगवान की प्राप्ति में साधन का भी हाथ है, भगवत कृपा का भी। परन्तु दोनों को बराबर रखते हुए निरूपण नहीं किया जा सकता। साधन को कुछ भी महत्व न दें भगवत् कृपा को ही सब महत्व दें, तो साधन को अनाबश्यक मानना होगा, परन्तु विषयासक्त पुरुष को संयोग से भगवान नहीं मिल जाते। निरमल मन जन से मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा।। यह साधन का महत्व है। परन्तु यह गुन साधन से नहि होई। तुम्हारी कृपा पाव कोइ कोई। (रा०च०मा०) में भगवतकृपा का महत्व प्रदर्शित है। विरोधाभास प्रतीत होते हुए भी दोनों का उपयोग है।

परमार्थ निरूपण में अधिकारी भेद से भिन्न भिन्न प्रकार का निरूपण करना पड़ता है। कर्म, उपासना, ज्ञान कोई भी क्षेत्र हो उसकी ऊँची से ऊँची बातें प्रारम्भिक साधक के लिए समझ के बाहर की हो सकती हैं, और उसके द्वारा नासमझी से दुरुपयोग होने का भी डर रहता है। वैराग्य और ज्ञान के प्रसग में भी हमेशा इसका विचार रखना पड़ेगा। यदि नये साधकों को ज्ञान की ऊंची ऊँची बातें बताई जायँ और निरूपण में उनको महत्व दिया जाय तो यह आशका रहेगी कि साधक की साधना में प्रवृत्ति नहीं होगी या अत्यन्त मन्द प्रवृत्ति होगी। वेदान्त शास्त्र में भी साधन चतुष्टय सम्पन्न व्यक्ति ज्ञानोपदेश प्राप्त करने का अधिकारी माना गया है, अन्य पुरुष अधिकारी नहीं। साधन चतुष्टय में विवेक वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व है। नित्य और अनित्व बस्तु का भेद अनुभूति में स्पष्ट होना विवेक है। इस लोक के और परलोक के भी फल भोगों

में अनासक्ति होना वैराग्य है। शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा और समाधान यह छः लक्षण षट्सम्पत्ति कहलाते हैं। इन तीनों के होते हुए फिर मोक्ष की इच्छा होना यही मुमुक्षुत्व कहलाता है। इस प्रकार इन सब लक्षणों के बिना केवल बौद्धिक जिज्ञासा से किसी को ज्ञान का अधिकारी माना नहीं जा सकता इसमें वेदान्त वालों की ज्ञान को छिपा रखने की कोई वृत्ति मान्य नहीं है। अधिकारी का निरूपण इसीलिए है कि अनधिकारी के सामने यदि ज्ञान का निरूपण किया भी जाय तो वह भली भाँति उसके समझ में नहीं आएगा और उसे ज्ञान की अनुभूति न हो सकेगी। इसलिए सुनी हुई बातों का दुरुपयोग हो जाने की आशंका है। इसलिए प्रारम्भिक साधकों को ऐसा उपदेश मिलना आवश्यक है, कि वे अमुक अमुक नियमों के अनुसार आचरण करें तथा अमुक अमुक गुणों को धारण करें। इसलिए रामचरित मानस में विभीषण शरणगति के प्रसंग में श्रीरामचन्द्र जी ने जो यह कहा है कि—

निरमल मन जन सों मोहि पावा।
मोहि कपट छल छिद्र न भावा।।

इस वचन का बड़ा उपयोग है। विषयी लोगों को ऐसा उपदेश नहीं मिलना चाहिए कि वे छल कपट पाप आदि में लिप्त रह सकें। जब भगवान की अहैतुकी कृपा होगी तो भगवान स्वयं उनको पतित से पावन बना देंगे, जीव न कुछ कर सकता है न कुछ करने का उसका उत्तर दायित्व है। ज्ञान की ऊँची ऊँची बातें यदि नये साधकों के आलस्य और प्रमाद के पुष्टिकरण में ही प्रयुक्त हुईं तो वह बेचारे मोक्ष से और दूर हो जायँगे और उनका माया का बन्धन और भी दृढ़ हो जायगा। इसलिए अधिकार का ज्ञान किए बिना ज्ञान की ऊँची से ऊँची बातें सब लोगों को समझाने की चेष्टा में हानि और पतन की बहुत आशका है।

उपर्युक्त के अतिरिक्त यह भी विचार करना चाहिए कि भगवान किसी कर्म का परिणाम नहीं है तो किसी भी फल के रूप में प्राप्त नहीं हो सकते । इसलिए किसी भी साधन को कर लेने के बाद हम यह दावा नहीं कर सकते कि अब हम भगवान की प्राप्ति के अधिकारी हो गए, भगवान हमको अवश्य मिलने चाहिए । यह भी न भूलना चाहिए कि किसी भी अच्छे से अच्छे साधक को भी अगर यह आभास हो जाय कि उसने मन को बश में कर लिया है और अब उसका मन विकार ग्रस्त नहीं हो सकता तो यह उसका भ्रम है । ऐसा आभास होना सचमुच अभिमान के उत्पन्न होने का द्योतक है । ऐसे अभिमान से युक्त पुरुष माया से छटा नहीं बल्कि उसकी ससृप्ति का मूल और भी दृढ़ हो गया । अनेक साधन कर लेने के बाद और बहुत से गुणों का उपार्जन कर लेने के बाद भी यह समस्या बाकी रहती है कि अभिमान का निरसन कैसे किया जाय । अभिमान विचित्र रूपों में प्रकट होता है । विद्या का अभिमान, ज्ञान का अभिमान, सन्त स्वभाव का अभिमान, योग सिद्धि का या चमत्कार का अभिमान यहाँ तक कि उत्तम भक्त होने का अभिमान, दीनता का अभिमान या अभिमान न होने का अभिमान–इन सब रूपों में अभिमान प्रकट हो सकता है, होता है । ऐसी दशा में अन्य प्रकार के साधनों और विविध गुणों के उपार्जन से यह समस्या नहीं सुलझती । बहुत से शुभ कर्मों का अनुष्ठान होने से पुण्य तो होता है परन्तु अधिक अभिमान से पुण्य का अनुष्ठान करने से उतना उत्तम फल भी नहीं होता । तथापि हमारे लिए मुख्य बात यह हैं कि पुण्य से सुख ही मिलेगा परन्तु अभिमान के गलित हुए बिना किसी भी कर्म या साधन से मोक्ष प्राप्ति सम्भव नहीं । इसलिए उच्च सोपान पर पहुँच कर साधक के सामने अभिमान के त्याग की समस्या आ जाती है । और इस त्याग हेतु कोई भी बाह्य कर्म या अनुष्ठान पर्याप्त नहीं । अभिमान का निरसन तभी होगा जब हमारी अनुभूति में यह बात आ जाय कि हमारे समस्त शुभकर्म और साधन हमारी सामर्थ्य से

हमारे द्वारा किए गए कर्म हैं ही नहीं,वे हमारे द्वारा करा लिएगएहैं । जब यह अनुभूति आएगी तब हूम किसी भी शुभ कर्म या साधन का श्रेय लेना बन्द कर देंगे और समस्त शुभ का श्रेय भगवान को देंगे। परन्तु ऐसी दशा में भगवान की उद्धारक शक्ति को क्रियमाण पाते हुए हम अशुभ कर्मों का दायित्व भगवान पर नही डालेंगे, अपने ही ऊपर लेंगे । इस प्रकार विशुद्ध भक्ति की वह रहनि सिद्ध होती है जो रामचरित मानस में कही गयी है कि—

गुण तुम्हार समझै निज दोसू ।
जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसू ।।

यही भाव परमोत्कृष्ट रूप में भरतजी में पाया जाता है जिन्होंने भक्ति विभोर होकर कहा कि, "जो परिहरहिं मलिन मन जानी । जो सनमानहिं सेवक मानी ।। मोरे शरण राम की पनहीं, । रामसुस्वामि दोसु सब जनहीं ।

इस प्रकार के भक्ति भाव से अभिमान सहज ही निरस्त हो जाता है, और मोक्ष का द्वार खुल जाता है । इस कारण से भी कहा गया है कि मोक्ष साधन की सकल सामग्री में भक्ति ही श्रेष्ठ है । इससे हमें उपनिषद् के उस मन्त्र का रहस्य भी समझ में आ जायगा जिसमें यह कहा गया है कि, जिसकी ईश्वर में परम भक्ति हो और जैसी ईश्वर में हो वैसी ही गुरु में हो उसी के प्रति महात्मा लोग उपनिषद् के अर्थों को प्रकाशित करते हैं । श्वेता० ६.२३, इस प्रकार भक्ति अन्तःकरण की शुद्धि, अभिमान की निवृत्ति और मोक्ष की प्राप्ति का साधन है । वैराग्य सदीपनी के दूसरे दोहे में अत्यन्त कुशलता और चतुरता पूर्वक भक्ति का पुट भी दिया गया है और ज्ञान का एक उत्तम रहस्य भी पिरोया गया है ।

सांख्य दर्शन में प्रकृति और पुरुष दो तत्व माने गये हैं और दोनों को अनादि माना गया है । श्रीमद्भगवत् गीता में भी कहा है कि–

प्रकृतिं पुरुषम् चैंव विद्धयनादी उभावपि (गीता १३/१९)

सांख्य के अनुसार सारी क्रिया प्रकृति में है पुरुष में नहीं, पुरूष में केवल ज्ञान है। जो विवेकी यह समझ लेता है कि प्रकृति के तीन गुण ही समस्त क्रिया के कारण हैं वह अपने को कर्ता नहीं मानता। अहंकार से मोहित होकर अथवा होने पर ही पुरुष अपने को कर्त्ता मानता है। (गीता ३/२७) सांख्य दर्शन के इस विवेचन में भी यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यदि पुरुष कुछ कर नहीं सकता उसे केवल कर्ता बनने का भ्रम है समस्त क्रिया प्रकृति ही करती है तो फिर बद्ध पुरुष अपने मोक्ष का साधन भी कैसे कर सकता है ? इसके उत्तर में सांख्यवादियों ने यह माना है कि भोग और मोक्ष दोनों से सम्बन्धित सभी क्रियाएँ प्रकृति ही करती है, पुरुष नहीं। इसी तत्व को समझाने के लिए भारतीय दर्शन में माया को "उभयतोवाहा" नदी बताया गया है। अर्थात् माया एक ऐसी नदी है जो दोनों तरफ़ बहती है। उसका एक प्रवाह भगवान से दूर ले जाता है और दूसरा प्रबाह संसार से भगवान की ओर ले जाता है। इसी तत्व को समझाने के लिए माया के दो भेद माने गये हैं। एक अविद्या माया, और दूसरी विद्या माया। अविद्या माया भव बन्धन में लिप्त करती है और भवसिन्धु में डुबो देती हैं विद्या माया भवसिन्धु में नहीं डुबोती, भगवद् भक्ति को और दृढ़ करती है। श्री गोस्वामी जी ने रामचरित मानस के उत्तर काण्ड में कहा है कि—

हरि सेवकहिं न व्याप अविद्या।
प्रभु प्रेरित व्यापइ तेहिं विद्या।।

ताते नासु न होइ दास कर। भेद भगति बाढ़ै विहंग वर।।

इससे भी हमें पता चल जाता है कि भगवान का उत्तम भक्त भी माया के वश में रहता है, परन्तु वह विद्या माया के वश में रहता है।

जिस समय भक्त को यह अनुभूति हो जाती है कि वह सब प्रकार से भगवान के हाथों में है और भगवान ही उसके हित की रक्षा करेंगे तो भगवान को परम सुहृद जानकर उसे शान्ति प्राप्त होती है (गीता ५।२९) उसे निश्चय रहता है कि भगवान की कृपा से उसे विद्या माया ही व्यापेगी, अविद्या माया नही व्यापेगी। वह भव बन्धन में नहीं पड़ेगा। भगवान का लीला परिकर रहेगा और उसकी भेद भक्ति दृढ़ होगी। इस प्रकार सांख्य विचारधारा और दार्शनिक मत का सहारा लेने पर भी उच्च सोपान पर पहुँच कर अभिमान निरसन ही करना पड़ता है, अभिमान पूर्वक साधन करने से मोक्ष की सिद्धि नहीं हो सकती ऐसा परिणाम निकलता है।

अब सीधे अद्वैत विचार और वेदान्त निरूपण के अनुसार तत्व ग्रहण में प्रवृत्त हों तो भी हमें इस दूसरे दोहे में ज्ञान के मार्ग का एक अपूर्व तत्व गूँथा हुआ मिलेगा। "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" ऐसा उपदेश करने वाले यह बताते हैं कि यह जगत् स्वप्न के समान है अथवा अपने ही चित्तरूपी दर्पण में प्रतिबिम्व स्वरूप प्रतीत होने वाली नगरी के समान हैं। तत्वतः जगत् का स्वरूप कैसा भी हो, व्यवहार में यह सत्य जान पड़ता है और इसे सत्य समझने वाले माया से बद्ध जीव को मुक्त कराने में ही ज्ञान की सार्थकता है। सारा वेदान्त निरूपण बद्ध जीवों के लिए ही है, परन्तु यदि स्वप्न की बात को सही मानें तो यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि स्वप्न देखने वाले जीव को जगाने के लिए उसके स्वप्न के भीतर ज्ञानोपदेश व्यर्थ है उसकी नींद खुल जाना ही स्वप्न भ्रम के निवारण का उचित उपाय है। इसी तरह साधन के उच्च सोपान पर पहुँच कर हमें इस बात का सामना करना पड़ेगा कि न केवल हमारे साधारण व्यावहारिक अनुभव स्वप्न के अंग हैं, बल्कि हमारे साधन प्रवचन आदि भी इसी दैवी स्वप्न मय जगत् के अंग हैं जैसा कि विनय पत्रिका जी में श्री गोस्वामीजी ने कहा है—

कहैं वेद बुध तू तो बूझि मन माँहि रे।
दोष दु:ख सपने के जागे ही पे जाँहि रे।।

परम पूज्य शकराचार्य जी ने भी मात्र वाचिक ज्ञान को महत्व नहीं दिया—

वाग्वैखरी, शब्दझरी, शास्त्र व्याख्यान कौशलम्।
वैदुष्यम्विदुषाम् तद्वद् भुक्तये न तु मुक्तये।। तथा

अकृत्वा शत्रु संहारम् अगत्वाऽखिल भूश्रियम्।
राजाऽहंमिति शब्दान्नो, राजा भवितुर्महति।।
विवेक चूड़ामणि

इस प्रकार आदि शंकराचार्य के मत से भी विद्वत्तापूर्ण शास्त्र व्याख्यान भोग के लिए हैं मोक्ष के लिए नहीं तथा जब तक काम क्रोधादि शत्रुओं को नाश करके ब्रह्मानन्द की प्राप्ति न कर ली जाय तब तक "अहम् ब्रह्मास्मि" कहने मात्र से ब्रह्म नहीं हो सकता। तो फिर हमें इस बात का सामना करना पड़ेगा कि सोता हुआ व्यक्ति स्वयं अपने जागने पर निर्भर करता है। अत यदि हम स्वप्न के पुरुष के समान हैं तो अन्ततः हमारा प्रबोध प्रबुद्ध सत्ता के ही आश्रित है। यथा—

"तुलसिदास यह जीव मोह रजु, जोई बाँधै सोइ छोरै।"
(वि० प०)

पाशुपत दर्शन का भी यही उपदेश हैं कि माया में पड़े हुए जीव पशु के समान हैं। भगवान ही इन पशुओं के मालिक हैं, पशुपति हैं। मालिक ने इन जानवरों को मोह की रस्सी में बाँध रखा है बँधा हुआ जानवर स्वयं अपने को खोल नहीं सकता। मालिक ही इसे खोलता है। इस तरह भी बोध भगवान के आश्रित हैं उपनिषद् में भी कहा गया है कि—

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः । (कठ १ २.२२) जिस को यह आत्मा स्वयं चुन लेता है उसी के द्वारा यह जाना जाता है ।

रामचरित मानस में भी कहा है कि—

तुम्हारी कृपा तुम्हहिं रघुनन्दन, जानत भगत भगति उरचंदन ।

इस प्रकार उच्च सोपान पर जाकर यह सिद्ध होता है कि अन्तत: भगबत् प्राप्ति भगवत् कृपा साध्य है ।

तुलसिदास हरि गुरु करुणा बिनु विमल विवेक न होई ।
बिनु विवेक संसार घोर निधि पार न पावइ कोई ।। (वि०प०)

इस प्रकार यह उचित ज़ान पड़ता है कि जब तक हम मायावश अपने कर्तापन की अनुभूति कर रहे हैं तब तक हमें भगवान गुरु व शास्त्र की आज्ञा के अनुसार अपने कर्तव्य के पालन में अखण्ड परिश्रम करते जाना चाहिए । जब यह अनुभूति बदले और हम समस्त क्रिथा को प्रकृति के तीन गुणों से प्रेरित देखने लगें उस समय हम भगवान की शरणागति को धारण करके उनकी कृपा के सहारे अपने को छोड़ सकते हैं और यह विश्वास कर सकते हैं कि—

हरि सेवकहिं न व्याप अबिद्या ।
प्रभु प्रेरित व्यापइ तेहिं विद्या ।।

जब हम सन्तोष पूर्वक प्रारब्ध को भोगते हुए, भगवान के चरणों का पूरा सहारा लेकर उनकी कृपा की बाट जोहते रहेंगे तो भगवान अपनी कृपा अवश्य करेंगे । विनय पत्रिका जी में कहा है कि, "जेहि गुन ते बस होहु रीझिकरि सो तो न समुझि परयो । तुलसिदास निज भवन

द्वार पर दीजै रहनि परयो । (वि०प०) तथा नाथ कृपा ही को पंथ चितवत दींन हौं दिन राति । होइ धौं केहि काल, दीन दयालु जानि न जाति ।।

श्री गोस्वामी जी ने परम चतुरता पूर्वक इस दूसरे दोहे में सीधे-सीधे इस विवाद को नहीं उठाया है । कि मोह का नाश और ज्ञान की प्राप्ति साधक के अपने संकल्प और साधन पर आश्रित हैं या भगवान के संकल्प पर । परन्तु पूर्वांध से इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि करोड़ों गुणों का संग्रह करने पर भी मोह का अन्धकार नहीं मिटता । मोह रात्रि के समान है "मोहि निसा सब सोवनि हारा" रात्रि दीपक आदि के प्रकाश से नहीं मिटती, सूर्योदय से ही मिटती है । रामचरित मानस में कहा है—

राका पमि षोडस उवहिं, तारा गन समुदाय ।
सकल गिरिन्ह दव लाइये, बिनु रवि रात न जाय ।।

शरत् पूर्णिमा के यदि सोलह चन्द्र उदित हो जायें, सारे तारे भी चमक रहे हों (बादल न हों) तथा सारे पहाड़ों में भी आगलगाई जाय तो भी बिना सूर्योदय हुए रात्रि नहीं मिटती । भगवान का ज्ञान होने से सूर्योदय होता है, उसी से मोहरूपी रात्रि का नाश होता है ।

श्री गोस्वामीजी ने अत्यन्त कुशलता पूर्वक एक यौगिक रहस्य भी दोहे में रख दिया है । हृदय को कमल के समान माना गया है, योगियों के अनुसार साधारण माया बद्ध जीव का हृदय कमल नीचे की ओर लटका हुआ कमल है । जो विकसित भी नहीं है । भगवान के नाम की साधना करने से और सूर्यमण्डल के समान प्रकाशित भगवान के स्वरूप का ध्यान करने से यह हृदयकमल धीरे धीरे उर्ध्व मुख हो जाता है और खिल भी जाता है । ऐसा भगवद् स्वरूप का दर्शन अलौकिक सुख का देने वाला है और मोह के अन्धकार को नष्ट करने वाला है । श्रीगोस्वामी जी महाराज के इष्टदेव श्री रामचन्द्रजी महाराज जिस वंश में अवतार

लिए हैं वही सूर्यवंश है तथा श्रीरामचन्द्रजी उस सूर्यवंश में भी सूर्य के समान प्रतापी हैं। इसीलिए उन्हें रविकुल रवि राम कहा। श्रीरामचन्द्रजी सूर्य वंश के भी सूर्य हैं—श्रीराम स्तवराज में जो ध्यान बताया गया है वह इस प्रकार है--

"सूर्य मण्डल मध्यस्थं रामम् सीतासमन्वितम्"

युगुल सरकार के उपासक श्रीराम जानकी के रूप का ध्यान करते हैं और वह भी सिंहासनस्थ श्रीराम जानकी का ध्यान। रामचरित मानस में श्रीराम के राजतिलक प्रसग में श्रीराम के राजसिंहासन को सूर्य के समान प्रकाशमान वताया गया है—रवि सम तेज सो वरणि न जाई। बैठे राम द्विजन सिरुई नाई ॥ इस प्रकार सूर्य के समान प्रकाशमान सिंहासन पर विराजमान् श्रीराम जानकीं का ध्यान उस सूर्योदय के समान है जो अन्त:करण के महान्धाकार को नष्ट कर देता है। अन्धेरे को दूर करने की तरकीबें बहुत सी हैं, हम लोग रात के अँधेरे को दूर करने के लिए मोमबत्ती, चिराग, लालटेन, गैसबत्ती, बिजली आदि का प्रयोग करते ही हैं। इन ज्योतियों से हम कुछ काम निकाल लेते हैं परन्तु रात नहीं मिट पाती। साथ ही यह बात भी विचारणीय है कि अन्य प्रकार की रोशनी करने से कमल नहीं खिलता वह सूर्य की किरणों को प्राप्त करके ही खिलता है। इसी तरह करोड़ों प्रकार की तरकोवें करने से भी और काम निकल जाते हैं परन्तु मोह रूपी रात्रि समाप्त नहीं होती और हृदय कमल का विकास भी नहीं होता है। भगवान् के प्रकाशमय स्वरूप दर्शन से मोह रूपी रात्रि भी मिटती है, हृदय कमल भी आनन्द से खिल उठता है और जीव कृतकृत्य हो जाता है।

हमारे मर्यादानिधान श्रीगोस्वामीजी ने इस दूसरे दोहे में ऐसे सुन्दर शब्द रखे हैं जो पुरुषार्थ या साधन का निषेध नहीं करते परन्तु

उसकी मर्यादा को सूचित करते हैं। अन्ततोगत्वता भगवत् स्वरूप की प्राप्ति से ही मोह का नाश होता है, विषयों में सुखाभास की निवृत्ति होती है—

"परं दृष्ट्वा निवर्तते" (गीता २/५९)

इस प्रकार परिपक्व वैराग्य भगवत् प्राप्ति के बाद ही है और इसका सहज परिणाम है। योग वासिष्ठ में कहा है कि "सतामुत्तम वैराग्यम् विवेकादेव जायते।" सत् पुरुषों का उत्तम वैराग्य केवल विवेक से ही पैदा होता है। यदि भगवद् प्राप्ति से हृदय कमल आनन्द विभोर और विकसित नहीं हुआ और भगवान प्राणा प्यारे नहीं बने तो सारा ज्ञान मिथ्या है। श्रीगोस्वामीजीने कवितावली में कहा है—

झूठो है झूठो है झूठो सदा जग संत कहंत जे अंतु लहा है।
ताको सहै सठ संकट कौटिक, काढ़त दन्त करंत हहा है॥
ज्ञानी पनें को गुमान बड़ो, तुलसी के विचार गँवार महा है।
जानकी जीवनु जान न जान्यो तो ज्ञानी कहावत जान्यो कहाँ है॥
(कविताषली उत्तरकाण्ड ३६)

———

सुनत लखत श्रुति नयन बिनु रसना बिनु रस लेत।
बास नासिका बिनु लहै परसै बिना निकेत ॥३॥

जो बिना कान के सुनता है बिना आँख के देखता है बिना जीभ के रस लेता है बिना नाक के गन्ध लेता है और बिना शरीर (त्वचा) के स्पर्श करता हैं।

जो नास्तिक है ईश्वर के होने में विश्वास नहीं करता वह इस ग्रंथ का अधिकारी नहीं है। साधकों के वैराग्य को दृढ़ करना और भगवान की प्राप्ति यह इस ग्रन्थ का उद्देश्य है। ईश्वर के निराकार सर्व व्यापी स्वरूप का ज्ञान इन्द्रियों के द्वारा नहीं हो सकता। इसलिए ज्ञानेन्द्रियों के अनुभव का ही प्रमाण मानने वाले अविश्वासी लोगों के सामने ईश्वर प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। इसीलिए उपनिषद् में कहा है कि "अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथतद् उपलभ्यते"। (कठ० २.३.१२)

"है" ऐसा कहने वाले को छोड़कर किसी अन्य के द्वारा ईश्वर कैसे प्राप्त किया जा सकता है। जर्मन दार्शनिक काण्ट ने बड़ी योग्यता से यह प्रदर्शित किया है कि ईश्वर के होने या न होने के विषय में जितने भी तर्क दिये जाते हैं, वह ठहर नहीं सकते। उपनिषद् का ही वचन है कि "नैषा तर्केण मतिरापनेया" (कठ० १.२.९) तर्क से यह बुद्धि प्राप्त नहीं हो सकती। रामचरित मानस में भी श्री शंकर जी का वाक्य है कि—

"राम अतर्क्य बुद्धि मन वाणी" (बाल काण्ड)

तथापि भगवद् विश्वास का एक अनुभूत और अकाट्य प्रमाण श्री गोस्वामीजी ऊपर दूसरे दोहे में बता ही चुके हैं। जगत् का जो वास्तविक स्वरूप है उसका साधारण जीव को विपरीत ज्ञान रहता है। यही मोह है, मोह का अन्धकार बिना भगवान् के साक्षात्कार के मिटता नहीं। मोह जो जगत् के तमाम दुखों का कारण है उसके निवारण के लिए जिस ईश्वरीय शक्ति की आवश्यकता है उसके अस्तित्व से इन्कार कैसे किया जा सकता है? प्रस्तुत तीसरे दोहे में भगवान के निर्गुण निराकार स्वरूप का संक्षेप में वर्णन किया जा रहा है। श्रीमद्भगवद् गींता में भी कहा गया है कि—

सर्वेन्द्रिय गुणाभासम् सर्वेन्द्रिय विवर्जितम्। (१३/१४)

सब इन्द्रियों से रहित होने पर भी सब इन्द्रियों के गुणों से युक्त है। निराकार ब्रह्म के वर्णन में उपनिषद् में भी कहा है—

अपाणि पादो जवनों ग्रहीता, पश्त्यचक्षु: सश्रृणोत्यकर्ण:। (श्वेता० ३०१९)

बिना पैरों के चलता है बिना हाथ के पकड़ता है बिना आँख के देखता है और बिना कान के सुनता है। श्री रामचरित मानस में भी निराकार रूप का वर्णन किया गया है। वैसा कि इस ग्रंथ में भी आगे चौथे पद्य (सोरठे) में भी कहा गया है। रामचरित मानस में बालकाण्ड में कहा है—

आदि अन्त कोउ जासु न पावा। मति अनुमान निगम अस ग़ावा।
बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करइ बिधि नाना।।
आनत रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी।
तनु बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहइ धान बिनु बास असेखा।।
असि सव भाँति अलौकिक करनी। महिया जासु जाइ नहिं बरनी।।

जेहि इमि गावहिं वेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान ।
सोइ दशरथ सुत भगत हित, कोसल पति भगवान ।।
(बाल काण्ड)

भौतिकवादी मनुष्य ज्ञानेन्द्रियों के द्वारा ही ज्ञान प्राप्त करने और तदनुकूल व्यवहार करने का अभ्यस्त है। अत: उसके लिए इन्द्रियातीत अनुभव या ज्ञानेन्द्रियों के बिना ही उनके गुणों का व्यवहार उसकी समझ में नहीं आता। परन्तु यह बात विवेक पूर्ण नहीं है कि माया के वश में रहने वाला जीव यदि ज्ञानेन्द्रियों के अनुभव से सीमित है तो माया का प्रेरक शिव स्वरूप परमात्मा भी उसी तरह ज्ञानेन्द्रियों के आश्रित होना ही चाहिए। अधिक सही बात यह है कि ज्ञानेन्द्रियों की शक्ति भी परमात्मा की दी हुई है। आँख उनकी दी हुई नजर से देखती है। इसी तरह कान परमात्मा की दीं हुई ताकत से सुनता है। परमात्मा किसी कान की मदद से नहीं सुनता। परमात्मा किसी ज्ञानेन्द्रिय के आश्रित नहीं। केन उपनिषद् में इस बात को भली भाँति स्पष्ट किया गया है और यहाँ तक कहा गया है कि—

यन् मनसा न मनुते, येनाहुर्मनोमतं ।
तदेव ब्रह्मत्वं विद्धि, नेदमयदिदमुपासते ।

जो मन से नहीं सोचता है जिसकी शक्ति से मन सोचता है उसी को तुम ब्रह्म जानो, न कि जिसकी लोग उपासना करते हैं। (केन १ ५)

ईश्वर इस संसार का रचने वाला माना गया है। ज्ञानेन्द्रियों की शक्तियाँ और कर्मेन्द्रियों की शक्तियाँ जगत् की रचना के बाद व्यवहार में प्रकाशित होती हैं, यदि ईश्वर भी इन्हीं शक्तियों के आश्रित हो और उनके बिना काम न कर सके तो वह जगत् की रचना कर ही कैसे सकता है। उस रचना के समय यह इंद्रिय शक्तियाँ प्रकट ही नहीं हुई थीं। अत: परमात्मा के कार्य और ज्ञान को दिव्य और अलौकिक मानना ही पड़ेगा।

विचार करने पर यद्यपि परमात्मा की अलौकिक शक्ति मान्य करनी पड़ती है तो भी साधारण मनुष्य के लिए कर्मेन्द्रियों के बिना कार्य करने और ज्ञानेन्द्रियों के बिना ज्ञान होने की कल्पना करना कठिन है। परन्तु हमारे साधारण जीवन में भी ऐसे संकेत मिलते हैं जिससे हम इन्द्रियातीत स्थिति को जान सकते हैं।

श्री स्वामी रामतीर्थ जी ने अपने एक प्रवचन में यह कहा कि आँख (नज़र) प्रकाश के होने पर ही देखने का काम करती है, जहाँ कोई प्रकाश नहीं, वहाँ अन्धेरे में आँख नहीं देखती। परन्तु सन्तवर श्रीरामतीर्थ जी ने श्रोताओं से पूछा कि जब आप लोग स्वप्न देखते हैं तो वह किस रोशनी में देखते हैं। सोता हुआ आदमी अन्धेरे कमरे में आँख बन्द किए पड़ा है परन्तु उसे स्वप्न पें पूरी सृष्टि दिखाई पड़ती है यह सृष्टि वह अपनी भौतिक आँख से नहीं देखता, न व्यावहारिक जगत् की रोशनी उसे उपलब्ध है, जिसकी सहायता से वह स्वप्न की सृष्टि देख सके। इस तरह सिद्ध हो जाता है कि एक साधारण जीव भी बिना आँखों के देखता है। यह कहा जा सकता है कि स्वप्न देखना एक महत्वहीन घटना है, भ्रम मात्र है। वह कैसी ही घटना हो परन्तु बिना आँखों की सहायता के और बिना किसी रोशनी के हम स्वप्न में देखते हैं। इसी प्रकार, कोई चतुर व्यक्ति यह कह सकता है कि उपर्युक्त तर्क ठीक नहीं है। क्योंकि जैसे जाग्रत अवस्था में हम व्यावहारिक जगत् की आँखों से और व्यावहारिक जगत् की रोशनी से सारी वस्तुएँ देखते हैं इसी प्रकार स्वप्नावस्था में हम स्वप्न की आँख से व स्वप्नावस्था वाली रोशनी से स्वप्न देखते हैं। ऐसा कहना ग़लत नहीं है, परन्तु इससे यह तो मान्य हो ही जाएगा कि भौतिक आँखों के अतिरिक्त भी आँख है और व्यावहारिक जगत् में काम करने वाली दृष्टि के अतिरिक्त भी दृष्टि है जो व्यावहारिक जगत् के प्रकाश के अतिरिक्त अन्य प्रकार से काम करती है। यदि स्वप्न दृष्टि को माना जाय तो हम दिव्य दृष्टि को कैसे अमान्य कर सकते हैं?

इसलिए सन्तों और योगियों को जो दिव्य दृष्टि के अनुभव समाधि अवस्था में होते हैं वे योग निद्रा के स्वप्न की तरह हैं, ऐसा मानना पड़ेगा।

स्वप्न को मिथ्या कहकर स्वप्न के दृष्टान्त और उसके फलित परिणामों से बचा नहीं जा सकता। उससे तो अनुभूत सृष्टि के सत्य या असत्य होने का विवाद छिड़ जाएगा जो यहाँ प्रासंगिक नहीं। अद्वैत वेदान्तियों के निरूपण में हमारे जाग्रत अवस्था वाले संसार को ही स्वप्न तुल्य माना गया है।

संसार स्वप्नतुल्यो हि, रागद्वेषादिसकुलम् ।
स्वकाले सत्यवद्माति, प्रबोधेऽसत्यवद्भवेत ।।

राग द्वेष से भरा हुआ संसार स्वप्न के समान है। अपने आभास के समय वह सत्य मालूम होता है परन्तु प्रबोध (जागरण या ज्ञान) होने पर वह असत्य के समान हो जाता है।

यहाँ प्राप्त अनुभवों के सत्यासत्य का निर्णय करने का हमारा प्रयोजन नहीं है, न उनका प्रसंग है, परन्तु साधारण से भिन्न दृष्टि और साधारण चक्षुओं के बिना रूप का अनुभब स्वप्न दर्शकों को भी होता है और तत्व दर्शी योगीं को भी होता है, इसलिए इन्द्रियातीत अनुभव कभी असम्भव या आश्चर्यजनक कार्य नहीं है।

ऊपर स्वप्न के दृष्टान्त में चक्षु इन्द्रिय को लेकर विवेचन किया गया है, परन्तु अन्य ज्ञानेन्द्रियों के सम्बन्ध में भी वह लागू है, स्वप्न में हम केवल आँख से रूप का ग्रहण नहीं करते बल्कि वहाँ की आभासमान् अन्य ज्ञानेन्द्रियों से उनके अन्य विषयों, शब्द, स्पर्श, रस और गन्ध को भी ग्रहण करते हैं जब कि शरीर की सभी ज्ञानेन्द्रियाँ सुप्तावस्था में

विश्राम पर होती हैं, क्रियमाण नहीं होतीं। इस प्रकार साधारण जीव भी स्वप्नावस्था में बिना आंख के देखता है, बिना कानके सुनता है, बिना त्वचा के स्पर्श करता है, बिना नाक के सूंघता है, जीभ के बिना ही स्वाद लेता है, तो फिर परमात्मा अगर ज्ञानेन्द्रियों के विना उनके गुणों से युक्त कहा गया तो इसमें असम्भव या समझ में न आने वाली बात नहीं है।

ऊपर हम योगियों के इन्द्रियातीत अनुभव का जिक्र कर आये हैं इस अनुभव की साधारण भौतिकवादी मनुष्य को प्राय: कोई जानकारी नहीं होती। परन्तु योगियों का इन्द्रियातीत अनुभव एक सुनिश्चित तथ्य है, जिससे इन्कार नहीं किया जा सकता। महर्षि पतंजलि ने दूर श्रवण दर्शनम् दूरस्थ वस्तु के सुनने और देखने की सिद्धि का वर्णन किया है। यदि हिमालय में बैठा हुआ योगी कलकत्ता या बम्बई के किसीं दृश्य को ठीक ठीक देखता है तो उस समय उसकी आँख कलकत्ता या बम्बई में नहीं होती वह तो उसके शरीर के साथ हिमालय में ही रहती है, परन्तु बिना भौतिक आँख की मदद के योगी दूरस्थ दृश्य को देखता है इसी प्रकार वह दूरस्थ शब्द का श्रवण भी करता है, दूरस्थ वस्तु का स्वाद भी ग्रहण करता है दूरस्थ वस्तु का स्पर्श भी करता है इस प्रकार योगियों का इन्द्रियातीत अनुभव सिद्ध है। योगियों का अनुभव इसी भौतिक जगत् के दूरस्थ दृश्यों तक सीमित नहीं है उनका विशेष अनुभव उस अलौकिक जगत् का है जो साधारण ज्ञानेन्द्रियों की पकड़ के बाहर है, योगियों को समाधि अवस्था में दिव्य विभूतियों देवताओं और ऋषियों से साक्षात्कार होता है। भेंट और वार्ता भी होती हैं। यह सारा अनुभव इन्द्रियातीत अनुभव ही है, क्योंकि समाधि अथस्था में यदि किसी को देवर्षि नारद का दर्शन हुआ तो यह दर्शन उसकी चर्म चक्षु द्वारा नहीं हुआ, वह दिव्य और अलौकिक इन्द्रियातीत अनुभव ही है। यौगिक प्रक्रिया में शब्द का भी इन्द्रियातीत ग्रहण होता है। आदि शंकराचार्य जी ने भीं नादानुसंधान का वर्णन किया है। अनहद शब्द से बहुत से लोग परिचित हैं। शुद्ध

संस्कृत शब्द अनाहत है। जो शब्द शारीरिक अंगों द्वारा उच्चरित नहीं होता वही अनाहत शब्द है। जिसे अजपा जप कहते हैं, उसमें कोई उच्चारण नहीं किया जाता, बिना उच्चारण किया हुआ शब्द सुनाई पड़ता है। यह अनहद शब्द भौतिक कान से नहीं सुनाई पड़ता न वह साधारण हवा से गुंजरित होता है, न वह भौतिक कान से सुना जाने वाला शब्द है। दूसरे दूसरे शब्दों के साथ उसका ग्रहण नहीं होता। भौतिक कोई शब्द हमारे कानों तक न पहुँचे अथवा उसको रोकने के लिए कान बन्द किया जाय तो अनहद शब्द के ग्रहण करने में सुविधा होती है। योगाभ्यासी नेत्र बन्द करके सारी वृत्तियों को अन्तर्मुखी करके दिव्य शब्दों को ग्रहण करते हैं। हम कह सकते हैं कि योगियो के अनुभव वाले इस प्रकार के शब्द, भौतिक जगत् के शब्द हैं ही नहीं। समझने और याद रखने लायक तर्क यह है कि जिन राजयोगियों को इस प्रकार के दिव्य रूप और शब्द अनुभव में आने लगते हैं उनके लिए सारे संसार के भौतिक पदार्थ और ऐश्वर्यं तुच्छ हो जाते हैं। उन्हें इस भौतिक जगत् के स्थान पर दिव्य जगत् का ही बराबर सम्पर्क बनाए रखना सुखद और कल्याणकारी जान पड़ता है, ऐसे योगी भौतिक जगत में जीवित रहते हुए भी उसके प्रति उदासीन होते जाते हैं अर्थात जगत् के सुखों और दुखों से प्रभावित नहीं होते। यद्यपि इसका यह अर्थ नहीं है कि उनके अन्त.करण में दूसरे के दुख को देखकर करुणा उत्पन्न नहीं होती। (गीता १२/१३)

योगियों को समाधि अवस्था में रूप और शब्द के अतिरिक्त रस स्पर्श और गन्ध का भी ग्रहण होता है। योगियों के अनुभव में विभिन्न प्रकार की सुगन्धियां आतीं हैं। अलंकारिक भाषा में इसे विभिन्न कमलों का खिलना बताया गया है। जिस समय योगीं को इस प्रकार का अनुभव होता है, उसे अपना कमरा सुगन्धि से भरा जान पड़ता है। परन्तु दूसरा कोई व्यक्ति उस कमरे में बैठा हो, जो योगी न हो तो उसकी नासिका के

द्वारा किसी ऐसी सुगन्धि का अनुभव नहीं होता। इसी से स्पष्ट है कि वह सुगन्ध दिव्य है और हमारी भौतिक नासिका उसे ग्रहण करने में समर्थ नहीं है।

योगियों को दिव्य रसों का भी अनुभव होता है और स्पर्शों का भी। जिस प्रकार का सुख परम प्रिय व्यक्ति के स्पर्श से होता है उस प्रकार का या उससे भी कहीं अधिक स्पर्श सुख योगी को प्राप्त होता है। और उससे वह आनन्द विभोर और पुलकित होता है। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने गीतांजलि में कहा है कि हमें शरीर रहित, रूप रहित भगवान (शक्ति) का समग्र आलिंगन प्राप्त हुआ है। यह समाधिगत स्पर्श सुख का ही संकेत है।

इस प्रकार से हम देखते हैं योगियों को साधारण व्यावहारिक जगत् से भिन्न एक दिव्य जगत् की अनुभूति होती है। और उसमें शब्द, स्पर्श रूप, रस, गन्ध पाँचों का इन्द्रियातीत अनुभव होता है अतः ज्ञानेन्द्रियों को बिना ही ज्ञानेन्द्रियों के उनके गुणों का आभास होना असम्भव नहीं वरन् एक अनुभूत तथ्य है, तो भगवान के लिए ऐसे अनुभव में कोई भी असम्भावना अथवा कठिनाई कैसे हो सकती हैं?

सभी आस्तिक लोगों को यह भी विचार करना चाहिए कि ईश्वर में विश्वास करने की सार्थकता तभी है, जब हम उसे सर्वव्यापी, सर्वज्ञ और सर्वसमर्थ मानें। यदि ऐसा न माने तो हमारा ईश्वर को मानना व्यर्थ होगा, यदि ईश्वर को हम मानते हैं तो ईश्वर शब्द से ही यह अर्थ निकलता है कि वह जगत् का नियन्त्रक है, ईशित्व शक्ति रखता है। यदि ईश्वर सर्वव्यापी न हो तो स्वयं वह ईशित्व करने के लिए प्रत्येक स्थान पर उपलब्ध नहीं होगा। अतः वह उसी प्रकार राजतन्त्राश्रित हो जायगा जैसे साधारण राजा लोग होते हैं। ईश्वर का सर्वव्यापी होना जितना आवश्यक हैं उतना ही सर्वज्ञ और सर्व समर्थ होना भी। इसके

बिना वह हर समय प्रत्येक स्थान पर स्वयं ईशित्व नहीं कर सकेगा। अत: उसकी ईश्वरता सार्थक नहीं होगी। इसी से ईश्वर को मानने वाले सभी चिंतक उसे सर्वव्यापी, सर्वज्ञ और सर्व समर्थ भी मानते हैं, जिस धर्म में ईश्वर का वास किसी उच्च लोक में या उच्चतम् सप्तम् आकाश में माना जाता है उस में भी ईश्वर को सर्व दृष्टा, सर्वव्यापी, सर्वज्ञ, सब जग़ह हाजिर और नाजिर, सर्वत्र उपस्थित और सवं शक्तिमान् माना जाता है। यदि भगवान का विशेष वास किसी उच्च लोक में माना जाय तो सर्व व्यापी होने पर भीं वे सब जगह की बातों को कैसे देख सुन सकेंगे ? अपने लोक में भगवान भले ही साकार रूप में और ज्ञानेन्द्रियों के सहित हों परन्तु उनका सर्वत्र व्याप्त स्वरूप ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों से रहित ही है। इसलिए जब तक यह कल्पना रहेगी कि ज्ञानेन्द्रियों से रहित होने पर भगवान को ज्ञान नहीं हो सकता और कर्मेन्द्रियों से रहित होने पर भगवान कर्म नहीं कर सकता, तब तक सर्वब्यापी भगवान को ज्ञान और कर्म से रहित मानना पड़ेगा। ऐसी व्यापकता का प्रमाण ही क्या हो सकता है जिसके साथ न कोई ज्ञान है न क्रिया है। ऐसी व्यापकता का कोई प्रयोजन या प्रभाव भी नहीं रह जाता है। अत: यह स्पष्ट है कि जब तक गीता के अनुसार सर्वेन्द्रियगुणा भासम्सर्वेन्द्रियविर्वजितम्" पर हम विश्वास नहीं करेंगे तब तक सर्वब्यापी ईश्वर में हमारा विश्वास सार्थक नहीं हो सकता।

इस प्रकार श्री वैराग्य संदीपनी के तीसरे दोहे में निर्गुण निराकार स्वरूप का जो वर्णन हुआ है बह तनिक भी अप्रासगिक नहीं। जब हम ईश्वर को सर्वत्र, सर्वदा उपस्थित और सभी चीजों पर पूर्ण समर्थ समझेंगे तभी हमारी आस्तिकता सफल होगी।

इस निरूपण का यह प्रयोजन भी है कि यदि शास्त्र के वचनों पर हमें दृढ़ निष्ठा हो जाय और दोहे में लिखित सत्य हमारे अन्त:करण में

जम जाये तो हम ईश्वर को प्रत्येक वस्तु और परिस्थिति का मालिक समझेंगे और उसे पूर्ण समर्थ समझकर चल सकेंगे। तभी यह स्थिति सिद्ध होगी कि मेरा मुझमें कुछ नहीं है जो कुछ है, सो तोर। तेरा तुझको सौंपते क्या लागै है मोर॥

इसी स्थिति से सच्चा वैराग्य सधेगा और भगवत् प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त होगा।

स्वासा समय शरीर धन, सब स्वामी रघुबीर।
समुझि चलै भवनिधि तरै, युत विवेक मति धीर॥

श्री गोस्वामी जी सगुण साकार सरकार के उपासक थे, वैष्णव मात्र, अन्य देवों के उपासक भी, सगुण साकार की उपासना करते हैं, परन्तु साकार के एक देशीय होने का भ्रम कभी नहीं होना चाहिए। ईश्वर को सर्वव्यापी मानने वाला यह नहीं कह सकता कि वह मन्दिर में या मूर्ति में नहीं है, परन्तु वह यह कह सकता है कि ईश्वर केवल यहीं तक सीमित नहीं है। इसी प्रकार मन्दिर और मूर्ति में निष्ठा रखने वाला साकार का उपासक अपनी उपासना करे, परन्तु इस भ्रम में न पड़े कि दूसरी जगह भगवान नहीं हैं क्योंकि वैसे भ्रम का परिणाम यह होगा कि वह मन्दिर के बाहर भगवान को अविद्यमान् जानकर अशुभ आचरण कर सकता है और यह आशा कर सकता है कि उसका अशुभ फल उसे नहीं मिलेगा। इससे साधन विपर्यय हो जायगा और यह परिणाम आ सकेगा कि घण्टे आध घण्टे मूर्ति के सामने पूजा करने के बाद पूजा करने वाला अन्य समय और अन्य स्थानों में अशुभ आचरण करने के लिए स्वतन्त्रता पा जायगा। इस प्रकार के विकृत साधन से परमार्थ की प्राप्ति न हो सकेगी यदि कोई जबान से कह भी दे कि हमारे जो सरकार मन्दिर में विराजमान् हैं, वह सब जगह और हर समय पूर्ण ज्ञान शक्ति और कर्मशक्ति के साथ

उपस्थित हैं तो भी ईश्वर की व्यापकता में उसका विश्वास नाममात्र का ही रहेगा प्रभावी नहीं होगा। प्रह्लाद बिष्णु के उपासक थे उन्हें इष्टदेव की सर्वव्यापकता में पूर्ण और सक्रिय विश्वास था इसीलिए हिरण्यकश्यप के यह पूछने पर कि क्या खम्भे में भी है ? उन्होंने कहा 'हाँ'। फिर यह प्रश्न किया गया कि दिखाई क्यों नहीं पड़ते ? श्रीमद्भागवत में लिखा है कि इसी परिस्थिति में अपनी सर्व व्यापकता और अपने भक्त की बात को सच सिद्ध करने के लिए भगबान खम्भे से प्रकट हो गये। श्रीगोस्वामीजी ने भी श्री कवितावली जी में लिखा है कि—

"प्रेम बदौ प्रहलादहि को जिन पाहन ते परमेश्वर काढ़े।"

इस प्रकार यह देखा जायगा कि तृतीय दोहे में वर्णित तत्व उपासना, वैराग्य और ज्ञान की दृष्टि से सम्बद्ध, आवश्यक और हितकर है। ऐसा आवश्यक निरूपण इस ग्रन्थ में छोड़ा नहीं जा सकता था क्योंकि—

"यह बिराग संदीपनी, अखिल ज्ञान को सार"।

अज अद्वैत अनाम, अलख रूप गुन रहित जो।
माया पति सोइ राम, दास हेतु नर तनु धरेउ ॥४॥

जो जन्म रहित है, अद्वितीय है, नाम रहित है, अलक्ष्य है, (प्राकृत) रूप और (माया के तीनों) गुणों से रहित है और मायो का स्वामी है, वही तत्व श्रीरामचन्द्र जी हैं, जिन्होंने (अपने) दास भक्तों के लिए मनुष्य शरीर धारण किया है।

प्रस्तुत सोरठे में श्रीगोस्वामी जी ने श्री भगवान के निराकार स्वरूप का और भी वर्णन किया है, और तब उन्हीं भगवान के अवतार लेने का भी उल्लेख किया है। इस सोरठे में भगवान के लिए पहला विशेषण 'अज' दिया गया है। अज का अर्थ है अजन्मा, जिसका कभी जन्म नहीं होता। "अज" विशेषण में भगवान सम्बन्धी बहुत बड़ा रहस्य छिपा हुआ है। यह समझ लेना अच्छा होगा कि भगवान का स्वरूप "अवाङ्मनसगोचरम्" (वाणी, मन और इन्द्रियों) से परे है। वाणी भगवान के स्वरूप का पूरा और ठीक ठीक वर्णन नहीं कर सकती। मन और बुद्धि भी भगवान के स्वरूप को ठीक ठीक समझने में समर्थ नहीं है। उपनिषद् में कहा है कि—"यतोवाचोनिवर्तन्ते अप्राप्यमनसा सह" (तैत्त २.४.१) जहाँ से वाणी लौट आती है, और वह मन से भी प्राप्त नहीं होता।) श्रीराम चरित मानस में भी कहा है कि "मन समेत जेहि जान न बानी।" शास्त्रों में जब भगवत् स्वरूप का वर्णन आता है तो वाणी से प्रकट न करने योग्य तत्व होने के कारण शब्दश: विरोधाभास आ जाता है। इसका पूरा पूरा शमन वाणी से और तर्क से नहीं हो पाता। यद्यपि

आचार्यगण अपने भाष्य या विवेचन में विरोधाभास का शमन करने की चेष्टा करते हैं परन्तु उनका विवेचन भी प्रत्येक घोमान् के लिए एक सा सन्तोषप्रद नहीं हो पाता, क्योंकि "नैषातर्केणमतिरापनेया"। (कठ० १.२.९) तर्क से यह विचार बोधगम्य नहीं। श्रीराम चरित मानस में भी श्री शंकर ने कहा है कि "राम अतर्क बुद्धि मन बानी। मत हमार अस सुनहु भवानी।। अन्यत्र भी कहा है कि—'तरकि नं सकहिं सकल अनुमानी।" अनुमान करने वाले लोग तर्क लगाकर भी नहीं जान सकते।

प्रस्तुत सोरठे में भगवत् स्वरूप के निरूपण में सहज प्राप्त विरोधाभास का बड़ा उत्तम उदाहरण है। भगवान को अज कहा है अर्थात् वे जन्म से रहित हैं परन्तु सोरठे के अन्त में कहा है कि ऐसे भगवान ने भी अपने भक्तों के हित के लिए नर शरीर धारण किया अर्थात् जन्म लिया। अजन्मा भी हैं, जन्म भी लिया, यहीं विरोधाभास है, परन्तु यह विरोधाभास श्री गोस्वामी जी के निरूपण में कुछ नया नहीं पैदा हुआ। वेद में हो मन्त्र है उसी में यह विरोधाभाष पाया जाता है।

"ॐ प्रजापतिश्चति गर्भेऽन्तरअजायमानों बहुधाविजायते।
तस्य योनिम् परिपश्यन्तिधीरा: तस्मिन् हि तस्थुर्भुवनानिविश्वा:।
(यजुवेद ३१/१९)

(जो सब प्रजा का मालिक है वह गर्भ के अन्दर विचरण करता है, अजन्मा होते हए भी बहुत बार जन्म लेता है। उसके स्वरूग को धीर पुरुष ही देख पाते हैं। सभी लोक उसी स्वरूप के भीतर हैं। इसी विरोधाभास को श्रीराम चरित मानस में, श्रीराम जन्म के प्रसंग में बड़ी चतुरतापूर्वक श्री गोस्वामी जी ने दर्शाया है—

'ब्रह्माण्ड निकाया निर्मित माया, रोम रोम प्रति वेद कहै।
मम उर सो बासी यह उपहासी, सुनत धीर मति थिर न रहै।"

साधारण तर्क से व्यक्ति यही सोच सकता है कि अजन्मा का जन्म नहीं हो सकता, इसलिए या तो भगवान को "अज" न कहा जाय और या उनके जन्म लेने की बात न कही जाय परन्तु शास्त्रों में इस मामले में या किसी और मामले में भी व्यर्थ का विरोबाभाष नहीं लाया गया है अनिवार्य होने से ही विरोधाभास प्राप्त हुआ है। ठीक ठीक विचार करने से यह बात स्पष्ट हो जायगी।

इस भौतिक संसार का अध्ययन करने वाले वैज्ञानिक और दार्शनिक लोगों को जगत् के व्यवहार में कार्य कारण परम्परा का दर्शन होता है। कारण से ही कार्य की उत्पत्ति होती है परन्तु एक ही वस्तु किसी वस्तु का कारण होती है और दूसरे कारण का कार्य भी हो सकती है। जैसे भूख भोजन करने का कारण हो सकती है परन्तु भोजन करना रस रक्त बनने का कारण हो सकता है इम प्रकार एक कारण कार्य श्रंखला चल रही है और इसी से जगत् का व्यवहार चलता है। यदि हम प्रत्येक वस्तु का कारण ढूंढ़ते चलें तो जगत् की प्रत्येक उत्पन्न की गई वस्तु को हम सकारण पायेंगे, परन्तु यह नियम उत्पन्न हुई वस्तुओं तक ही चलेगा। मूल कारण का पता लगाते हुए हम यहाँ तक पहुंच जायेंगे कि सबसे पहला कारण ऐसा होना चाहिए जो उत्पन्न नहीं हुआ इसलिए उसका कारण कुछ नहीं है। जहाँ तक उत्पत्ति है उसका कारण है। अनुत्पन्न कारण ही प्रथम या मूल कारण हो सकता है। जो उत्पन्न नहीं हूआ सदैव से है और सदैव रहेगा वही सबका कारण है और उसका कारण कुछ नहीं। जो किसी भी कारण से और किसी भी समय उत्पन्न हुआ नही उसी को हम कह सकते हैं कि वह आदि रहित अर्थात् जन्मरहित है। जो जन्मरहित है वही "अज" है। जो कोई भी भगवान को मानता है उसे भगवान को सृष्टिकर्ता के रूप में मानना पड़ेगा, और जो सृष्टिकर्ता है वह सम्पूर्ण सृष्टि का कारण है। सृष्टि उसका कारण नहीं हो सकती। इस प्रकार ईश्वर को मानने वाला

अवश्य ही उसे जगत् का कर्ता, जगत का नियन्त्रक, जन्म मरण से रहित, शाश्वत मानेगा। इस तरह भगवान का "अज" स्वरूप मानना एक अनिवार्य आवश्यकता है। अब इसके साथ अवतार लेने की बात का मेल कैसे बैठेगा इस पर हम आगे यथास्थान विचार करेंगे। पहले अन्य उल्लिखित गुणों पर भी विचार करना ठीक होगा।

जो दूसरा विशेषण भगवान को दिया गया है वह "अद्वैत" है। भगवान अद्वैत है कि इसी से यह स्पष्ट हो गया कि भगवान एक ही है अनेक नहीं। भगवान को "एकमेवाद्वितीयं कहा है। (छान्दोग्य उपनिषद् ६.२.१) इस एक विशेषण से उस महान् आपत्ति का निराकरण हो जाता है, जो हिन्दू दर्शन के विरुद्ध प्रायः उठाई जाती है कि हिन्दू बहुदेववादी हैं, एक ईश्वर को नहीं मानता, बहुत से देवताओं को अलग अलग मानता है। एक और अद्वैत दोनों का अर्थ बिलकुल एक सा नहीं है। अद्वैत में यह अर्थ है कि एक है और दूसरा कुछ नहीं है, एक ही है। जैसा कि "एकमद्वितीयम्" का अर्थ है। अरबी में वाहिद शब्द का भी वैसा ही अर्थ है इसलिए जहाँ एक ईश्वर का ही साक्षात्कार होता है और दूसरी कोई सत्ता नहीं रह जाती उस दशा को सूफी विचारधारा में वहदत् कहा है। अद्वैत मे भी एक ब्रह्म को छोड़कर किसी अन्य सत्ता को मान्य नहीं किया गया है। जगत् के मिथ्यात्व का विचार भी इसमें आता है क्योंकि एक ब्रह्म की सत्ता के अतिरिक्त जगत् की स्वतन्त्र सत्ता मानने से अद्वैत नहीं रहता, द्वैत आ जाता है।

यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि जब एक भगवत् सत्ता के अतिरिक्त कोई और सत्ता मान्य नहीं है तो फिर हिन्दू अनेक देवताओं को क्यों मानता है? अलग अलग देवताओं के मन्दिर क्यों बने हैं और उनमें विभिन्न उपासना पद्धतियाँ क्यों प्रचलित हैं। जब श्री स्वामी विवेकानन्द जी ने विदेशों में भ्रमण किया और प्रवचन किया तो उन्हें भी इस प्रश्न

का सामना करना पड़ा। उन्होंने गौरव पूर्वक वेदमन्त्र उद्धृत किया जिसमें स्पष्ट कहा गया था कि जिसको इन्द्र, वरुण, यम, अग्नि आदि कहते हैं वह तत्व एक ही है। "एकम्सद्विप्रा: बहुधा वदन्ति"। सत् एक ही है ज्ञानी लोग उसका बहुत प्रकार से वर्णन करते हैं। हमारे इस प्रस्तुत सोरठे में भगवान को रूप और नाम से भी रहित कहा गया है। परन्तु उपासना के लिए नाम और रूप चाहिए। अत: इष्ट भेद, रुचिभेद, निष्ठा भेद, अधिकार भेद आदि के अनुसार विभिन्न इष्टदेवों की अराधना है और उपासना पद्धतियाँ भी अलग अलग हो गई हैं, परन्तु वास्तविक उपास्यदेव एक ही है। संस्कृत में भगवान की स्तुति में कहा गया है कि—

रुचीनाम् वैचित्र्याद्ऋजु कुटिल नाना पथजु षाम्।
नृणामेको गम्यस्त्वमसिपयसामर्णव इव॥

रुचिभेद से सीधे और टेढ़े अनेक मार्गों से चलते हुए सारे मनुष्यों के लिए, हे भगवान् आप ही एक मात्र गंतव्य स्थान हो, जैसे सभी जल प्रवाहों के लिए एक मात्र गंतव्य स्थान समुद्र ही है। हिन्दू विचार में जो बहुदेवतावाद दिखाई पड़ता है उसके होते हुए भी एक ईश्वर की ही उपासना इष्टदेव के रूप में मान्य है और विचारशील अध्येता के लिए बड़ा ही सुन्दर समन्वय सम्भव है। हमारे श्री गोस्वामी जी स्वयं श्री राम़चरित मानस में विविन्न देवताओं की स्तुति करते हैं परन्तु इससे यह बात असिद्ध नहीं होती न कमजोर पड़ती है कि वे श्री रामजी के अनन्योपासक थे। इस ग्रंथ के प्रारम्भ में मंगलाचरण में तीनों सरकारों की झाँकी प्रस्तुत की गई है परन्तु इससे भी श्री गोस्वामीजी की अनन्योपासना में कोई कमी नहीं आती। एकेश्वरवाद और बहुदेववाद सम्बन्धी विवाद या एतद् विषयक् समन्वय विचार यह हमारा मुख्य विषय नहीं है। "अद्वैत" पर विचार करते समय उक्त कुछ बातें प्रासंगिक समझ कर कही गई हैं।

यह स्पष्ट है कि अद्वैत में यह विचार समाया हुआ है कि एक ईश्वर के सिवा कोई और इष्ट नहीं हो सकता। इसलिए ईश्वर के सिवा कोई पूज्य नहीं ऐसी अनन्य भावना का विचार "अद्वैत" में समाया हुआ है।

भगवान को "अनाम" भी कहा है अर्थात् भगवान का कोई नाम नहीं हैं। यहाँ भी विरोधाभास है। यदि भगवान का और कोई नाम न भी हो तो यह "अनाम" ही उनका नाम हो जाएगा। यह याद रखना रखना चाहिए कि जब हम किसी भी तत्व का निरूपण करें तो हमें विषय निर्देश करना पड़ेगा अर्थात् उसका नाम बताना पड़ेगा। जब यह कहा गया कि वह अज है, अद्वैत है, "अनाम" है, अलख है, "रूप और गुण से रहित है, माया का पति है, तो यह भी बताना पढ़ेगा कि वह कोन है। उसका नाम क्या है और इसी प्रयोजन से श्री गोस्वामी जी ने राम नाम का उल्लेख किया है, यथा मायापति सोइ राम। इस प्रकार यहाँ भी विरोधाभास की प्राप्ति होती है। भगवान को अनाम मानने के पर्याप्त कारण हैं, अकारण ही उन्हें अनाम नहीं कहा गया है, परन्तु दूसरी दृष्टि से भगवान के अनन्त नाम हैं। अत: यह विचार करने और समझने की बात है कि अनाम भगवान के अनन्त नाम कैसे हैं ? हम दोनों पक्षों को शास्त्रों में पाते हैं। परन्तु शुष्क तर्क या कुतर्क से इन दोनों का समन्वय सध नहीं सकता। भगवान को अनाम कहने के भी पूरे पूरे कारण हैं और उनके अनन्त नाम भी ठीक हैं और यह अनन्त नाम अनन्त प्रभाव वाले है ऐसा रहस्यमय भगवान का स्वरूप है।

भगवान को सृष्टिकर्ता कहा गया है। वे सृष्टि से पहले भी थे, इसलिए तत्वदर्शियों को विचार होता है कि सृष्टि से पहले जो था वही भगवान का मूल और असली स्वरूप है। व्यावहारिक जगत् में नाम रूप और क्रिया है। यह सृष्टि का अंग है। सृष्टि के पहले या प्रलय के बाद की दशा में नाम रूप और क्रिया का अभाव रहता है। इसलिए सृष्टि

कर्ता के अपने स्वरूप में नाम रूप क्रिया कैसे हो सकती हैं अत. वह अनाम है। किसी का नाम एक शब्द होता है। कान से सुनाई पड़ने वाला शब्द उन तरंगों की सहायता से ग्रहीत होता है जो वायु में प्रवाहित होती है। अथवा और भी सूक्ष्म दृष्टि से कहा गया है कि शब्द आकाश का गुण है। शब्द की तरंगें आकाश में होती हैं। वायु और आकाश दोनों ही पांच तत्वों में से हैं। यह दोनों तत्व सृष्टि के सिलसिले मे बनाये गये, सृष्टि के पहले नहीं थे इसलिए सृष्टि के पहले शब्द की कल्पना नहीं हो सकती थी। इसलिए सृष्टि के पहले जो था वह वेनामी था, नाम वाला नहीं। इससे उसका नाम अनाम हुआ।

भगवान के जिस अव्यक्त स्वरूप का वर्णन सोरठे मे किया गया है वह ज्ञान मार्गियों और अद्वैत निरूपकों की दृष्टि में अधिष्ठान रूप है। स्वयं व्यवहार में प्रवृत्त न होते हुए भी वह समस्त व्यावहारिक जगत् का आधार है. जैसे नाटक रंगमच पर ही होता है, परन्तु रगमच नाटक में कोई हिस्सा नहीं लेता वह केवल आधार का काम करता है। परन्तु आधार टूट जाय या हटा दिया जाय, तो नाटक चल नहीं सकता। इसी प्रकार भगवान के आधार या अधिष्ठान की कल्पना है। इसलिए भी भगवान अनाम है। सृष्टि के पहले भगवान को पुकारने वाला कोई नहीं था, इसलिए नाम की जरूरत भी नहीं थी इस दृष्टिकोण से भगवान अनामी ठहरते हैं। परन्तु किसी और दृष्टि से भगवान के अनेक नाम हैं। उन नामों की अनन्त महिमा है। यही विरोधाभास है।

हम जिस भौतिक जगत् में हैं, वहाँ नाम रूपऔर क्रिया को छोड़कर व्यवहार चल नहीं सकता। अत: विभिन्न व्यक्तियों, वस्तुओं, स्थानों और परिस्थितियों को अलग अलग संज्ञाएँ दे दी गई हैं। हम जिस वस्तु का स्मरण करते हैं उसका नाम पहले मन में आता है. रूप बाद में। यदि कोई वस्तु हाथ पर रख भी दी जाय तो भी उसका नाम नहीं जानने तक यही

कहना पड़ता है कि हम इसे नहीं पहचानते । श्रीरामचरित मानस में भी कहा गया है कि--

समुझत सरिस नाम अरु नामी । प्रीति परस्पर प्रभु अनुगामी ।
रूप विशेष नाम बिनु जाने । करतल गत न परत पहिचानें ।।

तथा—

सुमिरिय नाम रूप विनु देखे । आवत हृदय सनेह विशेखे ।।

सृष्टि का कर्ता ईश्वर, सृष्टि के पहले कैसा था इसका विवाद साधकों के लिए अधिक उपयोगी नहीं है । इनकी समस्या वह है कि आज भगवत् प्राप्ति के लिए हम क्या कर सकते हैं । भगवान के स्मरण के बिना भगवत् प्राप्ति नहीं हो सकती और भगवत् स्मरण के लिए भगवान का नाम आवश्यक है । भगवान के नाम के बिना हम भगवान का ठीक ठीक स्मरण नहीं कर सकते । इसलिए तत्वत: भले ही भगवान अनामी हों उनको बहुत से नामों से याद किया गया है । कई प्रकार के सहस्त्र नाम लिखे गए हैं और प्रचलित हैं । इनमें से श्री विष्णु सहस्त्र नाम पर आदि शकराचार्य जी का भाष्य भी उपलब्ध है । यह बात ध्यान देने लायक है कि भगवान के जो उपासक साकार रूप की उपासना नहीं करते उनके लिए भी भगवन् नाम का सहारा आवश्यक हैं । आर्य समाजी सगुण साकार के उपासक नहीं हैं परन्तु प्रणव जप साधना में उनका विश्वास है । इस्लाम के मुख्य धर्म ग्रन्थ कुरान का प्रत्येक अध्याय करुणा सिन्धु भगवान के नाम से प्रारम्भ होता है । बाइबिल में भी बारम्बार भगवन् नाम की कीर्ति गाई गयी है । तमाम शास्त्रों में भगवान के नाम के जो प्रमाण भरे पड़े है उन्हें एकत्रित करके अयोध्यावासी सन्तवर स्व० श्रीयुगुलानन्य शरण जी ने श्री सीता राम नाम प्रताप प्रकाश की रचना की थी और यह ग्रन्थ

प्रकाशित भी हुआ था। श्रीगोस्वामीजी ने श्रीराम चरित मानस में बड़े ही मार्मिक ढंग से कहा है कि—अगुण सगुण विच नाम सुसाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाखी ।। इस प्रकार हम देखते हैं कि भगवान के परात्पर निराकार स्वरूप के प्रतिपादन के समय उन्हें अनाम कहा जाता है परन्तु साधनकाल में निराकार या साकार किसी भी रूप के उपासकों का भगबन् नाम के बिना काम नहीं चल सकता इसलिए निराकार के उपासक भी भगवान के नाम का सहारा लेते हैं।

महाप्रभु श्री चैतन्यदेव जी ने कहा है कि हे भगवान आपकी इतनी बड़ी कृपा है कि आपने अपने बहुत से नाम बनाए और उनमें से हर एक में अपनी पूरी शक्ति रख दी तथा नाम स्मरण में समय का कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया, मेरा दुर्भाग्य भी ऐसा है कि इनमें से किसी में भी प्रेम नहीं हुआ (चैतन्याष्टक)।

हमें यह भी समझ लेना चाहिए कि निराकार और निर्गुण एक ही अर्थ वाले शब्द नहीं हैं आकार न होना एक बात है, और भी गुण न होना दूसरी बात है। निराकार के उपासक भीं जब भगवान को सृष्टिकर्ता, न्यायकर्ता, फलप्रदाता, बुद्धि का प्रेरक आदि मानते हैं और वैसा निरूपित करते हैं तो उनका भगवान गुणरहित नहीं गुण सहित हो जाता है। निराकार के उपासक भी सगुण निराकार के उपासक हैं, निर्गुण के नहीं। आर्य समाजी निराकार भगवान को मानते हैं परन्तु उनके विश्वास के अनुसार भगवान सृष्टिकर्ता, न्यायकारी, दयालु, अनादि अजन्मा और अनन्त है। इतने सारे गुणों से युक्त भगवान निर्गुण कैसे माने जा सकते हैं। इसलिए एक विवेकी विद्वान आर्य सन्त ने निर्गुण शब्द का दूसरा ही अर्थ किया। गुणहीन के अर्थ में उन्होंने निर्गुण का प्रयोग नहीं किया उन्होंने कहा कि—

निर्गुता: गुणाः यस्मात् स निर्गुण:

जिसमें से सब गुण निकले हैं वह निर्गुण है। इस विवेचन का यहाँ औचित्य यह है कि जब तक भगवान के गुण माने जायँगे तब तक इन गुणों के वाचक शब्द भगवान के नाम बन जायेंगे। और भगवान अनामी नहीं हो सकते। श्री गोस्वामीजी ने कहा है कि—

राम नाम अवलम्ब बिनु, परमारथ की आस।
बरसत वारिद बूंदें गहि चाहन चढ़त अकास ।। (दोहावली)

माण्डूक्य उपनिषद् में घोषित किया गया है कि जो कुछ हो चुका है जो है व जो होगा वह सब प्रणव ही है।

इस प्रकार भूमिका, सोपान, सन्दर्भ साधना आदि के भेद से भगबान को अनाम भी कहा गया है। परन्तु यह भी सही है कि—

"चहुँ दिस चहुँ युग नाम प्रभाऊ"।

भगवान को अलख भी कहा है अलख शब्द का यह अर्थ भी समझा जा सकता है कि "जो देखा नहीं जा सकता" परन्तु संस्कृत में इस शब्द के लिए अदृश्य शब्द है। यहाँ इस सोरठे में यदि अलख का यही अर्थ मानें कि जो देखा नहीं जा सकता तो यह कठिनाई होगी कि इस अर्थ के लिए इसी सोरठे में रूप रहित शब्द का प्रयोग किया गया है। भगवान रूप रहित हैं इसलिए दिखाई नहीं पड़ सकते। इसीलिये अलख शब्द का उससे कुछ भिन्न अर्थ करना ही ठीक होगा। यहाँ सोरठे में यह समझना चाहिए कि अलख शब्द संस्कृत के अलक्ष्य शब्द का तद्भव है। अलक्ष्य शब्द का अर्थ यह है जिसका लक्ष्य न किया जा सके, अर्थात् जो किसी संकेत से भी समझाया न जा सके। वेद में कहा है कि "पादोऽस्यपिश्वा-

भूतानि त्रिपादोऽस्यामृतम्दिवि ।" भगवान के एक चरण में विभिन्न लोक और अनेक जीव हैं और तीन चरणों में अमृतमय दिव्य लोक है। इसके बाद श्री भगवान की त्रिपादूर्ध्वं अनन्त विभूति मानी गई है। परात्पर स्वरूप का साक्षात् वर्णन सम्भव नहीं है। इसीलिए भी वेद में नेति नेति शब्द का प्रयोग किया गया है। किसी भी पदार्थ का नकारात्मक शब्दों में वर्णन न्याय शास्त्र मान्य नहीं हैं। इसीलिए भगबान के विषय में भी यह बताना काफी नहीं है कि भगवान क्या नहीं हैं। इसलिए नेति नेति वाला वर्णन सदैव अधूरा ही रहेगा। परन्तु परात्पर स्वरूप सकारात्मक शब्दों से लक्षित नहीं किया जा सकता। इसीलिए श्रुति ने विवशतापूर्वक नेति नेति द्वारा निरूपण किया है।

परात्पर स्वरूप भले ही वाणी की पहुँच से परे हो, सकारात्मक शब्दों द्वारा वाच्य न हो और अचिंत्य व अवर्णनीय भी हो, परन्तु भगवत् प्राप्ति की साधना करने वाले मनीषियों का कार्य नहीं चल सकता जब तक वे भगवान का वर्णन न करें, उनके गुणानुवाद न गाएँ। श्री गोस्वामी जी ने माना है कि भगवत् कथा का कोई पार नहीं पा सकता –तदपि कहे बिनु रहा न कोई (तो भी सन्तजन बिना कहे नहीं रहे)।

श्री सूरदास जी महाराज ने बड़ी कुशलतापूर्वक इसी अलक्ष्य रूप का लक्ष्य करके श्रीकृष्ण के साकार रूप की उपासना का पक्ष प्रबल किया है—

रूप रेख बिनु, जाति युक्ति बिनु, निरालम्ब मन चक्रित धावै।
सब विधि अगम विचारहिं, ताते सूर सगुन लीला पद गावै॥

श्री गोस्वामी जी ने भी दोहावली जी में कहा है कि—

तुलसी अलखहिं का लखै, राम नाम जपु नीच।

जब वेद की श्रुतियाँ भी श्री भगवान के परात्पर स्वरूप का सकारात्मक वर्णन करने में समर्थ नहीं हैं तो भक्ति के आचार्यों को यह कहने का अवसर मिला कि श्रुतियाँ भी भगवान के स्वरूप का अनुसंधान करती रहती हैं, परन्तु सफल नहीं होतीं। श्रीमद् भागवत के एक प्रसिद्ध श्लोक में उद्धव जी ने गोपियों की स्तुति की है जिन्होंने श्री भगवान की उस पदवी का सेवन किया जिसे श्रुतियाँ भी ढूंढ़ती रहती हैं।

भेजुर्युकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम् (श्रीमद्भागवत १०.४७.६१)

भक्ति के आचार्यों और रसिकों की दृष्टि में श्रुतियों के द्वारा निरन्तर खोजे जाने वाले भगवान ही गोपियों के साथ लीला विहार रत् हुए। सोरठे में कवि का भी तात्पर्य यही है कि परात्पर भगबान ने स्वयं दासों पर कृपा करने के लिए नर रूप धारण किया। इस प्रकार अलक्ष्य रूप लक्ष्य हो गया। रसखान जी के प्रसिद्ध छन्द में इस विषय का सरस वर्णन है।

शेष महेश गनेश दिनेश, सुरेशहु जाहि निरन्तर गावैं।
जाहि अनादि अनन्त अखण्ड, अछेद अभेद सुवेद बतावैं।
नारद से सुक व्यास रटैं, पचिहारे तऊ मुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरिया, छछिया भरि छाछ पै नाच नचावैं।

श्री गोस्वामी जी के समकालीन प्रसिद्ध प्रकाण्ड विद्वान् श्री मधुसूदन सरस्वती जी अद्वैत–सिद्धि के भी लेखक थे और हरि भक्ति रसायन के भी। इन्होंने भी उपर्युक्त तत्व का वर्णन बड़े प्रभावशाली ढँग से एक मार्मिक श्लोक में किया है।

उपदेशं परमिदम् आद्रियध्वम्, निगम बनेषु नितान्त चार खिन्नाः।
विचिकुत भवनेषु ब्रज बल्लवीनाम्, उपनिषदमर्थमुलूखलेनिबद्धं ।।

जो लोग वेद के वन में बहुत भटकते-भटकते थक गए हों वे इस परम कल्याणकारी उपदेश को सुने और आदर करें। उपनिषदों के अर्थ को व्रज सुन्दरियों गोपियों के घरों में ढूंढ़ना चाहिए, वह अर्थ वहाँ ओखली में बँधा पड़ा है, भाग या छिप नहीं सकता। इसलिए इतना स्मरण रखना चाहिए कि अलक्ष्य शब्द भगवान के परात्पर स्वरूप के सम्बन्ध में कहा गया है परन्तु यदि भगवान किसी रूप में कभी किसी को प्राप्त ही न हो सके तो शास्त्र लिखने और साधन करने का प्रयोजन ही समाप्त हो जाए। वेदादि समस्त शास्त्रों का प्रयोजन यही है कि वह भगवत् प्राप्ति साधना का मार्गदर्शन करें न कि उसे असम्भव सिद्ध करें, क्योंकि जो मन और वाणी से अगोचर है और किसी प्रकार प्राप्त नहीं हो सकता उसका तो अस्तित्व भी प्रमाणित नहीं हो सकता और इससे तो नास्तिकता को ही बल मिलेगा।

भगवान के अव्यक्त स्वरूप के वर्णन में कवि ने भगवान को रूप और गुण से रहित बताया है। रूप रहित अर्थात् निराकार भगवान का परात्पर स्वरूप वेदान्त शास्त्रों में निराकार रूप से कथित है। कभी कभी निराकार के ही अर्थ में निर्गुण का प्रयोग हो जाता है। निराकार के उपासकों की परम्परा हिन्दी साहित्य में भी निर्गुण धारा के नाम से विख्यात है। इसी दृष्टि से कबीरपन्थी निर्गुनी कहे गए हैं और श्रीगोस्वामी जी व सूरदासजी सगुणोपासक माने गए हैं। यह भली भाँति समझ लेना अच्छा है कि शास्त्रों और सन्तों को भगवान के साकार और निराकार दोनों रूप मान्य हैं। रामायण में कहा है कि--

जय सगुण निर्गुण रूप राम, अनूप भूप शिरोमने।

यह भी कहा है–

अगुन अरूप अलख गति जोई। भगत प्रेमबस सगुन सो होई।

भगवान को साकार और निराकार दोनों कहने में विरोधाभास आता है और प्रश्न उठता है कि--जो गुन रहित सगुन सो कैसे। इसका उत्तर दिया गया है कि--

जल हिम उपल विलग नहिं जैसे ।।

पाले के रूप में जल निराकार है जल के रूप मे द्रव है और ओले के रूप में ठोस है परन्तु तत्वतः वह जल ही है। इसी प्रकार सर्वव्यापी परात्पर रूप निराकार है परन्तु भक्त प्रेमबश व्यक्त हुआ स्वरूप साकार है। कही पर ओले गिर जाने से यह सिद्ध नही होता कि अन्य देशों में जल भाप के अव्यक्त रूप में व्यापक नहीं है। जल तत्व अव्यक्त भाप रूप में वायु में सर्वत्र व्याप्त है। द्रव्यरूप में जलस्रोतों में प्रवहमान है और बर्फ रूप में ऊँचे पहाड़ों की चोटियों पर जमा है। अथवा फैक्ट्रियों में तैयार होकर ठोस रूप में बाजारों में बिकता है। इस प्रकार जल तत्व स्वयं साकार व निराकार दोनों हैं। फिर भगवान के निराकार और साकार दोनों होने में असम्भावना कहाँ है ? इसलिए भगवान रूप रहित हैं। परन्तु सौन्दर्य निधान रूप सहित भी है, जिनके रूप पर प्राणी मात्र आकर्षित और मोहित हो सकता है। कहा जाता है कि एक बार गोस्वामी जी की पत्नी ने उनको एक पत्र लिखा था, जिसमें पत्नी त्याग को अनुचित बताया था और यह आशंका प्रकट की थी कि उनकी रातें किसी अन्य स्त्री के साथ न कटने लगें। उत्तर में श्री गोस्वामी जी ने लिखा था--

कटती है रघुनाथ संग, बांधि जटा सिर केस।
हम तो चाखा प्रेम रस, पत्नी के उपदेस।

भगवान का जटाजूट धारी रूप श्री गोस्वामी जी को ईष्ट है और इस ग्रन्थ के मंचलाचरण का विषय भी है। इस प्रकार श्री भगवान के

निराकार रूप का संकेत कवि ने पूर्व पक्ष में किया है और उत्तर पक्ष में उन्हीं भगवान के द्वारा नर रूप धारण करने का उल्लेख करके कवि ने साकार रूप को प्रधानता दी है।

भगवान को गुण रहित कहने का दो प्रकार का प्रयोजन हो सकता है एक तो व्रह्म रूप में भगवान केवल अधिष्ठान रूप हैं और इसलिए उस रूप में समस्त गुग से रहित हैं निरीह, निष्चैष्ट, निष्पक्ष, निष्काम हैं, शुभाशुभ सबमें समान हैं। यह भगवान का निरपेक्ष रूप है। वेदान्त शास्त्रों में अन्वय और व्यतिरेक पद्धति से भगवान का निरूपण हुआ है। प्रत्येक वस्तु में समस्त संसार में भगवान को व्याप्त देखना यह अन्वय पद्धति है। श्रीराम चरित मानस में श्रीरामजी ने श्री हनुमान जी को अनन्य भक्ति का उपदेश देते हुए कहा है।

सो अनन्य जाके असि, मति न टरै हनुमन्त।
मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवन्त।। (कि०कां०)

चराचर में भगवान का रूप देखना यह अन्वय पद्धति है। गीता में भी कहा है कि "वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः" (गीता ७/१९) सब कुछ प्रभु रूप है ऐसा अनुभव करने वाला महात्मा अत्यन्त दुर्लभ है।

व्यतिरेक पद्धति में भगवान जगत् के समस्त पदार्थों से भिन्न और परे माने जाते हैं। अतः व्यतिरेक पद्धति से भगवान जगत् और उसके तमाम गुणों से भी प्रथक और अछूते हैं। गीता में भगवान ने कहा है कि "तस्यकर्त्तारमपि मां विद्धयकर्त्तारमव्ययम्" (गीता ४/१३)। मुझ अव्यय स्वरूप को उसका कर्ता होते हुए भी तुम अकर्ता जानो।

यह ऐसा ही है कि सोते समय जो स्वप्न दिखाई देता है उस स्वप्न में सचमुच देखने वाले की सता को छोड़कर कोई अन्य सत्ता नहीं रहती। इसलिए देखने वाला समस्त स्वप्न में व्याप्त है, परन्तु सोने वाला जो स्वप्न देख रहा है वह स्पप्न की समस्त घटनाओं हानि लाभ, जय पराजय, मान अपमान अथवा हर्ष विषाद, क्रोध आदि विकारों से परे निद्रा निमग्न है। इससे हम समझ सकते हैं कि भगवान समस्त गुणों से परे नितान्त निर्गुण है परन्तु सभी गुण उसी के कारण हैं, उसी से निर्गत हुए हैं निकले हैं।

जिस प्रकार का वर्णन प्रस्तुत सोरठे में किया गया है वैसा ही राम चरित मानस में भी है। मानस में भी अव्यक्त रूप का वर्णन करके अन्त में कहा गया है।

जेहि इमि गावहिं वेद बुध, जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
सोई दशरथ सुत भगत हित, कोसल पति भगवान।।

तथा अन्यत्र भी कहा है कि—

सोइ अज प्रेम भगति बस, कौसल्या की गोद।

यह ग्रन्थकार का चातुर्य है कि इस ढँग पर सूत्र रूप में अवतारवाद का प्रबल प्रतिपादन है। गोस्वामी जी कहते हैं कि जो अज, अद्वैत, अनाम अलक्ष्य, रूप और गुण से रहित हैं उन्हीं मायापति राम ने दासों के हित के लिए नर रूप धारण किया। माया त्रिगुणात्मिका है जगत् का व्यवहार सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण का प्रवाह है। इन तीनों गुणों से परे होने के कारण भी भगवान को निर्गुण कहा जाता है। वे गुणातीत हैं त्रिगुणात्मिका माया के पति हैं। माया पति शब्द में बहुत सा अर्थ भरा हुआ है। भक्ति के आचार्य जीव और शिव का भेद मानते हैं। रामचरित मानस में कहा है कि—

माया ईस न आपु, कहँ, जान कहिय सो जीव।
बन्ध मोक्ष प्रद सर्व पर, माया प्रेरक सीव।

उत्तर काण्ड में भी कहा है कि—

परबस जीव स्वबस भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकन्ता॥

तथा—

ज्ञान अखण्ड एक सीतावर। माया वस्य जीव सचराचर॥

इस प्रकार जीव और शिव के भेद से भक्ति की सम्भावना बनती है। जीव मायाबस है, ईश्वर उसका मालिक है। जीव पशु की तरह है ईश्वर इसका मालिक है। जीव माया के बन्धन में बँधा है। विनय पत्रिका जी में श्री गोस्वामी जी कहते हैं कि—

तुलसिदास यह जीव मोह रजु, जोइ बाँधै सोइ छोरै।

रस्सी से बँधा हुआ जानवर स्वयं अपने बन्धन को खोल नहीं सकता। उसका स्वामी ही उसे खोल या खुलवा सकता है। इसलिए मायावश जीव के लिए मायापति का आराधन आवश्यक है। इसी प्रकार वह बन्धन से मुक्त हो सकता है। सोरठे में मायापति राम का उल्लेख है। पुराण प्रसिद्ध राम तीन हैं—परशुराम, दशरथ पुत्र राम तथा बलराम। इसके अतिरिक्त—"रमन्ते योगिनो यस्मिन् स रामः" जिसमें योगी लोग रमण करते हैं वह राम हैं। जो चराचर में व्याप्त है, घट घटवासी है, वह राम है ऐसा अर्थ भी राम शब्द से निकलता है। दशरथ पुत्र राम जी ही ग़ोस्वामी जी के इष्ट थे परन्तु यहाँ उनके मायापति रूप से कवि का प्रयोजन है।

माया पति शब्द में ही भक्ति दर्शन का सूत्र समाया हुआ है। बहुत से भक्तजन माया को भगवान की आदि शक्ति मानते हैं और युगुल सरकार

की उपासना करते हैं। अद्वैत दर्शन में माया को एक रहस्यमय शक्ति बताया है जिसे न सत्य कहा जा सकता है न असत्य। यदि माया को सत्य मानें तो ब्रह्म और माया के भिन्न भिन्न तत्व मान्य हो जायेंगे। इससे अद्वैत खण्डित होगा और सांख्य दर्शन प्रतिष्ठित होने लगेगा। माया को असत्य मानें तो दर्शन के निरूपण में उसका प्रसग ही न रहे। अत: उसे आदि शकराचार्य ने भी सत्य और असत्य से प्रथक एक रहस्य मय शक्ति माना है। भक्ति के आचार्यों ने माया को शक्ति स्वरूपा देवी माना है और इष्टदेव के साथ शक्ति स्वरूपा देवी की प्रतिष्ठा करके युगुल सरकार की उपासना की है। इसलिए मायापति ही वास्तविक आराध्य हैं और समस्त उपासना के आधार हैं।

शब्द माया पति में एक और संकेत है। भक्ति के आचार्यों ने भक्ति साधना के फलस्वरूप जीव के मोक्ष की सम्भावना बताई। मुक्त होने पर जीव माया के बन्धन से छूट जाता है। इसलिए यह माना जाता है कि वह भगवान के समान हो जाता है परन्तु भक्ति के आचार्यों का कहना है कि यह समानता प्रत्येक विषय में नहीं होती। विशेषत: सृष्टि को उत्पन्न करने, चलाने तथा उसका प्रलय करने की शक्ति ईश्वर में ही रहेगी, प्रत्येक मुक्त जीव को नहीं मिल सकती अत: मुक्तजीव के द्वारा भी सृष्टि के नियन्त्रक ईश्वर की उपासना सम्भव व उचित है। श्रीरामानुजाचार्य महाराज का कहना है कि "मुक्ता: अपि लीलया विग्रहंकृत्वा भगवतम् भजन्ते। मुक्त जीव भी लीला पूर्वक दिव्य देह धारण किए हुए भगवान का भजन करते हैं। इस तरह समझने पर सारी उपासना माया पति के साथ जुड़ी हुई है। पहले कबि ने भगवान के अव्यक्त, अचित्य, अलक्ष्य रूप का वर्णन किया जो वस्तुत: अधिष्ठान स्वरूप ब्रह्म का वर्णन है फिर उसी रूप का मायापति राम के साथ एकत्व प्रदर्शित किया। वेदान्त के अनुसार "सर्वं खल्विदं ब्रह्म (यह सब कुछ ब्रह्म ही है) इस

दृष्टि से अद्वैत का प्रतिपादन है। परन्तु सृष्टि के बन जाने के बाद सृष्टि के व्यवहार में सृष्टि नियन्त्रक ईश्वर और नियंत्रित जीव का भेद अपरिहार्य है। गुण रहित होना ब्रह्म का लक्षण हो सकता है ईश्वर का नहीं। ईश्वर तो ईशित्व गुण के कारण ही ईश्वर कहलाता है और ईशित्व करने में बहुत से अन्य गुणों का भी प्रदर्शन आवश्यक है इसलिए ईश्वर गुणों के बन्धन से परे हो सकता है, गुणों से रहित नहीं हो सकता। इसी तरह हम ब्रह्म को भले ही सृष्टि निरपेक्ष माने परन्तु ईश्वर जो सृष्टि का शासक है उससे निरपेक्ष नहीं रह सकता इसलिए सृष्टि के सुसचालनार्थ आवश्यक होने पर उसका मनुज रूप में प्रगट होना और नर लीला करना सहज और स्वाभाविक है। इसमें कोई अनहोनापन या असम्भावना नहीं है।

एक और बात सदैव स्मरण रखने योग्य है। जैसे प्रजाजन को कष्ट पाने पर राजा के समक्ष आवेदन करने की, प्रार्थना करने की प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार बन्धन और कष्ट में पड़े हुए जीव को सृष्टि के नियन्त्रक से प्रार्थना करने की प्रेरणा होती है। परन्तु प्रार्थना तभी की जाती है जब यह आशा हो कि उस पर कार्यवाही की जाएगी। यदि कोई राजा प्रार्थंना पत्रों पर कोई विचार ही न करे, न कोई आदेश पारित करे तो ऐसे राजा से कोई भी प्रार्थंना क्यों करेगा। इसी प्रकार ईश्वर के अन्दर भक्त वत्सलता, पतितपावनता, कारुण्य, शरणागत–प्रतिपालकता आदि गुणों के होने की मान्यता करके ही विनय, प्रार्थना या पूजा की जाती है। भक्तों के लिए मायापति राम करुणासिन्धु हैं। वे भक्ति भावना के उत्तर में कृपा करते हैं। इसीलिए उपासना की सार्थकता है नहीं तो उपासना का कोई आधार नहीं बनेगा। मायापति होने से हीं ईश्वर का कारुण्य आदि गुणों से युक्त होना सहज और सम्भव है। यदि कोई व्यक्ति भगवान को केवल न्यायकारी माने, दयालु न माने तो वह ईश्वर की उपासना नहीं कर सकता क्योंकि कर्मानुसार फल देने की तो

ईश्वर की ओर से सहज और प्राकृतिक व्यवस्था है, परन्तु भगवान की भक्त वत्सलता भक्तों की भावना के अनुरूप उत्तर के रूप में उदय होती है और अपना चमत्कार दिखाती है। इसी कारुण्य का यह प्रकाश है कि—

जब जब होइ धर्म कै हानी। बाढ़हिं असुर अधम अभिमानी।।
तब तब प्रभु धरि विविध शरीरा। हरहिं कृपानिधि सज्जन पीरा।।

यदा यदा हि धर्मस्यग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानम् धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्हम्।।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे।।

(गीता ४/७-८)

संसार को पार करने के लिए ऋषियों ने धर्म को पुल के समान माना है।

"श्रुति सेतु पालक राम तुम"

इसी तरह "धर्म सेतु पालक तुम ताता"। राम ने अपने अपने काल में भविष्य में होने वाले राजाओं से प्रार्थना की थी कि वे अपने अपनें समय में धर्म रूपी पुल की रक्षा करते रहें। श्लोक निम्नवत् है—

भूयो भूयो, भाविनों भूमिपालाः, नत्वा नत्वा याचते रामचन्द्रः।
सामान्योऽयम् धर्मसेतुर्नराणाम् काले काले पालनीया भवद्भि।।

उपर्युक्त के अनुसार सत् पुरुषों की रक्षा दुष्टजनों का संहार और धर्म स्थापना के लिए ही भगवान का अवतार होता है। परन्तु यहाँ

सोरठे में कहा गया हैं कि दास हेतु नर तनु धरेउ। देखने में यह एक नया और भिन्न ही कारण मालूम होता है। श्री रामचरित मानस में भी श्री रामचन्द्र जी ने विभीषण से कहा है कि—

तुम सारिखे सन्त प्रिय मोरे। धरउँ देह नहिं आन निहोरे ॥

यहाँ दासों का हित करना अवतार का एक मात्र कारण कहा गया है, और कोई निहोरा मान्य नहीं किया गया है। तो फिर गीता और रामचरित मानस में कहे हुए अन्य कारणों का क्या होगा? दोनों प्रकार के वचनों में मेल कैसे बैठेगा? एक तो यह समझना चाहिए कि श्री गीता जी में और रामचरित मानस में जो अवतार का प्रयोजन कथित है उसमें साधुजनों की रक्षा पहले नम्बर पर है। इसी रक्षा हेतु आवश्यकता अनुसार दुष्टजनों का संहार है, तथा साधुजनों के मार्ग को निष्कंटक बनाने के लिए और जन कल्याणार्थ धर्म की स्थापना भी है। साधुजन भगवान के दास ही हैं। जब उन्हें बहुत कष्ट होता है तब भगवान को उस कष्ट के निवारण के लिए स्वयं अवतार ग्रहण करने की प्रेरणा होती है।

यह भी कहा जा सकता है कि श्री भगवान् के और और प्रयोजन अवतार लिये बिना भी पूरे हो सकते हैं और किसी अश तक पूरे होते रहते हैं। अन्य महापुरुषों द्वारा भी धर्म स्थापना कार्य हो सकता है और हुआ है। परन्तु अपने शरणागत भक्तों के तीव्र कष्ट को दूर करने के लिए भगवान को स्वयं लीला-प्रवृत्त होने की प्रेरणा होती है। जैसे किसी अत्यन्त धनी व्यक्ति के घर पर उसका कोई अति निकटवर्ती घनिष्ट मित्र आवे तो धनी को इससे संतोष नहीं होता कि मित्र के लिए जलपान का सामान नौकर से भिजवा दे। इसलिए अपने अतीव प्रिय भक्तों के लिए श्री भगवान स्वयमेव कुछ

करना चाहते हैं। प्राकृतिक उपायों से कष्ट निवारण सम्भव भी हो तो भी उससे भगवान को सन्तोष नहीं होता।

यह सही है कि अवतार काल के अतिरिक्त भी भगवान के भक्तों को कष्ट झेलने पड़े हैं और बहुत बार ऐसा हुआ हैं कि सन्त भगवन्त की कृपामय शक्ति के द्वारा ही उन कष्टों का शमन हुआ है। जब भगवान किसी भक्त को ध्यान में दर्शन देते हैं और आवश्यक आदेश, निर्देश, उपदेश, आशिर्वाद अथवा वरदान देते हैं तो भी यही कहना पड़ेगा कि भगवान ने अपनी ओर से उस भक्त का कल्याण किया। कभी कभी ऐसे अवसर भी आते हैं कि भगवान भक्त को ध्यानावस्था में नहीं वरन् साक्षात दर्शन देते हैं और कृपा करते हैं। इस प्रकार अवतार काल के अतिरिक्त भी श्री भगवान भक्तों के लिए अपनी ओर से बहुत कुछ करते रहते हैं। परन्तु जहाँ सतपुरुषों की पीड़ा एक सामूहिक समस्या बन जाती है वहाँ अवतार लेकर साक्षात् हस्तक्षेप करना सुगम और स्वाभाविक मार्ग बन जाता है। जैसे रावण के समय में राक्षसों ने ऋषि मुनियों का भक्षण करके हड्डियों का भारी ढेर लगा दिया था। बनवास काल में श्री राम जी ने उस ढेर को देखा और उसके बिषय में पूछताछ की। वास्तविक तथ्यों को जानकर श्री राम करुणा से भर गये और—

निशिचर हीन करउँ महि, भुज उठाइ प्रन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमनि, जाइ जाइ सुख दीन्ह॥

इस प्रसंग से भी स्पष्ट हो जाता है कि श्री भगवान को ऋषि मुनियों का सामूहिक संकट देखकर उसके निवारणार्थ ही निशिचर संहार की प्रेरणा हुई।

एक अन्य बात भी विचारणीय है। लंका विजय और निशिचर संहार महामारी आदि के द्वारा भी हो सकता था। परन्तु अनन्य भक्तों की

प्रेम सम्बन्धी इच्छाओं की पूर्ति अन्य उपायों से सम्भव नही थी। दर्शन और सत्संग के लिए साकार रूप धारण करना आवश्यक था। इसी प्रकार हम देखते हैं कि स्वयंभू, मनु और शतरूपा की दीर्घकालिक प्रेम भरी तपस्या के कारण उन्हें वरदान प्राप्त हुआ और उस सम्बन्ध में प्रभु को अवतार लेना पड़ा। इस प्रकार अपने अनन्य भक्तों की अभिलाषाओं की पूर्ति के लिए श्री भगवान का अवतार होता है। यही मुख्य कारण है परन्तु अवतारकाल में भगवान का कुछ कार्यक्रम भी होता है। अवतार कर्म बन्धन के कारण नहीं होता। इसलिए भगवान के अवतार का कार्यक्रम भगवान की स्वतन्त्र इच्छा से निर्णीत होता है यद्यपि इस कार्यक्रम के पीछे पूर्व घटनाओं का सन्दर्भ तथा प्रतीतिमान् कारण रह सकता है।

एक रहस्य और है—

जग विस्तारहिं विशद यश, राम जनम कर हेतु।
सोइ यश गाइ भगत भवतरहीं। कृपासिंधु जनहित तनु धरहीं।।

भगवान साधु संरक्षण, दुष्ट दलन, धर्म संस्थापना, भक्त वत्सलता और पतित पावनता से भरी हुई ऐसी अनुपम लीला करते हैं कि वे अपनी स्थाई निर्मल कीर्ति जगत् में स्थापित कर देते हैं। बाद में भक्त जन इसी दिव्य लीला का ध्यान और इसी निर्मल यश का गान करके भवसागर से पार होते रहते हैं। भक्तों का हित करना, उनका मनोरंजन करना तथा कल्याण करना एक ऐसा प्रयोजन है जो अवतार काल में और उसके बाद भी चलता रहता है। इस प्रकार दास हेतु नर तनु धरेउ में श्री भगवान के अवतार और अवतार में की गई समस्त लीला का रहस्य सूत्र रूप में पिरोया हुआ है।

तुलसी यह तनु खेत है, मन वच कर्म किसान।
पाप पुण्य द्वै बीज हैं, बवै सो लवै निदान ॥५॥

श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि यह (मानव) शरीर खेत है, मन वचन और कर्म किसान हैं, पाप-पुण्य दो बीज हैं। जो बोया जायगा अन्त में वैसी ही फसल काटनी होगी। (कर्मानुसार फल होगा।)

अखिल ज्ञान के सारभूत इस ग्रन्थ रत्न में इस एक ही दोहे में कर्म सिद्धान्त का सूत्र रख दिया गया है।

भौतिक जगत् में जैसे ऊर्जा के संरक्षण का सिद्धान्त है, ऊर्जा का व्यर्थ लोप मान्य नहीं है, इसी प्रकार सामाजिक क्षेत्र में व नैतिक क्षेत्र में भी कर्म की ऊर्जा (शक्ति) है। उसका भी लोप नहीं होता। लोप का आभास तो होता है, परन्तु यथार्थ लोप नहीं होता। भौतिक ऊर्जा 'प्रकाश विद्युद् ध्वनि चुम्बकोष्मा।' (रोशनी, बिजली, शब्द, चुम्बक शक्ति व गर्मी) का भी लोपाभास होता है। जैसे सूर्य का प्रकाश चारों ओर हर समय फैल रहा है, वह सृष्टि में लुप्त होता प्रतीत होता है। यह आभास सत्य नहीं है। बिजली की धार जमीन में जाने लगे तो वह लुप्त होती जान पड़ती है, परन्तु विज्ञान वेत्ता इसे लोपाभास मानते हैं, वास्तविक लोप नहीं मानते। वैसा ही कर्म शक्ति के विषय में भी है। विज्ञजनों, ऋषियों, सूक्ष्म-दर्शियों की दृष्टि में कर्म का परिपाक होता है, कर्म व्यर्थ नहीं जाता। कर्म का भी लोप आभासित होता है, वह वास्तविक लोप नहीं है। देखने में बहुत सा शुभ कर्म व्यर्थ जाता है, उसका कोई शुभ

फल नहीं होता, उसी तरह बहुत सा अशुभ कर्म भी फलित नहीं होता, ऐसा आभास होता है, परन्तु सचमुच ऐसा नहीं है। निष्फलता का आभास इसलिए होता है कि कर्म का फल हमारी आशा या इच्छानुसार अभीष्ट रूप में फलित नहीं होता। शीघ्र फलित नहीं होता। इससे एकदम निष्फल होना सिद्ध नहीं होता। ऋषि दृष्टि से तो परिपाक होता ही है।

यदृशं कुरुते कर्मं, तादृशं फलमाप्नुयात्।
अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।।
[श्री देवी भागवत ६.९.६७]

जो जैसा कर्म करता है, वैसा ही फल प्राप्त करता है, किए हुए शुभ अशुभ कर्म का फल अवश्य भोगना पड़ता है।

यह बात महत्वपूर्ण है कि सभी धर्म कर्म सिद्धान्त को मानते हैं। आस्तिक धर्म ही नहीं नास्तिक धर्म भी। हिन्दू धर्म, इस्लाम धर्म, ईसाई धर्म ईश्वरोपासना के प्रतिपादक हैं। यह सब कर्म सिद्धान्त को मानते हैं, बौद्ध धर्म व जैन धर्म ईश्वरोपासना के प्रतिपादक नहीं हैं, तथापि कर्म सिद्धान्त को मानते हैं। भारतीय दार्शनिकों में नास्तिक भी हुए हैं, जो ईश्वर को नहीं मानते थे, परन्तु चार्वाक् दर्शन को छोड़कर कर्म-सिद्धान्त को सभी दार्शनिक मानते थे, मानते हैं।

पुण्यमय पथ में ही जीवन है, परन्तु असत्पथ मृत्यु की ओर ले जाता है। [बाइबिल। प्रॉवर्ब्स १२ २८]। अल्लाह रोजे हिसाब का मालिक है [कुरान। सूरे फ़ातिहा] यह अल्लाह बहुत जल्दी हिसाब लेने वाला है [कुरान] जो अपनी सम्पत्ति पर भरोसा करता है वह क्षीण होगा, परन्तु पुण्यात्मा व्यक्ति हरी पत्ती की तरह रहेगा। [बाइबिल। प्रॉवर्ब्स

११.२८ धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षितः। [धर्म ही हनन करने वाले का हनन करता है, धर्म की रक्षा की जाय तो वह रक्षा करता है। जो सत्पथ पर है, पुण्य ही उसका रक्षक है। [प्रॉवर्ब्स १३.६] दुर्भाग्य पापियों के पीछे पड़ा रहता है, पुण्यात्माओं को सम्पन्नता का इनाम मिलता है। [प्रॉवर्ब्स १३.२१] ईश्वर दुष्टों से घृणा करता है, परन्तु सदाचारी उसकी कृपा पाते हैं। [प्रावर्ब्स १४.९] किए हुए कर्मो का फल भोगे बिना प्राणी का छुटकारी नहीं होता। [श्री महाबीर तीर्थंकर] अल्लाह नेकी करने वाले को अच्छा फ़ल देगा। [कुरान] सब लोग भगवान के हुकुम में हैं, उसके बाहर कोई नहीं [श्री गुरुनानक] बौद्ध धर्म के अष्टांग साधन में 'सम्यक् कर्म' है, और निर्वाण के लिए 'धम्मं शरणं' धर्म की शरण लेना आवश्यक है।

साधारण व्यक्ति को कर्म सिद्धान्त पर सन्देह होता है जब वह देखता है कि पापी को सफलता या समृद्धि मिली हुई है, पुण्यात्मा, गरीबी बीमारी या अन्य विपत्ति से पीड़ित है। परन्तु ऋषियों, सन्तों, पैगम्बरों ज्ञानियों को ऐसा सन्देह नहीं होता. क्योंकि उनमें विवेक से आलोकित दृष्टि है। सन्देह का अवसर इसलिए मिलता है कि हम परिपाक होते हुए कर्मफल को देख नहीं पाते। इसलिए हमें उल्टे सुल्टे परिणाम दिखाई पड़ते हैं। निम्न बातों को हम उचित महत्व नहीं दे पाते—

[१] जो सुखी है उसका सुख पूर्व कर्मों का परिपाक है वर्तमान कर्मो का नहीं। जो दुखी है उसका दुख भी पूर्व कर्मों का परिपाक है, वर्तमान् कर्मों का नहीं।

(२) शीघ्र फल न मिलने से या अभीष्ट फल न मिलने से सन्देह होता है परन्तु कर्म का परिपाक यथा समय होगा, तुरन्त नहीं। हम अपने शुभ कर्मों का वाञ्छित फल तुरन्त चाहते हैं, परन्तु परिपाक विधानानुसार ही होगा, हमारी इच्छानुसार नहीं।

नाऽधर्मांचरितः लोके सद्यः फलति गौरिव ।
शनैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृन्तति ।।

अधर्म का आचरण करने से वह तुरन्त फल नहीं देता, जैसे गाय ख़रीद लाइये तो तुरन्त बछड़ा (व दूध) नहीं देती । परन्तु पाप बराबर करते रहने से वह कर्ता की जड़ों को काटता है ।

अधर्मेणैधते पुंसः, ततो भद्राणि पश्यति ।
ततः कामानवाप्नोति, समूलं तु निकृन्तति ।।

अधर्म से पुरुष की उन्नति होती है, फिर उसे कल्याण दिखाई पड़ता, तब वह अपनी इच्छाएँ पूरी करता है, अन्त में जड़ से कट जाता है । इसलिए यह समझ लेना चाहिए कि जो फल हम भोग रहे हैं वह पूर्व कर्मो का परिपाक है, वर्तमान कर्मो के आधार पर नहीं हैं । वर्तमान् कर्मो का उससे अधिक सम्बन्ध नहीं है । कुछ सम्बन्ध तो आता है, जैसे बीमाँरी पर चिकित्सा का असर पड़ता है । प्राप्त विपत्ति के उपशम में या प्राप्त सम्पत्ति के उपयोग, संरक्षण, क्षय आदि में वर्तमान् कर्मों का प्रभाव देखा जाता है । प्राप्त फल कितना सुखदायी या दुखदायी होगा यह अपनी परिस्थिति व मनःस्थिति पर भी निर्भर है ।

कर्म-विपाक को पूरा पूरा समझ जाना सम्भव नहीं है । गहना कर्मणो गतिः (गीता ४.१७) कर्म की गति गहन है । समझ में नहीं आती ।

प्राणिनां देह सम्बन्धे गहना कर्मणो गतिः ।
दुर्ज्ञेया सर्वथा देवैर्मानवानां तु का कथा ।।

देह में फँसे प्राणियों के कर्मों की गति गहन है, देवताओं के लिए भी उसका जानना कठिन है, मनुष्यों की तो बात ही क्या है ?

पापों का फल जल्दी नहीं मिलता इसलिए मनुष्य पाप में प्रवृत्त हो जाता है। (बाइबिल ऐक्लीजियास्टीज़ ८.११)

यदि पापियों को फलते फलते देखकर किसी की यह कल्पना हो कि पाप का स्वाभाविक परिणाम सुख समृद्धि है तो उसे यह सोचना चाहिए कि सभी पापी सम्पन्न और सुखी क्यों नहीं होते ? क्यों नहीं हो सकते ? मानना पड़ेगा कि इसमें अदृष्ट का, प्रारब्ध का, भाग्य का हाथ है। श्री गीता जी के अठारहवें अध्याय में कर्म के पाँच हेतु (कारण) बताये हैं। दैव (भाग्य) इनमें पाचवां है। दु:ख कोई नहीं चाहता। वह न मिले इसके सब तरह के उपाय किए जाते हैं, परन्तु वह आ ही जाता है, रुकता नहीं। उसी विधान से सुख भी आता है, वह भी रोके नहीं रुकता। कोई उसे रोकता नहीं इसलिए उसकी अनिबार्यता छिपी रहती है। दुख की तरह सुख भी "सर्वत्र लभ्यते दैवाद्" भागवत ७.६.३) सब जगह भाग्यवश प्राप्त होता है।

कर्म सिद्धान्त को समझने समझाने के लिए खेती का रूपक अति उपयोगी है। खेती में बीज बोते ही फसल नहीं मिलती। उसके पकने की राह देखनी पड़ती है। इसलिए वह रूपक कर्म सिद्धान्त को समझने समझाने के लिए उपयोगी है। श्री गोस्वामीजी ने भी अपने विवेक से कर्म सिद्धान्त को स्पष्ट करने के लिए खेती के रूपक का आश्रय लिया है। इसलिए इस रूपक का विशद विस्तृत विचार होना चाहिए। परन्तु पहले यह समझ लेना अच्छा होगा कि इस ग्रन्थ में कर्म सिद्धान्त का प्रतिपादन क्यों आवश्यक है। 'ज्ञान कि होइ विराग बिनु' अथवा 'बादि बिरति बिनु ब्रह्म विचारू' के अनुसार वैराग्य ज्ञान का साधन है। साधन चतुष्ट्य– विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व में वैराग्य दूसरे नम्बर पर गिनाया गया है। कर्म सिद्धान्त पर सम्यक् विचार करना वैराग्य के लिए सहायक है, अत: इस ग्रंथ के क्षेत्र के अन्तर्गत है।

मनुष्य जितना अधिक विषयासक्त होता है, उतना ही वह अभीष्ट भोगों की प्राप्ति के लिए उतावला रहता है, धैर्यवान् नहीं रहता। अतः भोग प्राप्ति की आतुरता उसे सत्पथ से अलग कर देती है। वह नीति और मर्यादा का पालन करता हुआ फलोदय की बाट नहीं देख सकता। उसका पुष्ट विश्वास कर्म सिद्धान्त पर नहीं हो सकता।

साधारण अज्ञानी विषयासक्त पुरुष शास्त्रों के श्रवण के बाद भी कर्म सिद्धान्त को स्वीकार करके तदनुसार कार्य नहीं करता। मोहवश वह कर्म सिद्धान्त से बचना चाहता है, उसकी अनिवार्यता को असिद्ध करना चाहता है। महर्षि व्यास का महाभारत में कथन है–

पुण्यस्य फलमिच्छन्ति, पुण्यं नेच्छन्ति मानवाः।
न पापफलमिच्छन्ति, पापं कुर्वन्ति यत्नतः॥

लोग पुण्य की इच्छा नहीं करते, पर पुण्य के फल की इच्छा करते हैं, पाप के फल की इच्छा नहीं करते परन्तु यत्नपूर्वक पाप करते हैं।

ऊर्ध्वं बाहुर्विरोम्येष, न हि कश्चिच्छृणोति मे।
धर्मादर्थश्च कामश्च, स धर्मः किं न सेव्यते॥

मैं हाथ उठा-उठाकर रोता चिल्लाता हुँ, कोई मेरी नहीं सुनता, धर्म से ही अर्थ और काम की प्राप्ति होती है, आप लोग उस धर्म का पालन क्यों नहीं करते ?

इस प्रकार लोग दोनों ओर से कर्म सिद्धान्त को काटना चाहते हैं, बिना शुभ कर्म किए हुए ही शुभ फल चाहते हैं और पाप करते हुए भी उसके फल से बचना चाहते हैं। अर्थात् भगवान के विधान को इंसान उलट देना चाहता है। यह भगवान से विद्रोह है, उपासना नहीं है।

सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुशासन मानै जोई।।
(रा० च० मा०)

'वही मेरा सेवक है वही मेरा परम् प्यारा है, जो मेरी आज्ञा माने।' 'पुण्य और न्याय का कार्य करना भगवान को अधिक पसन्द (स्वीकार) है, बलिदान चढ़ाने की अपेक्षा। (बाइबिल प्रॉवर्ब्स २१.३)। दुष्टों की हिंसा ही उन्हें नष्ट कर देगी, क्योंकि वे उचित कर्म करने से इन्कार करते हैं। (प्रॉवर्ब्स २१.७) कोई बुद्धिमानी, सूझबूझ या सलाह भगवान के विरुद्ध काम नहीं देगी। (प्रॉवर्ब्स २१ ३०)

बड़े बड़े प्रतिभाशाली विजेताओं, राजनीतिज्ञों, चालाकों को भी जब दुर्दिन देखना पड़ता है तो उन्हें भी दैव की शक्ति भासित होती है। इसलिए भी भगवान को 'माया कोटि प्रपंच निधाना' कहा गया है। (रा० च० मा० उत्तर काण्ड)

श्री गोस्वामी जी ने कृषि का रूपक स्वीकार किया है, वह बहुत सार गर्भित है। उससे कर्म सिद्धान्त को समझने में सहायता मिलती है। अन्तःकरण की भूमि है, शुभाशुभ कर्मो के संस्कार बीज हैं। उन संस्कारों के अनुरूप जाति आयु और भोग (योग सूत्र २.१३) प्राप्त होते हैं, इसमें समय लगता है। मूल कर्म उसी तरह अदृष्ट हो जाता है, जैसे बोया हुआ बीज। बीज स्वरूप से नष्ट हो जाने पर भी फल का कारण बनता है, वैसे ही कर्म फल-परिपाक का आधार है।

गोस्वामी जी कहते हैं कि यह शरीर खेत है। पापपुण्य बीज हैं। मन वचन और कर्म यह तीनों किसान हैं। बोए बीज के अनुरूप फसल काटनी होती है। अर्थात् कृत कर्मों के विपरीत परिपाक नहीं हो सकता। अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्। (देवी भाग ६.९.६७) कर्मैव हि महाराज देहारंभस्य कारणम्। (देवी भाग ६.१०.१६) देही नास्ति

वश: कोऽपि दैवाधीन: सदैव हि । जननं मरणं दु:खं सुखं प्राप्नोति चावश: ।। (देवी भाग ६ १०.२९) काल रूप तिन कहँ मैं ताता । शुभ अरु अशुभ कर्म फल दाता (रा० च० मा०) कर्म प्रधान विश्व करि राखा । जो जस करै सो तस फल चाखा ।। (रा० च० मा०)

मन, वचन व कर्म तीनों को किसान कहा है । पाप व पुण्य को बीज कहा है, कर्म को नहीं, अत: शब्दश: यह प्रश्न नहीं उठता कि कर्म बीज और किसान दोनों कैसे होगा ? दूसरे कर्म का अर्थ यहाँ शारीरिक कर्म है । तीन प्रकार के कर्म हैं—मानसिक, वाचिक, कायिक (मन के, वचन के, भौतिक शरीर के) । तीनों में शुभ और अशुभ, पाप और पुण्य का भेद है । मनु महाराज ने तीनों प्रकार के पाप समझाए हैं । परद्रव्येष्वभि ध्यानं, मनसानिष्ठ चिन्तनम् । वितथाभिनिवेशश्च त्रिविधं कर्म मानसं । (मनु स्मृति १२.५) । दूसरे की चीज हड़पने की सोचना, मन से दूसरे का बुरा सोचना, असत्य धारणा (नास्तिकता) यह तीन प्रकार के मानसिक पाप हैं । पारुष्य मनृतं चैव पैशुन्यं चापि सर्वश: । असम्बद्ध प्रलापश्च वाङ्‌मयं स्थाच्चतुर्विधम् (स्मृति १२.६) कठोर वचन झूठ, परदोष, कथन व असम्बद्ध भाषण, यह चार प्रकार के वाचिक (वाणी के) पाप हैं ।

अदत्तानामुपादानं हिंसा चैवाविधानत: ।
परदारोपसेवा च शारीरं त्रिविधं स्मृतम् ।।

(स्मृति १२.७) दूसरे की वस्तु, जो उसने स्वयं दी न हो, ले लेना, विधान के अतिरिक्त हिंसा, परस्त्री गमन यह तीन शरीर के पाप हैं । यह सूची प्रमुख पाप की समझनी चाहिए, सम्पूर्ण की नहीं । इन पापों से उल्टे कर्म, मन वचन और शरीर के प्रमुख पुण्य हैं ।

एक ही खेत के तीन किसान होने से झगड़ा लड़ाई का सवाल ही नहीं है, क्योंकि तन, मन, वचन स्वतन्त्र रूप से और एक दूसरे के विपरीत

[illegible] नहीं करते, इनमें सहज सामञ्जस्य बना रहता है। पापी तीनों स्तरों पर पाप करता है, पुण्यात्मा तीनों स्तरों पर पुण्य करता है। परन्तु ऐसा नहीं होता कि पापी केवल पाप करे पुण्य बिलकुल न करे, पुण्यात्मा पुण्य ही करे पाप बिलकुल न करे। पाप पुण्य दोनों प्राय: सबके द्वारा होते हैं। सबका फल परिपाक होगा इसलिए प्राय: सभी को दुख और सुख दोनों ही मिलेंगे। मिला जुला प्रारब्ध बनेगा।

अनिष्टं मिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मण: फलम्। [गीता १८.१२]
हानि लाभ जीवन मरण जस अपजस विधि हाथ।। [रा० च० मा०]

किसी किसी के जीवन में पाप की प्रबलता देखी जाती है, किसी किसी के जीवन में पुण्य की। फल परिपाक में सब कर्मों का परिपाक होता है, केवल एक ही प्रकार का नहीं। पाप और पुण्य की परिपाक काल में टकराहट नहीं होती परन्तु ऐसा प्रभाव देखा जाता है कि पूर्वकृत पापों के फल पाने पर अत्यन्त पुण्यात्मा व्यक्ति अधिक धैर्य से उसका सामना कर सके। सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं। दोउ सम धीर धरहिं मन माहीं।। [रा० च० मा०] इसी प्रकार दानादि पुण्य कर्मों से प्राप्त विपत्ति का शमन भी होता है।

तीव्र भावना से किया हुआ कार्य, भला हो या बुरा, शीघ्र फलित हो सकता है। 'तीव्र संवेगानामासन्नः' [योग सूत्र १/२१] इसलिए तीव्र मनोभावना से किए हुए अनुष्ठान, प्रार्थना, जप, पूजा, दान आदि शीघ्र फलदायी होते देखे गए हैं। इसी प्रकार पूर्वकृत् पुण्यों से प्राप्त सम्पन्नता तीव्र भावना से किए हुए पापों के द्वारा क्षीण होती देखी गई है।

जैसे कर्म त्रिविधि हैं—मानसिक, वाचिक, शारीरिक, उसी प्रकार वे त्रिविधि हैं—इष्ट [पुण्य], अनिष्ट [पाप] और मिश्रित मिलेजुले,

जिनमें पुण्य व पाप दोनों हैं। इसीलिए त्रिविधं कर्मण: फलम् [गीता १८.१२] कहा है।

कर्मों का एक तीसरा विभाजन भी है—क्रियमाण, संचित, प्रारब्ध।

कर्मणस्तु त्रिधा प्रोक्ता गतिस्तत्व विदां वरैः।
संचितं वर्तमानं च प्रारब्धमिति भेदत: ॥
(देवी भाग ६ १०.८)

तत्व वेत्ताओं ने संचित वर्तमान् व प्रारब्ध के भेद से कर्मों की तीन प्रकार की गति बताई है।

जो कर्म किए जा रहे हैं, वे क्रियमाण व वतमान कर्म कहलाते हैं। इनका यथा विधि यथा समय परिपाक होगा, फलोदय् होगा, तुरन्त नहीं। परन्तु कर्मफल परिपाक में हमेशा एक सा समय नहीं लगता। तीव्र व्याधि ग्रस्त मनुष्य की बदपरहेजी जल्दी असर दिखा सकती है, विद्यार्थी का अध्ययन वर्षान्त (सत्रान्त) में परीक्षाफल को प्रभावित करता है। गुप्तदान अधिक पुण्यकारी है, परन्तु उससे शीघ्र प्राप्त होने वाला यश नहीं मिलता। आसन्न सुख त्याग देने से भावी श्रेष्ठतर सुख की भूमिका बनती है। पुण्य से प्राप्त सुख का त्याग भी एक पुण्य है जिससे श्रेष्ठतर सुख का परिपाक होता है।

किसी ने एक रात डकैती की, उसके लिए उसे कई वर्ष के कारावास की सजा मिल सकती है। इस तरह कानून से ही एक रात के कर्म का फल कई बरस भोगना पड़ सकता है। इसी प्रकार एक दिन की बहादुरी के लिए किसी सैनिक की स्थाई तरक्की हो सकती है। एक ही महान् पुण्य से जीवन की धारा बदल सकती है, भविष्य की काया पलट सकती

हैं। इन उदाहरणों से विदित होता है कि जितने समय में कर्म किए जाते हैं, उससे कहीं अधिक समय उनके फल भोगने में लगता है। एक जन्म के किए हुए कर्मों का फलभोग उसी जन्म में समाप्त नहीं होता। इसलिए एक जन्म के कर्मों का लेखा जोखा उसी जन्म में पूरा नहीं होता। इसीलिए पुनर्जन्मवाद कर्म सिद्धान्त का अभिन्न साथी है। जन्म से ही जो सुख दुःख प्राप्त हैं वे पूर्व जन्म के कर्मों के फल मान्य हैं। इसी जन्म के कर्म जिनका फल भोगा नहीं गया है, आगे फल देंगे। इस प्रकार पुनर्जन्म आवश्यक है। यदि पुनर्जन्म और परलोक को न मानें तो मरने के ठीक पहले किए हुए महान् पुण्य कर्म या पापकर्म किस प्रकार फलित होंगे?

किए हुए कर्म कुछ तो शीघ्र फलित होकर समाप्त हो जाते हैं शेष एकत्रित रहते हैं भविष्य में फल देने के लिए। एकत्रित यानी संचित। यह सचित कहलाते हैं। अनेक जन्मों के संचित कर्मों का एक विशाल भाण्डार रहता है। 'अनेक जन्म संजातं प्राक्तनं संचितं स्मृतं (देवी भाग ६.१०.९)

शुभं वाप्यशुभं भूप संचितम् बहुकालिकं। अवश्यमेव भोक्तव्यं सुकृतं दुष्कृतं तथा। (देवी भाग० ६ १०.१०) जन्म जन्मनि जीवानां सचितानां च कर्मणां। निःशेषस्तु क्षयो नाभूत् कल्प कोटिशतैरपि ।। (देवी भाग० ६.१०.११) संचिन पुण्य पाप कर्मों का फल अवश्य भोगना पड़ेगा और यह भोग सौ करोड़ कल्पों में भी समाप्त नहीं हो सकता। इतना समझ लेने पर कर्म बन्धन की दृढ़ता और भयंकरता स्पष्ट हो जाती है।

संचित कर्म एक प्रकार की स्थिर जमा धनराशि है। वह तुरन्त निकाल कर खर्च नहीं की जा सकती, परन्तु जितने कर्म इस जन्म में फल देने के लिए निर्दिष्ट हैं और जिनका फल भोग प्रारम्भ हो चुका है, वे 'प्रारब्ध' कहलाते हैं। प्रारब्ध चालू खाते की तरह है जिसमें से धन निकल

कर खर्च होता रहेगा। प्रारब्ध का भोग इस जन्म में भोगना है। फिर संचित में से अगले जन्म का प्रारब्ध बनेगा। संचित कर्म में से कुछ लेकर कालवश इस जन्म का प्रारब्ध देहारम्भ के समय बनता हैं। (देवी भाग ६.१०.१३ । । इस प्रारब्ध का क्षय भोग से होता है (भोगात् तस्य क्षयः स्मृतः)। प्राणिभिः खलु भोक्तव्यं प्रारब्धं नात्र संशयः ।। (देवी भाग ६.१०.१४) प्राणियों को प्रारब्ध भोगना है इसमें सन्देह नहीं। कर्म ही देहारम्भ का कारण है।

कर्म तत्व के विशेषज्ञों ने माना है कि पाप प्रायश्चित से भी शान्त हो जाता है फिर उससे फलोदय नहीं होता, प्रारब्ध नहीं बनता। अन्यथा प्रारब्ध बनता है और उसका भोग अनिवार्य है—

कह मुनीस हिमवन्त सुनु जो विधि लिखा लिलार।
देव दनुज नर नाग मुनि, कोउ न मेटन हार।।
(रा०च०मा० बालकाण्ड)

इसी प्रकार, निज कृत कर्म भोग सब भ्राता।
(रा०च०मा० अयोध्या०)

इसी प्रकार यह भी शास्त्र सम्मत है कि भगवान के नाम से सब पापों का क्षय हो जाता है अथवा भगवद् यश वर्णन और श्रवण से पाप नष्ट हो जाते हैं। अध कि रहहिं हरि चरित बखाने अथवा भाविहु मेटि सकहिं त्रिपुरारी। इस प्रकार प्रारब्ध के भी बदलने की सम्भावना पाई जाती है।

मन्त्र महामनि विषय ब्यालके। मेटत कठिन कुअंक भालके।।
[बाल का०]

इसी प्रकार गीतोक्त वचन है कि ज्ञान की अग्नि सभी कर्मों को भस्म कर देती है [गीता ४/१९, ४/३७]। अध्यात्मिक शक्तियों का कर्म विपाक और प्रारब्ध भोग पर क्या प्रभाव पड़ता है इसका विवेचन आगे यथा स्थान करना ठीक होगा। यहां यह कहना पर्याप्त है कि साधारण क्रम यह है कि पापी जन भजन निष्ठ नहीं होता, भगवत् शरणागति में नहीं जाता न ज्ञान प्राप्त कर सकता है—जौ पै दुष्ट हृदय सो होई। मोरे सम्मुख आव कि सोई ।।

श्री गोस्वामी जी ने दोहे के अन्त में अत्यन्त सावधानी और विवेक का परिचय देते हुए लिखा है कि "बवै सो लवै निदान" अर्थात् अन्त में कर्मानुसार ही फल प्राप्त होगा। बीच में ऐसा आभास आ सकता है कि किया हुआ पाप समाप्त हो गया है, उसका अशुभ फल न हुआ, न होगा, न हो सकता है, परन्तु ऐसा आभास होने पर भी रहस्यमय ढँग से कर्म का परिपाक होता ही है और फल मिलता है। इसका पूर्व दर्शन ठीक ठीक प्राप्त हो जाय यह ऋषियों, मुनियों और योगियों के लिए भी दुर्लभ है। जो कुछ नियम और न्याय से होना चाहिए उसका उल्टा सुल्टा दिखा दे यही माया की तारीफ़ है--सेऽयं भगवती माया, यन्नयेन विरुद्ध्यते [श्रीमद् भागवत ३.७.९]। परन्तु माया के इस कर्तब से वस्तुतः भगवान का नियम या विधान खन्डित नही होता वह प्रवर्तित रहता है और समय आने पर उसका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इसीलिए कहा गया है कि अन्त में जैसा बोया है वैसा ही काटना पड़ेगा।

खेती में यह बात सर्व विदित और सुप्रसिद्ध है कि बीज के अनुसार ही पेड़ निकलेगा और फल होगा उससे भिन्न नहीं। इसीलिए कृषि के रूपक से यह स्पष्ट कर दिया गया है कि जिस प्रकार के कर्म होंगे उनका वैसा ही फल परिपाक होगा, नितान्त भिन्न प्रकार का फल परिपाक सम्भव नहीं है।

श्री गोस्वामीजी ने कर्म सिद्धान्तका समस्तसूत्र इस दोहे में रख दिया है। इसके सहारे कर्म और उसके फल परिपाक तथा कर्मबन्धन आदि पर शास्त्र सम्मत विचार करने से संसार की आसक्ति कम होती है और वैराग्य की भूमिका बनती है। माया के बन्धन का स्वरूप कर्म सिद्धान्त की सहायता से समझा जा सकता है और तब जीव को क्षुद्र भोगों की प्राप्ति की इतनी चिन्ता न होगी जितनी कि कर्म बन्धन के काटने की। श्री भर्तृहरि जी ने वैराग्य शतक में कहा है—कदाशम्भो भविष्ययामि कर्म निर्मूलनक्षमः। (हे शंकर जी ! मैं कर्म बन्धन को निर्मूल करने में कब समर्थ होऊँगा ?)। इस प्रकार यह कर्म सिद्धान्त का सूत्र भूमिका प्रस्तुत करता है जिसके आधार पर आगे वैराग्य का समुचित निरूपण हो सकेगा।

प्रकृति के तीन गुणों की प्रेरणा से भी कर्म तीन प्रकार के हो जाते हैं—सतौगुणी, रजोगुणी, और तमोगुणी। फिर इन कर्मों के फल परिपाक में भी उसी प्रकार का अन्तर आ जाता है। तीनों गुणों के बन्धन से छूट कर गुणातीत पद में स्थित हो जाने से ही कर्म बन्धन कटेगा और मोक्ष की प्राप्ति होगी। अगले दोहे में श्री गोस्वामी जी ने कर्म बन्धन के कारण प्राप्त जीव का आवागमन और त्रयताप अनुभव प्रदर्शित किया है और मुक्त होने का उपाय क्या है इसका संकेत भी किया है।

तुलसी यह तनु तवा है, तपत सदा त्रयताप।
शान्त होइ जब शान्तिपद, पावै राम प्रताप ।।६।।

श्रीगोस्वामी जी कहते हैं कि यह देह तवा है, यह सदैव ही तीन प्रकार के तापों से तप्त रहता है। यह तभी शान्त हो सकता है जब (भगवत्कृपा व) भगवत् प्रताप से शान्ति (मोक्ष) पद मिले।

संसार के व्यवहार में ऐसी जटिलता रहती है कि साधारण दृष्टि वाला व्यक्ति कार्य-कारण श्रृंखला का, कर्म विपाक का ठीक ठीक विश्लेषण नहीं कर सकता। यह स्पष्ट लक्षित नहीं होता कि किस कर्म का क्या फल मिला या मिलेगा। ऐसी स्थिति में कर्म की गति गहन होते हुए भी कर्म सिद्धान्त पर पूरा विश्वास रखना या तो सूक्ष्मदर्शी सन्तों व ज्ञानियों का काम है या फिर उन श्रद्धालुओं का जो कि उपर्युक्त सूक्ष्मदर्शियों के वचनों पर पूरी श्रद्धा रखते हैं।

जो कर्म सिद्धान्त पर पूर्ण निष्ठा रखते हैं, वे भगवान के विधान को मानते हैं और भावी मंगल के लिए शुभ कर्मों पर ही भरोसा रखते हैं, शस्त्र, दम्भ, कपट आदि पर नहीं। कर्म सिद्धान्त पर विश्वास होना अज्ञानी जीव का पहला विकास सोपान है, विवेक का प्रमाण है। शास्त्र का उपदेश है – 'अपने लिए पुण्य बोइये, और स्थिर प्रेम का फल प्राप्त कीजिये।' [बाइबिल होसीया १०.१२] सन्त जन भगवान के नियम को मानते हैं और भारी दुःख से भी विचलित नहीं होते, नीति पथ का त्याग नहीं करते। कोटि विघ्न ते सन्त कर मन जिमि नीति न त्याग [रा० च०

मा०] । शील गहनि सबकी सहनि, कहनि हीय मुख राम । तुलसी रहिये एहि रहनि सन्त जनन को काम ।। [वै० सं० १७] (दोहावली) । जो सन्त सभी दुख सुखों को 'निज कृत करम भोग सब ताता' ऐसा मानते हैं, उनका दूसरों से राग द्वेष नहीं होता, न भगवान से ही शिकायत होती है, इस भूमिका में स्थित हो जाना समता व शान्ति का कारण है ।

इसके बाद विवेक का अगला सोपान आता है । उसमें जगत् की रमणीयता अस्त होती है, वह 'दुःखालयमशाश्वतं' [गीता ८.१५] दुःखमय, क्षणभंगुर प्रतीत होता है । जब तक ससार में सुख और दु ख दोनों दिखाई देते हैं, तब तक यह प्रयास चलता है कि दुःख न मिले, सुख मिले और स्थिर रहे । इस भूमिका वाले को यह अनुभव नहीं आ सकता कि सभी कुछ व्यर्थ है [बाइबिल एक्लीजियास्टीज २.१७], दुःखमेव सर्वंमू [योग सूत्र २.१५] श्री गोस्वामी जी ने विनय पत्रिका में कहा है-- 'अनविचार रमणीय सदा संसार भयंकर भारी' । अतः वह विचार समझना चाहिए जिससे संसार की रमणीयता बाधित हो जाती हे भयंकरता प्रगट होती है ।

एक बार एक सन्त से एक जिज्ञासु ने प्रश्न किया—गीता में तो संसार को 'दुखालय' [८.१५] कहा है, सन्त भी उसे दुःख रूप बताते हैं, परन्तु मुझे तो इस संसार में सुख दुख दोनों दिखाई पड़ते हैं । सन्त जल्दी में थे । विशद विवेचन की फुरसत नहीं थी । वे बोले । हो सकता है, आपका ऐसा ही अनुभव हो, परन्तु श्री गोस्वामीजी ने तो कुछ और ही लिख रक्खा है—

> श्रुति, गुरु, साधु, स्मृति, सम्मत, यह दृश्य सदा दुःखकारी ।
> तेहि बिनु तजे भजे बिनु रघुपति, विपति सकै को टारी ।।
> [वि० प०]

'सबकी सम्मति (सर्वं सम्मति) से तो यह दृश्यमान् संसार सदा दुःखकारी है, आप इसे कभी कभी सुखकारी मानते हैं। यह कैसे ? अतः समझना चाहिए कि किस दृष्टि से संसार दुखरूप भासता है ? और क्या वह दृष्टि ठीक है ?

महर्षि पतंजलि का सूत्र है—

परिणाम, ताप, संस्कार दुःखैर्गुण वृत्ति विरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। [योग सूत्र २.१५]

विवेकियों के लिए सब संसार दुःखरूप है, क्योंकि उसमें परिणाम, ताप और संस्कार दुःख है और गुणों व वृत्तियों का विरोध है। ताप से यहां मतलब पश्चात्ताप (पछतावा) से है। संसार का कोई भी ऐसा [विषय भोग] सुख नहीं जो उपर्युक्त कारणों से दुःख से दूषित न हो। ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःख योनय एव ते। आद्यन्तवन्तः कौन्तेय, न तेषु रमते बुधः [गीता ५.२२] इन्द्रियों के भोग दुःख गर्भित हैं, आदि अन्त वाले [क्षणिक] हैं, ज्ञानी उनमें नहीं रमते।

परिणाम दुःख—सभी इन्द्रिय सुख भोग काल में सुखद हैं, परिणाम में विषवत् सिद्ध होते हैं [गीता १८.३८]। इसलिए परिणाम को न जानने या उसकी उपेक्षा करने पर ही विषयों की रमणीयता कायम रह सकती है।

एक व्यक्ति कोमल और उज्जवल शैय्या पर लेटा है, उससे किसी ने कहा कि आपकी चारपाई पर सांप चढ़ रहा है। परिणाम की आशंका से शय्या का सुख तुरन्त समाप्त हो गया। यदि यह जानकारी होती कि बिस्तर में एक ओर से आग लग गई है, तो भी शय्या का सुख बाधित हो

जाता। यदि यह आशंका हो जाती कि इस शय्या पर ही अर्धं रात्रि को उसकी हत्या कर दी जायगी तो भी शय्या का सुख व निद्रा का सुख बाधित होता।

विद्यार्थी या वयस्क व्यक्ति जो कर्तव्य को छोड़कर इन्द्रिय सुख उठाने इधर उधर घूमते रहते हैं, वे परिणाम से अपरिचित अथवा उसके उपेक्षक हैं, विवेकीजन, जो परिणाम सचेत हैं, इन सुखों से आकर्षित नहीं होते। अभ्यस्त शराबी परिणामों की लापरबाही करके ही पीता है, गम्भीर व्याधि से ग्रस्त होने पर, परिणाम की उपेक्षा सम्भव न रह जाने पर उसे काफी परहेज करना ही पड़ता है, फिर भी जान बचे या न बचे। अत: विवेकी लोग व्यसन में प्रवृत्त ही नहीं होना चाहते। सिगरेट के व्यसन के भयंकर परिणाम कभी कभी बीस पच्चीस वर्ष बाद उदय होते हैं, परन्तु परिणाम सचेत व्यक्ति व्यसन में पड़ना ही नहीं चाहते। मरीजों को जो परहेज डाक्टर बताते हैं, वह दुष्परिणाम से वचाने के लिए। मरीज जो बिवेकी होते हैं, उन परिणामों से बचने के लिए खुशी से परहेज करते हैं, बदपरहेजी का आकर्षण उन्हें नहीं होता। इस तरह संसार के सुख, परिणाम में दु:खरूप होने से विवेकियों की दृष्टि में उसी तरह त्याज्य है, जैसे ठग के दिए हुए लड्डू या विषाक्त भोजन।

अब परिताप (पश्चात्ताप) दु:ख लें। कितने ही विद्यार्थी पढ़ाई की उपेक्षा करके तरह तरह के मनोविनोद में लगे रहते हैं, जब फेल होते हैं, तब दु:खी होते हैं, पछताते हैं। ऐसे मनोविनोद का आकर्षण विवेकी को नहीं होता। बड़ी और सफल डकैती करके डाकूदल एक लाख रुपया भी पा सकता है, परन्तु इस रुपए का समुचित लाभ दल वाले व उनके घर वाले नहीं उठा पाते और दस्यु जीवन खतरे से भरा और चिन्ताओं से घिरा रहता है। इसलिए अनेक बड़े बड़े और सफल डाकू उस जीवन से निकलना चाहते हैं, पर निकल नहीं पाते, पछताते रहते हैं और विवशता पूर्वक

कुमार्ग में अग्रसर रहते हैं। विवेकियों को ऐसे जीवन का आकर्षण नहीं होता। उसमें सुख का आभास नहीं होता। कोई कोई अनुचित उपायों से उपाधि प्राप्त करके भी अयोग्य सिद्ध होते हैं, असफल जीवन बिताते हैं, अपमानित होते हैं और पछताते हैं। कभी कभी ऐसा हुआ है कि किसी कुशल वकील ने किसी महान् अपराधी को दण्ड से बचा लिया, लोगों ने उसे इस सफलता पर बधाई दी, परन्तु घर आकर वह रोया, पछताया। शास्त्रों और सन्तों का उपदेश हैं कि जिसमें तुम्हें बाद में पछताना पड़े ऐसा काम मत करो। विवेकी व्यक्ति को जो इन्द्रिय सुख सुलभ हो उसका भी सुखाभास बाधित होता है, जब वह पछतावे की संभाबना पर विचार करता है। इस कारण भी इन्द्रिय सुख विवेकी के लिए दुखरूप हैं।

तीसरा संस्कार दुःख है। जिस किसी विषय सुख को बार बार भोगा जाता है, उसकीं आदत हो जाती है। सुखानुभूति घटती जाती है। परन्तु निर्भरता बढ़ती जाती है। फिर उस सुख की उपलब्धि आवश्यक बन जाती है उसमें सुखानुभूति अभ्यास से नष्टप्राय: हो जाती है पर अनुपलब्धि दु:खकारी होती है, जबकि वह उस संस्कार से रहित व्यक्ति के लिए दु:खकारी नहीं होती। मदिरा, मांस या विलास के व्यसनी व्यक्ति को अभीष्ट भोग के अभाव में बड़ा दु:ख होता है, जो अनभ्यस्त व्यक्ति को बिलकुल नहीं होता। सड़क के किनारे बैठकर भीख माँगने वाले निर्धन व्यक्ति को एक दिन अच्छे कपड़े पहनाकर, अच्छा भोजन कराएँ और मोटर कार में बैठाकर खूब सैर करा दें, तो वह उसका चिरस्मरणीय सुख का दिन होगा, परन्तु जो करोड़पति इन चीजों का आदी है, उसे ऐसी कोई सुखानुभूति नहीं होती। कमी रह जाय तो दुख होता है। यह सब संस्कार का प्रभाव है। सुखी जीवन का आदी होने पर सुखों की अनुभूति मन्द हो जाती है, अभाव व दुःखों की अनुभूति तीव्र हो जाती है। तपस्वी जीवन की आदत होने पर दु:खों की अनुभूति क्षीण होती है, सुखों की

अनुभूति तीव्र होती है। सांसारिक सुखों के साथ संस्कार जन्य दुःख जुड़ा है। इसलिए भी वे दुःखरूप हैं या दुःख के कारण हैं।

गुण वृत्ति विरोध—प्रकृति के तीन गुण हैं, सतोगुण, रजोगुण, तपोगुण। सांसारिक जीवन 'गुण प्रवाह' हैं। सुख भी गुणभेद से तीन प्रकार के हैं। (गीता १८.३६ ३९) मनुष्य जिस गुण के प्रभाव में रहता है, उसकी सुखी जीवन की कल्पना भी उसी के अनुरूप होती है। सतोगुणी का सुखी जीवन, रजोगुणी की दृष्टि में सुखी जीवन है ही नहीं, तमोगुणी का आलसी जीवन भी रजोगुणी की दृष्टि से सुखी नहीं। तप और स्वाध्याय का जीवन मूर्ख की दृष्टि में दुःखी जीवन है। योगी की दृष्टि में करोड़पति का जीवन दुःख और चिन्ताओं से भरा है। आलसी की दृष्टि से परिश्रम निष्ठ सम्पन्न व्यक्ति का जीवन दयनीय है। इस प्रकार गुण विरोध से वही जीवन किसी के लिए सुखी है, किसी के लिए दुखी है। यदि प्रमुख प्रभावशाली गुण बदल जाय तो सुख की कल्पना भी बदल जायेगी। तब अपने ही पूर्व जीवन के सुख दुख दूसरे ही रूप में दिखाई देने लगेंगे। जो एक के लिए सुख है वहीं दूसरे के लिए दुख है। अपनी वृत्ति बदल जाय तो जिसे हम हितकर मानते थे वही व्यक्ति भयंकर प्रतीत हो सकता है, जिस अतीत पर हमें गौरव था, उस पर ग्लानि हो सकती है। सुखी प्रतीत होने वाला जीवन दुखी प्रतीत हो सकता है, जैसे सिद्धार्थ गौतम (बुद्ध) या भर्तृहरि को प्रतीत हुआ। गुण और वृत्ति के विरोध से भी सुख असिद्ध हो सकता है।

अतः विवेकी विचारशील व्यक्ति के लिए (सच्चा) सुख कहीं नहीं है, 'दुखमेव सर्वं' है। इसी से योगी या उच्च साधक जीवन के व्यावहारिक सुख से भी घबराता है। दर्देदिल इतने दिनों से है कि आदत हो गई। अब ज़रा तस्कीन होता है तो घबराता हूँ मैं॥

साधारण व्यक्ति की दृष्टि में त्रयताप सदा तप्त नहीं करते, परन्तु अविचारी के लिए रमणीक होने पर भी संसार अति भयंकर है। (विनय पत्रिका)। इसलिए सुखी प्रतीत होने वाला व्यक्ति भी दयनीय और दुःखी सिद्ध हो सकता है। अपने को बादशाह समझने वाला पागल अपने को सुखी होने की कल्पना कर सकता है, परन्तु विचारवान् की दृष्टि में वह दयनीय और दुःखी है। सरसाम से पीड़ित व्यक्ति अपनी दृष्टि में सुखी हो तो भी दूसरों की दृष्टि में अत्यन्त दुःखी दयनीय है।

कर्मानुसार फल प्राप्त होता है अतः शुभ कर्म ही करना चाहिए, यह पहली भूमिका है। सुख भी दुखरूप ही है यह दूसरी भूमिका है। कोई जिसे पाने को व्याकुल है, दूसरा उससे छूटने के लिए आतुर है। यही माया का तमाशा है। विनय पत्रिका में कहा है–

जिन रघुबीर चरन अनुरागे। तिन सब भोग रोग सब त्यागे ॥
काम भुजंग डसत जब जाही। विषय निम्ब कटु लगति न ताहीं ॥

विषय भोग नीम के समान कटु हैं, मधुर नहीं।

हमारे सांसारिक जीवन में जो कभी कभी आराम मालूम होता है, वह शास्त्रानुसार ऐसा है—

यथा हि परुषों भारं, शिरसा गुरुमुद्वहन्।
तं स्कन्धेन स आधत्ते, तथा सर्वा प्रतिक्रिया ॥

(श्रीमद्भागवत)

जैसे कोई आदमी सिर पर भारी बोझ रखे हुए जा रहा है तो सिर की तकलीफ घटाने के लिए उस बोझ को कन्धे पर रख लेता है, इसी प्रकार का व्यवहार में सभी दुखों का निराकरण होता है। अर्थात् दुःख मिटने का आभास मात्र होता है, वास्तव में दुःख का निर्मूलन कभी नहीं होता।

प्रह्लाद् जी ने कहा हैं–'दुःखौषधं तदपि दुःखम्' जो दुख की दवा है, वह भी दुख ही है।

श्री गोस्वामी जी ने तवे का रूपक लिया, वह बहुत ही सार गर्भित और उपदेश प्रद है। तवा तो इसीलिए बनाया जाता है कि उसे आग पर चढ़ाया जाय और रोटी या पराठा बनाया जाय, या कोई और चीज भूनी जाय। यानी आग पर तप्त होना, यही उसका भाग्य है। उससे जब भी काम लिया जायगा वह तपाया जायगा। इसी प्रकार कर्मबन्धन में पड़ा हुआ जीव भी तीनों तापों से तप्त होता रहता है। तवा उसी समय तप्त होता है जब उसका परिपाक में उपयोग किया जाता है। इसी प्रकार पापों के फल परिपाक से प्रत्यक्ष ही दारुण कष्ट पाता हुआ जीव चिन्ता, शोक, वियोग, क्रोध आदि विकारों की अग्नि में तपता है। जिस समय प्रबल पापों का फल नहीं भोग रहा होता है, उस समय जीवन आग पर से उतरे हुए तबे की तरह माना जा सकता है। तवा नित्य, चौबीसों घण्टे आग पर नहीं तपता, परन्तु यह बद्ध जीव सदा त्रयताप से तपा करता है, विवेकी की दृष्टि में।

तवा कभी चूल्हे की आग पर तपता है, कभी अँगेठी की आग पर, कभी भट्ठी की आग पर। कभी कोयले की आग होती है, कभी लकड़ी की, कभी गैस कीं। इसी प्रकार जीब भी त्रयताप से तपता है।

दैहिक दैविक भौतिक तापा। राम राज्य नहि काहुहि व्यापा।
(रा०च०मा० उत्तर काण्ड)

ताप तीन प्रकार के हैं—दैहिक, दैविक, भौतिक।

दैहिक तापों में देह सम्बन्धी दुःख गिने गए हैं और उनमें दुःखद मानसिक विकार, चिन्ता, शोक, क्रोध आदि भी सम्मिलित कर लिए

गए हैं। दर्द, बीमारी आदि देह के दु:ख हैं। यह सब दैहिक माने गये हैं। सर्दी, गर्मी, लू, ठण्डी हवा, बिजली, ओले, वर्षा, बढ़िया आदि से प्राप्त दु:ख आधिदैविक है। भूत का यहाँ अर्थ जीव है। अन्य जीवों से मनुष्यों पशुओं, पक्षियों, कीटों, वृक्षों से प्राप्त दुख आधिभौतिक है। विचार किया जाय तो यह जीव तीनों प्रकार के तापों से पूर्णत: मुक्त कभी नहीं होता। व्यावहारिक जीवन में कोई न कोई ताप हर समय सताए रहता है। इसीलिए 'तपत सदा त्रयताप' कहा है। यह अर्थ नहीं है कि तीनों प्रकार के ताप हर समय रहते हैं, यही अर्थ है कि तीनों तापों से नितान्त रहित दशा कभी नहीं होती। ताप रहित पूर्ण शान्त दशा कभी नहीं मिलती। जो भी व्यक्ति इस परिस्थिति को भली भाँति समझ लेगा कि कर्मानुसार फल 'अवश्यमेव भोक्तव्य' है, कर्मफल भोग कर चुकाया नहीं जा सकता, भोगकाल में नए कर्म बनेंगे, कर्म का बन्धन फल भोगने से कटने या समाप्त होने वाला नहीं है, करोड़ों वर्षों में भी हिसाब चुकता न हो सकेगा, तो फिर वह ऊवेगा। फिर यदि यह भी ज्ञात हो जाय कि यहाँ का सुख भी दु:खरूप है या दु:ख का बीज है, तो फिर कर्म बन्धन और भी खलेगा, और उसकी अनिवार्यता असहनीय होगी।

सांसारिक विषय विष से भी भयंकर ठहरते हैं, विवेकी की दृष्टि में। विष तो खाने पर एक ही बार मृत्यु कारक है परन्तु विषय जन्म जन्मान्तर तक पीछा नहीं छोड़ते। बार बार मृत्यु के कारण बनते हैं। मृत्यो: स मृत्युमाप्नोति (उपनिषद्) माया का चक्र जिसमें 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननी जठरे शयनं (बार बार जन्म, मरण व गर्भाभास) होता है, विवेकी के लिए अत्यन्त भयावह है। प्रसिद्ध बौद्ध लेखक अश्वघोष ने बुद्ध-चरित लिखा है। उसमें बुद्ध का वचन है—

नाशीविषेभ्यो हि तथा विभेमि,
न चाशनिभ्यो गगनच्युतेभ्य:।

न प.वक्रेभ्योऽनिल संहितेभ्यो,
यथा भय मे विषयेभ्य एव ।।

मैं सर्पों से इतना नहीं डरता, न आसमान से गिरती हुई बिजलियों से, न आंधी से बढ़ी हुई आग की लपटों से, जितना मैं विवयों से डरता हूँ। श्री अष्टावक्रगीता में उपदेश है—'विषयान् विषवत्त्यज । प्रह्लाद जी ने नृसिह भगवान् की जो स्तुति की है उसमें कहा है, 'हे अजेय भगवान् मैं आपके भयानक मुख, दाढ़ों व दांतों से नहीं डरता हूँ, परन्तु इससंसार चक्रसे डरता हुं ।[श्रीमद्भागवत् ७ ९,१५.१६] इस सबसे स्पष्ट हो जाता है कि ससार का असली स्वरूप अत्यन्त भयकर है। अतः भव बन्धन से छूटने का साधन करने में देर नहीं करनी चाहिए।

तीन गुणों [सत्, रज व तम] का प्रवाह रूप यह संसार है। इन गुणों की आसक्ति के रहते हुए आवागमन छूट नहीं सकता। गुणातीत पद पाकर ही भव बन्धन छूट सकते हैं, अन्यथा नहीं।

कर्म बन्धन का स्वरूप और त्रयताप को तत्वतः समझ लेने से मुमुक्षुत्व प्राप्त होता है, मोक्ष की इच्छा जाग्रत होती है। जगत् से विषाद् हो जाने पर भगवत्सन्मुखता आती है और जिज्ञासा जागृत होती है। जो शोक अभीष्ट विषय की प्राप्ति से शान्त होता है वह विषयोन्मुख है, जिसमें यह अनुभूति होती है कि त्रिलोकी का कोई भी भोग इसका शामक नहीं है, उसमें ही तत्व जिज्ञासा होती है, ज्ञान प्राप्ति की भूमिका बनती है। श्री गीता जी में विषाद योग के बाद ही सांख्य योग है।

श्रीमद्भागवत् में 'भवाटवी' का वर्णन है(स्क०अ०५.१३) । भगवान् की दुस्तर माया से प्रेरित होकर त्रिगुणात्मक कर्म की पूंजी लेकर यह जीव सुख रूपी लाभ के लिए व्यवहार के व्यापार में प्रवृत्त होता है, वह ससार रूपी जगल में भटक जाता है, शान्ति को प्राप्त नहीं होता।

‘भवाटवीं याति, न शर्म विन्दति’। इस प्रकार जो व्यक्ति संसार के सुखों में भूला हुआ है, विवेकी की दृष्टि में वह जंगल में भटका हुआ है। उसे शान्ति नहीं मिलती।

बँधा हुआ आदमी अपने को खोल नहीं सकता, सोता हुआ आदमी अपने आपको जगा नहीं सकता, मोह में पड़ा हुआ अपने को ज्ञान नहीं दे सकता, भटका हुआ स्वयं राह पाने में असमर्थ है। कर्म बन्धन में पड़ा पड़ा हुआ, मोह रूपी रात्रि में सोया हुआ, भवाटवी (संसार रूपी जंगल) में भटका हुआ जीव स्वयं त्रयताप का शमन नहीं कर सकता। वह वेबस है। उसे सहारा चाहिए—

तुलसिदास हरि गुरु करुणा बिनु, विमल विवेक न होई।
बिनु विवेक संसार घोरनिधि पार न पावै कोई।।
(वि॰प॰)

तुलसिदास बस होइ तबहिं जब प्रेरक प्रभु बरजै। (वि०प०)

तुलसिदास यह जीव मोह रजु जोइ बाँधै सोइ छोरै। (वि०प०)

मेरी न बनै बनाए मेरे कल्प कोटि लौं हूँ,
राम रावरे बनाए बनै पल पाउ में। (वि०प०)

सोइ जानै जेहि देहु जनाई। जानत तुमहिं तुमहिं होइ जाई।।
(रा०च०मा०)

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः, तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वां।
(उपनिषद्)

ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्व पाशैः, नान्यो पन्थः विद्यतेऽयनाय।
(उपनिषद्)

प्रयुक्त रूपक को ही लें। तवा कुछ पकाने के लिए ही आग पर चढ़ाया जाता है। परिपाक हो जाने पर उतार दिया जाता है। शुभाशुभ कर्म बिपाक के लिए ही यह तनु (शरीर) त्रयताप तप्त हो रहा है। कर्म विपाक का हेतु समाप्त होने पर वह उतार दिया जायगा। कर्म-विपाक की समाप्ति अपने हाथ में नहीं है, क्योंकि आसक्त जीव तो नये कर्मों के विपाक का अवसर बनाता ही रहता है।

श्री गोस्वामी जी दूसरे ही दोहे में बता चुके हैं, कि बिना रविकुल रवि राम के उदय हुए हृदय कमल नहीं खिलता, और मोहान्धकार नहीं मिटता। कितने ही उपाय क्यों न किए जायँ।

ममता तरुण तमी अँधियारी। राग द्वेष उलूक सुखकारी।
तब लगि बसति जीव मन माहीं। जब लगि प्रभु प्रताप रवि नाहीं।।
[रा०च०मा०, सुन्दर काण्ड]

भगवत्प्रताप का उदय होने पर संसार बन्धन नहीं रहता—
बाँधि न सकइ मोहि हरि के बल, प्रगट, कपट, आगार। [वि०प०]

भगवत्प्रताप रूपी सूर्य मोह रात्रि का निवारक, अन्धकार नाशक है—'धाम्ना स्वेन सदा निरस्त कुहकं, सत्यं परं धीमहि'। श्रीमद्भागवत १.१.१ जब भगवत्प्रताप से त्रयताप शमन हो, शान्ति पद मिले, तभी यह तवा शान्त हो सकता है, अन्यथा कभी नहीं।

तुलसी वेद पुरान मत पूरन शास्त्र विचार।
यह विराग संदीपनी अखिल ज्ञान को सार ॥७॥

श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि यह 'वैराग्य संदीपनी' वेद पुराण सम्मत है, पूर्ण शास्त्र विचार से युक्त है और सम्पूर्ण ज्ञान का सार है। ग्रन्थ का मंगलाचरण व विषय प्रवेश १ से ६ तक के छन्दों मे हो चुका है। अब यह घोषणा है कि संक्षिप्त विवेचन, एक प्रकार से सूत्र ग्रंथ है। यह प्रामाणिक शास्त्र सम्मत व अखिल ज्ञान का सार है।

इसे वेद पुराण सम्मत कहा है। अर्थात् वेदों के उपदेश के अनुकूल है, परन्तु पुराण मत का त्याग करके वेदों का कोई तात्पर्य मान्य नहीं किया गया है, वेद-पुराणों को एक ही विचार व तात्पर्य का प्रतिपादक व समर्थक मानकर दोनों का अभिमत ग्रन्थ में प्रगट किया गया है। भारतीय दार्शनिक विचार के इतिहास में वेदों का परम प्रामाण्य प्राय: प्रतिष्ठित रहा। यहां तक कि नास्तिक उसे कहा गया जो वेदों को नहीं मानता, न कि केवल उसे जो ईश्वर को नहीं मानता। इसी प्रकार से यह परम्परा रही हैं कि 'इतिहास पुराणाभ्यां वेदान्युपवृहयेत्' इतिहास (बाल्मीकि रामायण व महाभारत) तथा (अट्ठारह) पुराणों की सहायता से वेदों की व्याख्या, उनका विस्तार, करना चाहिए। ऐसी विचारधारा भी चली (विशेषत: गोस्वामी जी के बाद) जो वेदों को मानती है, पुराणों को नहीं, परन्तु पुराणेतिहास ग्रथ इसलिए भी प्रणीत हुए थे कि वेद के अनधिकारी जन भी तत्व विचार को ग्रहण कर सकें। श्री गोस्बामी जी महाराज, वेद और पुराण दोनो में निष्ठा रखते थे, उनमें कोई विरोध

नहीं देखते थे। अतः उन्होंने इस ग्रंथ के वेद-पुराण सम्मत होने की घोषणा की।

कवि ने यह दावा भी किया है कि सम्पूर्ण शास्त्रों का विचार अथवा शास्त्रविषयक सम्यक् विचार का परिणाम यह ग्रन्थ है। सम्पूर्ण शास्त्रों में वेद, पुराण आदि के अतिरिक्त अन्य दर्शन भी आ जाते हैं। मुख्यतः षट्दर्शन सम्पूर्ण शास्त्रों के अन्तर्गत मान्य हैं। और भी बहुत से आगम, दर्शन या तन्त्र हैं। इन सब पर विचार करके जो सिद्धान्त फलित होता है, वह सन्त शिरोमणि ने सूत्र रूप में रख दिया है। अतः इस ग्रन्थ की प्रामाणिकता व उपयोगिता निश्चित है।

वेद-पुराण व सम्पूर्ण शास्त्रों का ही अभिमत यहाँ प्रगट हुआ है, ऐसी घोषणा करना श्री गोस्वामी जी के मर्यादावाद के अनुकूल है। आज कल शोध में यह दावा करना पड़ता है कि कुछ नया विचार प्रस्तुत किया गया है। मौलिकता ही शोध का गौरव है। परन्तु ऋषियों, मुनियों का गौरव यह रहा है कि उन्होंने पुरातन विचार ही प्रस्तुत किया है, नया नहीं। देश काल अवसर, अध्ययन, अधिकार, प्रेरणा आदि के आधार पर प्रस्तुतीकरण की नवींनता तो रहती है, परन्तु प्रामाणिक शास्त्र-सिद्धान्त का खण्डन करके नहीं।

श्री गोस्वामी जी का मर्यादावाद प्रसिद्ध ही है और वह जितना प्रदर्शित किया गया है उससे कहीं अधिक व्याप्त है। अतः कवि के लिए स्वाभाविक है कि वह यह स्पष्ट कर दे कि वह स्वतन्त्र मत की स्थापना करने नहीं जा रहा है, वेद शास्त्रानुकूल सिद्धान्त का ही प्रतिपादन करना लेखक का प्रयोजन है।

श्री राम चरितमानस के प्रारम्भ में भी गोस्वामी जी ने कहा है—

नाना पुराण निगमागम सम्मतं यद्रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि । विविधि पुराण, निगम (वेद), आगम (शास्त्र) का जो सम्मत हैं वह यहां कहा गया है कुछ अन्यत: भी है ।।

यह बात सत्य निष्ठा से मान लेनी चाहिए कि कवि का तात्पर्य भारतीय शास्त्रों से है, नास्तिक शास्त्रों, विदेशी दर्शनों, अन्य धर्मों के शास्त्रों आदि से नहीं । परन्तु जो मत प्रतिपादित किया गया है वह अन्य दर्शनों, धर्म-शास्त्रों आदि में भी प्राप्त है यह एक तथ्य है, इसे मानने कहने व प्रदर्शित करने में दोष नहीं ।

सारांश प्रतिपादन में यह दायित्व नहीं होता कि प्रत्येक विचार को इस ग्रंथ में उद्धृत सिद्ध किया जाय । उसमें यह भी प्रदर्शित नहीं किया जा सकता कि सारभूत विचारों का चयन या निश्चय कैसे किया गया । परन्तु लेखक के दावे की यथार्थता प्रदर्शित करना परवर्ती सन्तों और विद्वानों का कार्य है । इसमें इतना ही सिद्ध करना पर्याप्त है कि कवि के द्वारा प्रगट किया हुआ विचार सचमुच वेद पुराण सम्मत तथा सर्व शास्त्रों का सार रूप है ।

ऐसा प्रयास करना एक अशक्य सा प्रयास है । एक तो कठिनाई यह है कि सारे शास्त्रों का अभिमत एक सा है ही नहीं । विभिन्न आचार्य शास्त्रों का भिन्न भिन्न अर्थ करते है, और एक दूसरे के मत का खण्डन भी करते हैं, तो फिर विभिन्न और विरोधी दर्शनों मे से सबका सार निकालने की बात कैसे सध सकती है, अथवा कैसे प्रदर्शित की जा सकती है ? इस विषय में पूर्वपक्ष, उत्तर पक्ष, सिद्धान्त, की जो निरूपण शैली रही है, उस पर विचार करना उपयोगी होगा । जर्मन दार्शनिक हेगेल ने भी प्रगति के तीन पद मानें हैं पक्ष-प्रतिपादन (थीसिस), प्रतिपक्ष प्रतिपादन (ऐण्टी थीसिस), समन्वित सिद्धान्त (सिन्थेसिस) । विवेकी विचारवान्

विद्वान् का कर्तव्य है कि वह सिद्धान्त तक पहुँचकर उस सार रूप विचार को ही ग्रहण करे, पूर्वपक्ष व उत्तर पक्ष के कथनों से भ्रमित न हो। यह सही है कि फलित सिद्धान्त भी पूर्व पक्ष बन जाता है, उसका भी उत्तर पक्ष बनता है और फिर नया सिद्धान्त फलित होता है। सारांश निरूपण में लेखक द्वारा (निज दृष्टि में अन्तिम) सिद्धान्त का संक्षेपत: कथन पर्याप्त है। इस प्रकार विभिन्न दर्शनों और मतों के भेदों के चक्कर में पड़ना आवश्यक नहीं है, वैसा करने से तो जंगल में भटकने की दशा (दिग्भ्रम की दशा) हो सकती है। आदि शंकराचार्य का कथन है—

‘शब्दजाल महारण्यं चित्तभ्रमण कारणं’ ।

शब्द जाल महान् जंगल है, चित्त के भटक जाने का कारण है। श्री गोस्वामी जी जैसे प्रतिभाशाली विद्वान् सन्त के द्वारा शास्त्रों का मर्म प्रस्तुत हो जाने पर श्रद्धालु साधकों का मार्ग प्रशस्त हो जाता है उनकी दृष्टि में श्री गोस्वामी जी के वचन स्वयमेव प्रामाणिक हैं। इन वचनों का अनुसरण करके श्रद्धालु साधक तत्व को समझ लेता है, साधन पथ को जान लेता है और उस पथ पर चलकर कल्याण को प्राप्त करता है, परन्तु कोरे विद्वान का रास्ता इतना सरल नहीं होता। वह सोचने लगता है कि इतनी छोटी पुस्तक में सब शास्त्रों का सार कैसे आ गया ? वह इसका अनुसन्धान करना चाहता है कि ऐसा हुआ या नहीं। उसे शास्त्रों की बहुत सी बातें मालूम रहती हैं जिन्हें वह बुनियादी समझता है और उन्हें इस पुस्तक में न पाकर उसे सन्देह होता है कि यह कैसे कहा जा सकता है कि इसमें पूर्ण विचार पूर्वक सभी शास्त्रों का सार आ गया है। ऐसी कठिनाई श्रद्धा रहित और तर्क प्रधान बुद्धि में आती ही रहती है। उसे बचाया नहीं जा सकता, परन्तु शास्त्राध्ययन भी भिन्न भिन्न दृष्टि से किया जाता है। शब्दग्राही बुद्धि को विरोध और विपरीतता का आभास बहुत होता है, वाद-विवाद प्रधान वृत्ति मतभेदों को बहुत पकड़ती है, वह

दूसरे के भिन्न विचार को खण्डित करने में जितना प्रयास करती है उतना सिद्धान्त ग्रहण में नहीं करती। शब्द बुद्धि से एक शास्त्र ग्रन्थ में भी विरोधाभास बहुत मिलेगा परन्तु भावग्राही बुद्धि को यह शाब्दिक भेद या विरोध महत्वपूर्ण नहीं लगता। उसे सामञ्जस्य या समन्वय का विपुल क्षेत्र दिखाई पड़ता है। इसी प्रकार सिद्धान्तग्राही व्यक्ति को या योगी को विभिन्न विचारों दर्शनों और धर्मोपदेशों में अद्भुत एकत्व और साम्य के दर्शन होते हैं। अत: विवेक से आलोकित बुद्धि जब अन्तिम सिद्धान्त का निश्चय करती है तो उसे यह दर्शन होता है कि वह अन्तिम सिद्धान्त शास्त्रों में व्यापक है और उसे सर्वं सम्मत सिद्धान्त कहा जा सकता है।

एक बार यदि इसका अनुसंधान आरम्भ हो गया कि सब शास्त्रों का मर्म क्या है और वह इस ग्रन्थ में प्रतिष्ठित है या नहीं तो एक अन्य कठिनाई भी उठ खड़ी होगी। सब शास्त्रों का मर्म क्या है यह तो वही तय कर सकता है जो सब शास्त्रों का ज्ञाता हो और मर्मज्ञ हो। इस दृष्टि से इस दोहे का व्याख्याकार भी सर्वं शास्त्रवित् और मर्मज्ञ होना चाहिए। अपने को कौन ऐसा मान सकता है? यदि कोई अपने को ऐसा मानकर ऐसी व्याख्या के प्रयास में अग्रसर हो तो भी अवश्य ही उसे अन्य सक्षम विद्वानों के भिन्न मतों और तर्कों का सामना करना पड़ेगा। कभी कभी उठाई जाने वाली आपत्तियाँ शब्दग्राही वृत्ति का परिणाम होंगी जैसे आज से लगभग पचास वर्षं पहले हिन्दी साहित्य के एक सक्षम विद्वान और समालोचक ने यह सन्देह उपस्थित किया था कि वैराग्य संदीपनी श्री गोस्वामी जी की रचना नहीं है, क्योंकि श्री गोस्वामी जी भक्ति को सर्वोपरि मानते थे जबकि इस ग्रन्थ में यह कहा गया है कि–

तुलसी शान्ति समान सुख, अपर दूसरो नाहिं।

इस प्रकार शब्द भेद को महत्व देकर आपत्ति उठाई गयी जबकि श्री रामचरित मानस के अन्त में भी कवि ने कहा है–

जाकी कृपा लवलेस ते, मति मन्द तुलसीदास हूँ।
पायो परम विश्राम, राम समान प्रभु नहीं कहूँ।।

और इसी कथन के बाद श्री गोस्वामी जी ने भक्ति का वरदान भी माँगा है–

कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहि राम।।

विद्या की दृष्टि से किसी के लिए भी यह अभिमान करना ठीक नहीं कि वह सर्वशास्त्र वित् है, परन्तु यह भी कहना ठीक नहीं कि सर्वंशास्त्र के मर्म के प्रतिपादन या समर्थन में किसी को प्रवृत्त ही नहीं होना चाहिए। बात यह हैं कि भगवत् की कृपा से शास्त्रों का मर्म निरक्षर को भी प्राप्त हो सकता है। कायदे से जिसने कभी पढ़ा लिखा भीं नहीं ऐसा व्यक्ति भी भगवत् चरित्र और महिमा का अधिकृत और हृदयग्राही निरूपण कर सकता है और श्री सूरदास जी या श्री नरसीमेहता की तरह भगवान् के लिए लीला और महिमा के सहस्त्रों पद बना और गा सकता है। कहाँ तक कहा जाय श्री ज्ञानेश्वर चरित्र में यह घटना मिलती है कि भैंस के बच्चे ने भी सस्वर वेद मन्त्रों का अलाप शुरू कर दिया जिसे सुनकर पण्ढरपुर के महान् पण्डितों ने प्रमाणित किया कि श्री ज्ञानेश्वर व उनके अन्य भाई अलौकिक महापुरुष हैं उनका उपनयन कर दिया जाय। 'प्रभु प्रताप ते गरुर्डहि, खाइ परम लघु ब्याल' (रा० च०मा०) इसलिए यह सम्भव है कि एकदम अपढ़ व्यक्ति भगवत् प्रेरणा से अधिकृत रूप से तत्व निरूपण करे, पूर्ण आत्म विश्वास के साथ करे और वह प्रचलित और मान्य भी हो जाय।

कोई व्यक्ति शास्त्रों का मर्मज्ञ न हो तो भी भगवत् कृपा से, सन्त के आशीर्वाद से, वह सक्षम रीति से निरुपण में प्रवृत्त हो

सकता है और तब उसके वचनों से बड़े बड़े विद्वानों को भी सक्षमता प्रतिभा और सिद्धान्त निर्णय का आभास मिल सकता है। श्रीगोस्वामी जी महाराज स्वयं जब भगवत् चरित्र के वर्णन में प्रवृत्त हुए तो उन्होंने कहा कि 'जस कछु बुद्धि विवेक बलु मोरे। तस कहिहौं हिय हरि के प्रेरे।। (रा०च०मा०) तो इसी भगवत् प्रेरणा के भरोसे और उसी के बल पर कोई अन्य क्षुद्र व्यक्ति भी ऐसे निरूपण में प्रवृत्त हो सकता है। इस दिशा में किया हुआ कोई विनम्र प्रयास बाद के किसी महत् प्रयास के लिए भूमिका का काम दे सकता है, मार्ग प्रशस्त कर सकता है।

यद्यपि यह कहा गया है कि–

'वेदा विभिन्ना: स्मृतयो विभिन्ना:,
नासौ मुनिर्यस्य मतं न भिन्नम्।' (महाभारत)

तथापि विभिन्न विचार धाराओं में साम्य की भी कमी नहीं है, और उधर ध्यान देना इस युग की विशेष आवश्यकता है। अंग्रेजी में एक उक्ति है–'अक्षर घातक है, भाव जीवन-दायक है।

दोहे के अन्त में इस ग्रन्थ को 'अखिल ज्ञान को सार' कहा है। यहाँ ज्ञान का अर्थ प्रत्येक विषय का वाचिक ज्ञान नहीं है। शास्त्रसम्मत तत्व ज्ञान से मतलब है। जिस प्रकार जिस भाव से गायत्री मन्त्र को वेदों का सार कहा गया है, वैसा ही यह कथन है। गायत्री मन्त्र का सार प्रणव (ॐ) को माना है, उसी प्रकार यह ग्रन्थ भी ज्ञान का सार है। इससे शास्त्र सम्मत ज्ञान का मर्म मिल सकता है, साधन पथ आलोकित होता है, और क्रमागत रूप से तत्वज्ञानानुभूति भी होती है।

प्रस्तुत दोहे में ग्रन्थ-माहात्म्य को देखकर, कई लोगों का ध्यान इस ग्रन्थ की ओर आकृष्ट होता है और कोई कोई इसका नित्य पाठ भी करते हैं। अभी इस ग्रन्थ के भाष्य प्रणयन का प्रयास कम ही हुआ है और इस श्रृंखला में एक नई कड़ी महात्मा श्री कान्तशरणजी की 'सिद्धान्त तिलक' नाम की टीका है, जो आदरणीय है। प्रस्तुत लेखक को भी इस दोंहे के कारण इस ग्रंन्थ रत्न पर विशेष ध्यान देने की प्रेरणा हुई। सन्त कृपा से भी इधर प्रवृत्ति हुई।

श्री गोस्वामी जी ने इस दोहे के बाद ही यह स्पष्ट कर दिया है कि इस ग्रन्थ के सेवन में पाण्डित्य प्रधान तार्किक बुद्धि काम नहीं देगी। कोई शास्त्र चाहे समास शैली (संक्षेप) में हो चाहे व्यास (विस्तार) शैली में, सूत्रमात्र या मन्त्रवत् हो चाहे अत्यन्त विस्तृत, शुद्ध सरल हृदय हो उसका मर्म ग्रहण कर सकता है, भाव-शुद्धि न हो तो शास्त्र के अर्थ के ग्रहण में विकृति आएगी। इसलिए हमें स्मरण रखना चाहिए कि 'ज्ञान का सार' तो है, लेकिन इस सार के ठीक ठीक दर्शन शुद्ध सरल हृदय वाले व्यक्ति को ही होंगे। कोरे पण्डित के लिए तो शास्त्रार्थ का अर्थ वाद विवाद (बहस) ही होता है, और श्री गोस्वामी जी ने स्वयं लिखा है, "वाद में अवादता न आजु लौं भई है।"

जहाँ श्री शंकराचार्य जी ने लिखा है 'वादे वादे जायते तत्व बोधः' वहाँ प्रयोजन 'तत्वचिन्तानुवाद', (तत्व चिन्तनपूर्वक सन्त का संवाद) से है, वाद-विवाद से नहीं।

———

सरल बरन भाषा सरल, सरल अर्थमय मानि ।
तुलसी सरलै सन्त जन, ताहि परी पहिचानि ।।८।।

(इस ग्रन्थ के) अक्षर, इसकी भाषा और अर्थ भी सरल हैं, और सरल (हृदय के) सन्त जनों को ही इनकी पहिचान हो सकती है ।

वर्ण अर्थात् अक्षर। इसमें सरल अक्षर हैं। अक्षरों की सरलता क्या ? अक्ष्षरों का अलग अलग कोई अर्थ नहीं होता, तो अक्षर सरल या कठिन कैसे हो सकते हैं ? अक्षर उच्चारण में परुष (कठोर) साधारण, व मृदु (कोमल) माने गए हैं । ट व ड जैसे अक्षर परुष हैं, द व म जैसे कोमल हैं । वीर रस के साहित्य में परुषाक्षरों का विशेष प्रयोग रस परिपाक में सहायक है, शृंगार रस में कोमल अक्षर सहायक हैं । शान्त रस में साधारप अक्षर सहायक हैं । इस ग्रन्थ के अक्षर सरल हैं अर्थात् परुष अक्षर अधिक प्रयुक्त नहीं हुए हैं, साधारण व कोमल अक्षर ही अधिक हैं । रामचरित मानस की तरह यह ग्रन्थ शान्त रस प्रधान है । मानस में तो सभी रस हैं, परन्तु इस ग्रन्थ में केवल शान्त रस का ही परिपाक है, इसलिए साधारण और कोमल अक्षर अधिक हों तो अनुकूल है । प्रतिभाशाली कवियों की कृति में उपयुक्त वर्ण सामञ्जस्य सहज ही प्राप्त हो जाता है, उसके लिए प्रथक प्रयास नहीं करना पड़ता ।

अक्षर मात्र इस दोहे में बरन (वर्ण) का अर्थ नहीं हैं । 'सरल बरन' के अर्थ में अक्षर ही नहीं शब्द भी आ जाते हैं । अक्षर सरल या कठिन क्या होंगे, परन्तु शब्द समझने में सरल या कठिन होते हैं ।

सरल बरन का भाव यह है कि यह ग्रन्थ आसान शब्दों में लिखा गया है, कठिन शब्दों में नहीं। 'भाषा सरल' से यह बात और भी स्पष्ट और पुष्ट हो जाती है। अक्षर, शब्द और भाषा-शैली की दृष्टि से यह ग्रंथ सरल है। समझने में आसान है।

जिस शैली में भाषा सुगम हो और उसके कारण समझने में आसानी हो वह शैली प्रसाद गुण से युक्त मानी जाती है। श्री गोस्वामी जी का रामचरित मानस प्रसाद गुण से अत्यन्त विभूषित है, इसलिए भी उसका प्रचार अधिक हुआ है। श्री सूरदास जी की भाषा भी प्रायः सरल हैं। उनका काव्य भी प्रसाद गुण से अलंकृत है। जिस कृति में कठिन शब्दों का प्रयोग अधिक होता है, उसे साधारण जन नहीं समझ सकते। उसका लेखक या कवि प्रायः पाण्डित्य प्रदर्शन की रुचि रखता है और यह भी उसके लिए गौरव की बात हो सकती है कि उसकी कृति को विद्वान् ही समझ सकते हैं, साधारण जन नहीं समझ सकते। श्री केशवदास जी ने भी रामचन्द्रिका में राम का चरित्र लिखा परन्तु वह लोकप्रिय न हो सका। श्री केशवदास जी को 'कठिन काव्य का प्रेत' माना गया। शब्दालकारों का अतिशय प्रयोग भी प्रसाद गुण का विरोधी हो सकता है। प्रसाद गुण में अलंकारों का सहज प्रयोग होता है, हठात् बाहुल्य नहीं किया जाता। इससे साहित्यिक चमत्कार बढ ही जाता है, कम नहीं होता। प्रसाद गुण से युक्त साहित्यिक प्रयास विचार प्रचार व प्रसार में सहायक है, उसका लोकप्रिय होना सहज है।

वैराग्य संदीपनी प्रसाद गुण युक्त है, शान्त रस से परिपूर्ण है, समझने में सुगम है, अतः जनसाधारण के लिए अनुकूल है। शास्त्र के मर्म और ज्ञान के सार के प्रचार का सक्षम माध्यम है। अतः इस ग्रंथ के अधिक प्रचलित, व्यापक और लोकप्रिय होने की सम्भावना है।

प्रस्तुत दोहे के सन्दर्भ में यह स्मरणीय है कि सन्त जनों का सदा से यह प्रयास रहा है कि वे तत्वज्ञान को अधिक से अधिक बोधगम्य बना दें। सन्तों की वाणी में तो प्रसाद गुण प्राय: व्याप्त रहता ही है। विभिन्न भाषाओं में भक्ति साहित्य व्यापक रूप से प्रसाद गुण मण्डित पाया जाता है। इसलिए सरलता केवल इस ग्रंथ की नहीं, सन्त साहित्य और भक्ति साहित्य की व्यापक विशेषता है। कुरान, बाइबिल, धम्मपद, गुरुग्रंथ साहेब आदि ग्रंथों में भी भाषा की कठिनता नहीं है। संस्कृत में भी श्रीमद्भगवद् गीता की भाषा महाकाव्यों की भाषा की अपेक्षा बहुत ही सरल है। श्री योग वासिष्ठ की गहनता तत्वज्ञान सम्बन्धी विचार की है, भाषा की नहीं। श्रीमद्भागवत् की भाषा बहुत सरल नहीं है, परन्तु फिर भी प्रसिद्ध उक्ति 'विद्यावतां भागवते परीक्षा' (विद्वानों की श्री भागवत् में परीक्षा हो जाती है।) इसलिए सार्थक है कि भाव पक्ष गम्भीर है, अद्भुत समन्वय है, तत्वज्ञान सम्बन्धी निरूपण प्रामाणिक है, तात्विक विवेचन और भक्ति भाव की गहराई दोनों की एक साथ व्याप्ति है। कृष्ण भक्ति का अनुपम और प्रामाणिक आधारभूत ग्रथ है।

भक्ति भाव परक साहित्य प्राय: जितना सरल होता है उतना ज्ञान परक साहित्य नहीं होता। ज्ञान के साहित्य में दुरूहता सहज ही आ सकती है। ज्ञान के निरूपण को सुगम व बोधगम्य बना देने वाली प्रतिभा अनोखी मानी जायेगी। श्री गोस्वामी जी इस प्रतिभा के धनी हैं।

उपनिषद् वाक्य 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।'

मानस में जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई' बनकर अत्यन्त सरल हो गया है। इसी प्रकार 'यमेवैषवृणुते तेन लभ्यः', 'सोइ जानै जेहि देहु जनाई' के रूप में सरल हो गया है। इस ग्रन्थ का यह गौरव है

कि कथा प्रधान न होते हुए भी, ज्ञान का सार प्रस्तुत करते हुए भी, यह नितान्त सरल है।

ज्ञान साहित्य के अध्येयताओं के लिए श्री शंकराचार्य का विवेक चूडामणि और अपरोक्षानुभूति प्रारम्भ में हितकर है, वेदान्त डिम्डिम् साधन-पचक आदि भी हितकर हैं, फिर श्री विद्यारण्य स्वामी की पञ्चदशी का अध्ययन किया जा सकता है। वेदान्त सूत्रों पर आचार्यो के भाष्य पढ़ना कठिन है। श्री वाचस्पति मिश्र (की भामती टीका) और श्री मधुसूदन सरस्वती जी की अद्वैत सिद्धि और भी उच्च स्तर के विद्यार्थी के लिए हैं।

ज्ञान मार्ग के प्रचारकों, पण्डितों, के प्रवचन, निबन्ध आदि भी प्राय: गूढ़ होते हैं, उन्हें समझना हर एक व्यक्ति का काम नहीं। परन्तु श्री गोस्वामी जी ने अत्यन्त संक्षेप से और सरल ढँग से ज्ञान का सार इस ग्रन्थ में प्रस्तुत कर दिया है, यह इस ग्रन्थ का अनोखा गौरव है। अन्य भाषाओं में तत्वज्ञान सम्बन्धी साहित्य संस्कृत के समान विशद, विपुल,और विस्तृत नहीं है, परन्तु जहां है प्राय: कठिन ही है। पाश्चात्य दार्शनिकों का साहित्य भी कठिन ही है, उसे सरल बना देने वाले विद्वान् बिरले बिरले ही मिलते हैं। अत्यन्त कठिन (या कठिनतम) विषय को एकदम सरल बना देना श्री गोस्वामी जी की प्रतिभा का चमत्कार है, जो अन्यत्र दुर्लभ है।

पूज्यपाद श्रीगोस्वामी जी ने इस दोहे में यह घोषणा भी की है कि इस ग्रन्थ के अर्थ भी सरल हैं और सरल हृदय के सन्त जनों को ही इनकी पहचान हो सकती है। सरल अर्थ की घोषणा से यह ज्ञात होता है कि ग्रन्थ के वचनों का सीधा सादा अर्थ करना कवि के मन्तव्य के अनुरूप है। बहुत से पण्डित, विचारक, प्रचारक, कथावाचक इसी में

गौरव का अनुभव करते हैं कि सीधे सादे अर्थों को अमान्य करके, उन पर आपत्ति उठाकर. विलक्षण अर्थ निकाल कर बताएँ और इस तरह अपने पाण्डित्य की धाक जमाएँ। इस तरह के बौद्धिक चमत्कार का निभना भी कठिन होता है, परन्तु उसके विरुद्ध ठोस आपत्ति यही है कि ऐसे अर्थं करना एकदम अनुचित है जो स्पष्ट ही लेखक के मन्तव्य के अनुरूप नहीं हैं। कभी कभी तो यह लेखक के भाव के एकदम विपरीत होते हैं। किसी किसी पण्डित, कथावाचक या प्रचारक का यह शौक होता है एक ही वचन के कई अर्थ करे और कई दिन तक व्याख्या चलती रहे। यह कई अर्थ अक्सर एक दूसरे से मेल भी नहीं खाते। अतः यह प्रश्न उठ सकता है कि आखिर ठीक अर्थ कौन सा है। जिस व्याख्या के द्वारा वास्तविक अर्थ ग्रहण में सुविधा न हो, बाधा हो, कठिनाई हो, उस व्याख्या का महत्व ही क्या ? व्याख्या चाहे जितनी विस्तृत हो पर उसमें कोई ऐसी बात कभी नहीं होनी चाहिए जो मूल लेखक को स्वीकार न हो। परस्पर विरोधी अर्थ प्रस्तुत करना तो और भी भ्रमोत्पादक और आपत्तिजनक है।

श्रीरामचरित मानस सुन्दरकाण्ड में श्री हनुमान जी ने कहा—

विनती करौं जोरि कर रावन। सुनहु मान तजि मोर सिखावन॥

'हे रावण ! मैं हाथ जोड़कर विनती करता हूँ, तुम मेरी शिक्षा पर, अपनी बढ़ी चढ़ी इज्जत का ख्याल छोड़कर, ध्यान दो।' अब इसका एकदम विपरीत अर्थ भी किया गया है—

'हे रावण ! मैं जोर करके (बल प्रयोग करके), तुम्हें बिना ती (स्त्री) का कर दूंगा (तुम्हारी सब रानियों को मार डालूंगा, इसलिए घमण्ड छोड़कर मेरा सिखावन सुनो। स्पष्ट है कि कवि के मन्तव्य के

अनुकूल पहला अर्थ ही है, दूसरा नहीं, दोनों ठीक नहीं हो सकते, परस्पर विपरीत हैं।

इसी प्रकार—

रंगभूमि जब सिय पगुधारी। देखि रूप मोहे नर नारी॥

'जब धनुष यज्ञशाला में श्री सीता जी ने पर्दापण किया, तो उनके सुन्दर रूप को देखकर सभी नर नारी मोहित हो गए'। इस पर यह सन्देह किया गया कि 'मोह न नारि नारि के रूपा'। तो फिर महारानी सीता जी के रूप पर स्त्रियाँ कैसे मोहित हो गईं। इस शंका के निराकरण के लिए 'पगुधारी' का अर्थ 'पदार्पण किया' बदला गया, 'पगुधारी' का अर्थ यह किया गया—श्री भृगु जी के चरण चिन्ह को छाती पर धारण करने वाले (श्री विष्णू के अवतार) श्री राम जी। तब कहा गया कि जब राम जानकी रंगभूमि पर आये तो श्री सीतांजी के रूप पर नर और श्री राम के रूप पर नारियाँ मोहित हुईं। इस अर्थ में आने की क्रिया की सूचना ही गायब हो गई क्योंकि वह तो 'पगुधारी' के अर्थ 'पर्दापण किया' पर ही आश्रित थी। स्पष्ट है कि गोस्वामी जी ने पंक्ति को दूसरे अर्थ में नहीं लिखा है। इसी प्रकार अन्य उदाहरण मिल सकते हैं जहाँ सरल अर्थों को छोड़कर कोई जटिल अर्थ किया गया। कवि ने स्पष्ट कह दिया है कि सरल अर्थ ही मान्य किए जायँ, मनमाने अर्थ न निकाले जायँ। वेदादि ग्रंथों के विभिन्न शब्दों के अर्थों में भी पर्याप्त खींतचान हुई है। श्री काष्ठ जिह्वा स्वामी जी ने लिखा है—

तोड़ि ताड़ि, खैंचि खाँचि, श्रुति को नहिं गींजिये।
जामें रस बन्यो रहै, सोई अर्थ कीजिए॥

इसीलिए सीधे सादे सरल अर्थ ही ग्राह्य हैं ।

यदि किसी वचन के एक से अधिक अर्थ किए गए तो उनमें से सरल अर्थ कौन सा है, इस विषय पर भी विवाद सम्भव है । सरल अर्थ की पहचान कौन करेगा ? इस पर श्री गोस्वामी जी की घोषणा है कि सरल हृदय के सन्त जन ही इस ग्रन्थ के सरल अर्थों को पहचान सकते हैं ।

यह एक व्यापक सिद्धान्त है कि शास्त्र को पढ़कर ठीक ठीक समझने के लिए शुद्ध अन्त:करण चाहिए, केवल विद्या नहीं । इसीलिए हर एक व्यक्ति शास्त्र का अधिकारी नहीं हो सकता । विकार ग्रसित हृदय सरल अर्थों को ग्रहण करने में असमर्थ होता है अत: वह उसे किसी न किसी विकृत, परिवर्तित या उपबन्धित रूप में ही ग्रहण करता है; आवश्यकतानुसार वैसा ही प्रतिपादन भी करता है ।

वैराग्य का उपदेश इसीलिए होता है कि विषयासक्त पुरूष उसको धारण करके आसक्ति से छूटे, परन्तु यदि विषयासक्त पुरुष में अपनी आसक्तिग्रस्त अनुभूति को प्रमाण मानने की वृत्ति प्रबल हुई, और अपनी वर्तमान् विचारधारा का आग्रह रहा, तथा अपने तर्कबल का अभिमान् रहा, तो उसे वैराग्य का उपदेश (सरल अर्थों में) ठीक नहीं जँचेगा । अत: या तो वह उसे गलत समझकर छोड़ देगा या वह उसे किसी अन्य रूप में ही ग्रहण करेगा । उसका यह कार्य उसे वैराग्य के उपदेश के प्रभाव से अंशत: या पूर्णत: वञ्चित रखेगा । जो कोई अन्य पुरुष भी उसके ऐसे अर्थ को ही ठीक मानेगा, वह भी वैसे ही परिणाम का भागी होगा । इसलिए पूज्यपाद गोस्वामी जी ने पहले ही स्पष्ट कर दिया कि सरल अर्थ ही ग्राह्य हैं, और शुद्ध सरल हृदय को ही उनकी ठीक ठीक पहिचान हो सकती है । वैराग्य, ज्ञान, उपासना आदि के निरूपक

शास्त्र वचनों के अर्थ सन्तों के द्वारा और पण्डितों के द्वारा अलग अलग प्रकार से किए जा सकते हैं। पण्डितों के द्वारा भी भिन्न भिन्न अर्थ किए जा सकते हैं। इनमें शुद्ध हृदय के सन्तों द्वारा प्रमाणित अर्थ ठीक माने जायें, यह श्री गोस्वामी जी का आदेश है। अन्य धर्मों में भी यही बात है। मौलवी, मुल्ला, प्रोफेसर, आचार्य, प्रचारक आदि आदर के पात्र हैं, परन्तु सन्त, फकीर, तपस्वी, साबिर, पैगम्बर शास्त्र के मर्म के अधिक सच्चे जानकार हैं, कम पढ़े लिखे होने पर भी। इस्लाम के प्रवर्तक पैगम्बर मुहम्मद साहब विल्कुल पढ़े लिखे नहीं थे, भारतवर्ष में श्री कबीर जी का महत्व उनकी फकीरी पर आधारित है।

इसका रहस्य यह है कि जिसका हृदय जितना शुद्ध होता है, उसकी अनुभूति उतनी ही ठीक होती है। विकारग्रस्त अन्त:करण की अनुभूति विकृत होती है, ठीक व प्रामाणिक नहीं होती, अत: प्रमाणित मान्य नहीं। प्रत्यक्ष प्रमाण की अत्यन्त प्रतिष्ठा है अत: साक्षात् अनुभूति के विरुद्ध शास्त्र वचनों को सत्य मान कर ग्रहण करना कठिन है। यथा—

नयन दोष जाकहँ जब होई। पीत बरन ससि कहुँ कह मोई।।

अथवा—

यथा गगन घन पटल निहारी। झंपेउ भानु कहहिं कुविचारी।।

या—

जब जेहि दिसि भ्रम होइ खगेसा। सो कह पच्छिम उयेउ दिनेसा।।

एव—

त्रसित निरखि रविकर भव भारी। फिरिहहिं मृग जिमि जीव दुखारी।।

तेजो वारि मृदां यथा विनिमयो, यत्र त्रिसर्गों मृषा ।
(श्रीमद्भागवत १.१ १)

झूठहु सत्य जाहि बिनु जाने । जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने ।।

यत्सत्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः ।
(रा०च०मा० बालकाण्ड)

जेहि जाने जग जाइ हेराई । जागे यथा सपन भ्रम जाई ।।

इसलिए शास्त्र के उपदेश के विरुद्ध मोहग्रस्त जीव की प्रत्यक्षानुभूति प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती । उसके आधार पर शास्त्र के स्पष्ट और सरल अर्थों का अन्यथा ग्रहण वर्जित किया जाता है ।

रघुपति भगति वारि छालित चित, बिनु प्रयास ही सूझै ।
तुलसिदास प्रभु चिद्विलास जग, बूझत बूझत बूझै ।।
(वि०प०)

इसी ग्रन्थ के वचनों में विषयासक्ति के कारण अर्थ विपर्यय कैसे हो सकता है, इसके उदाहरण सरलता से दिये जा सकते हैं, परन्तु तत्सम्बन्धी कथन यथास्थान उन वचनों की अर्थ समीक्षा में ही उपयुक्त होगा ।

इस दोहे के बाद श्री गोस्वामी जी ने सन्त स्वभाव वर्णन किया है, जो साधारण जन की दृष्टि में अलौकिक ही है । अत: उसमें ही अर्थवाद अतिशयोक्ति आदि की कल्पना हो सकती है । अत: कवि ने सामयिक चेतावनी दे दी है कि इन वचनों को सीधे सादे अर्थों में ही लिया जाय, उनमें अतिशयोक्ति' अर्थवाद आदि की कल्पना न की जाय, नहीं तो तत्व दर्शन के स्थान पर अलंकार ही हाथ लगेंगे ।

अति शीतल अति ही सुखदाई। सम दम राम भजन अधिकाई।।
जड़ जीवन को करै सचेता। जग माहीं विचरत एहि हेता।।९।।

सन्त अत्यन्त शीतल स्वभाव वाले होते हैं, अत्यन्त सुखद होते हैं। शम (मन को शान्त रखना), दम (इन्द्रियों को निग्रह में रखना) तथा खूब रामभजन करना, इन लक्षणों से युक्त होते हैं। वे इस संसार में इसीलिए विचरते हैं कि (मोहवश), जड़ (अज्ञानी) जीवों को सचेत करें।

पूज्यवाद ने पहली बात यही बताई कि सन्त अति शीतल स्वभाव के होते हैं। शीतल स्वभाव अर्थात् गरम मिजाज़ी नहीं, क्रोध बिलकुल नहीं। अति शीतल अर्थात् क्रोध से एकदम अलग, क्रोध कभी न करने वाले। जो लोग जरा जरा सी बात पर क्रोध करते हैं, वे उग्र स्वभाव वाले हैं, उष्ण स्वभाव वाले हैं, जो प्रायः क्रोध नहीं करते वे ठण्ढे मिजाज के अर्थात् शीतल कहे जाते हैं। यह नहीं है कि शीतल स्वभाव वाले कभी क्रुद्ध नहीं हो सकते, परन्तु साधारणतः वे क्रोध रहित व्यवहार करते हैं, विशेष परिस्थितियों में कभी उन्हें क्रोध आ जाय परन्तु उनका स्वभावगत लक्षण 'अक्रोध' ही है। किसी भी मनुष्य का साधारण व्यवहार उसके स्वभाव का परिचायक है, विशेष परिस्थिति में भिन्न प्रकार का विकार सम्भव है। सिंह स्वभाव से निर्भय, पराक्रमी और क्रूर है, परन्तु यह नहीं है कि वह कभी डरता ही नहीं, डर कर भागता हुआ भी पाया जाता है, पर साधारण परिस्थितियों में नहीं। स्वभावतः

क्रूर होने पर भी अपने बच्चों के लिए प्रेमालु है ही। अक्रोधी स्वभावतः शीतल है। जिसे विशेष परिस्थितियों में भी, क्रोध का प्रबल कारण होने पर भी क्रोध बिलकुल आता ही नहीं वह अति शीतल सन्त है। (अति) शीतल सन्त का लक्षण कवि ने आगे छन्द सं० ४९ में बताया है। वहाँ शान्ति पद का वर्णन हैं, जो अति शीतल है वही शान्त है। शीतलता और शान्ति पद पर विशेष विचार यथा स्थान उसी प्रसंग में अधिक उपयुक्त होगा।

सन्त 'अति शीतल' कहे गए हैं। वे क्रोध नहीं करते। परन्तु इस लक्षण के कथन का दुरुपयोग नहीं होना चाहिए। सन्त क्रोध तो नहीं करते, परन्तु उनमें भी स्वभाव भेद पाया जाता है। कोई कोई सन्त अत्यन्त सीधे होते हैं, वे मर्यादा, अनुशासन आदि के मामलो में भी कठोर नहीं होते। इनका शीतल स्वभाव प्रसिद्ध हो जाता है। कुछ सन्त, मर्यादा, नियम, अनुशासन आदि के मामलों में नरम नहीं होते कठोर होते हैं, वे नियम, साधन, मर्यादा, व्यवस्था आदि का विगाड़ सहन नहीं करते और उनकी रक्षा के लिए सख्ती करते हैं। इसीलए ऐसे सन्त साधारण लोगों में कठोर माने जाते हैं, नरम नहीं, उग्र माने जाते हैं शीतल या शान्त नहीं। साधारण अज्ञानी जीवों को उनमें क्रोध का आभास मिलता है। फिर सभी सन्तों को अति शीतल क्यों कहा गया।

श्री योगवासिष्ठ में लिखा है—

समुद्र इव गम्भीर्यम्, स्थैर्यम् हिमवानिव।
अन्तः शीतलता चेन्दोरिवोदेति विचारिणः॥

समुद्र की तरह गम्भीरता, हिमालय की तरह स्थिरता और चन्द्रमा की तरह अन्तःकरण की शीतलता ज्ञानियों, विचारवानों, के जीवन में उदित हो जाती है।

जो सन्त उग्र जान पड़ते हैं, स्वभाव से कठोर प्रतीत होते हैं, उनमें, यदि वे सचमुच सन्त हैं, क्रोध नहीं होता, उसका आभास होता है। कोई कोई अफसर ऐसे होते थे (और अब भी हो सकते हैं) जो अधीन कर्मचारियों पर खूब डाट फटकार मचाए रहते थे, परन्तु उनकी नीयत रहती थी कि अनुशासन पूर्ण कार्यालय चले और कर्मचारियों को दण्ड न देना पड़े। उनमें क्रोधाभास पाया जाता था, न कि वास्तविक क्रोध। इसी तरह गुरु को शिष्य को अनुशासन में रखने के लिए कठोरता दिखानी पड़ती है, परन्तु उसके पीछे हित दृष्टि है, हिंसा दृष्टि नहीं। जैसा डाक्टर का किया हुआ आपरेशन हिंसा नहीं दया ही है। सच्चे सन्त मर्यादा व अनुशासन के मामलों में कठोरता कर सकते हैं, वैसा करना उनका कर्तव्य हो सकता है। उसमें क्रोध का आभास भी हो तो भी वास्तविक क्रोध नहीं है। जहाँ मन में क्रोध की गरमी आती है, जहाँ अनहित या हिंसा की भावना उठती है, वहाँ सन्तपने में कमी ही मानी जायगी। परन्तु अविनयशील या अनुशासनहीन व्यक्ति पर इसका निर्णय नहीं छोड़ा जा सकता है।

यह भी नहीं भूलना चाहिए कि सीधे स्वभाव वाले सन्तों से भी, जो उपयुक्त विहित कारणों से भी कठोरता नहीं करते हमें अत्यन्त विनीत व्यवहार करना चाहिए, क्योंकि उनका अनादर करना महापाप है, जिसका भारी सजा भगवान् की ओर से मिलेगी।

साधु अवज्ञा तुरत भवानी। कर कल्यान अखिल कर हानी।।

तथा—

जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई।।

दण्ड देने वाले भगवान् में भी क्रोध का आभास होता है, जिससे

यह कहा गया कि—

'भएउ रोष रन रावन मारा ।।'

परन्तु वस्तुतः भगवान् काम क्रोधादि विकारों से अछूते हैं। इसी प्रकार सन्त भी विकार रहित हैं—

षड्विकार जिता अनघ अकामा।

किसी को नियमादि के प्रवर्तन में कट्टर या कठोर देखकर उसके क्रोधी होने का फैसला नहीं किया जा सकता क्योंकि नीति में दृढ़ रहना सन्त का लक्षण है—

न्याय्यात् पथात् प्रविचलन्ति पदं न धीरा। भर्तृहरि।
'कोटि विघ्न ते सन्त कर, मन जिमि नीति न त्याग।'
(रा० च० मा०)

दृढ़ निश्चय (गीता १२.१४) भी सन्त का लक्षण है। इसलिए सन्त के शील, कोमल या नरम स्वभाव का अनुचित लाभ उठाने की चेष्टा नहीं करनी चाहिए। श्रद्धा और विनय पूर्ण भाव से ही उनका सत्संग करना चाहिए, 'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा।' के अनुसार अनुगत होकर चलना चाहिए।

भारतवर्ष क्वचित गर्म देश है, यहाँ हल्की ठन्ढक अनुकूल है। इसलिए यहाँ प्रेम सीने को ठण्ढा करने वाला है, ऐसी लोकोक्ति है अंग्रेजी में हार्दिक स्वागत को गुनगुना (वार्म्) स्वागत कहते हैं परन्तु केवल जलवायु की बात नहीं है। विकारों के उत्थान के साथ रमीग का सम्बन्ध है, जो सभी देशों और भाषाओं में मान्य है। इसलिए क्रोधाग्नि, शोकाग्नि, दुःखाग्नि आदि का उल्लेख किया जाता है।

इसीलिए—राम रोष पावक', 'रावन क्रोध अनल', शोकवह्नि जनकात्मजाया:' आदि का उल्लेख है। 'विरहागी' का भी उल्लेख है। क्रोध की गरमी का नितान्त अभाव, विपरीत दशा, को 'अति शीतल' कहा है। अति शीतल अन्त:करण वह है, जो कभी क्रोध की अग्नि से गरम हो ही न सके।

जो 'अति शीतल' हैं, वही अति सुखदाई होता है। 'तहाँ क्रोध की जर जरि गई।' (छन्द सं० ५१) जिस हृदय में आग जल रही है वह सुखी कैसे होगा ? क्रोध की अग्नि यदि मन में प्रज्वलित है तो सम्बन्धित व्यक्ति दु:खदायी ही हो सकता है, सुखदाई नहीं। वात्सल्य भाव से पुत्र को सुख दिया जाता है, दाम्पत्य से स्त्री को, करुणा से दु:खी प्राणियों को, क्रोध इनसे विपरीत भाव है। वह दु:खदायी ही है। जिसका क्रोध एकदम समाप्त, निर्मूल हो चुका, वही सुखदाई हो सकता है। इसलिए सन्त को अति शीतल के साथ 'अति ही सुखदाई' कहा है। आगे चलकर कहा है 'मलयाचल' हैं सन्त जन (छन्द सं० १८)। चन्दन में शीतलता और सुखद सुगन्ध दोनों हैं। इसी तरह सन्त में अति शीतलता के साथ यह गुण भी है कि 'अति ही सुखदाई।'

सन्त जो अति सुख देते हैं, वह साधारण विषय सुख नहीं है। कभी कभी उनकी कृपा से सांसारिक सुख भी खूब मिलता है, जैसे निर्धन बुढ़िया के आँगन में, श्री शंकराचार्य जी की कृपा व महिमा से स्वर्णधारा की वृष्टि। (दृष्टव्य कनकधारा स्तोत्र) परन्तु कवि का यह अर्थ विलकुल नहीं है कि सन्तजन प्रत्येक सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति को महान् सम्पत्ति देते हैं और सांसारिक सुख सुविधा से अति सम्पन्न करते हैं।

सुखेन ब्रह्म संस्पर्शं अत्यन्तं सुखमश्नुते । (गीता ६.२८)

सन्त भगवान से मिला देते हैं, इसलिए 'अति ही सुखदाई' हैं। भगवान् की कृपा से बहुत बार सन्तों के पास जाकर लौकिक सुख, सुविधा, सफलता आदि प्राप्त होती है, परन्तु इनके वितरण का दरबार सन्त के यहाँ नहीं होता। यह तो सही है कि बहुत से आर्त जीवों के दु:ख सन्तों के पास जाकर दूर होते हैं, और दारुण दुख: या विपत्ति की निवृत्ति में अति सुख की अनुभूति होती है। परन्तु ऐसे चमत्कार सहज ही घटित होते हैं, प्रदर्शनार्थ नहीं किए जाते। वे सन्त का अनिवार्य लक्षण भी नहीं हैं। वास्तविक महिमा यह है कि सन्त शान्ति पद प्राप्त कराते हैं और

> सात दीप नव खण्ड लौं, तीन लोक जग माँहि।
> तुलसी शान्ति समान सुख, अपर दूसरो नाँहि॥
>
> (छन्द सं०)

अत: अति सुखदाई हुए।

सन्त 'अति शीतल' होने से स्वयं सुखी रहते हैं, और तभी दूसरों के लिए भी अति सुखदाई होते हैं। इस संसार को दावानल भी कहा है। 'भव महा दावाग्नि' (चैतन्याष्टक १), कहा है। दावानल का अर्थ है जंगल की आग। यह बड़ी विकराल हो सकती है। कभी कभी तो बहुत से जंगली जानवर उसमें जलकर मर जाते हैं, भागकर निकल नहीं पाते। इसीलिए बड़े से बड़े जंगली जानवर आग से घबराते हैं। आग से दूर रहना चाहते हैं, भागते हैं। हाथियों को भी दावानल से बड़ा कष्ट होता है। परन्तु यदि कोई हाथी गंगा की धार में खड़ा है तो उसे दावानल से कष्ट नहीं होता। सन्त 'गंगाम्भस्थ इवि द्विप:' (गंगा के पानी में खड़े हुए हाथी के समान) हैं, अत: उन्हें भव दावाग्नि से कष्ट नहीं होता। संसार के तापत्रय के प्रभाव से नितान्त मुक्त होने से वे

अति शीतल हैं, और भवताप से छुड़ाने वाले होने के कारण परम सुखदाई हैं।

संसार में बहुत से सुख हैं। किसी भी सुख का देने वाला सुखदाई है। आत्यन्तिक सुख देने वाले अति सुखदाई है। जो जीव को माया के बन्धन से छुड़ा दे, मुक्त और अभय कर दे, उसके बराबर और कोई सुखदाई नहीं है। सांसारिक सुख मोक्ष सुख के सोलहवें भाग (एक कला) के बराबर भी नहीं है (जीवाऽभय प्रदानस्य न कुर्वीरन् कलामपि) (श्रीमद्भागवत) इसलिए और भले और दानी लोग सुखदायी हैं, सन्त अति सुखदाई हैं।

विषयासक्त जीव के लिए यह समझना कठिन हैं कि सन्त 'अति सुखदाई' कैसे हैं। उन्होंने तो संसार को भोगों के छोड़ रखा है। यदि उनके पास भोग्य पदार्थ हों भी तो वे उनमें नहीं रमते। अत: मोहवश जीव की दृष्टि में वे न सुखी हैं, न सुखी कर सकते हैं। वे भोग और वैभव कैसे देंगे, जब उनके पास है ही नहीं? इसलिए 'अति सुखदाई' कैसे हो सकते हैं?

यहाँ भी अशुद्ध अन्त:करण शास्त्र का मर्म समझने में बाधक हैं।

विषयी जीव भोग सुख की ही कल्पना करता है, सच्चे सुख की नहीं—

सात टूक कौपीन महँ, अरु भाजी बिनु लौन।
तुलसी रघुबर हिय बसैं, तो इन्द्र वापुरो कौन !॥ (दोहावली)

अतिशय सुख तो यह है।

तथापि यह भी समझना भूल है कि जो सन्त वैभव और भोग सामग्री से रहित हैं, उनसे लौकिक सुख नहीं प्राप्त हो सकता।

शंकर जी भले ही भभूत लगाकर मरघट मे रहें परन्तु शिव की दई सम्पदा लखि कै श्री शारदा लजानी।' (श्रीगीतावली)

'बादशाह आते हैं पापोशी गदा के वास्ते।'

फकीरों (सन्तों) की चरण बन्दना को सम्राट् भी आते हैं।

नेपाल में कोई चालीस वर्ष पूर्व एक भुरभुरुवा बाबा थे, वे सोना बनाना जानते थे, परन्तु स्वयं जंगल में रहते थे, उन तक पहुँचना कठिन था, और वे अपने लिए एक ठीक ठाक मड़ैया भी नहीं रखते थे। आदि शंकराचार्य का वाक्य है 'कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः' (कौपीनधारी भाग्यवान् हैं।) सच्चे सन्त भोग को व्यर्थ समझकर त्यागते हैं, परन्तु जिन जीवों को भोगों की तृष्णा है उनके प्रति उनकी करुणा रहती है। अतः सन्त कृपा से लौकिक सुख समृद्धि भी मिलती देखी गई है, यद्यपि लौकिक कामनाओं को लेकर सन्तों के पास जाना प्रशंसनीय नहीं है, क्योंकि ऐसे लोग उनके लिए विघ्न रूप हो सकते हैं। 'अति ही सुखदाई' ग्रन्थकार ने मुख्यतः आध्यात्मिक सुख को लक्ष्य करके कहा है।

सन्तों का जीवन शम दम से परिपूर्ण रहता है। शम मनोनिग्रह ओर मानसिक शान्ति का सूचक है, दम में इन्द्रिय दमन आ जाता है। पहले शम कहा क्योंकि मन विषयोन्मुख हो और इन्द्रियों को विषयों से अलग रक्खें तो मिथ्याचार बनता है।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते॥
(गीता ३.६)

'कर्मेन्द्रियों को रोककर जो मन से विषयों का चिन्तन करता रहता है, उसे मिथ्याचारी कहते हैं।'

इन्द्रियों का निग्रह तो करना ही होता है और पहले ही—

तस्मात् त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञान विज्ञान नाशनम् ॥
(गीता ३,४१)

इन्द्रियों का नियमन तो आदि में ही करना है, परन्तु 'यस्त्वन्द्रियाणि मनसा नियम्य' (गीता ३.७), इन्द्रियों का नियमन मन से ही चाहिए। यदि मन शान्त न हुआ व्यग्र हुआ, विषय की तृष्णा से व्याकुल हुआ तो इंद्रियों का सफल नियामक कैसे होगा ? गींताजी से भी 'शमो दमस्तप: शौचम् (गीता १८.४२) आदि ब्राह्मणों के लक्षण कहे गए हैं। शम के विना दम शायद दम्भ ही रह जाय। शम और दम की जोड़ी है, साथ रहने में ही इनकी शक्ति और सफलता है।

जिस अविवेकी की दृष्टि में भोगों में ही सुख है, वह 'शम दम' के सुख को क्या जाने ? परन्तु सन्तों का स्वभाव समझने के लिए इन चीजों का समझना आवश्यक है।

श्री गीताजी में इंद्रिय सुखों को रजोगुणी माना है जो परिणाम में दु:खदाई हैं, शान्तिपरक सुखों को सामने आने पर विषतुल्य और परिणाम में अमृततुल्य बताया, उनमें अभ्यास पूर्वक रमण करने से दु:खों का अन्त हो जाता है। (गीता १८ ३६-४०) इसलिए शास्त्र और सन्त की दृष्टि में 'शमदम, ही वास्तविक सुख के निधान हैं। भोगों में सुख नहीं है; 'दु:खनेव सर्वं त्रिवेकिन:' (योग सूत्र २.१५)।

मनोविकारो के सहयोग से ही त्रयताप प्रभावी होते हैं, निर्विकार चित्त वाले को त्रयताप नहीं सताते। त्रयताप शमन सुख का मूल है, उनमें दु:ख या नीरसता का आभास अविवेक के कारण होता है।

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयो:।' मन ही बन्ध व मोक्ष का कारण है 'मन: परमं कारणमामनन्ति (श्रीमद्भागवत ११.२३,४३) इसलिए दु:खदाई माया के बन्धन से छूटने के लिए 'शमदम' का उपयोग है। आसक्त मन के कारण ही इन्द्रियों की भोगों में विशेष प्रवृत्ति है। शम युक्त मन सहज ही इन्द्रियों को निग्रहीत करेगा, इन्द्रिय भोग उसके लिए विक्षेपकारी हैं, शान्ति को भंग करने वाले हैं, अत: वह भोगों के लिए सतृष्ण नहीं होगा। शम-दम के प्रतिष्ठित होने पर अपूर्व शान्ति प्राप्त होती है, सुख अक्षय होता है। इस प्रकार सन्त परम सुखी हैं और दूसरों के लिए भी इसी अतिशय सुख के दिलाने के इच्छुक रहते हैं। उनमें 'शमदम' की अधिकता रहती है।

सन्त का वास्तविक माहात्म्य आन्तरिक है, वाह्य नहीं। वाह्य स्वरूप सन्तों का अलग अलग हो सकता है। इसमें देश, काल, अवसर, अवस्था निष्ठा आदि के अनुरूप भेद हो सकता है, आचार, विचार, खान पान, व्यवहार आदि के भी भेद पाए जाते हैं। अत: जो सन्त-लक्षण शास्त्रों में वर्णित हैं, वे लक्षण जिन लोगों में निश्चित रूप से पाए जायँ उन्हें अवश्य सन्त मान्य किया जाय। संसार में सभी वस्तुएँ भय से युक्त हैं, वैराग्य में ही अभय है। 'वैराग्यमेवाभयं' (भर्तृहरि वैराग्य शतक)। आसक्ति में आघात लगने से क्रोध का उदय होता है, अत: क्रोध का जहां नितान्त अभाव हो वहां आसक्ति का प्रभाव सिद्ध होता है। वैराग्य निर्भयता और शान्ति सुख का आधार है। मोक्ष प्राप्त होने पर या उसके निकट पहुँचने पर साधक अनाग्रही हो जाता है। अत: वह किसी से इसलिए नाराज नहीं होता कि वह उसकी इच्छानुसार नहीं चलता। इसी से अति शीतल व्यक्ति स्वभाव से हितेच्छु और मृदुल होता है। सन्त में विषय स्पृहा नहीं है अत: उसे किसी से डाह भी नहीं होती। किसी के सुख को वह बिगाड़ना नहीं चाहता, सँवारना ही चाहता है। बड़ा आदमी खिलौनों में सुख नहीं पाता, परन्तु अबोध

बालकों को खिलौनों से खेलते हुए खुश होते देखना चाहता है, यद्यपि वह यह चाहता है कि बालक विकास करे और इस दशा से ऊपर उठे। इसी तरह सन्त की करुणा दृष्टि होती है। अज्ञानी उसके लिए अबोध बालक की तरह होता है। इसलिए सन्त करुणाकर और अति सुखदाई होता है। शमदम उसके लिए कष्टकर साधन नहीं, सहज गुण हैं, और उसकी रहनि से दूसरों को भी शमदम की प्रेरणा मिलती है।

श्री रामकृष्ण परमहंस जी के अनुसार कमल जब खिल जाता है और सुगन्ध बिखरने लगती है तो फिर भ्रमरों को निमन्त्रण नहीं देना पड़ता। वे स्वयं आ जाते हैं। इसी तरह सन्त को भी विकसित होने के बाद लाभार्थियों को बटोरना नहीं पड़ता। सद्गुणों के प्रचार का सबसे बड़ा साधन सन्त की रहनि है, न कि प्रबचन या महोत्सवादि। इसलिए समुचित गुणों से युक्त सन्त की रहनि ही समाज के लिए वरदान स्वरूप है। सन्त अति शीतल होते हैं, अति सुख देतें हैं, उनके जीवन में 'शम दम' की अधिकाई होती है, 'राम भजन' की भी अधिकाई होती है।

राम भजन की अधिकाई सन्त का प्रधान लक्षण माना जा सकता है, परन्तु साधारण मनुष्य इसका पारखी नहीं हो सकता। सच तो यह है कि भजननिष्ठ ही भजननिष्ठ की पहिचान कर सकता है। अविवेकी मोहग्रस्त जीव को किसी दम्भी या ढोंगी में भी राम भजन की अधिकाई दिखाई दे सकती है, परन्तु जिस व्यक्ति में पूर्व कथित गुण शीतलता, करुणा, शम, दम आदि सुप्रतिष्ठित हों, वह दम्भी या कपटी नहीं हो सकता। साधारण व्यापक नियम यही है कि पापी का राम भजन में मन नहीं लगता—

पापवन्त कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ॥
(रा०च०मा० सुन्दरकाण्ड)
तथा गीता ७.१५।

इसलिए यह आशा नहीं की जा सकती कि पूर्व कथित लक्षणों के बिना राम भजन की अधिकाई हो सकेगी। परन्तु राम भजन एक स्वतन्त्र और उत्कृष्ट गुण है, जो अन्य गुणों का सहज परिणाम नहीं है। बिना हरि भजन के जीवन की कटुता मिटती नहीं, किसी न किसी रूप में बनी रहती है–

> बिनु हरि भजन इनारुन को फल तजत नहीं करुआई ।।
> (वि०प०)

कभी कभी ऐसा हो जाता है कि सन्त भगवन्त की कृपा से किसी महान् पापी का भी मन भगवान् में खूब लग जाता है, परन्तु यह अपवाद रूप है। ऐसा होने पर उस पापी के द्वारा अनन्य भाब से भजन होने लगता है, श्री गीता जी का आदेश है कि उसे साधु ही मानना चाहिए, वह शीघ्र ही निष्पाप और धर्मात्मा हो जाता है। (९.३०, ३१)

इस असार संसार में वैराग्य पूर्वक भजन ही एक मात्र सार है। भगवान् की शरणागति श्री गीता जी का अन्तिम मन्देश है। (गीता १८.६६)। अनन्य भाव से भजन करने वाले का योग क्षेम भगवान् स्वयं चलाते हैं (गीता ९.२२)। वैसे तो भगवान् की ही व्यवस्था से विश्व का भरण पोषण होता है, परन्तु शरणागत अनन्य भक्तों या सन्तों के लिए उनका विशेष प्रबन्ध रहता है। उन्हीं के लिए कहा गया है कि–

> अनुव्रजाम्यहं नित्यं पूयेयेत्यंघ्रिरेणुभिः (श्रीमद्भागवत् ११.१४.४६)

तथा—

> पीछे पीछे हरि फिरैं, कि भूखे ना रहि जायँ ।।

कभी कभी सन्तों की योग क्षेत्र की पूर्ति साधारण दृष्टि से अशक्य होती है पर आश्चर्यजनक रीति से हो जाती है तो उसे चमत्कार की

तरह मानना ही पड़ता है। इसके उदाहरण विभिन्न देशों धर्मो और शास्त्रों में भरे पड़े हैं। भक्तभाल जैसे ग्रन्थों में संकलित भी हैं। विज्ञ सन्तों की दृष्टि से योग क्षेम में लौकिक ही नहीं परलौकिक जीवन का निर्वाह भी आ जाता है। जो सन्त अद्वैत दृष्टि रखते हैं, भगवान् से अभिन्न हैं, वे भी संसार में रहते हुए माया से मुक्त और परमानन्द में मग्न हैं। भगवाम् ने कहा है।

> द्वावेव चिन्तया मुक्तौ परमानन्दमाप्लुतौ।
> यो विमुग्धो जडो बालो, यो गुणेभ्य: परं गत: ।।
> (श्रीमद्भागवत ११.९.४)

तथा—

> साधवो हृदयं मह्यं साधूनाम् हृदयं त्वहं।
> मदन्यत्ते न जानन्ति, नाऽहं तेभ्यो मनागपि ।।
> (श्रीमद्भागवत ९.४.६८)

साधुजन मेरे हृदय हैं, मै साधुजनों का हृदय हूँ, मेरे सिवा वे किसी को नहीं जानते और मैं भी उनके सिवा किसी को कुछ नहीं जानता।

'कुरान में भी आज्ञा दी गई है, 'तज़क़ुरुल्लाहि कसीरन्'। (अल्लाह को ख़ूब याद करो) यह रामभजन अधिकाई ही है।

बाइबिल में कहा है—

तुम अपने परमप्रभु से पूरे दिल से पूरी आत्मा से, पूरे अन्त:करण से, पूरी शक्ति से प्यार करोगे। यह पहला आदेश है। दूसरा आदेश यह है कि अपने समान ही पड़ोसी से प्यार करो। इन दो से बढ़कर कोई आदेश नहीं है। (मार्क १२.३०-३१)

कुछ लोग रथों पर गर्वित हैं, कुछ घोड़ों पर, हमें अपने प्रभु के नाम पर गर्व है। (साम्स् २०.७)

वह प्रभु उनके लिए ढाल है, जो उसकी शरण ग्रहण करते हैं। (साम्स् १८.३०) मैं प्रशसा योग्य प्रभु को पुकारता हूँ और शत्रुओं से मेरी रक्षा हो जाती है। (साम्स् १८.३) मैं प्रभु को सदैव अपने सामने रखता हूँ। (साम्स् १६.८)

कुरान के आदि में सूरे फातिहा में कहा है—प्रभु ही सर्व प्रशंसा योग्य है। मैं प्रभु पर श्रद्धा करता हूँ, प्रभु की पूजा करता हूँ, हे प्रभु ! मुझे अपने कृपापात्रों की सीधी राह पर ले चल।'

इस प्रकार रामभजन की अधिकता, सन्त का विशेष लक्षण है, गौरव है। यह सर्व सम्मत है।

एक शूफी शैर में कहा है—

मुफ्लिस हूँ तो क्या बात है, हूँ मैं से न खाली।
बिल्लौर से बेहतर है मेरा जामे सफ़ाली॥

फ़क़ीर रईस से कहता है कि मैं निर्धन, अकिंचन हूँ तो क्या हुआ। तुम बिल्लौरी पत्थर के बने हुए प्याले में मदिरा पीते हो तो मैं भी मिट्टी के प्याले में पीता हूँ, मदिरा से रहित नहीं हूँ। मैं इस मिट्टी से बने हुए पार्थिव शरीर में प्रभु प्रेम की मदिरा पीता रहता हूँ, (अतः तुमसे कम गौरवान्वित नहीं हूँ)

तानसेन के गुरु सन्त श्री हरिदास जी ने सम्राट अकबर से कहा था—

ऐ बशर (मनुष्य) तू क्या है, तेरा असर क्या है ? ।
हम खुदा से नाज़ (मान) करते हैं, बशर क्या है ? ।।

राम भजन में मग्न रहने वाले सन्तों की महिमा अपार है ।

श्री गोस्वामी जी ने एक अर्धाली में सिद्ध सन्तों के प्रधान लक्षण कह दिए—अक्रोध, करुणा (जीवों को अति सुखदायक), शम दम युक्त और राम भजन की अधिकता । रामचरित मानस में भी सन्त लक्षणों में कहा है—

सम शीतल नहिं त्यागहिं नीती । सरल सुभाउ सबहिं सन प्रीती ।
जप तप व्रत दम संयम नेमा । गुरु गोबिन्द विप्र पद प्रेमा ।।
(अरण्य काण्ड)

तथा—

सम अभूत रिपु विमद विरागी । लोभामरष हरष भय त्यागी ।।
कोमल चित दीनन पर दाया । मन वच क्रम मम भगति अमाया ।।
सबहिं मानप्रद आपु अमानी । भरत प्रान सम मम ते प्रानी ।।
(उत्तर काण्ड)

प्रस्तुत चौपाई के दो चरणों में सन्तों के मुख्य लक्षण कहे गए । अब शेष दो चरणों में उनके द्वारा होने वाले सर्वोत्कृष्ट उपकार का उल्लेख करते हैं । सन्त जड़ जीवों को सचेत करते हैं, इसी हेतु जग में विचरते हैं ।

श्री गोस्वामी जी परम सावधान हैं । यह नहीं कहते कि सन्तों का लक्ष्य परोपकार है, केवल जगत् में उनके विचरण का हेतु बताते हैं । सन्त अहंकार पूर्वक किसी का उपकार नहीं करते, किसी पर एहसान नहीं करते, न उनकी दृष्टि में कोई गैर होता है, जब 'पर' बिराना कोई नहीं, तो परोपकार काहे का ? परन्तु सन्तों के जीवन में जगत् का बहुत

सा कल्याण सहज ही हो जाता है, उन्हें योजनाबद्ध परोपकार करना नहीं पड़ता।

सन्त सहज सुभाव खगराया। पर उपकार वचन मन काया,।

तथा—

सन्त विटप सरिता गिरि धरणी। पर हित हेतु सबन कै करणी।।

यहाँ यह बात स्मरणीय है कि सिद्ध सन्त गुणातीत पद में स्थित होते हैं, परन्तु व्यवहार में वे सतोगुण में स्थित दिखाई देते हैं।

त्रैगुण्यविषया वेदा: निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्य सत्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।
(गीता २.४५)

सतोगुण में चार ही वृत्तियाँ होती हैं—मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा, द्वेष, क्रोध आदि वृत्तियाँ नहीं होती। चित्त को जलाने वाली वृत्तियाँ नहीं होतीं, उसे शीतल, शान्त रखने वाली वृत्तियाँ ही होती हैं। इसलिए सन्त के चित्त में प्रसन्नता रहती है—

मैत्री करुणा मुदितोपेक्षाणां सुखदु:ख पुण्यापुण्य विषयाणां भावनातश्चित्त प्रसादनम् (योग सूत्र १.३३)। सुखी लोगों या सुखद लोगों के प्रति मैत्री के भाव उठते हैं, दु:खी लोगों के प्रति करुणा जागती है, पुण्य कर्म होता हुआ देखकर खुशी होती है, पापकर्मो के करने वालों के (उन कर्मो के) प्रति उपेक्षा भाव रहता है, (द्वेष, विरोध, संघर्ष, संहार) आदि का भाव फिर भी नहीं होता। श्री पतञ्जलि महाराज कहते हैं कि इन चार प्रकार के मामलों में ये चार प्रकार की भावनाएँ रखने से चित्त की प्रसन्नता सिद्ध होती है। इसलिए सन्त अखण्ड प्रफुल्लित रहते हैं। श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में सर्वोत्तम भगवद्भक्त वह माना

गया है जो सबको भगवद्रूप देखता है। उसकी दृष्टि में जीवों का कोई वास्तविक वर्गीकरण नहीं है, प्रभु ही विभिन्न रूपों में अपनी लीला कर रहे हैं। दूसरी सत्ता है ही नहीं। 'वासुदेव: सर्वम् [गीता ७.१९]। तब वे त्रिभिन्न लोगों के प्रति विभिन्न भाव कैसे रख सकते हैं। सभी अपने इष्ट के ही स्वरूप हैं। यह गुणातीत भक्ति है, परा भक्ति है। मध्यम कोटि का भक्त वह माना गया जिसकी भक्ति सतोगुणी है।

ईश्वरे तदधीनेषु, बालिशेषु द्विषत्सु च।
प्रेम मैत्री कृपोपेक्षा, य: करोति स मध्यम: ।। [११.२.४६]

जो ईश्वर से प्रेम करता है, भक्तों से मैत्री करता है, अज्ञानी दु:खी जीवों पर करुणा करता है और अपने से द्वेष करने वालों के प्रति उपेक्षा भाव रखता है, वह मध्यम कोटि का भक्त है।

जो इस स्थिति में भी नहीं है, केवल पूजा पाठ के काम करता है, वह प्राकृत [साधारण] भक्त है।

सन्त कोटि वाले भक्त उत्तम या मध्यम ही हो सकते है, साधारण नहीं। यदि मैत्री करुणा मुदिता उपेक्षा चार वृत्तियां ही हों, तो ऐसा व्यक्ति दूसरों का शुभ ही करेगा, अशुभ कर ही नहीं सकता। जिससे मेत्री मानेगा उसका हित करेगा, जिस पर करुणा होगी उसका दु;ख दूर करने का यत्न करेगा, पुण्यात्माओं को उत्साहित करेगा, उनकी सहायता करेगा, द्वेषियों की उपेक्षा करेगा। बल्कि द्वेष रखने वालों पर भी उनके अज्ञान के कारण करुणा कर सकता है—ईसा ने सूली पर कहा था—

[परम] पिता इन्हें क्षमा कर, ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं। [ल्यूक २३.३४] महर्षि दयानन्द को जिसने विष दिया, उसे उन्होंने भाग जाने की राय दी और मदद दी। इसीलिए रामचरित

मानस में सन्त को चन्दन की तरह और दुष्ट को कुठार की तरह कहा है। अपने को काटने वाले कुठार की लकड़ी को भी चन्दन सुगन्धित कर देता है।

काटइ परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगन्ध बसाई।।
[उत्तर काण्ड]

इसी प्रकार—

उमा सन्त कै इहै बड़ाई। मन्द करत जो करै भलाई।।
[सुंदरकाण्ड]

सन्त लौकिक उपकार का बीड़ा नहीं उठाते, परन्तु उनके द्वारा उपकार होता ही रहता है। तथापि यह सब भगवान् की लीला से ही होता है, सन्तों के स्वतन्त्र संकल्प से नहीं। क्योंकि उनका संकल्प तो भगवान् की अनन्य भक्ति में ही लगा है, और कोई संकल्प उनका रहता नहीं। सर्वतोभावेन भगवान् में लगा हुआ सन्त अलग से परोपकार का कार्यक्रम कैसे चला सकता हैं ? श्री गोस्वामी जी श्री कबितावली जी में कहते हैं—

सिय राम सरूप अगाध अनूप, विमोचन मीनन को जलु है।
श्रुति रामकथा मुख राम को नाम, हिये पुनि रामहि को थलु है।।

मति रामहि सों गति रामहि सों, रति राम सों, रामहि को वलु है।
सबकी न कहैं तुलसी के मते इतनों जग जीवन को फलु है।।

अनन्य भगवद्भजन ही सन्त जीवन की सफलता है।

सन्त रहनि और परोपकार के विषय को समझने के लिए महर्षि श्री अरविन्द घोष का दर्शन भी सहायक है। भागवत सत्ता स्वयं जगत्

के उद्धार उपकार के लिए प्रवृत्त है। अहंकार और विकार से युक्त अन्त:करण भगवदीय सत्ता के कार्य के लिए उपयुक्त माध्यम नहीं बन पाता। अस्मिता छोड़कर शरणागत हो जाने से भगवदीय सत्ता अन्त:करण को शुद्ध और पवित्र कर देती है। तब अन्त:करण दिव्य सत्ता के कार्य का उत्तम माध्यम बन जाता है। दिव्य सत्ता स्वयं ही उस माध्यम से अपना कार्य करती है। इसी से जगत् का महान उपकार होता है, विकास आगे बढ़ता है। श्री हनुमान जी की दृष्टि से लंका दहन आदि कार्य राम प्रताप से ही हुए, उनके पुरुषार्थ से नहीं।

सांसारिक सुख, सफलता, वैभव आदि कभी कभी साधक के विकास में उसी तरह उपयोगी हो सकते हैं जैसे बालक के विकास में खिलौने। परन्तु इनका पारमार्थिक महत्व बहुत नहीं है। सन्त का असली महत्व कुछ और ही है। श्री भतृहरि ने कहा है—

किं तेन हेम गिरणा रजताद्रिणा वा, यास्याश्रिताश्च तरव: तरवस्त एव।
मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण, कंकोल निम्ब कुटजा अपि चन्दना: स्यु:।।
(नीति शतक)

स्वर्ण गिरि या चांदी के पर्वत से क्या, जिस पर लगे हुए पेड़ पेड़ ही रह गए, हम तो मलयागिरि की महिमा मानते हैं जिसके नीम आदि के भी पेड़ चन्दन हो गए।

पारस पत्थर की बड़ी धूम है कि वह लोहे को सोना कर देता है, पर पारस किसी धातु को पारस नहीं बनाता। धन्य हैं वे सन्त जिनके सम्पर्क से दूसरे लोग भी सन्त बन जाते हैं। सन्तों को चन्दन के समान बताया गया है (रा०च०मा० उत्तरकाण्ड) जो काटने वाली कुल्हाड़ी की बेंट में भी सुगन्ध भर देता है। इस ग्रंथ में भी आगे कहा है कि मलयाचल हैं, सन्तजन। (छन्द सं० १८) वहाँ इस रूपक पर विस्तृत

विचार किया जा सकता है। वहीं सन्त की महिमा कही गई है, 'निज संगी निज सम करत।' इसीलिए सन्त जगद्वंद्य और पूज्य हैं। चन्दन के समान उनका आचरण है—

ताते सुर सीसन चढ़त, जग बल्लभ श्री खण्ड।
अनल दाहि पीटत घनहिं, परशु वदन यह दण्ड।।
(रा०च०मा० उत्तरकाण्ड)

सिद्ध सन्त की सबसे बड़ी महिमा यही है।

तीर्णाः स्वयं भीम भवार्णवं जनानहेतुनान्यानपि तारयन्तः।
(आदि शंकराचार्य कृत श्री विवेक चूड़ामणि)

स्वयं तो तर ही चुके हैं, अकारण ही (निष्काम, निःस्वार्थ, निर्लोभ रहते हुए, औरों को भी तारते हैं।

शिष्य प्रश्न करता है–

अपार संसार समुद्र मध्ये, निमज्जतो मे शरण किमस्ति?
'गुरो कृपालो कृपया वदैतद्विश्वेश पादाम्बुज दीर्घ नौका।।
(वि०चू०म०)

हे कृपालु गुरुदेव अपार संसार सागर में डूबते हुए मेरे लिए कौन सा सहारा हो सकता है? बताइये। श्लोक के चतुर्थ चरण में गुरु का उत्तर है–'इस संसार के स्वामी, भगवान् के चरण कमल ही बड़ी भारी नाव हैं।'

श्रीमद्भागवत में संसार से तरने का प्रबन्ध इस प्रकार का बताया है–

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरु कर्णधारं।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा ।।
(श्रीमद्० ११.२०.१७)

तदनुसार रा०च०मा० में भी उत्तरकाण्ड में कहा है–

नर तनु भव बारिधि कहुँ बेरो । सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो ।।
कर्णधार सद्गुरु दृढ़ नावा । दुर्लभ साज सुलभ करि पावा ।।

जो नर तरै भव सागर, नर समाज अस पाइ।
सो कृतनिन्दक मन्दमति, आत्माहन गति जाइ ।।

जैसे श्री शंकराचार्य जी ने ससार से तरने के लिए 'विश्वेश पादांबुज' को दीर्घ नौका बताया है, बालकाण्ड के आदि में श्री गोस्वामी जी ने भी श्रीरामचन्द्र जी के चरणों को एक मात्र जहाज बताया है–

'यत्पाद प्लव मेकमेव हि भवाम्भोधे स्तितीर्षावताम् ।'

सन्त भगवन्त में कुछ भी अन्तर नहीं (वि०प०) । विनय पत्रिका में श्री गोस्वामी जी ने स्वयं कहा है–

'भवसागर कहँ नाव, शुद्ध सन्तन के चरन ।'

मोहवश जड़ जीव सन्त शरण में जाकर प्रबुद्ध (मुक्त) होता है।

मायावश जीव को जड़ बताया, क्योंकि मोहनिशा सब सोवनिहारा (रा०च०मा०) और शयन काल में जड़त्व प्राप्त होता ही है। सोता हुआ जीव जैसे स्वप्न देखता है, वैसे ही मोह रात्रि में सोये हुए जीव भी 'देखहिं सपन अनेक प्रकारा ।।' स्वप्न दृष्टा स्वप्न के भीतर अपने को चैतन्य ही पाता है। परन्तु जागने पर सारा स्वप्न (और उसका दृष्टा स्वप्नगत शरीर भी) प्रसिद्ध हो जाता है, असत्य, अविद्यमान्

माना जाता है। स्वप्नदृष्टा अपनी दृष्टि में भले ही जागृत, क्रियमाण और अनुभव कर्ता हो परन्तु दूसरे जागे हुए व्यक्ति की दृष्टि में निद्रावश है और जड़त्व को प्राप्त हैं। इसी प्रकार 'एहि जग जामिनि जागहिं जोगी। परमारथी प्रपंच वियोगी।' प्रबुद्ध [ज्ञानी] योगियों की दृष्टि में मोहवश जीव सोया हुआ और जड़ ही है। इसलिए मायावश, बद्ध, जीव को जड़ कहा गया।

जड़ चेतन जग जीवन जे, सकल राम मय मानि।
(रा०च०मा०) में

वृक्षादिक प्राणियों को जड़ कहा है क्योंकि उनकी चेतना अविकसित, मन्द अथवा लुप्त या प्रसुप्त है। इसी आधार पर सोता हुआ जीव भी जड़ ही है।

ऐसा प्रसुप्त, जड़ जीव, अपने प्रबोध [जागने] का स्वयं यत्न नहीं कर सकता। जागा हुआ व्यक्ति उसे जगा सकता है। सन्त जागे हूए हैं, अन्तः जगाने का काम वही कर सकते हैं। बँधा हुआ जीव अपने को नही खोल सकता, खुला हुआ दूसरे को खोल सकता है। सन्त मुक्त [छूटे हुए] हैं, वे ही भव बन्धन से छुड़ा सकते हैं। सतसंग मोक्ष का हेतु है। 'सतसंगति संसृति कर अन्ता।' [रा०च०मा०]

सन्त जो सिद्धार्थ, कृतकृत्य, आप्तकाम, मुक्त हो गए उनके लिए कुछ भी कर्तव्य नहीं रह जाता—तस्य कार्यं न बिद्यते। [गीता ३.१७] इसलिए उनके जीवन में कोई स्वार्थ नहीं रह जाता, उनके लिए कुछ भी ऐसा नहीं रहता कि जो प्राप्तव्य [पाने लायक] है, पर उन्हें प्राप्त नहीं। लौकिक, पारलौकिक, दोनों दृष्टियों से जो कृतकृत्य हो चुके हैं, उनके जीवन का अपने लिए कुछ प्रयोजन नहीं। कोई पूछ सकता है कि फिर वे काम क्यों करते हैं, जीते क्यों हैं, मर क्यों नहीं जाते?

इस प्रश्न में ही जड़ जीव की यह मान्यता निहित है कि जीवन स्वार्थ के ही लिए है। अपने स्वार्थ के लिए जीने की आवश्यकता समाप्त होने पर वास्तविक दिव्य जीवन प्रारम्भ होता है। अबोध जीवों के समझने लायक भाषा में इसे आगे के छन्द में इसी ग्रन्थ में यों कहा है –

पर काजै परमारथी प्रीति लिए निबहंत।

[छन्द १०]

सन्त यदि एक ही जगह बँध कर रहते हैं, तो भी उनका उठना बैठना, चलना फिरना आदि जगत् में विचरण करना है; यदि वे घूमते फिरते रहते हैं, तो प्रत्यक्ष विचरण है ही। दोनों दशाओं उनके व्यवहार की प्रेरणा, विचरण का हेतु एक ही है, जड जीवों को सचेत करना बद्ध जीवों को मुक्त करना। बिना किसी कारण [हेतु] के दूसरों को तारते हैं, यही परमारथी प्रीति है। तीनों गुणों और समस्त कामनाओं से रहित [भक्ति सूत्र] जो प्रेम है, वही शुद्ध प्रेम है, परमारथी प्रीति है, वह सन्त के लिए ही सम्भव है। इसे कोई असम्भव समझे तो वह शुद्ध प्रेम को ही असम्भव समझता है।

————

तुलसी ऐसे कहुँ कहूँ, धन्य धरणि वहु सन्त ।
पर काजै परमारथी, प्रीति लिए निबहन्त ॥१०॥

श्री गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं, कि पृथ्वी पर बहुत से सन्त हैं, परन्तु ऐसे सन्त कहीं कहीं (बिरले ही) मिलते हैं, जो दूसरों के हित के लिए परमार्थी प्रेम को लिए हुए हैं और उसका निर्वाह करते हैं। ऐसे सन्त ही धन्य है।

इस पृथ्वी पर सन्त बहुत से हैं, इसका अर्थ नहीं कि बहुमत में हैं। यह आशा नहीं करनी चाहिए कि सच्चे सन्त लाखों करोड़ों की संख्या में मिल सकते हैं। परन्तु 'धरनि बहु सन्त' से इस धारणा को त्रुटिपूर्ण मान्य किया गया है कि सच्चे सन्त होते ही नहीं, या मिल ही नहीं सकते। ऐसी कल्पना भ्रमपूर्ण और अनिष्टकारी भी है कि सन्तों के जो लक्षण शास्त्रों ने कहे हैं, उन लक्षणों वाले सन्त कलियुग में नहीं हो सकते या कहीं नहीं मिल सकते। यदि दो चार सन्त ही मानें जायँ तो विश्व की अरबों मनुष्यों की आबादी के लिए उनका अभाव ही रहेगा। परन्तु सन्त इतने कम नहीं हैं।

विभिन्न देशों, धर्मो, सम्प्रदायों आदि में उत्तम सन्त पाए जाते है, वे सन्त मान्य हैं, सेवनीय सम्माननीय हैं। ऐसी कल्पनाएँ भी ठीक नहीं हैं कि सच्चे सन्त नगरों में नहीं रहते, या नगरों में नहीं आते या माघ मेले आदि भीड़भाड़ वाले स्थानों में कभी नहीं जाते या प्रवचनादि कभी नहीं करते। सन्तों की इस प्रकार की कोई कसौटी नहीं बन सकती।

बहिरंग आचार, विचार, व्यवहार की दृष्टि से सच्चे सन्तों में भी पर्याप्त भेद मिलेंगे, परन्तु सन्त के लक्षण मिलें, या पर्याप्त सीमा तक मिलें तो उन्हें सन्त मानना होगा। ऐसे सन्त आज की दुनियाँ में कुल मिलाकर बीस हजार भी हों तो वहुत हैं। वे एक प्रतिशत भी न हों पर बहुत हैं, क्योंकि सच्चे सन्त बिरले ही होते हैं, बहुल नहीं।

शैले शैले न माणिक्यं, मौक्तिकं न गजे गजे।
साधवो न हि सर्वत्र चन्दनं न बने बने॥

हर एक पर्वत पर मणि माणिक नहीं होते, हर एक हाथी के मस्तक में गजमुक्ता (मोती) नहीं होता, सन्त सब जगह नहीं मिलते, हर एक वन में चन्दन का वृक्ष नहीं होता।

ऐसा अर्थ करना भी सम्यक् न होगा कि सन्त का वेष धारण किए हुए विचरने वाले तो बहुत हैं, परन्तु परोपकारार्थ परमार्थिक प्रेम लेकर निर्वाह करने वाले बिरले सन्त कहीं कहीं मिलते हैं, वही धन्य हैं। यह भाव ठीक नहीं जान पड़ता कि श्री गोस्वामी जी ने मात्र वेषधारियों को दृष्टि में रखकर ही पृथ्वी पर बहुत से सन्तों का होना बताया है। सन्त स्वभाव और महिमा का निरूपण है, अतः मात्र वेषधारियों की संख्या का विचार प्रासंगिक नहीं है। लक्षण युक्त सन्तों का ही प्रसंग है कवि ने आगे कहा भी है, 'माया त्यागी सन्त बिरले बिरले मिलते हैं, कामी कुटिल व खल मोर और कौवे के समान अनगिनती पाए जाते हैं। [छन्द ३२] दूसरी कोटि के लोगों को कवि ने सन्त मान्य नहीं किया। किसी के पास यदि लोहा बहुत हो तो कई मन या टन भी हो सकता है, यदि यह कहा जाय कि किसी के पास सोना बहुत है तो चालीस तोला सोना भी बहुत माना जायगा। इसी प्रकार करोड़ों की आबादी वाले देश में कुछ हजार सच्चे सन्त भी हों, तो बहुत हैं।

इस दोहे का अर्थ यों समझें तो भी ठीक होगा—

इस पृथ्वी पर बहुत से सन्त हैं और वे सब धन्य हैं पर उनमें भी ऐसे सन्त कहीं कहीं (बिरले ही) मिलते हैं, जो दूसरों के हित के लिए पारमार्थिक प्रेम धारण किए हुए उसका निर्वाह कर रहे हैं।

एक दृष्टि से इस दोहे में कर्मयोग व कर्मसन्यास का तत्व पिरोया हुआ है। कर्म सन्यास की दृष्टि यह है कि 'त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिग:' कर्म मात्र दोषवत् ज्याज्य है, (गीता १८.३) परन्तु कुछ भी कर्म न करना सम्भव नहीं, अत: निषिद्ध कर्म व काम्य (कामना से किए जाने वाले) कर्म न करना चाहिए, परन्तु देह धारण से ही साधन हो सकेगा इसलिए जीवन धारण के लिए आवश्यक कर्म करने चाहिए और साधन सम्बन्धी कर्म भी करने चाहिए। परन्तु सिद्धावस्था में शरीर प्रारब्धानुसार चलेगा और साधन पूर्ण हो चुका होगा, तब किसी कर्म की आवश्यकता म रहेगी, कुछ कर्तव्य शेष नहीं रहेगा— तस्य कार्यं न विद्यते। (गीता ३.१७) ऐसी दशा में परोपकार, उद्धार दूसरों को मुक्त करना आदि तथाकथित शुभ वासनाएँ भी नहीं रहेंगी। अत: 'जड़ जीवन कहँ करै सचेता' वाला कार्यक्रम भी नहीं होगा। भगवान् में तल्लीनता और मस्ती ही रहेगी।

दूसरी दृष्टि कर्मयोग की है। इसके अनुसार कर्म मात्र हेय त्याज्य या बन्धनकारी नहीं है। साधक को बन्धन में डालने वाली कामना, ममता, फलासक्ति है, इनसे रहित कर्म बन्धनकारी नहीं, पापकर्म वासना से ही होता है, वह न किया जाय परन्तु, कर्तव्य कर्मों को किया जाय नियतं करु कर्म त्वं (गीता ३.८), कर्म के बिना तो जीवन निर्वाह भी न होगा (गीता ३.८), योगी भी आत्म शुद्धि के लिए कर्म करते हैं (गीता ५.११), यज्ञ, दान, तप सम्बन्धी कार्य मनुष्यों को पवित्र करने

वाले हैं (१८.५), इन कर्मों को भी संग और फल की इच्छा छोड़कर करना चाहिए। (१८.६.)। इस तरह साधन काल में निष्काम कर्मयोग का अनुष्ठान करना आवश्यक है।

सिद्धावस्था और व्यवहार का प्रश्न अधिक सूक्ष्म और जटिल है। इस पर श्री लोकमान्य तिलक ने एक बड़ा ही उत्तम विद्वत्तापूर्ण अध्याय 'कर्मयोग रहस्य' में लिखा है। दोहे में सिद्ध सन्तों के ही व्यवहार का प्रसंग है। अन्तः यह प्रश्न हमारे लिए प्रासंगिक है। कर्म-सन्यास मत के अनुसार ज्ञान प्राप्त होने पर सब कर्म समाप्त हो जाते हैं—ज्ञाने परिसमाप्यते (४.३३), अतः उत्तम से उत्तम कर्म करने का भी प्रश्न नहीं रहता। कर्मयोग पक्ष कुछ दूसरी तरह से सोचता है।

मायामोह वश जड़ जीव निर्मल विशुद्ध कर्म करेगा ही कैसे? उसकी उत्तम कर्म करने की कोशिश हो सकती है, भावना भी धीरे धीरे शुद्ध होगी। जब अन्तःकरण शुद्ध हो जायगा तभी वह विशुद्ध भाव से उत्तम कर्म कर सकेगा, और अब उसके कर्म ज्ञान से समाप्त मान लिए जायँगे। व्यवहार में देखा जाता है कि जिस किसी में कर्तव्य का आग्रह, सत्यनिष्ठा, निर्भयता आदि कुछ लक्षण प्रतीत हुए उसे कर्म सन्यास वृत्ति वाले व्यवहार से उपराम होने की सलाह देने लगते हैं। तो क्या जगत् के व्यवहार को चलाने में केवल कायर, दुर्गुणी आलसी लोग रहें तो यह व्यवहार अच्छा चलेगा। सच तो यह है कि यदि इस प्रकार के कर्मवीर क्षेत्र से हट जायँ तो कर्म सन्यासियों के योग क्षेम और ध्यान पूजन भी निर्विघ्नता से नहीं चलेंगे। व्यवहार को छोड़ने पर मनोविकारों को उभारने वाली परिस्थितियाँ बार बार नहीं बनतीं, इससे यह भ्रम हो सकता है कि मन निर्विकार हो गया, परन्तु विशेष परिस्थिति बनने पर कुछ और ही सिद्ध हो सकता है। इसलिए कच्चे वैराग्य या उच्चाट से व्यवहार सन्यास खतरनाक है।

भयं प्रमत्तस्य वनेष्वपि स्यात्, यतः स आस्ते सह षट्सपत्नः।
जितात्मनस्यात्मरतेर्बुधस्य गृहाश्रमः किं नु करोत्यवद्यं ॥
[श्रीमद्भागवत ५.१.१७]

प्रमादी को वन में भी भय है क्योंकि काम क्रोधादि छ शत्रु उसके साथ ही हैं, इन्द्रियजित्, आत्मा के प्रेमी, ज्ञानी को गृहस्थाश्रम भी क्या नुकसान पहुँचायगा ?

यदि सिद्धावस्था प्राप्त हो चुकी हो तो कुछ कर्तव्य शेष नहीं रह जाता, परन्तु कर्म करने से बन्धन होने का भय भी नहीं रह जाता। यदि ऐसा भय बना रहा, तो मुक्ति कहाँ हुई। जब तक विशेष परहेज़ की जरूरत बनी रहे, स्वास्थ्य लाभ सिद्ध नहीं होता। सर्वोत्तम दिव्य कर्म की सम्भावना सिद्धावस्था में ही है। योगारुढ़ के लिए कर्म शान्ति का कारण है (गीता ६,३), बन्धन का कारण नहीं। तो वह क्यों न कर्मनिष्ठ हो ?

भगवान् को कुछ प्राप्त करने का प्रयोजन नहीं है परन्तु वे सारा समष्टि कर्म चलाते हैं न ? इसी तरह सिद्ध सन्त के लिए भी भगवान् का आवाहन है कर्म का आदर्श उपस्थित करे, जिससे उसका अनुसरण करने वाले लोग कल्याण भाजन हों। 'लोक संग्रह' के दृष्टि से भी कर्म करना ही चाहिए [गीता ३.२०.]। भगवान् ने कर्म को अकर्म से श्रेष्ठ घोषित किया है—'कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः' [गीता ३.८.]।

जो कर्मयोग मार्ग के साधक हैं वे भगवान् की लीला से सिद्धावस्था में भी कर्मनिष्ठ रह सकते हैं। कभी कभी कर्म संन्यास के व्याख्याताओं का भी अलौकिक पुरुषार्थ देखा गया है, जैसे श्री आदि शंकराचार्य जी का, ईसवी उन्नीसवीं सदी के अन्त में श्री स्वामी रामतीर्थ का भी महान्

पुरुषार्थं प्रकट हुआ। गुरु माता की आज्ञा से श्री स्वामी विवेकानन्द जी ने भी आश्चर्यजनक पुरुषार्थ किया।

जो सिद्ध सन्त गुप्त रहते हैं, वे कभी कभी उल्टी बातें करते हुए भी देखे गए हैं; इससे अन्य लोगों को उनसे भजन की प्रेरणा नहीं मिलती, परन्तु आचार्य कोटि के सन्तों से ऐसी प्रेरणा मिलती है। श्री शुकदेव जी जैसे अवधूत कोटि के सन्त एकान्त विचरण कर सकते हैं, परोपकार आदि से अलग रह सकते हैं, यद्यपि परीक्षित् जी के कल्याण में उनका कृपामय पुरुषार्थ था ही। परन्तु श्री व्यास जी सदृश आचार्य तो लोक संग्रह में संलग्न ही दिखाई देते हैं।

जैसे मरीजों का स्वार्थ इसी में है कि अच्छे से अच्छे चिकित्सक चिकित्सा कार्य करते रहें, उसे छोड़ न दें। वैसे ही भव रोग के मरीजों का स्वार्थ इसी में है कि समर्थ सन्त उनके उद्धार में प्रवृत्त रहें, उस कार्य से उपरत न हों। पारस का कोई लाभ नहीं यद्यपि बहुत सा लोहा उसके सम्पर्क से सोना बन जाय, परन्तु ऐसा होने से औरों का तो लाभ है, तो फिर पारस सम्पर्क से परहेज क्यों करे ?

यह तो ठींक है कि सच्चे सन्त को उद्धार कार्य, ज्ञान-प्रचार आदि करने से भी अपना कुछ लाभ नहीं, वह लौकिक पारलौकिक मामलों में कृतकृत्य हो चुके, परन्तु फिर भी वे यदि ऐसा व्यवहार रखते हैं जो अन्य जीवों को मोक्ष-साधम में प्रोत्साहित करे, तो यह उनका स्नेह ही है। और यह हेतु रहित है। जो प्रेम त्रिगुण-रहित, कामना रहित है, वही शुद्ध है, अमृतमय है, परमारथी है।

हेतु रहित जग युग उपकारी। तुम तुम्हार सेवक असुरारी ।।
[रा०च०मा०]

सन्तों में अवधूत कोटि और आचार्य कोटि दोनों तरह के होते हैं। समाज के लिए आचार्य कोटि वाले अधिक उपयोगी हैं। परन्तु दूसरे, अवधूत कोटि वाले सन्त भी धन्य हैं।

प्रसंग प्राप्त परोपकार अवधूत कोटि के सन्तों में भी देखा जाता है। किसी के दु:ख से द्रवित होकर कृपा करना, उसके दु:ख को दूर करना उनमें भी पाया जाता है। 'पर दुख द्रवहिं सन्त सुपुनीता ।।' परन्तु उनका यह कार्य प्रासंगिक होता है। आचार्य कोटि वाले संस्था बना सकते हैं, प्रचार कार्य कर सकते हैं, व्यवस्थित रूप से समाज के दु:ख हरण का कार्य चला सकते हैं। एकदम सांसारिक व्यवहार में लिप्त दिखाई पड़ सकते हैं। ऐसे कार्य भगवत्प्रेरणा से ही होते हैं और उनमें शुद्धता और दिव्यता पाई जाती है।

करुणा और ममता एक ही चीज नहीं हैं करुणा से ही सच्चे प्रेम का विकास होता है, ममता पतनकारी है। सन्त करुणा करते हैं, ममता नहीं। भक्त के लक्षणों में श्री गीता जी में कहा है—

अद्वेष्टा सर्व भूतानां मैत्र: करुण एव च।
निर्ममो निरहंकार: सम दु:ख सुख: क्षमी ।।
(१२.१३.)

सन्त करुण होते हैं पर निर्मम भी होते हैं, स्नेह सबसे बन्धन कहीं नहीं। सन्तवर शाहंशाह जी ने चौरासी छेदन में कहा है—

सम्यक् प्रेम तुम्ही से होवै। जग ममता भ्रम माहिं डुबोवै ।।

वैष्णव दर्शन में समझाया गया है कि ममता (कामना) और प्रेम में बहुत अन्तर है। काम सुख पाना चाहता है, प्रेम सुख देना चाहता है। ममता अपने सुख के लिए दूसरे को अपने बस में करना और रखना

चाहती है, प्रेम दूसरे के सुख, हित, विकास, प्रगति के लिए उसके बस में होने या उसके हित के लिए समर्पित होने की प्रेरणा देता है। अतः शुद्ध प्रेम राम से मिलाने वाला है, मोक्ष दायक है, जबकि ममता बन्धन को दृढ़ करती है।

> जहाँ राम तहँ काम नहिं, जहाँ काम नहि राम।
> तुलसी कबहुँक रहि सकैं, रवि रजनी एक काभ ॥
> (दोहावली)

जहाँ स्वार्थ, कामना, भोग आदि की गन्ध भी नही हैं, वहाँ विशुद्ध प्रेम है और विशुद्ध प्रेम ही 'परमार्थी' है।

ऐसा आभास मिल सकता है कि ममता टिकाऊ है, करुणा आकस्मिक है। ऐसा सचमुच है नहीं। वासनात्मक प्रेम ही वस्तुतः परिवर्तन शील हैं, नश्वर है, क्योंकि वह प्रकृति के तीन गुणों के आश्रित हैं और ये गुण स्थिर नहीं रहते, परिवर्तन शील हैं। ममताएँ एक जन्म में ही टूट फूट सकती हैं, जबकि दिव्य सृष्टि के प्रेम सम्बन्ध जन्म जन्मान्तर तक प्रभावी रहते हैं, भले ही साधारण जन की दृष्टि से परे हों।

विशुद्ध करुणा सम्बन्ध दुःख निवारण के लिए होता है, दुःख निवृत्ति के बाद वह वन्धन कारी नहीं होता, जैसे सिद्धार्थ ने घायल हंस की सेवा की, फिर अच्छा हो जाने पर उसे उड़ जाने दिया। सन्त उपकार करके एहसान में वांधते नही। परन्तु उपकृत मनुष्य का जो कर्तव्य है, वह उसे अवश्य करे, बिना किसी विवशता के भी करे, तभी उसका विकास ठीक से हो सकेगा।

कोई कोई सज्जन बड़े अच्छे डाक्टर या वैद्य होते हैं और धर्मार्थ दवा करते हैं, अपनी जीविका का दूसरा प्रबन्ध रखते हैं, दवा का भी

दाम नहीं लेते। जिन कठिन रोगियों को वे अच्छा करते हैं, वे अच्छे हो जाने पर कुछ भी देने या करने के लिए बाध्य नहीं हैं, फिर से अपरिचित की तरह बन सकते हैं, परन्तु उनका कर्तव्य है कि आभारी हों, सहयोग करें।

रोगी को अच्छा किया, वह काम खतम हुआ। यह तात्कालिक सेवा है। पेशे वाले लोग तात्कालिक सेवाएँ रुपए के लिए किया ही करते हैं। निर्लोभ, निष्काम होकर ऐसी सेवा करना परमार्थिक प्रेम का लक्षण है।

यदि सेवा धर्मार्थ है, वस्तुतः धर्म या पुण्य के लिए भी नहीं है, अहैतुकी (अकारण) है, तो यह शुद्ध परमार्थ है, परन्तु ऐसी प्रीति जब मौज आए कर दी, उसके निर्वाह की कोई वृत्ति नहीं, तो इससे पूरा काम नहीं चल सकता। जहाँ भव रोग का शमन ही कार्य है, सेवा वर्षों तक या कई जन्मों तक भी चल सकती है। इस प्रेम को निभाना एक विशेष वृत्ति है, जिसके होने पर ही बद्ध जीव को मोक्ष तक पहुँचाना सन्त के लिए सम्भव होता है।

जिस प्रकार डाक्टर कठिन रोगी के इलाज में धैर्य पूर्वक बहुत दिन लगा रहता है, जिस प्रकार माता बालक की सेवा में वर्षों लगी रहती है, उसी तरह सन्त भी बहुत दिनों तक 'परमार्थी प्रीति' का निर्वाह करते हैं।

सिद्ध सन्त अपना काम तो कर ही चुके, अब दूसरों के लिए ही जीते हैं। उनके लिए परमारथी प्रीति लिए रहते हैं और यह प्रीति एक लहर मात्र नहीं होती, सन्त उस प्रीति का निर्वाह करते हैं।

इसमें बन्धन का आभास हो सकता है, परन्तु सन्त वास्तविक बन्धन को प्राप्त नहीं होते । बन्धक का नाटक सा हो सकता है ।

श्री गोस्वामी जी ऐसे सन्तों को धन्य धन्य कहते हैं, जो सब बन्धनों से मुक्त होने पर भी इस प्रकार प्रीति बन्धन में बँधे से प्रतीत होते हैं, और ऐसी परमारथी प्रीति का निर्वाह करके जीवों का कल्याण करते रहते हैं ।

दिव्य देह से या पार्थिव देह से भी जीवित बहुत से मुक्त सन्त पृथ्वी पर हैं, ये सब धन्य हैं, पर ऐसे धन्य कहीं कहीं [बिरले] ही मिलते हैं, जो दूसरों के [मोक्ष के] प्रयोजन के लिए 'परमारथी प्रीति' लिए है और निबहन्त (निभाते रहते हैं), अबोध, अज्ञानी जीवों के दोषों से ऊबकर या रुष्ट होकर उस प्रीति को छोड़ नहीं देते अन्त तक निभाते हैं ।

प्रेम तत्व के मर्मज्ञों का कहना है कि प्रेम से बरी कोई नहीं है । सांसारिक लोग ममतावश हैं, जो प्रेम का मलिन रूप है । ऊँचे साधक लोगों की ममता या प्रीति भी भिन्न और उच्च स्तर की होती है । ममता का मैल छटता जाता है ।

परन्तु मुक्त सन्त या भगवान् भी प्रेम के प्रभाव से बच नहीं सकते । सहज, निर्मल, निष्काम, स्थिर, निरभिमान प्रेम के बस में भगवान् भी हो जाते हैं, सन्त भी । यह प्रेम शुद्ध होने से ममता की तरह बन्धनकारी नहीं होता ।

बात कुछ ऐसी है जितना शुद्ध जिसका अन्तःकरण होता है, उतना ही शुद्ध प्रेम का प्रभाव उस पर अधिक पड़ता है । शुद्ध अन्तःकरण ममता

मोह, वासना वाले बन्धन से छूट जाता है, परन्तु 'परमारथी प्रीति' के प्रतीतिमान् बन्धन में पड़ने के लिए तो वह योग्य पात्र बनता है । प्रेम की सरिता को कोई भी पार नहीं कर सकता ।

तुलसी न कोउ सभरथ जो तरि तक, सरित सहज सनेह की ।
(रा०च०मा० अयोध्या काण्ड)

की मुख़ पट दीन्हें रहै, यथा अर्थं भाषन्त ।
तुलसी या संसार में, सो विचार युत सन्त ॥११॥

श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि जो सन्त या तो मुख के पट (ओंठ) बन्द रखता है, या केवल यथार्थ (सत्य) भाषण करता है, वही विचारवान् सन्त है ।

इस दोहे में वाणी का संयम (तप) सन्त का उत्तम लक्षण बताया गया है । यह वाक् संयम का सूत्र है ।

श्रीमद्भागवत में कहा है—

वाचं यच्छ मनो यच्छ प्राणं यच्छेन्द्रियाणि च ।
आत्मानमात्मना यच्छ न भूयः कल्पसे ध्वने ॥
(११.१६.४२)

वाणी का संयम करो, मन का संयम करें, प्राण (वायु) का संयम करो, इन्द्रियों का संयम करो, आत्मनिग्रह करो, फिर संसार में नहीं लौटना पड़ेगा ।

इसी प्रकार यति धर्म के प्रसंग में कहा है—

मौनानीहानिलायामः दण्डा वाग् देह चेतसाम् ।
न ह्येते यस्य सन्त्यंग, वेणुभिर्न भवेद्यतिः ॥
(११.१८.१७)

मौन इच्छा रहित मन और प्राणायाम, यह वाणी, चित्त और शरीर के दण्ड हैं, यह जिसमें नहीं हैं, वह बांस के डण्डे को लेकर संन्यासी नहीं हो सकता ।

मौन वाणी का निग्रह है । श्री गीता जी में शरीर, वाणी और मन के तप बताए हैं (१७.१४-१६) । वहां मौन को मानसिक तप में गिनाया है (१७.१६) वाचिक तप में नहीं । इसका भी कारण है । उपर्युक्त श्लोक में मौन वाणी का ही दण्ड माना गया है, परन्तु उसे मानसिक तप में गिनना भी ठीक है ।

जीव दृश्यमान् (बाहर दिखाई पड़ने वाले) जगत् के पदार्थों में सुख का आभास पाकर बहिर्मुखी वृति अपनाता है । उनका मन बाहर के पदार्थों में सुख ढूंढ़ता हैं और आसक्त होता है । अनेक जन्मार्जित संस्कारों के कारण विषयासक्ति दृढ़ हुई है । इससे भोग पदार्थों के प्राप्त करने के विचार बनते हैं, विचार चेतन मन में भाषा का रूप लेते हैं । विचार प्रबल होने पर प्रकट होने का साधन ढूंढ़ते हैं । बोलना वह साधन है । यह कठिन ही है कि प्रबल संस्कार विचार का रूप ले ले पर वाणी में बिलकुल न आए । कभी कभी किसी भाव को छिपाने के लिए वाणी में उसे प्रकट नहीं करते, परन्तु ऐसी सावधानी सब समय और सब जगह नहीं रखते हैं । वचन से न कहे जाने पर भी भाव अन्य प्रकार से प्रकट हो जाते हैं । इसी प्रकार जो संस्कार विचार में और वाणी में प्रतिष्ठित हो जाता है, उसका आचरण में न आना भी कठिन है । ऐसे सूफी सन्त कवि हुए हैं जिन्होंने शराब पर शैरें बहुत लिखीं पर शराब कभी नहीं पी । परन्तु यह इसलिए निभ गया कि इन सन्तों का मै या शराब से प्रयोजन आध्यात्मिक प्रेम की मदिरा था । लौकिक प्रणय या मैनोशी (शराब पीना) की शायरी करने वाले प्रायः 'मजाज़' की तरह पियक्कड़ हो गए । मुशायरों में भी शराब प्रचलित हो गई, यद्यपि धर्मतः वर्जित थी ।

यदि किसी आचरण से अलग रहना है, उसका त्याग करना है, तो सन्तों का मत यह है कि उसका कथन करना भी बन्द हो जाना चाहिए। कभी कभी पुलिस अफसरों, वकीलों, जजों आदि को वर्जित आचरणों का जिक्र करना पड़ता है—कहकर या लिखकर या दोनों प्रकार से। इसमें कर्तव्य की विवशता हो सकती है, यद्यपि यह भी निरापद नहीं। शौक से ऐसी चर्चा करना, सुनना या पढ़ना घातक है, क्योंकि वह उन निषिद्ध आचरणों की प्रेरणा देता है।

> दृष्टानुश्रविक विषय वितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यः।
>
> (योगसूत्र १.१५)

देखे हुए (इस दुनिया में अनुभव किए हुए) व सुने हुए (परलोक के, शास्त्र चर्चा के सुने हुए या पढ़े हुए, परन्तु अनुभूत नहीं), ऐसे सभी विषयों में जो सुखाभास होता है, प्राप्ति की तृष्णा होती है, उसे बश में करने को वैराग्य कहते हैं।

तृष्णा को निर्मूल करने के लिए आवश्यक है कि उसकी पूर्ति का कार्यक्रम छोड़ा जाय। इसमें विचार का संयम, वाणी का संयम तथा इन्द्रियों का निग्रह करना होता है। यह एक भ्रम है कि केवल कर्म का संयम काफी है या सफल हो सकता है। वाणी और मन का संयम न करना, केवल कर्मो से अलग रहना, मूर्खता का कार्य है, यह गीतोक्त मिथ्याचार है (३.६), इन्द्रियों को मन से रोकना और इन्द्रियों से कर्मयोग में लगे रहना श्रेष्ठ है (३.७)। इन्द्रियों को मन से रोकना, यानी संयम का सच्चा मानसिक संकल्प होना। चेतन मन में यह संकल्प शब्दों में रहना चाहिए, अतः उसकी उल्टी भाषा मन में, विचार रूप में भी नहीं होनी चाहिए, फिर वाणी के रूप में, भाषा के माध्यम से कैसे प्रगट होगी? अनुच्चरित शब्द ही विचार हे, उच्चरित विचार ही वाणी है।

तो पहले वाक् संयम चाहिए कि पाप की, निषिद्ध कर्मों की चर्चा न हो फिर अन्यत: भी वाणी का संयम करना होगा। यथार्थ का जिक्र इसलिए भी किया गया है कि विषयासक्ति पूर्ण चर्चा के साथ पर-निन्दा, प्रपंच आदि जुड़े रहते हैं, जिनमें वाचिक सत्य का निर्वाह नहीं हो पाता। यथार्थ के अतिरिक्त वाणी का प्रयोग न करने से घातक, प्रपंच, विलास आदि की चर्चा बन्द होगी।

कवि का कहना है कि यथार्थ भाषण की आवश्यकता हो तभी जबान खुले, नहीं तो मुख पट बन्द रहे, ऐसा नियम विचारवान् सन्त निभाते हैं। मन की लहरें जो वाणी व कर्म के क्षेत्र में प्रभावी नहीं हो पातीं, क्षीण होती जाती हैं। इसी से कहा 'वाचं यच्छ, मनो यच्छ' वाणी का संयम करो मन का संयम करो।

मौन में प्राय: बोलना बिलकुल बन्द कर देते हैं, मौन के नए साधक व्रत को भूलकर बोल पड़ते हैं, इससे भी स्पष्ट होता है कि विचारों का वेग सहज ही वाणी में प्रकट होता है। सच्चा मौन तो वह है जिसमें विचारों का प्रवाह ही शान्त हो जाय। वैसा होने पर बोलने की प्रेरणा नहीं होगी। व्यवहार न रुके, न बिगड़े, उतने के लिए कुछ लोग मौन में इशारे से या लिखकर बात करने की छूट रखते हैं, कोई शास्त्र वचनों के उच्चारण या भगवन्नाम उच्चारण या कथा, प्रवचन सम्बन्धी छूट भी रखते हैं। यदि लिखने की आवश्यकता हो तो नपे तुले शब्द कह ही क्यों न दिये जायँ? खतरा केवल यह है कि पचास शब्द लिखने के स्थान पर सम्भवत पाँच सौ शब्द बोले जायेंगे। मौन शिथिल होगा।

वाणी का स्वच्छन्द प्रयोग करने वाले लोग असत्य से नहीं बच पाते। बहुत बार तो विकृत प्रस्तुति में, असत्य कथन में, ही उनका सुख

रहता है, इसलिए 'यथार्थ' का नियम वाणी के प्रयोग को काफी कम कर देगा।

दोहे से एक ध्वनि और भी निकलती है। विद्वान् को, लेखक को, व्याख्याता को, पत्रकार को, नेता को, 'शब्द झड़ी' का शौक हो सकता है, सहज ही होता हैं, परन्तु असावधानी का क्षेत्र बन जाता है। जहाँ हजारों शब्द बोले या लिखे जा रहे हैं, यह खतरा रहता है कि पूर्वापर विरोध आ जाय, या ऐसा विरोधाभास हो, असावधानी से हम वह बात कह जायँ, जो कहने का इरादा नहीं था, औचित्य भी नहीं था, अथवा ऐसे शब्दों में कोई बात कह जायँ कि अतिरजना, अतिशयोक्ति, लघूक्ति, श्लेषादि के कारण विभ्रम, वक्ता के मन्तव्य के विरुद्ध अर्थ ग्रहण की सम्भावना, या वक्ता के विषय में किसी पक्ष, मत या वाद के अनुकूल या प्रतिकूल होने की कल्पना होने लगे। अतः बोलने या लिखने में शब्द बाहुल्य, विद्वान् या पांडित्य-प्रधान व्यक्ति का लक्षण भले ही हो, विचारवान् दार्शनिक, सन्त या ऋषि का लक्षण नहीं है।

जब हमारे वक्तव्यों या लेखों में शब्द बहुत होते हैं तो यह कठिन् होता जाता है, कि एक एक शब्द सोच समझकर बोलें या लिखें। असावधानी से बोलना या लिखना सत्यव्रती के लिए ठीक नहीं। विचारवान् पुरुष वाणी का व्यर्थ, अक्षम, अनिष्टकारी, असत्य प्रयोग नहीं करना चाहता। कटु सत्य का अनावश्यक प्रयोग सन्त नहीं करते, न माधुर्य के लिए झूठ बोलते हैं।

सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात्, न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्।
प्रियं च नानृतं ब्रूयात्, एष धर्मं सनातनः॥

(मनुस्मृति ४.१३८)

सत्य कहे, प्रिय कहे, अप्रिय सत्य न कहे, प्रिय असत्य भी न कहे, यही सदा से चला आ रहा धर्म है।

देशकाल अवसर अनुसारी। बोले वचन विनीत विचारी॥
(रा०च०मा०)

कहहिं सत्य प्रिय वचन विचारी। जागत सोवत शरण तुम्हारी॥
(रा०च०मा०)

श्री गीता जी में भी वाणी का तप बताया है—

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रिय हितं च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव, वाङ्मयं तप उच्यते॥
(१७.१५)

उत्तेजित न करने वाला, सत्य प्रिय व हितकारी वचन बोलना, स्वाध्याय व विद्याभास में वाणी का प्रयोग करना, वाणी का तप है।

इस तरह ठीक से समझने पर, दोहे में जो वाणी निग्रह का सूत्र दिया है, उसके अन्तर्गत सिर्फ जान बूझकर झूठ न बोलना ही काफी नहीं है, संयमित वाणी के अन्य लक्षण भी हैं. जो सत्य व अहिंसा से सम्बन्धित ही हैं। आगे कवि ने इन लक्षणों का वर्णन किया भी है, यथा—"बोलै वचन विचारि कै, लीन्हे सन्त-सुभाव। (छन्द १२), बोलै समता माहि (१३)। सन्त का मन निर्विकार होता है, अत: वाणी भी निर्विकार होती है, क्रोधादि से युक्त नहीं होती। श्री दोहावली जी में कहा—

रोष न रसना खोलिए, बरु खोलिय तरवारि। सुनत मधुर, परिणाम हित, बोलिय वचन विचारि॥ ४३५॥ मधुर वचन कटु बोलिबो, बिनु श्रम भाग अभाग। कुहू कुहू कलकण्ठ रव, काका कर

रत काग ।। ४३६ ।। पेट न फूलत विनु कहे, कहत न लागै देर ।
सुमति विचारे बोलिए, समुझि कुफेर, सुफेर ।। ४३७ ।।

जिन लोगों की शास्त्र वासना प्रबल है, उन्हें बहुत कुछ कहने या लिखने की इच्छा हो सकती है, परन्तु शास्त्र वासना प्रबल होना सन्त का लक्षण नहीं है। सन्यास में शास्त्र वासना का भी त्याग है। शास्त्र बासना से अनेक उपादेय ग्रन्थों का प्रणयन होता है, इसलिए उसका सामाजिक उपयोग है। तथापि सन्त उससे भी मुक्त होता है। ऐसे अनेक सन्त हुए हैं और हैं जो धुरन्धर विद्वान् हैं, परन्तु जिन्हें अपनी विद्या के प्रदर्शन की प्रेरणा बिलकुल नहीं है। उन्हें यह नहीं जान पड़ता कि वे कोई ग्रन्थ लिख देंगे तो बड़ा भारी लोकोपकार हो जायेगा। आवश्यकता हुई तो पहले से ही लिखे हुए ग्रन्थों का संकेत देकर काम चला लेते हैं। इसी प्रकार यह देखा गया है कि कभी कभी अशुभ पक्ष का उत्थान देखकर सन्त को यदि उसके प्रतिकार की आवश्यकता जान पड़ी, तो वे किसी शास्त्रार्थी पण्डित को प्रेरणा दे देते हैं, स्वयं तो 'वादो नावलम्ब्य:। (भक्ति सूत्र) का ही अनुसरण करते हैं, वाद विवाद (बहस) में नहीं पड़ते। ऐसे बहुत से दृष्टान्त मिलते हैं जब सन्तों ने विबाद से बचकर थोड़े से शब्दों से काम निकाला। मितभाषी होना सन्त का लक्षण है।

तथापि, केवल बहुत प्रवचन करते देखकर या अनेक ग्रन्थों के लेखन को देखकर सन्तपने को असिद्ध नहीं मानना चाहिए। क्योंकि ऐसा सम्भव है कि ऐसा कार्य भगवदीय लीला या प्रेरणा से या सन्त की प्रेरणा से हो, वह शास्त्र वासना का प्रतीक या प्रमाण बिल्कुल न हो। स्वाध्याय या प्रवचन आदि में लगे हुए लोग प्राय: समाज के लिए बहुत उपयोगी होते हैं। तैत्तरीय उपनिषद् में उपदेश भी है कि स्वाध्याय प्रवचन में प्रमाद नहीं करना चाहिए। श्री शंकराचार्य, श्री बल्लभाचार्य

श्री रामानुजाचार्य आदि के महान् ग्रन्थ भगवत्कृपा के प्रसाद हैं, वरदान स्वरूप हैं, उन्हें शास्त्रवासना से प्रणीत मानने की भूल कभी नहीं करनी चाहिए। स्वयं गोस्वामी जी ही अनेक बड़े और छोटे ग्रन्थों के लेखक हैं, परन्तु अपने मर्यादावाद के लिए अप्रतिम यश के भागी हैं और अपने ग्रन्थों से ऐसे ही सिद्ध हुए हैं कि—

सावधान मानद मद हीना। धीर धरम गति परम प्रवीना।

सन्त जब बोलते हैं या लिखते हैं, तो इन सन्त लक्षणों से कदापि च्युत नहीं होते।

लगभग पचास बर्ष पहले की बात है कि एक सन्त अपने एक कृपापात्र को मित भाषण का उपदेश कर रहे थे। उन्होंने कहा कि पैसा चाहे फालतू भी खर्च हो जाय, शब्द फालतू नहीं खर्च करना चाहिए। कम से कम वोलना चाहिए। इसके प्रमाण में उन्होंने वै०सं० का प्रस्तुत दोहा उद्धृत कर दिया। जिज्ञासु श्रोता ने तुरन्त प्रश्न कर दिया कि इस दोहे में तो केवल सच बोलना लिखा है, कम बोलना तो नहीं लिखा है? इस दोहे के अनुसार तो सच बोलता हुआ कोई चाहे जितना बोले, अधिक बोलने का कोई रोक नहीं है। मान्य भक्तप्रवर सन्त ने जिज्ञासु के समाधान के लिए इन प्रश्न का जो उत्तर दिया वह इस दोहे पर अनूठा और चिरस्मरणीय भाष्य रूप ही था, यद्यपि थोड़े से ही शब्दों में था।

सन्त ने कहा—श्रीमद्भागवत में तो यह कहा है कि—

वाचोदितं तदनृतं मनसा ध्यातमेव च।

(११.२८.४.)

'वाणी से जो निकला वह झूठ है, मन से ध्यानं किया हुआ भी झूठ है।' (यथा रामचरित मानस में —गो गोचर जहँ लगि मन जाई।

सो सब माया जानेहु भाई।।) जब यह सब झूठ ही है, तो आपने इस झूठ को दो भागों में बांट रक्खा है—

सच झूठ और झूठ झूठ ?

श्रीमद्भागवत में इसी अध्याय में प्रारम्भ में उपदेश किया गया है कि—

परः स्वभाव कर्माणि न प्रशंसेन्न गर्हयेत् ।
विश्वमेकात्मकं पश्यन् प्रकृत्या पुरुषेण च ।।
(११.२८.१)

परः स्वभाव कर्माणि यः प्रशंसति निन्दति ।
स आशु भ्रश्यते स्वार्थादसत्यभिनेशतः ।।
(११.२८.२)

दूसरे के स्वभाव या कर्मो की प्रशंसा या निन्दा नहीं करनी चाहिए, सारा विश्व भगवान् का रूप देखना चाहिए। जो दूसरे के स्वभाव व कर्मो की प्रशंसा या निन्दा करता है वह असत्य भाव के वश होकर शीघ्र ही अपने असली स्वार्थ (हित), परमार्थ दृष्टि, से भ्रष्ट हो जाता है।

गुण अवगुण त्रिगुणात्मिका माया के परिणाम हैं, वास्तविक या सत्य नहीं—

गुण दोष दृशिर्दोषो, गुणस्तूभय वर्जितः ।
(श्रीमद्भागवत ११.१९.४५)

सुनहू तात माया कृत गुण अरु दोष अनेक ।
गुण यह उभय न देखिये, देखिय सो अविवेक ।।
(रा०च०मा० उत्तरकाण्ड)

वाणी के अपरिमित प्रयोग से गुण दोष का विस्तृत विवेचन होगा, उससे यह गुण वास्तविक मालूम होंगे, मायामूलक नहीं, संसार के सत्य होने का भाव दृढ़ हो सकेगा और सबको भगवद्रूप (वासुदेवः सर्वम् गीता ७.१९) की भावना दूर होगी । तब परमार्थ दृष्टि हट जायगी और अपना असली काम बिगड़ जायगा ।

इसलिए सन्त सांसारिक विषयों के विश्लेषण में, आलोचना में प्रवृत्त नहीं होना चाहते और अति मितभाषी होना पसन्द करते हैं ।

जिनकी पमार्थ दृष्टि पक्की है वे भगवत्प्रेरणा से, गुरु आज्ञा से, तत्व विवेचन प्रस्तुत कर सकते हैं, लोकसंग्रहार्थ प्रवचन या ग्रन्थ प्रणयन कर सकते हैं, परन्तु व्यक्तिगत रागद्वेषादि से परे ही रहते हैं । साधारण बोल चाल में भी वे अत्यन्त मित भाषी होते हैं ।

श्री रामकृष्ण परमहँश जी ने अपने उपदेशों में कहा है कि जैसे दावत में लोग पापड़ पहले खाते हैं, जिसमें कुरकुराहट की आवाज खूब होती है, बाद में और चीजें खाते हैं, जिनमें आवाज कम होती हैं, और अन्त में पानी पीते हैं, जिसमें आवाज नहीं होती, उसी प्रकार प्रारम्भिक साधक की बुद्धि में तर्क बहुत रहता है, फिर कम होते हुए शान्त हो जाता है । विचार प्रवाह के धीमे होने का दृश्य लक्षण मितभाषण है । सन्तों में विचार का वेग नहीं गांभीर्य होता है । वही गम्भीरता उनकी बोलचाल में भी प्रकट होती है ।

बोलै बचन विचारि कै, लीन्हें सन्त सुझाव ।
तुलसी दुख दुर्वचन के, पन्थ देत नहिं पाँव ।।१२।।

श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि सन्त, सन्त स्वभाव धारण किए रहता है, विचार करके ही वचन बोलता है, दुख देने या दुर्वचन कहने वाले रास्ते पर कभी पैर नहीं रखता ।

तीन दोहे (छन्द सं० ११, १२ व १३) वाणी से सम्बन्ध रखते हैं। पहले सन्तों का यथार्थ भाषण और मित भाषण बता चुके, अब यहां छन्द १२ में बताते हैं कि सन्त वचन सुविचारित, सुखद और शिष्ट होते हैं ।

श्री रामचरित मानस में भक्त लक्षण है कि—

कहहिं सत्यप्रिय वचन विचारी । जागत सोवत सरन तुम्हारी ।।
(अयोध्याकाण्ड)

विचारपूर्वक बोलना मित भाषी होने का कारण भी है, प्रभाव भी ।

सन्त स्वभाव लिए हुए बोलना, अर्थात् सन्तोचित भावनाओं से ही प्रेरित होकर भाषण करना । पहले ही कह चुके हैं कि सन्त अति शीतल, अति सुखदाई होते हैं । इसलिए 'शीतल बानी सन्त की' (छन्द २१) । शीतल अर्थात् क्रोध, आमर्ष, शोक, द्वेष, ईर्ष्या आदि विकारों से रहित । इसलिए भी शीतल मान्य है कि त्रयतापहारिणी है (छन्द २१) । सन्त

की वाणी अति सुखदाई भी है क्योंकि भवदुःख की शामक है। सन्त शमदम से युक्त रहते हैं, इसलिए उनकी वाणी भी शान्ति से भरी रहती है। शान्त रस ही उनकी वाणी में प्रधान है और वह वाणी शान्ति दायक भी होती है।

सन्त विचार करके बोलते हैं क्योंकि वे वाणी का प्रभाव जानते हैं, इसलिए उसका अत्यन्त सावधानी से प्रयोग करते हैं, लापरवाही से न बोलते हैं, न लिखते हैं। साधारण जन वाणी के प्रयोग में स्वच्छन्दता बरतते हैं। न वे यह सोचते हैं कि वाणी के प्रयोग में शक्ति का काफी खर्च होता है, न वे यह सोचते हैं कि वाणी के ही प्रयोग से कितने अनर्थ मिट सकते हैं या हो सकते हैं। साधारण मनुष्य इन बातों से अनभिज्ञ और इनकी ओर से लापरवाह रहता है, इसलिए भी वह बहुत से दुःख भोगता है अथवा दूसरों को दुःख देता है।

सच्चे सन्त विरक्त तो होते हैं, परन्तु सच्चे वैराग्य का यह अर्थ नहीं है कि हम दूसरों के सुख दुःख की परवाह न करें। सज्जनता सन्त स्वभाव का आवश्यक लक्षण है, दूसरों को अपने से सुख मिले, दुख न मिले इसका सज्जन को बराबर विवेक रहता है।

वाणी के अविचारपूर्ण प्रयोग से कितनी हानि होती है, इसके उदाहरण जीवन में बहुत मिलते हैं, परन्तु अविवेकी उन पर ध्यान नहीं देते, उन उदाहरणों से कुछ सीखते नहीं। भीम ने दुर्योधन पर जो व्यंग्य किया था वह भी महाभारत का कारण था, जैसे द्रौपदी का अपमान। वाणी के कुशल व सौम्य प्रयोग से लड़ाइयां होते होते रुक गई हैं, घर टूटने से बच गए हैं, स्वार्थी भी दानादि में प्रवृत्त हुए हैं, त्रासक भी रक्षक बने हैं। साधारण दैनिक जीवन में सौम्य और मधुर वाणी का प्रयोग करने वाला बहुत बार मैत्री को ध्वंस होने से बचा लेता है और शत्रुता बनने नहीं देता। दोहा प्रसिद्ध है कि–

तुलसी मीठे वचन ते, सुख उपजत चहुँ ओर।
वशीकरण एक मन्त्र है, तज दे वचन कठोर।।
(दोहावली)

साधारण मनुष्य को यह प्रतीत नहीं होता कि चिन्तन, मनन, भाषण या लेखन में शक्ति खर्च होती है, लेकिन कौन नहीं जानता कि कमजोर मरीजो को बात करने से भी मना किया जाता है, यदि ऐसे मरीज बातचीत न करें परन्तु गणित, तत्वज्ञान, विज्ञान, ज्योतिष, राजनीति या समाज की जटिल समस्याओं पर चिन्तन करते रहें तो भी उनकी बदपरहेजी हो जायगी, और नुकसान पहुँचेगा। इसीलिए डक्टर लोग व अन्य हितेच्छु नहीं चाहते कि बीमार विद्वानों से लोग गम्भीर परामर्श करें। गहरी नींद में वाणी का प्रयोग नहीं होता तो आराम मिलता है और स्फूर्ति आती है। यदि स्वप्न चलता रहे तो उतना आराम नहीं मिलता, शक्तिक्षय होता है। तब वैसी स्फूर्ति नहीं आती। जो विचार करके बोलता है वह शक्ति के अपव्यय से बचता है।

बड़े बड़े वकीलों और डाक्टरों की, कम से कम अपने पेशे के काम में, सोच विचार करके बोलने या लिखने की आदत पड जाती है। कोई डाक्टर किसी रोगी को देखकर यदि यह समझ लेता है कि वह अच्छा नहीं हो सकता और शीघ्र ही मर जायेगा तो भी वह रोगी से ऐसी बात नहीं कहता। कभी कभी उसकें सम्बन्धियों को अपनी सम्मति बता देता है, सदैव उनसे भी नहीं बताता। अक्सर वह कुछ इस तरह की बात करता है—

रोग गहरा है, अस्पताल में प्रविष्ट कराना, अच्छा होगा। मुझे ठीक समझ में नहीं आ रहा है कि क्या इलाज हो, किसी बड़े डाक्टर को बुला लीजिये।

मरीज बहुत परहेज कर चुका, जब उससे फायदा नहीं होता तो अब जो वह माँगे खाने को दीजिए।

यदि डाक्टर आसन्न मौत की घोषणा कर दे तो रोगी की व उसके सम्बन्धियों की घबराहट बढ़ सकती है, और वह मृत्यु को और जल्दी ला सकती है। यदि डाक्टर की भयानक भविष्य वाणी किसी कारण ग़लत निकल जाय तो डाक्टर की भयानक बदनामी हो सकती है, और इसलिए डाक्टरों को सोचकर बोलना पड़ता है।

एक बच्चे का जन्म हुआ। एक प्रसिद्ध ज्योतिषी से उसकी जन्म पत्री बनाने को कहा गया। उन्होंने कहा इसकी जन्मपत्री अभी नहीं बनाएँगे, जब यह पन्द्रह सोलह वर्ष का हो जायगा तब बनाएँगे। उस आयु को पहुँचकर वह बालक मर गया। तब अनुमान हुआ कि उन्होंने जन्मपत्री क्यों नहीं बनायी थी।

शब्द चयन का महत्व और कुशल शब्द-प्रयोग का प्रभाव—इसके उदाहरण प्रशासन के क्षेत्र में और वकालत में इतने अधिक मिलते हैं कि उनका विशाल संग्रह ग्रन्थ बन सकता है। यहाँ वैसे उदाहरणों का विशेष उल्लेख उपयुक्त न होगा।

रजोगुण के प्रभाव से यह प्रवृत्ति होती है कि बात को प्रभावशाली बनाने के लिए उग्र व ओजस्वी भाषा प्रयुक्त की जाय। परन्तु जिसे सम्बोधित किया जा रहा है या जो उसका लक्ष्य है, उस पर उस शब्दावली का क्या असर पड़ेगा (अनुकूल या प्रतिकूल ?) इसका भली भाँति विचार नहीं किया जाता, क्योंकि जोश अधिक होने से होश कम हो जाता है। सन्त कभी ऐसे जोश या तैश में नहीं बोलते। शायर बहादुर शाह 'ज़फ़र' ने कहा है—

जफ़र आदमी उसको न जानियेगा, हो वो कैसा ही साहबे इल्मो वक़ा।
जिसे ऐश में यादे खुदा न रही, जिसे तैश में खौफ़े खुदा न रहा॥

'जफ़र' साहब कहते हैं कि कोई कितना ही शक्तिशाली व विद्वान हो, यदि वह वैभव विलास में पड़कर भगवान् को भूल जाता है या आवेश में आकर भगवान् का भय छोड़ देता है, तो वह इस योग्य नहीं कि मानव समझा जाय।

सन्त आवेश में नहीं बोलते, रागद्वेष रहित सम भाव में रहते हैं, किसी को शत्रु या मित्र नहीं मानते (छन्द १३), इसलिए उनकी वाणी निर्विकार रहती है। उनका विवेक जागृत रहता है और विचार-शक्ति सक्षम रूप से क्रियमाण रहती है। किस शब्द का क्या प्रभाव होगा इसे सोचकर ही वे उसका प्रयोग करते हैं।

सन्त वाणी का व्यर्थ प्रयोग नहीं करते। सही बात हो, परिमार्जित नपे तुले शब्दों में हो, उग्र भी न हो, तो भी यदि उससे काम न बनता हो, कुछ लाभ न होता हो, सुधार न होता हो, तो ऐसी बात क्यों की जाय? सन्त वाणी का सफल प्रयोग करते हैं, निष्फल (व्यर्थ) नहीं।

दूसरों के गुण दोषों का विवेचन अनावश्यक होने पर त्याज्य ही है, भगवच्चिंतन का बाधक है। श्री भागवत् माहात्म्य मे कहा है—

अन्यस्य दोष गुण चिन्तनमाशु त्यक्त्वा, सेवा कथा रसमहो नितरां पिज त्वं। (४.८०)

पराए दोष गुण का चिन्तन तुरन्त छोड़ दो, भगवत्सेवा और भगवत्कथा का रस बराबर पीते रहो।

वाणी का प्रयोग सार्थक व्यर्थ या अनर्थकारी होता है। सन्त केवल सार्थक प्रमोग करते हैं। 'सुनत मधुर परिणाम हित' ऐसी वाणी का प्रयोग हो तो करें, नहीं तो मौन रहें, या भगवान् के नाम व गुणग्राम का उच्चारण करें। मेढक की सी टर्र टर्र क्यों करें ?

जिह्वाऽसती दार्दुरिकेव सूत्त न चोपगायत्युरुगाय गाथा ॥
(श्रीमद्भागवत् २.३.२०)

जो नहिं करइ राम गुनगुाना। जीह सो दादुर जीह समाना ॥
(रा०च०मा० बालकाण्ड)

सन्त 'सबके प्रिय सबके हितकरी' होते हैं, अत: उपकारी वचन ही बोलते हैं, अपकारी वचन नहीं बोलते।

'सीयराममय' जगत् देखने वाले सन्त किसी से द्वेष, विरोध नहीं करते—

'निज प्रभुमय देखहिं जगत्, का सन करहिं विरोध ?।'
(रा०च०मा० उत्तरकाण्ड)

यह विचार सही नहीं है कि सक्षम (समर्थ) समझाने वाला हो तो सही बात किसी को भी समझाई जा सकती है। श्रीकृष्ण स्वयं दूत बनकर गए तो भी दुर्योधन उनके समझाने से न समझे।

फूलहिं फरहि न बेत, यदपि सुधा वरषहिं जलद।
मूरख हृदय न चेत, जौ गुरु मिलहिं विरंचि सम ॥
(रा०च०मा०)

विकारग्रस्त व्यक्ति की पात्रता नहीं रहती कि वह सत्य को ग्रहण कर सके। दृढ़ संस्कार केवल समझाने से नहीं बदलते। इसलिए जहां समझाना बेकार है, सन्त समझाने में प्रवृत्त नहीं होते।

सन्त जानते हैं कि होनहार के अनुरूप ही लोगों के संस्कार व आग्रह फलित होते हैं, 'हरि इच्छा भावी बलवाना' उसको उलट देने का बीड़ा सन्तों ने नहीं उठाया है। ऐसे उदाहरण तो मिलते हैं कि सन्त की महिमा से भावी भी बदल गया परन्तु जब भरत जी ने श्री वसिष्ठ जी से कहा—

सो गोसाइँ विधि गति जेहि छेकी। सकइ को टारि टेक जो टेको ॥
(अयोध्याकाण्ड)

तो श्री वसिष्ठ जी ने कहा—

तात बात फुर राम कृपाहीं। राम विमुख सिधि सपनेहु नाहीं ॥

वैसा चमत्कार भी भगवत्कृपा से ही होता है, भगवदीय शक्ति का प्रतिकार करके नहीं।

जहाँ प्रबल प्रारब्ध फलित होने वाला है, समझाने से समझ में नहीं आता, वहाँ सन्त समझाने का प्रयास नहीं करते।

मारेहु कहे न संशय जाहीं। विधि विपरीत भलाई नाहीं ॥
(श्री शंकरजी का वचन, रा०च०मा० बालकाण्ड)

ऐसे सन्दर्भ में त्रिभुवनगुरु श्री शंकर जी ने भी यही विचार स्थिर किया कि—

होइहै सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावइ शाखा ॥

जहाँ सन्तों की शक्ति से चमत्कार होता हुआ दिखाई देता है, वहाँ प्राय: लाभान्वित व्यक्ति की श्रद्धा की भूमिका रहती है, अथवा प्रभु की विशेष लीला। नहीं तो–

अवश्यम्भावि भावेषु प्रतीकारो न विद्यते।
(देवीभागवत ३.२५.३)

कह मनीस हिमवन्त सुनु, जो विधि लिखा लिलार।
देव दनुज नर नाग मुनि, कोउ न मेटनिहार।।
(रा०च०मा० बालकाण्ड)

अपात्र को उपदेश करने में अग्रहण, विकृतग्रहण, दुरुपयोग आदि की आशंका रहती है, इसलिए भी सन्त जन विचार करके ही बोलते हैं।

उपर्युक्त बातों को सोचकर तो यह मालूम होने लगता है कि इतना विचार विवेक रखकर बोलना तो सम्भव नहीं है, परन्तु जहाँ सन्त स्वभाव है, वहाँ यह सब सहज ही सध जाता है फिर दीर्घ काल के अभ्यास से दृढ़ और स्थिर हो जाता है। सन्त के लिए वही स्वाभाविक है, विपरीत आचरण अशक्य है। श्रीरामचन्द्र जी ने अंगद को रावण के पास दूत बनाकर भेजा तो उस समय भी कहा–

काजु हमार तासु हित होई। रिपु सन करेहु बतकही सोई।।

इससे युद्ध और विजय में कोई बाधा नहीं पड़ी।

प्रस्तुत दोहे में यह भी कहा है कि सन्त दुःख व दुर्वचन के रास्ते में पैर नहीं रखते। वे ऐसे वचन नहीं बोलते कि किसी को दुःख हो, दुर्वचन (अशिष्ट शब्द, अपमानजनक शब्द, गाली गलौज के शब्द, फटकार के शब्द) वे विलकुल नहीं कहते।

यह सन्त स्वभाव का ही प्रभाव है कि सन्त अपराधियों, पापियों, दुष्टों का भी मन दुःखी नहीं करना चाहते। वे श्री हनुमान् जी की भाँति

शूरबीर पराक्रमी हो सकते हैं, परन्तु कर्तव्य पालन के अतिरिक्त, कठोर वचन या ठूस बोलकर किसी का चित्त दुःखी नहीं करते।

वे 'अनुद्वेगकरं वाक्यं' (गीता १७.१५) का प्रयोग करते हैं, ऐसा बोलते हैं कि किसी को उत्तेजना न हो, न शोक उमड़े, न क्रोध आवे, न चित्त में कोई आवेश उठे।

यस्मान्नोद्विजते लोको, लोकोन्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्ष भयोद्वेगै र्मुक्तो यः स च में प्रियः॥
(गीता १२.१५)

सन्त को न जगत् उत्तेजना दे पाता है, न उसकी वाणी से उत्तेजना प्राप्त कर पाता है।

जो जिस वस्तु का व्यापारी है, वह वही वस्तु रखता है, उसकी विरोधी वस्तु नहीं रखता। वैसा करना उसके व्यापार का साधक नहीं बाधक होता है। सन्त विकार, निवारण, समता, शान्ति, मोक्ष के व्यापारी हैं। इसलिए यदि उन्हीं से, उन्हीं के वचनों, से उद्वेग, शोक, क्रोध आदि प्राप्त है, तो यह उनके व्यापार (कार्य) के विपरीत होगा। दूसरों से उत्तेजक व्यवहार प्राप्त होने पर भी सन्त उत्तेजित नहीं होते और अपनी ओर से उत्तेजना देते नहीं। यही शमदम का उत्तम प्रचार है।

किसी प्रकार का दुर्वचन भी सन्त नहीं कहते। दुर्वचन क्रोध, शोक, मोह, आदि किसी विकार के प्रभाव में ही कहे जाते हैं। अथवा कुछ लोग प्रमाद में अभ्यासवश भी दुर्वचन कहते हैं। आजकल तो यह भी देखा गया है कि घनिष्ठ मित्र भी आपस में गाली गलौज से बात करते हैं और बुरा नहीं मानते। परन्तु सन्त हल्के दिल से, हँसी मजाक के बहाने

या अभ्यास वश भी अश्लील शब्द या अपशब्द नहीं कहते। वे दुर्वचन के मार्ग में पैर ही नहीं रखते तो उन्हें दुर्वचन का अभ्यास कैसे हो सकता है ?

यहाँ सन्त के स्वाभाविक आचरण व सम्भाषण का वर्णन है। अपवाद स्वरूप कभी कभी सन्त अपने को छिपाने, अपने यश को घटाने या मिटाने अथवा लोगों की भीड़ भाड़ को न जमने देने के लिए, अपने स्वभाव के विपरीत आचरण करते या भाषण करते देखे गए हैं। यह उनका ऊपरी स्वाँग सा होता है, सच्चे श्रद्धालु साधकों के प्रति वे सच्चे सन्त के रूप में ही बरतते दिखाई देते हैं।

'मुस्लिम सन्तों के चरित' (फ़ारसी में तज्कर्तुल् औलिया नामक मूल पुस्तक का हिन्दी रूपान्तर), की एक कथा है। एक भक्त के पास एक अति सुन्दरी दासी थी। उन्हें कई मास के लिए बाहर जाना था अतः उन्होंने अपने एक विश्वस्त मित्र, भगवद्भक्त, की सिपुर्दगी में उसे रख दिया और चले गए। ये भक्त पथ भ्रष्ट तो नहीं हुए, परन्तु उन्हें ध्यान में विक्षेप हुआ क्योंकि दासी का सौन्दर्य ध्यान में आ जाता था। विक्षेप दूर करने के लिए उन्होंने अपने अन्य भक्त मित्रों से सलाह ली पर विक्षेप-शमन न हो सका। तब एक सज्जन ने उन्हें सम्मति दी कि आप अमुक सन्त से मिलें जो काफी दूर पर अमुक शहर में रहते हैं। वे बताये पते पर गये। वहाँ लोगों ने कहा—इस नाम का आदमी तो इस पते पर रहता है पर वह तो बड़ा दुष्ट है, आप उसे सन्त कहते हैं। सभी के ऐसा कहने पर वे सन्देह में आ गए और लौट गए। परन्तु सम्मतिदाता सज्जन ने उन्हें फिर भेजा और कहा कि आप उनसे सीधे मिलें, उनके बारे में लोगों की राय न सुनें। वे पुनः गए और उन सन्त से मिले। उन्हें उनके पास एक शराब की बोतल रक्खी मिली और एक टूटा सा शराब का प्याला। मारे अदब के वे इसके बारे में कुछ

न पूछ सके। अपनी समस्या बताई और उसका सन्तोषजनक समाधान सन्त से प्राप्त किया। अन्त में चलते चलते उन्होंने पूछ ही दिया। 'आप यह बोतल और प्याला रखते हैं? क्यों? 'सन्त ने कहा' 'यह शराब की बोतल थी, अब इस खाली बोतल में पानी रखता हूँ और पीता हूँ, आपको कोई एतराज है? इसी तरह इस टूटे प्याले से खप्पर का कांम निकालता हूँ, इसी में भोजन करता हूँ। भक्त ने कहा, 'महाराज, ऐसी बातों से आपकी बड़ी बदनामी है, सब आपकी निन्दा करते हैं।' सन्त ने कहा, 'इससे मेरा क्या हर्ज है। इसमें मेरी रक्षा है। आपको सब बहुत अच्छा समझते हैं, इसी से तो आपके मित्र ने अपनी सुन्दरी दासी आपका यहाँ पहुँचा दी और आपको विक्षेप हुआ! मुझे सब अति दुष्ट समझते हैं, तो मेरे यहाँ तो कोई अपनी सुन्दरी दासी नहीं पहुँचाएगा।' भक्त यह सुनकर अवाक् रह गए और चुपचाप लौट आए।

अपवाद स्वरूप ऊपरी दिखावटी व्यवहार अविचारणीय है। सन्त का स्वाभाविक आचरण शिष्ट, सुखद, उपकारी, हितकर, मृदु होता है और वाणी सुविचारित, सुखद, हितकर और मर्यादापूर्ण होती है। इसी में लोक संग्रह है।

शत्रु न काहू करि गनै, मित्र गनै नहिं काहि।
तुलसी यह मत सन्त को, बोलै समता माहिं ॥१३॥

श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि सन्तों का सिद्धान्त यह है कि वे समता का भाव रखते हुए ही बोलते हैं, न किसी को शत्रु समझते हैं, न मित्र मानते हैं।

सन्तों में समत्व दृष्टि रहती है, रागद्वेष से रहित होते हैं, स्वपक्ष, परपक्ष, शत्रु, मित्र आदि द्वन्द्वों से अलग होकर ही बोलते हैं, इसी लक्षण को यहाँ प्रमुख रूप से अंकित किया गया है।

सन्त इसी संसार में रहते हैं, परन्तु निर्लेप रहते हैं, कोई कोई सन्त लौकिक व्यवहार से अलग वन, पर्वत या तीर्थ में सन्यासपूर्वक रहते हैं, कोई गृहादि या मठादि के व्यवहार से युक्त रहते हैं, परन्तु व्यवहार में रहकर भी उससे निर्लिप्त रहते हैं। इसीलिए यह कहा गया है कि पद्मपत्रमिवाम्भसा (गीता ५.१०) 'पद्म पत्र जिमि जग जल जाए।' (रा०च०मा०)

सन्त उसी तरह संसार में रहते हैं, जैसे जल में कमल। जगत् में त्यागी सन्तों के भी विरोधी, शत्रु, प्रतिरोधी, अश्रद्धालु, निन्दक आदि होते हैं; केवल श्रद्धालु, सेवक, भक्त, शिष्य आदि होते हैं, ऐसा नहीं है। साधारण दृष्टि से जब अनुकूल प्रतिकूल लोग मिलेंगे और उनका

सुखद और दुखद व्यवहार होगा तब स्वपक्ष, परपक्ष बन जाना स्वाभाविक है और मित्र शत्रु दृष्टि भी बनेगी। तब मित्र से सौहार्दपूर्ण वार्ता होना और विपक्षी से तटस्थ भाव से या विरोध भाव से बातचीत होना भी स्वाभाविक हैं। संसार के व्यवहार को सत्य और महत्वपूर्ण मानकर चलने से ऐसा ही होगा। परन्तु सन्त की भूमिका ही भिन्न होती है। भावभेद से भाषाभेद और व्यवहार भेद भी होता है।

सन्तों की यह धारणा होती है कि अन्य जीव केवल कर्मफल के वाहक हैं, असली दाता नहीं है।

काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोग सब भ्राता॥
योग वियोग भोग भल मन्दा। हित अमहित मध्यम भ्रम फन्दा॥
जनम मरन जहँ लगि जग जालू। सम्पत्ति विपति करम अरु कालू॥
धरनि धाम धन पुर परिवारू। सरग नरक जहँ लगि व्यवहारु॥
देखिय सुनिय गुनिय मन माहीं। मोह मूल परमारथु नाहीं॥

सपने होइ भिखारि नृप, रंक नाकपति होइ।
जागे हानि न लाभ कछु, त्रिमि प्रपंचु जिय जोइ॥
अस विचारि नहिं कीजिय रोसू। काहुहि वादि न देइय दोसू॥
(रा०च०मा० अयोध्याकाण्ड ९२)

इसी प्रकार श्री वसिष्ठ जी का वचन है—

'हानि लाभ जीवन मरन, जस अपजस विधि हाथ।'
(अयोध्याकाण्ड)

अपना मन ही संकल्प का कारण है, संकल्प राग द्वेष का कारण है, राग द्वेष सकाम कर्म का कारण है, पुण्य पाप कर्म सुख दु:ख का कारण है,। अत: मन ही अपने सुख दु:ख का कारण है, 'मन: परम कारणमामनन्ति' (श्रीमद्भागवत ११.२३.४३)।

प्रारब्ध वशात् कभी सुहृदों से भी दु:ख मिल जाता है—

मातु मृत्यु पितु शमन समाना । सुधा होइ विष सुनु हरियाना ।।
सब जग ताहि अनल ते ताता । जो रघुबीर विमुख सुनु भ्राता ।।
(रा०च०मा०)

यदि भगवत्कृपा से प्रारब्ध का अनुकूल प्रभाव हुआ तो—

गरल सुधा रिपु करै मिताई । गोपद सिन्धु अनल सितलाई ।।
गरुअ समेरु रेणु सम ताही । राम कृपा करि चितवा जाही ।।

प्रारब्ध वशात् अशुभ के बजाय शुभ मिल जाता है या शुभ मिलते मिलते अशुभ हो जाता है । श्री रामचन्द्रजी को राजतिलक के स्थान पर बनवास मिला । संस्कृत में एक श्लोक है (रामायण का नहीं है) उसमें श्री राम कहते है—

यच्चिन्तितं मया दूरतरं प्रयाति, नो चिन्तितं च मनसा तदिहाभ्युपैति ।
प्रातर्भवामि भुवनेश्वर चक्रवर्ती, सोऽहं व्रजामि विपिने जटिलस्तपस्वी ।।

श्री शंकर जी को 'कालकूट फल दीन्ह अमी को' (रा०च०मा०)

अजर अमर भए अँचइ हलाहलु ।' (विनय पत्रिका) इसी प्रकार प्रह्लाद जी ने कहा है—

राम नाम जपतां कुतोभयं, सर्वतापशमनैक भेषजं ।
पश्य तात मन गात्र संन्निधौ, पावकोऽपि सलिलायतेऽधुना ।।

प्रह्लाद के लिए आग भी ठंढी हो गई । मीरा के लिए, 'जहर का प्याला राणा भेजा, अमृत कर पी जाणा ।' (मीरा का पद) भक्त चन्द्रहास की कथा है कि उन्हीं के हाथों एक पत्र भेजा गया जिसमें पाने

वाले को लिखा गया कि 'इन्हें विष दे दिया जाय'। भक्त जी ने पत्र पढ़ा नहीं, पोथी में रख लिया। परन्तु मार्ग में किसी के यहाँ ठहरे, उसने पत्र पढ़ लिया। वह भावी अनर्थ से आशंकित हुआ। भक्त जी से कुछ नहीं कहा। पत्र में चुपचाप विष के आगे या बढ़ा दिया। विषया/~स्त्री। फलत: श्री चन्द्रहास जी का विवाह कर दिया गया।

भाग्य का परिपाक अत्यन्त रहस्यमय ढंग से होता है। उससे दुर्योधन, हिटलर आदि को भी चकित रह जाना पड़ता है। कभी कभी प्रारब्ध से वचने के लिए जो उपाय किया जाता है वही प्रारब्ध के फलित होने में सहायक होता है। भोज प्रबन्ध नामक एक संस्कृत ग्रन्थ में कथा है कि भोज के चाचा मुञ्ज राजा थे। ज्योतिषी ने भविष्यवाणी की कि शीघ्र ही भोज राजा हो जायगा। मुञ्ज को आशंका हुई कि मैं या तो शीघ्र ही मर जाऊँगा या गद्दी से उतारा जाऊँगा। उसने भोज को मरवा देना चाहा। भोज मारा नहीं गया परन्तु मुञ्ज को उसके मरने का समाचार दे दिया गया और उसका कृत्रिम शिर भी (कलाकार से बनवाकर) प्रस्तुत कर दिया गया। भोज का लिखा हुआ एक मर्मस्पर्शी श्लोक भी मुञ्ज को दिया गया। अब मुञ्ज ग्लानि को प्राप्त हुआ और प्रायश्चित स्वरूप आग में जल जाने को तैयार हुआ। होशियारी से एक तान्त्रिक क्रिया की आड़ लेकर भोज को पुनर्जीवित वताकर पेश कर दिया गया। मुञ्ज उसे स्वयं तुरन्त राज्य देकर वन को चले गए।

भाग्य परिपाक की प्रक्रिया अत्यन्त रहस्यमय है।

डाकिया विवाह-निमन्त्रण लाए तो भी आपका मित्र नहीं सिद्ध होता, मृत्यु का संवाद लाए तो भी शत्रु नहीं माना जा सकता। इसलिए 'निज कृत करम भोग सब भ्राता' के दृढ़ भाव से सन्त सुख दुःख समान

भाव से सहते हैं। कर्मफल भगवान् का दिया हुआ प्रसाद मानकर सन्त स्वीकार करते हैं। उसका निरादर नहीं करते।

उसने कहा तू कौन है ? मैंने कहा बन्दा[1] तेरा।
उसने कहा क्या काम है ? मैंने कहा खिदमत[2] तेरी।
उसने कहा किससे गिला[3] ? मैने कहा किस्सत[4] से ही।
उसने कहा किस्मत है क्या ? मैने कहा मर्ज़ी[5] तेरी॥

(१) सेवक (२) सेवा (३) शिकायत (४) भाग्य (५) इच्छा
जब भाग्य प्रभु की इच्छा है, तो शरणागत को शिकायत कैसी ?

लखनऊ में जहाँ बड़ा इमामबाड़ा बना है, वहाँ कहा जाता है कि इमामबाड़ा बनने से कुछ पहले एक सन्त आकर टिक गए। उनका नाम श्री गोमतीदास जी था। उमसे प्रार्थना की गई कि 'यहाँ इमामबाड़ा बनना है। आप कहीं और बिराजैं।' तो वे ठाकुरगंज क्षेत्र में चले गए। इमामबाड़ा बन जाने पर नवाब साहब ने उन्हें सादर दरबार में बुलाया। उन्होंने कहा 'मेरी तबियत ठीक नहीं है, मैं नहीं आ पाऊँगा।' इस पर नवाब (आसफुद्दौला) उन्हें सूचना देकर स्वयं उनसे मिलने गए। उन्होंने महात्मा जी को बैठे पाया। थोड़ी दूर पर एक कम्बल पड़ा काँप रहा था। नवाब साहब ने पूछा, यह क्या है ?' महात्मा ने उत्तर दिया, मैंने सोचा कि आप नवाब होकर मिलने आ रहे हैं, जूड़ी के कारण आपसे से ठीक से बात तक न कर पाऊँगा, इसलिए थोड़े समय के लिए जूड़ी को बाहर कर दिया है, वह कम्बल में कैद है। जब आप चले जायेंगे तो मैं कम्बल फिर ओढ़ लूंगा, जूड़ी फिर आ जायगी।" नवाब साहब ने कहा, 'जब आपने जूड़ी को बाहर कर दिया, तो उसे फिर क्यों स्वीकार करेंगे ?' महात्मा जी ने कहा, "भगवान् का दिया हुआ कर्मभोग है, उसका निरादर नहीं करूँगा। स्वीकार करूँगा।

श्री अयोध्या जी में एक महान् सन्त 'श्री रूपकला जी' रहते थे। एक बार वे ज्वर से पीड़ित थे, चुपचाप पड़े थे। उनके कुछ सेवक पास में थे। वे बोले, 'महाराज, आप चुपचाप पड़े हैं तो आपके कष्ट का अनुमान नहीं होता। कुछ कराहें तो अनुमान हो। श्री रूपकला जी ने कहा, 'सन्त ब्याज नहीं देते, मूल मात्र चुका देते हैं।' सेवकों ने कहा, हम लोग इसका मतलब नहीं समझे।' सन्त ने कहा, 'कर्मभोग है, प्रारब्ध वश ज्वर आया उसे भोग डालेंगे, भुगतान हो जायगा, व्याकुल हों, कराहें, कलहें, तो उतना ब्याज और भुगतान करें। सन्त व्याज नहीं देते। 'श्री रूपकला जी' (डिप्टी साहब) की जीवनी में यह घटना अंकित है। सुख दुःख समान होने पर शत्रु मित्र भी अमान्य होंगे। समत्व भाव ही रहेगा।

सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं। दोउ सम धीर धरहिं मन माहीं॥

श्री गीता जी में भी सुख दुखदाई क्षणिक विषय भोगों को सहने की सलाह दी गई है (गीता २.१४)। सन्त, हर्ष, द्वेष, शोक, स्पृहा आदि नहीं करते (गीता १२ १७), शत्रु, मित्र, मान, अपमान में समान रहते हैं (१२,१८)। यही सिद्ध भक्त का स्वरूप है। श्री प्रह्लाद जी ने भी कहा है—समत्वमाराधनमच्युतस्य (श्रीमद्भागवत) (समत्व ही भगवान् की पूजा है।) प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विऽम्बनम् (श्रीमद्भागवत ७.७.५२) भगवान् निर्मल प्रेम से प्रसन्न होता है, बाकी सब ढोंग है।

सर्वत्र भगवद्दृष्टि होने से भी सन्त शत्रु मित्र नहीं गिनते (नहीं मानते)–

उमा जे रामचरण रत, विगत काम मद क्रोध।
निज प्रभुमय देखहिं जगत, का सन करहिं विरोध॥

सन्त विरोध करने वालों से भी विरोध नहीं करते, शत्रुता करने वालों से भी शत्रुता नहीं करते, इसलिए समता ही उनका भाव है।

सामाजिक सम्बन्धों के सन्दर्भ में भी इस दोहे का अर्थ ग्रहण करना चाहिए। समाज में समता और ममता की लड़ाई है। साधारण मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह समाज का सहारा चाहता है। समाज की सहायता के बिना उसका काम नहीं चलता। अतः वह अपना छोटा सा सहयोग क्षेत्र बनाता है। इस क्षेत्र में अपनापन यानी ममत्व रहता है। बाहर वालों में बिरानापन रहता है। परिवार एक ऐसा ही क्षेत्र है, परन्तु कालक्रम से अन्यान्य क्षेत्र भी इसी तरह के बनते हैं। यद्यपि ऐसे क्षेत्रों का बनना बन्द नहीं किया जा सकता परन्तु यदि यह दृढ़ता से कुछ मर्यादाओं का पालन करें तभी सभ्य समाज के पोषक हैं, अन्यथा सुमर्यादित न होने पर ममता क्षेत्र आपस में टकराते हैं, और समता के विध्वंसक बनते हैं। इससे सभ्य समाज का विघटन होने लगता है।

ग्रीक दार्शनिक अरस्तू ने कहा था कि मनुष्य सामाजिक प्राणी है। जो इतना विकसित है कि समाज की उसे आवश्यकता नहीं, वह देवकोटि में है, और जो समाज के योग्य नहीं वह पशु कोटि में है। मानव कोटि वालों को समाज की आवश्यकता है, ममता की भी आवश्यकता है। परन्तु ममता, समता की विरोधिनी है। अतः ममता क्षेत्रों की टक्कर होने पर राज्य कानून के द्वारा हस्तक्षेप करता है। इसका प्रभाव और बल सीमित है। क्योंकि राजा या शासक और प्रशासक समता के सच्चे सिपाही नहीं हो सकते। वे स्वयं ममतावश हैं। सम्पन्न और विलासमय जीवन होने पर तो उनमें यह कमजोरी मामूली आदमी से कहीं अधिक भी होती है। इसलिए वे ममता के संकीर्ण और घातक प्रभाव को नियन्त्रित कर सकते हैं, एकदम रोक नहीं सकते, मिटा नहीं सकते। नियन्त्रण भी तभी पूरा तेजस्वी होगा जब अपनी ममता नियन्त्रित हो,

या हो ही नहीं। इसलिए सभ्य समाज का ठीक अभ्युदय वही राजा कर सकता है जो स्वयं ममता से परे हो। इसीलिए राजर्षि का आदर्श था। आदर्श राजा ऋषिवत् होगा, विलासी नहीं। 'इयं राजर्षयो विदुः' (गीता ४.२)। अयोध्यावासियों की तारीफ़ में कहा गया—'गुणातीत अरु भोग पुरन्दर।' (रा०च०मा० उत्तरकाण्ड)।

राज्य शक्ति जिस तरह काम करती है, उसमें स्वपक्ष, परपक्ष, मित्र, शत्रु बनते हैं। फिर निष्पक्षता नहीं निभती। वहआदर्श छूट जाता है कि 'शत्रोरपि गुणा वाच्या।' इसलिए वर्ग विहीन पक्षमुक्त समाज बनाने में राज्य शक्ति अक्षम है। रजोगुण प्रभावित क्षेत्र में राग द्वेष रहेंगे ही और मित्र शत्रु दृष्टि भी बनेगी। सतोगुण में 'मैत्री करुणा मुदिता उपेक्षा' यह चार वृत्तियाँ ही रहती हैं। द्वेष, शत्रुता आदि के भाव नहीं रहते। सतोगुण में मैत्री भाव रह सकता है। मैत्री, करुणा और मुदिता यह दूसरों के लिए अनुकूल वृत्तियाँ हैं। प्रतिकूल आचरण की प्रतिक्रिया में द्वेष का भाव उठता है, वह सतोगुणी हृदय में नहीं उठता। वहाँ प्रतिकूल व्यवहार की उपेक्षा मात्र होती है।

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि मैत्री भाव सतोगुणी में रहता है, परन्तु यहाँ तो उसका भी निषेध हो गया, 'मित्र गनै नहि काहि' कह दिया।

सन्त के व्यवहार में मैत्री भाव दिखाई पड़ सकता है, परन्तु वह साधारण अर्थ में मैत्री नहीं है। गीता में 'मैत्रः करुण एव च' कहा है परन्तु 'निर्ममो' भी वहीं कह दिया। जहाँ ममता नहीं वह मैत्री साधारण तो नहीं है। दूसरे, जहाँ ममता नहीं है, वहाँ समता है, मैत्री भी है तो सबके साथ है, यह मैत्री शत्रु मित्र वाले द्वन्द्व से अलग है।

जहाँ ममता है वहाँ विरोधी वस्तु या व्यक्ति से द्वेष भी है। इसलिए सिर्फ मैत्री व करुणा है या ममता है और विरोधी के प्रति द्वेष है, यह देखना होगा। सन्त की मैत्री या करुणा सबके लिए है, परन्तु किसी से भी परपक्ष नहीं बनता, द्वेष नहीं होता। द्वेष का न होना ही सिद्ध करता है कि मैत्री करुणा प्रेरित है, शुद्ध और व्यापक है–

सबके प्रिय सबके हितकारी। सुख दुख सरिस प्रशंसा गारी॥

इसीलिए श्री गीताजी में 'अद्वेष्टा' यह प्रथम लक्षण माना गया (१२,१३)। निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव (११.५५)। 'सबके प्रिय सबके हितकारी' होने से सन्त सबके मित्र हैं, परन्तु 'सुख दुःख सरिस प्रशंसा गारी' होने पर ही सबके प्रति मैत्री भाव निभेगा नहीं तो शत्रु भाव उदय हो जावगा।

जो सतोगुणी है उसमें चार वृत्तियाँ उदय होती हैं, 'निज प्रभु मय' जगत् देखने पर तो उक्त चार वृत्तियों का भी क्षेत्र नहीं है। इसीलिए सब कुछ भगवत् स्वरूप देखने वाले को श्रीमद्भागवत में उत्तम भक्त कहा है और 'प्रेम मैत्री कृपोपेक्षा' (११.२.४६) करने वाले को मध्यम कोटि का भक्त माना है। गुणातीत सन्त के मन में व वाणी में शत्रु मित्र भाव होता ही नहीं। 'समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।' (गीता १२ १८)

शत्रु मित्र भाव न रखना, समता भाव की वाणी में व्याप्ति, यह सन्त का मत है, सबका नहीं, सन्त की नीति है, सबकी नहीं।

साधारण व्यक्ति जिसमें व्यवहार की प्रेरणा है, रजोगुण का प्रभाव है, क्षात्र तेज है, या क्रान्तिकारी जोश है, प्रतिकार को आवश्यक मानता है, धर्मयुद्ध (या जेहाद) को आवश्यक मानता है (गीता २.३१)

सन्त मत को ठीक नहीं मानता, क्योंकि वह अन्याय को, अनीति को, अधर्म को, बढ़ने देता है। उसकी भूमिका में, उसकी दृष्टि में, यह बात ठीक भी है। परन्तु विशुद्ध धर्मयुद्ध (या इस्लाम के अन्तर्गत जेहाद) रागद्वेषादि से अलग ही होता है। 'सुख दुःख हानि लाभ, विजय पराजय में समदृष्टि रखकर युद्ध करो, इस तरह पाप नहीं लगेगा।' (गीता २.३८) यदि यह विशुद्ध भाव बिगड़ गया तो फिर राग द्वेष बढ़ेगा ही। फिर यह भाव भी आ ही जायगा कि 'शठे: शाठ्यम् सभाचरेत्' दुष्ट के प्रति दुष्टता करो परन्तु दुष्ट के प्रति दुष्टता करने वाला व्यक्ति जिससे भी नाराज हुआ उसे दुष्ट ही मानेगा और उसके साथ दुष्टता करेगा। फिर वह स्वय दुष्टता की भूमिका में चला जायगा और दुष्ट बन जायगा और मान लिया जायगा। ऐसी स्थिति में संघर्ष में कोई भी विजयी हो दुष्टता ही प्रबल रहेगी। दुष्टराज्य ही बनेगा, धर्मराज्य कभी नही।

कविवर भारवि के महाकाव्य किरातार्जुनीयम् में वनवासी युधिष्ठिर को ग्रन्थ के आरम्भ में ही राय दी गई कि वे धर्म पालन के चक्कर में दुर्योधन को अपने राज्य को दृढ़ करने के लिए बारह वर्ष का समय न दें, उसे शीघ्र अपदस्थ करने का यत्न करें। इस विषय में वह प्रसिद्ध उक्ति कही गई—

व्रजन्ति ते मूढधिय: पराभवं, भवन्ति मायाविषु ये न मायिन:।

'वे मूर्ख परभाव को प्राप्त हो जाते हैं, जो मायावी लोगों से भी मायावी बनकर व्यवहार नही करते।' परन्तु धर्मराज युधिष्ठिर ने यह बात स्वीकार नही की।

जगत् के व्यवहार के वैर विरोध पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सोचने से यह सिद्ध होता हैं कि जैसे (कहावत के अनुसार) खरबूजे को देखकर

खरबूज़ा रंग पकड़ता है, उसी तरह एक दूसरे का विरोध, क्रोध, वैर देखकर सबका वैर बढ़ता है। महात्मा बुद्ध का उपदेश है—

'न हि वैरेण वैराणि शमन्तीध कदाचन।'

वैर से वैर कभी शान्त नही होता।

युद्ध से यही हो सकता है कि कोई सत्तारुढ़ अन्यायी दल सत्ता से हट जाय, परन्तु यदि विजय भी इस बात पर निर्भर हो कि अधिक कुशलता से दुष्टता कौन कर पाता है, तो फिर किसी की विजय हो दुष्टता तो सत्तारुढ़ रहेगी ही। इसलिए दार्शनिक दृष्टि से निष्पाप, निर्वैर, समाज रचना राज्य शक्ति के प्रयोग से सम्भव नही है। राज्य शक्ति के लिए युद्धादि में प्रवृत्त होना आवश्यक हो सकता है। परन्तु श्री गीता जी में निर्वैर भाव से ही युद्ध करने की प्रेरणा दी गई है। ऐसे युद्ध से मनोवैज्ञानिक दुष्चक्र प्रवृत्त नही होगा, दुष्टता दृढ़ नहीं होगी। बहुधा समझा जाता है कि निर्विकार चित्त से युद्ध करना सम्भव नहीं है। इस विवाद का विवेचन यहाँ प्रासंगिक न होगा। इतना याद रखना पर्याप्त होगा कि श्री कृष्ण ने विषादयुक्त अर्जुन को युद्ध में प्रवृत्त और उत्साहित करने के लिए उसका मोह दूर किया, शराब नही पिलाई। यह भी स्पष्ट है कि विकार सम्बन्धी आवेग एक से स्थिर नहीं रहते, सुख दुःखादि में स्थिर, एकरस, जीवन भर चलने वाला उत्साह अध्यात्म प्रेरित ही हो सकता है, विकार प्रेरित नही हो सकता।

जो सन्त मन वचन में नितान्त द्वेष रहित है उसके व्यवहार से किसी के द्वेष भाव को पोषण नहीं मिलता। 'अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर त्यागः। (योगसूत्र २,३५) अहिंसा सिद्ध हो जाने पर उसकी निकटता से वैर छूट जाता है। बुद्ध के अनुसार अवैर से ही

वैर शान्त होता है। समाज में रागद्वेष की जो बाढ़ आई हुई है वह सन्त नीति से ही उतर सकती है, संघर्ष नीति से नहीं।

इसलिए सन्त की नीति को दूर से ही कायरतापूर्ण, पलायनवादी, अशक्य या अनिष्टकारी समझना अविवेकपूर्ण है। समाज के नैतिक उन्नयन के लिए तपस्या बलवती या फलवती है, न कि राज्य सत्ता। परन्तु अपराध निरोध आदि में सक्षम होने पर राज्य शक्ति तपः शक्ति की, प्रकारान्तर से, सहायक हो सकती है।

> सूर सती होना सहज, घरी पहर को काम।
> साधू होना कठिन है, निसि दिन आठौ याम।।
> अयं निजः परो वेत्ति गणना लघु चेतसाम्।
> उदार चरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्।।

सन्त अपना पराया भाव नहीं रखते, वे उदार चरित हैं, सारा संसार उनका परिवार है। इसका प्रभाव यह होता है कि सारा समाज, सारा संसार, उन्हें अपना समझता है। इस तरह समाज में एकता और समता के भाव दृढ़ होते हैं। यही उद्धार या उन्नयन की असली और उत्तम प्रेरणा है। यह सन्तों की नीति का सामाजिक पक्ष है।

सन्तों के साथ से लोक परलोक दोनों सुधरते हैं, यह आवश्यकता नहीं होती कि इस लोक का बलिदान करके परलोक को सँवारा जाय, परन्तु आसक्ति तो छोड़नी पड़ेगी और जगत् (ख़ल्क) से जगत्पति (ख़ालिक) को श्रेष्ठ मानकर और जानकर उपासना तो करनी ही पड़ेगी।

भगवान से अभिन्न हो जाने पर ही सन्तों की तपस्या सहज और सफल होती है और जीवों के लिए उद्धारकारी होती है।

अति अनन्य गति इन्द्री जीता ।
जाको हरि बिनु कतहु न चीता ।।
मग तृष्णा सम जग जिय जानी ।
तुलसी ताहि सन्त पहिचानी ।।१४।।

जो भगवान् का अति अनन्य भक्त है, जिसने इन्द्रियों पर विजय प्राप्त की है, जिसका चित्त भगवान् में ही रहता है और कहीं नहीं जाता जो संसार को मृग तृष्णा के समान समझता है, श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि उसे सन्त पहचानना चाहिए ।

श्री गोस्वामी जी महाराज सन्त दशा के उत्तरोत्तर उच्चतर सोपानों का वर्णन करते जाते हैं ।'शम दम राम भजन अधिकाई' पहले ही कह चुके हैं । अब यहाँ कहा कि शम किस श्रेणी का है । अत्यन्त अनन्य भाव से चित्त भगवान् में लगा रहता है और कहीं नहीं जाता, यह चित्त की दशा है । चित्त शान्ति के रस में डूबा रहता है, यह समता की पुष्ट भूमिका है, शम की प्रतिष्ठा । सन्त अत्यन्त इन्द्रियजित् होते हैं, साधारण इन्द्रिय-निग्रही नहीं । इन्द्रियों की जो विषयाभिमुख प्रवृत्ति है, वह साधक की शत्रु है । विषयासक्ति पर नियन्त्रण हो सकना, उसे मर्यादित कर सकना, एक सोपान है, जैसे दुश्मन की बढ़ती हुई फौज को रोक देना । जब शत्रु सेना अवरुद्ध हो जाय, घिर जाय, मनमानी प्रगति न कर सके, मनमाने उत्पात न मचा सके तो वह निग्रहीत हुई । यह विजय का एक सोपान है । कुछ या सभी मोर्चों पर ऐसा निग्रह हो जाने

पर भी युद्ध समाप्त नहीं होता। शत्रु सेना घेराबन्दी को समाप्त कर निकल पड़ने का प्रयास भी करती रहती है। यही हाल इन्द्रियों का है। जब शत्रु सेना हार मान जाय, हथियार डाल दे, युद्ध बन्द हो जाय तब विजय है। इसी प्रकार जब इन्द्रियों की विषयासक्ति क्षीण हो जाय, उनमें यह शक्ति न रहे कि साधक को विषयों की ओर आकृष्ट और प्रवृत्त कर सकें, तब इन्द्रिय विजय हुई। हारा हुआ शत्रु भी उपेक्षणीय नहीं है, उससे भी सावधान रहना पड़ता है, क्योंकि वह घात में रह सकता है। जब इसका भी कोई भय न रहे तब पुष्ट विजय मानी जा सकती है। जैसे श्रीराम जी का वाक्य है कि—

मोहि अतिशय प्रतीति जिय केरी। जेहि सपनेहु परनारि न हेरी ।।
(बालकाण्ड)

वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।
(गीता २.६१)

'जिसकी इन्द्रियाँ बस में हैं, उसी की प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है।' चंचल प्रज्ञा वाला भगवान की अनन्य भाव से भक्ति नहीं कर सकता, स्थिर प्रज्ञा वाला ही अनन्य भक्त हो सकता है।

दसइँ दसहु कर संयम जो न करहु हित मानि।
साधन वृथा होंहि सब, मिलैं न सारँग पानि ।।
(विनय पत्रिका)

दशों इन्द्रियों का पूर्ण संयम आवश्यक है।

भजन और इन्द्रिय संयम एक दूसरे के सहायक और पूरक हैं। जो पाप में रत है वह भजन में प्रवृत्त नहीं होता—

पापवन्त कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ।।

येषां त्वन्त गतं पापं जनानां पुण्य कर्मणाम्।
ते द्वद्व मोह निर्मुक्ता भजन्ते मां दृढ़व्रता:।।
(गीता ७.२८)

'जिन पुण्यात्माओं के पाप समाप्त हो गए हैं वे द्वन्द्व व मोह से छूट कर, दृढ़व्रत से मेरा भजन करते हैं।' अनन्य भक्ति इसी तरह होती है।

साथ ही साथ यह भी सत्य है कि भजन करने से पाप की निवृत्ति और अन्त:करण की शुद्धि होती है। भक्त्या प्रक्षाल्यते चेत:' श्रीशंकराचार्य (भक्ति से चित्त धोया जाता है)।

रघुपति भगति वारि छालित चित बिनु प्रयास ही सूझै।
तुलसिदास प्रभु चिद विलास जग बूझत-बूझत बूझै।।
(वि०प०)

सब पुण्य कर्मियों की भगवान में प्रवृत्ति नहीं होती। सकाम पुण्य कर्म सांसारिक वैभव, विलास दे सकता है, परन्तु निष्काम कर्म या भगवदर्थ कर्म, फलासक्ति से रहित कर्म ही भक्ति में सहायक है। पुण्य करके अभिमान करने वाला व्यक्ति भक्ति भाव के प्रतिकूल है, किए हुए पाप की ग्लानि करने वाला भक्ति भाव के अनुकूल है। कभी कभी सन्त के संग से पापमय जीवन से खिन्नता आती है और अनन्य भक्ति की प्रेरणा होती है, इससे पुरुष शीघ्र ही निष्पाप व धर्मात्मा हो जाता है। (गीता ९.३१) पुण्यमय जीवन भक्ति का सहायक हो सकता है और भक्ति भी चित्त शुद्धि का कारण है। दोनों परस्पर सहायक और पूरक हैं।

यह बात सही नहीं है कि आचरणों (के पापों और पुण्यों) की परवाह न करके भक्ति करनी चाहिए, आचरण तो फिर अपने आप ठीक हो जायेंगे। अपना पाप भजन में बाधक है, इसलिए उसकी उपेक्षा नहीं की जानी चाहिए। परन्तु पाप निवृत्ति, शुद्ध भक्ति की प्राप्ति, की कोशिश के साथ उसके लिए भी भगवान् की कृपा की याचना करनी चाहिए, उन्हीं की शक्ति का भरोसा करना चाहिए। यही निरापद मार्ग है।

'अति अनन्य गति' क्या है ? एमदम माया मोहग्रस्त जीव भगवान् की ओर से उदासीन रहता है (या नास्तिक रहता है)। वह भगवान् की शरणागति से बहुत दूर है। जो भक्ति के कुछ अनुकूल है वह अपनी विपत्ति से छूटने के लिए अन्य साधनों के साथ साथ भगवान् की पूजा, पाठ, मन्त्र, जप आदि भी करता है। बहुत से मनुष्यों, देवताओं पर उसे भरोसा है, भगवान् पर भी है। कुछ मनुष्यों को भिन्न भिन्न सीमा तक भिन्न भिन्न मामलों में अलग देवताओं पर भरोसा रहता है। 'अनन्य' यानी दूसरा नहीं। जहाँ एक मात्र भगवान की ही गति हैं, दूसरे की नहीं, वहाँ अनन्य गति है।

मति रामहि सो, गति रामहि सो, रति राम सो रामहि को बलु है।
सबकी न कहैं तुलसी के मते इतनो जग जीवन को फलु है।।
(कवितावली)

कलियुग का उत्पात होने पर श्री गोस्वामी जी ने कहा—

सांची कहौं कलिकाल कराल में ढारो बिगारो तिहारो कहा है ?।
कामको क्रोधको लोभ को मोहको मोहि सो आनि प्रपंचु रहा है।।
हो जगमायक लायक आजु पै मेरियो टेव कुटेव महा है।
जानकि नाथ बिना तुलसी जग दूसरे सों करिहैं न हहा है।।
(कवितावली)

अनत चह्यो न भलो, सुपथ सुचाल चलो,
नीके जिय जानि इहाँ भलो अनचह्यो हौं।

(वि०प०)

अन्याश्रयाणाम् त्यागोऽनन्यता। (नारद भक्तिसूत्र)

सन्त अति अनन्य होते हैं, उनकी अनन्यता में कोई कसर नहीं रहती। एकमात्र भगवान् का भरोसा रखते हैं, उनसे प्रथक किसी शक्ति का नहीं। विषम परिस्थिति में भी एक मात्र भगवान् के भरोसे धैर्य और सन्तोष के साथ स्थित रहते हैं।

इस्लाम में भी कहा है कि यह प्रकाशमान पुस्तक उसे रास्ता दिखाती है जो गैब (अदृष्ट दिव्य शक्ति) के भरोसे जीता है। जो दैव (गैब) से प्राप्त परिस्थिति में सन्तोष और धैर्य (सब्र) रखता है, उसे कुरान में 'साबिर' (सब्र करने वाला कहा है। साबिरों की सेवा को अति प्रशस्त माना है। 'साबिर' किसी से याचना नहीं करते, अतः उनकी सेवा भगवान् की ही सेवा है। भगवान् ऐसे सेवकों के ऋणी अपने को मानते हैं। और बहुत बढ़ा चढ़ा कर भुगतान करते हैं।

सुख दु:ख सहौं रहौं सदा, शरणागत तोरे।

[वि०प०]

अथवा—

नाथ कृपा ही को पन्थ चितवत दीन हौं दिन राति।
होइ धौं केलि काल दीनदयालु जानि न जाति॥

[वि०प०]

एवं—

काल पाइ फिरत दसा दयालु सबही की,
तोहि बिनु मोहि कबहूँ, न कोऊ चहैगो।
करम बचन हिये, कहौं नाथ सौंहैं किये,
तुलसी पै नाथ के निभाएई निबहैगो ।।
[वि०प०]

अति अनन्य गति सन्तों की दशा [रहनि] कैसी होती है, इसके लिए अगले दोहे [छन्द १५] में चातक के रूपक का आश्रय लिया गया है। परन्तु यहां इतना तो कह दिया है कि अनन्य गति सन्तों का मन भगवान में ही लगा रहता है, कहीं और नहीं जाता है।

श्रीमद्भागवत में वैष्णवों में अग्रगण्य वह माना गया है जो त्रिलोकी के वैभव के लिए भी भगवचरणों को नहीं छोड़ता, देवता भी जिसके लिए तरसते हैं, उस वैभव विलास का उसे क्षणिक आकर्षण भी नहीं होता।

त्रिभुवन विभव हेतवेप्यकुण्ठ स्मृति रजितात्म देवादिभिर्विमृग्यात्।
न चलति भगवत् पदारविन्दाल्लव निमिषार्धमपि यः स वैष्णवाग्र्यः ।।
(११.२.५३)

श्री रामचरित मानस में श्री भरत जी के लिए कहा गया है।
राम चरण पंकज मन जासू। लुब्ध मधुप इव तजै न पासू ।।
(बालकाण्ड)

श्री रामानुजाचार्य जी के गुरु श्री यामुनाचार्य जी ने आलवन्दार स्तोत्र में लिखा है—

तवामृतस्यन्दिनि पादपंकजे, निवेशितात्मा न हि चान्यदिच्छति ।
स्थितेऽरविन्दे मकरन्द निर्भरे मधुव्रतो नेक्षुरकं हि वीक्षति ।।

आपके अमृतस्रावी चरण कमल में जिसका मन लग गया है, वह और कुछ नहीं चाहता है । मधु (पराग) का व्रती (प्रेमी) भौंरा मकरन्द से भरे हुए कमल-पुष्प के रहते, ईख (गन्ने) में लगे हुए कीड़े की ओर नहीं देखता है, (कि यह मीठा-मीठा रस पिये जा रहा है, मैं रहा जा रहा हूँ) ।

तुलसी रघुवर हिय बसैं तो इन्द्र बापुरौ कौन ।
(दोहावली)

किसको ध्यान में भगवान् की झाँकी होती है और किसको नहीं और किस सन्त को कितना भजन का आनन्द प्राप्त है, यह बाहर से देखने वाले को पता नहीं चलता । परन्तु जिन्हें ऐसे अनुभवों की गहराइयों में गोता लगाने का अवसर मिला है, उनका जगत् के प्रति क्या भाव होता है, यह ध्यान देने से कुछ कुछ समझ में आता है ।

जो सन्त भगवान् के चरणों में लगे रहते हैं, भगवान् से अभिन्न हो जाते हैं, उनकी दृष्टि में संसार की स्थिति मृग तृष्णा के समान हो जाती है । इससे सन्तों की पहचान हो सकती है ।

मृग तृष्णा क्या है ? जगल में खुली जगह हो या रेगिस्तान हो, खूब धूप पड़ रही हो, तो कहा जाता है कि हरिण (हिरन) को यह आभास होता है कि कुछ दूर पर जलाशय भरा है । यदि हरिण प्यासा हो और पानी पीने के लिए उस जलाशय की ओर चल दे तो हरिण दौड़ता-दौड़ता परेशान हो जायेगा परन्तु जलाशय उतनी ही दूर पर आभासित होगा । मिलेगा नहीं । इसी मिथ्याभास को मृग तृष्णा कहते

हैं। यह वैसा ही है जैसे बरसात में कभी कभी हम लोगों को इन्द्र धनुष दिखाई देता है। वह कहीं होता नहीं पर दिखाई देता है। उसकी ओर चलें तो वह दूर हटता जाता है, निकट प्रतीत नहीं होता। दोनों आभासों के वैज्ञानिक कारण हैं जो एक से हैं। बताया जाता है कि मृग तृष्णा मृग को ही होती है, हाथी या ऊँट को कभी नहीं होती। वैज्ञानिकों का कहना है कि जिस (थोड़ी ऊँचाई) पर हरिण की आँख रहती है, उसी ऊँचाई पर यह मिथ्याभास हो सकता है, उसकी ड्योढ़ी दुगुनी ऊँचाई पर नहीं हो सकता।

सांसारिक विषयों में जो सुख भासित होता है वह भी कई बातों में मृग तृष्णा की तरह है। श्री स्वामीराम तीर्थ ने एक प्रवचन में यह बात विस्तार से समझाई है कि हर एक व्यक्ति को अपनी वर्तमान् परिस्थिति से कुछ दूर पर ही सुखी जीवन सम्भावित दिखाई देता है, बालक परवश है, वह सुखी होने के लिए कुछ बड़े होने की बाट देखता है, विद्यार्थी विद्या पढ़कर निकलने पर सुखी होने की आशा करता है। फिर, सुखी जीवन के लिए अर्थप्रद उद्यम की खोज होती है, फिर विवाह आवश्यक जान पड़ता है, फिर घर के सूनेपन को मिटाने के लिए सन्तान चाहिए। फिर प्रौढ़ावस्था तक सम्पन्न बन जाने की फिक्र होती है, तब पारिवारिक उत्तरदायित्वों के पूरा करने की चिन्ता होती है, रिटायर होकर निश्चिन्त होने की लालसा रहती है, परन्तु श्री शंकराचार्य जी ने तो वृद्धावस्था में चिन्ता की अधिकता की बात कही है—'वृद्धस्तावत् चिन्तामग्नः'। बढ़ी हुई आयु में फिर पिछला जीवन अपेक्षाकृत सुखी मालूम होने लगता है। इस तरह सुखी जीवन का आभास भविष्य में या भूतकाल में ही होता है, न कि वर्तमान् में। यह मृग तृष्णा की सी स्थिति है।

एक और विचित्रता है। जिसकी सुखी जीवन की जो कल्पना है, वह पूरी न होने तक ही मनोहर लगती है। यदि कोई करोड़पति किसी

कंगाल की सुखी जीवन सम्बन्धी कल्पना पूरी कर दे, कोई कसर न रहे, तो भी उस कंगाल को सन्तोष न होगा, अब सुखी जीवन की एक नई कल्पना बन जायगी और उसके न पूरे होने का दुःख रहेगा।

अप्राप्त वस्तु अत्यन्त रमणीक प्रतीत होती है, प्राप्त होने पर और उसके अभ्यस्त हो जाने पर सुखानुभूति घटती जाती है, निर्भरता बढ़ जाती है। अमीरी जीवन में बहुत सी आदतें हो जाती हैं, जो सुखद तो कम ही रहती हैं, परन्तु उनकी पूर्ति न होने से दुःख होता है। कंगाल को मोटर में बैठने का बहुत सुख होता है, करोड़पति को बिल्कुल नहीं होता, परन्तु मोटर में बैठकर चलने की व्यवस्था न हो पाए, बिगड़ जाए, तो करोड़पति को दुःख होता है, कंगाल को नहीं होता।

एक अन्य तथ्य यह है कि विषयासक्ति भोग से समाप्त नहीं होती, बढ़ती जाती है, भोग की अप्राप्ति में शोक, हताशा, क्रोध, आदि विकार प्राप्त होते हैं। शान्ति और सुख नहीं मिलता।

न जातु कामः कामनामुपभोगेन शाम्यति।
हविषः कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥

(महाभारत)

बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ, विषय भोग बहु घी ते।

वि०प०)

जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई।

(रा०च०मा०)

सेवत विषय विवर्ध जिमि, नित नित नूतन मार।

(रा०च०मा०)

विषयासक्ति के परिणामों पर सम्यक् विचार करके ही महर्षि पतञ्जलि ने सूत्र दिया, 'दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' (योगसूत्र) श्री गीता जी में भी इस जगत् को 'दुःखालयमशाश्वतम्' बताया है। (८.१५) श्री विनय पत्रिका में भी कहा हैं –

श्रुति गुरु साधु स्मृति सम्मत यह दृश्य सदा दुःखकारी।

तथा—

जग नभ वाटिका रही है फल फूलि रे।
धुआँ के से धौरहर देख तू न भूलि रे ॥
(वि० प०)

अथवा—

धूम समूह निरखि चातक ज्यों, तृषित जानि मति घन की।
नहिं तहँ शीतलता न वारि, पुनि हानि होत लोचन की ॥

पुनश्च–ज्यों गच काँच विलोक स्येन जड़ छाँह आपने तन की।
टूटत अति आतुर अहारबस छति बिसारि आनन की ॥

जगत् के विषयों में मिथ्या सुखाभास है, यह शास्त्रों में बार बार निरूपित हुआ है, इस बिषय में बौद्ध व जैन धर्म की आवाज भी ऐसी ही है। कुरान में भी जगत को असार मायाकृत माना है। (५७.२०), स्वप्नवत् कहा है। वेदान्त ग्रन्थों में जगत् के मिथ्यात्व या स्वप्नतुल्यत्व के निरूपण की प्रधानता है।

संसार स्वप्न तुल्यो हि, राग द्वेषादि संकुलम्।
स्वकाले सत्यवद्भाति, प्रबोधेऽसत्यवद्भवेत् ॥
(वेदान्त सार)

झूठो है, झूठो है, झूठो सदा जग, वेद पुरान सुसन्त कहा है।
(कवितावली)

संसार असत्य है, मिथ्या है, अनित्यमसुखम् (गीता ९ ३३) है, आदि बातें सुनने कहने, पढ़ने, पढ़ाने, समझने समझाने पर भी जगत् का सुखाभास नष्ट नहीं होता। मन विषयों की ओर आकृष्ट होता ही है—इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः (गीता २.६०)। विषयों का सेवन न करने से विषय ही निवृत्त होते हैं, उनका रस (सुखाभास) नहीं मिटता, परं तत्व के साक्षात्कार से सुखाभास भी निवृत्त होता है (गीता २.५९) इसलिए 'अति इन्द्रीजीता' तत्वज्ञानी ही हो सकता है, दूसरा नहीं। 'राम भजन अधिकाई' से ही मृग तृष्णा मिटती है।

जैसे हाथी या ऊँट को मृग तृष्णा नहीं होती, उसी तरह परम उच्च दृष्टिवाले सतोगुणी या गुणातीत व्यक्ति को जगत् का सुखाभास नहीं होता। आत्माराम पुरुष को विषय मृग तृष्णा भ्रमित नहीं करती। केवल बुद्धि विलास से विषयासक्ति शान्त नहीं होती—

कहत सुनत समुझत समुझावत दसा हृदय नहिं आवै।
जेहि अनुभव बिनु मोह जनित दारुण भव विपति सतावै॥
(वि०प०)

जौ जग मृषा ताप त्रय अनुभव होंहि कहहु केहि लेखे।
कहि न जाइ मृगवारि सत्य, भ्रम ते दुख होंहि विशेषे॥
(वि०प०)

परन्तु जहाँ वैराग्य पूर्वक भजन होने लगा और प्रभू की प्राप्ति हो गई, वहाँ विषयाकर्षण समाप्त होने लगता है—

जाके भवन विमल चिन्तामणि, सो कत कांच बटोरै ?
(वि०प०)

तथा–

बसै जो ससि उछंग, सुधा स्वादित कुरंग, ताहि क्यों भ्रम निरखि रविकर नीर ? (वि०प०)

'जो हरिण चन्द्रमा की गोद में बैठा है और अमृत का स्वाद ले चुका है, उसे मृग तृष्णा को देखकर क्यों भ्रम होगा ? ।

इस प्रकार मृगतृष्णा विषयक निरूपण का पाठ याद करके उसे दोहराते रहें तो भी सुखाभास की निवृत्ति नही होती। तत्वानुभूति से ही उसकी निवृत्ति होती है ।

संसार को मिथ्या या क्षण भंगुर साबित करने में एक विद्वान् या शास्त्रार्थी पण्डित सन्त से अधिक सफल हो सकता है, परन्तु जब उसके तर्क उसी को अनुभूति नहीं प्रदान कर पाते तो दूसरे को अनुभूति कैसे प्रदान करेंगे ? इसलिए सवाल विद्या, तर्क, अध्ययन या प्रवचन का नही है—

'नैषा तर्केण मतिरापनेया कठ० (१.२.९)
नायमात्मा प्रवचनेन लभ्य: । (मुण्डक ३ २.३)
'वाद में अवादता न आजु लौं भई है। (वि०प०)

प्रश्न कहने का नही, अनुभूति का है, सन्त की मानसिक अनुभूति यह है कि जगत् मृग तृष्णा के समान हैं, वह हृदय से इसे मृग तृष्णा के समान जानता है, कहे या न कहे, घोषित करे या न करे, उपदेश करे

या न करे। इस दिव्य अनुभूति का संकेत दूसरों को इस तरह मिल जाता है कि सन्त के लिए जगत् के पदार्थों या व्यक्तियों का आकर्षण नहीं रह जाता ! वैराग्य हो जाता है। वैराग्य है या उसका दिखावा मात्र है इसकी परख करने के लिए भी विवेकी व्यक्ति चाहिए, जो दम्भ को पहचान सके, तथा जो व्यक्ति अपने वैराग्य को छिपाए है, उसके वैराग्य को भी पहिचान सके।

कब लिबासे दुनियवी में छिपते हैं, रोशन ज़मीर।
जामए फ़ानूस में भी शोला उरियाँ ही रहा।।

'सांसारिक वेष भूषा व्यवहार आदि से प्रबुद्ध प्रज्ञा वाले लोग कहाँ छिप पाते हैं ? दीप ज्योति फानूस से आवृत्त होकर भी आलोकित ही रही।'

जिसमें कुछ वैराग्य विवेक स्वयं हो वही वैराग्य की पहचान कर सकता है, और वैराग्य ही सन्त की शोभा और पहिचान है। भगवान् को कौन पहुँच गया, कौन नहीं इसका निर्णय करना बहुत कठिन है, परन्तु जो भगवान् तक पहुँच गया उसमें वैराग्य अवश्य होना चाहिए। सन्तों के सम्प्रदाय, उपासना, पद्धतियाँ, आचार विचार आदि भिन्न भिन्न हो सकते हैं, परन्तु वैराग्य सभी सन्तों में पाया जायगा। बिना वैराग्य के सन्यासी वेषधारी उपहास का पात्र हो जाता है।

नृप सब भए योग्य उपहासी। जैसे बिनु विराग सन्यासी।।

'वैराग्य राग रसिकौ, भव भक्ति निष्ठः।'

(भागवत माहात्म्य)

———

एक भरोसे एक बल, एक आस विस्वास।
राम रूप स्वाती जलद, चातक तुलसीदास ।।१५।।

श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि सन्त का भरोसा, बल, आशा, विश्वास सब एक प्रभु में ही केन्द्रित है, सन्त भगवान् का सम्बन्ध चातक व स्वाति नक्षत्र के मेघ का सा है। श्रीराम जी का रूप स्वाति नक्षत्र का मेघ है, तुलसी जी चातक हैं।

अनन्य गति का सूत्र इस दोहे में दिया गया है। भक्ति के निरूपण में, अनन्य शरणागति की दशा के वर्णन में, चातक की बात शास्त्रों में बारम्बार आई है। श्री रामचरित मानस में—

लोचन चातक जिन करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाखे ।।
निदरहिं सरित सिन्धु सरवारी। रूप विन्दु जल होहिं सुखारी ।।
जलद जनम भरि सुरति बिसारै। माँगत जल पवि पाहन डारे ।।
चातक रटनि घटै घटि जाई। बढ़े प्रेम सब भांति भलाई ।।

नेम तो पपीहा ही के, प्रेम प्यारी मीन ही के,
तुलसी कही है नीके, हृदय आनि।'
(गीतावली जी)

श्री गोस्वामी जी के साहित्य में दो अत्यन्त विशद सांग रूपक प्राप्त हैं। एक तो श्री रामचरित मानस का मानसरोवर वाला रूपक और एक श्री दोहावली जी में प्राप्त चातक छत्तीसी। हमारे प्रस्तुत दोहे

का भाव विस्तार चातक-छत्तीसीं (दोहावली २७७-३१२) में प्राप्त है। उसे स्वयं कवि द्वारा प्रस्तुत भाष्य समझना चाहिए। इस रूप में वह अनुपम है।

अनन्य शरणागत भक्त की क्या निर्भयता है, क्या शान्ति है, निश्चिन्तता है, क्या मग्नता है, यह साधारण मनुष्य की कल्पना से परे है—

सुखी मीन जहँ नीर अगाधा। जिमि हरि शरण न एकौ बाधा।
(रा०च०मा०)

श्री रामकृष्ण परमहंस जी ने बताया कि बिल्ली जिस मुँह से चूहे को खा जाती है, उसी मुँह से पकड़कर वह अपने बच्चे को एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाती है। परन्तु बच्चे को कोई कष्ट नहीं होता। उसी प्रकार भगवान् का हाल है, जिस संसार में सभी जीव दुखी हैं जीव सकल सन्ताप के भाजन जग माहीं। वि०प०), उसी संसार में अनन्य भक्त निश्चिन्त और सुखी है। नृसिंह जी का भयानक मुख भी अनन्य भक्त प्रह्लाद के लिए भयकारी नहीं हुआ। संसार चक्र उससे भी भयानक है, परन्तु भगवान् के गुणानुवाद के गायन रूप अमृत में डूबे हुए चित्त वाले के लिए, भव-वैतरणी भी भयानक नहीं (श्रीमद्भागवत ७.९.४३)। अनन्य भक्तों के जीवन में भी परिस्थितियां बदलती हैं, परन्तु वे उनसे अप्रभावित रहते हैं।

यस्मिन्स्थितो न दु.खेन गुरुणाऽपि विचाल्यते।
(गीता ६.२२)

तब तक इस जीव को धन, घर, सुहृद आदि को लेकर शोक, स्पृहा, लोभ आदि होते हैं, और कष्ट की मूल असत् पदार्थों की ममता बनी रहती है जब तक कि वह अभयधाम प्रभु के चरण ललाम की शरण का वरण नहीं करता। (श्रीमद्भागवत ३.९.६)। विषयों की आसक्ति में

न दिन को चैन मिलता है, न रात को सुख की नींद सोता है। विषयों का अनुसरण महान् कष्टकर है पर हमें अभ्यस्त होने से उसका पता नहीं चलता, परन्तु जो भगवत् शरणागति में निश्चिन्त हैं उसके लिए यह चिन्ता का भार असह्य है। गोस्वामी जी श्री कवितावली जी में कहते हैं—

माँगि के खैबो मसीत को सोइबो है, लेनो है एक न देनो है दोऊ।

दूसरे सहारे का छोड़ देना ही अनन्यता है (नारद भक्ति सूत्र) सन्तवर शाहन्शाह जी के भजन में हैं।

जब भरोसी ही तेरा राम पे है, फिक्र है क्या ?

पद्म पुराण पाताल खण्ड में 'चातकी वृत्ति' धारण करने का निरूपण है। (अध्याय ५१ श्लोक ३७, ३८)

भरोसो जाहि दूसरो सो करो।
मोको तो राम को नाम कलपतरु, कलि कल्यान करो॥
(वि०प०)

तथा—

नाहिनै नाथ अवलम्ब मोहि आन की।
करम मन वचन पन सत्य करुणानिधे।
एक गति राम भवदीय पदत्रान की॥
(वि०प० २०९)

तुलसी पै नाथ के निभाएई निबहैगो।
(वि०प०)

रामचरित मानस में देखिए—

कर नित करहि राम पद पूजा। राम भरोस हृदय नहि दूजा॥

तथा—

आपनु जानि न त्यागिहैं, मोहिं रघुवीर भरोसु।
(भरत वाक्य)

इस जगत् में सारे काम मात्र अपने बल से नहीं बनते, तब हम सम्बन्धियों, मित्रों आदि का सहयोग लेते हैं, उन पर भरोसा करते हैं। बीमार को डाक्टर पर भरोसा करना होता है, मुकदमें वाले को वकील पर। जिसके भरोसे काम सिपुर्द करके हम निश्चिन्त हो सकें वही सच्चा वकील है। वकील शब्द अरबी भाषा से आया है। कुरान में कहा है—'अल्लाह वकील काफी है।' यही शरणागति और भरोसा है। सन्तों का काम सँवारने वाला वकील भगवान् है, इसलिए उनकी मस्ती है।

जे लोलुप भए दास आस के, ते सेवक सब केरे।
प्रभु विश्वास आस जीती जिन, ते सेवक हरि केरे॥
(वि०प०)

संसार में जहाँ जहाँ दूसरी जगह भरोसा किया जाता है, वह कभी कभी पूरा नहीं उतरता। हर एक आदमी धोखे बाज नहीं है, परन्तु हर एक जीव मायावश है।

देव दनुज मुनि नाग मनुज सब, माया बिबस बिचारे।
तिनके हाथ दास तुलसी प्रभु, कहा अपनपौ हारे॥
(वि०प०)

दूसरी बात यह है कि जिससे हम कुछ चाहते हैं, वह भी हम से कुछ चाहता है—जब उसकी चाह पूरी नहीं होती तो उसे अघात लगता है। देत एक गुन, लेत कोटि गुन भरि सो। (वि०प०) ऐसी दशा में वह प्रसन्नता से सदा हमारा साथ देता रहे यह कैसे होगा? आशा भंग होने का आघात लगेगा ही।

वृत्तियाँ चञ्चल हैं, जब तक जिनकी वृत्तियाँ अनुकूल हैं वे मित्र हैं, वृत्तियाँ अनुकूल न रहीं तो आघात प्राप्त होता है।

यदि कोई हमें पूरी मदद करता है पर हमारे कष्टों का अन्त नहीं होता तो भी हमें आघात लगता है।

भरोसा करके कभी धोखा न हो, पछताना न पड़े यह तभी हो सकता है जब जिस पर भरोसा किया जाय वह मायिक गुणों के वश में न हो, स्वयं उसका कोई स्वार्थ न हो, और वह समर्थ हो। प्रेमी प्रेम की कद्र करता है–

आप दानिश[1] की तराजू में सिला[2] को तोलें।
हम मुहब्बत से मुहब्बत का सिला[3] देते हैं।।

(१–बुद्धिमत्ता २–बदला, प्रत्युपकार ३–बदला)

जानत प्रीति रीति रघुराई।
नाते सब हाते करि राखत, राम सनेह सगाई।।

(वि०प०)

अज्ञानियों की दृष्टि में भगवान् पर भरोसा करने वालों पर भी आफतें आती हैं, पर आश्चर्य है कि उन्हें कोई आघात नहीं लगता। प्रारब्ध सहसा समाप्त नहीं कर दिया जाता, सुख दुःख का चक्र चलता ही रहता है, परन्तु फिर भी सच्चा शरणागत भक्त, निश्चल, शान्त और सुखी रहता है।

वट विश्वास अचल निज धर्मा।

(रा०च०मा०)

'सुख दुःख सहौं, रहौं सदा शरणागत तोरे।

(वि०प०)

भगवान् के भरोसे सुख दु:ख में समान रहना ही आदर्श भक्ति है। 'समत्वमाराधनमच्युतस्य' (श्रीमद्भागवत)।

साधकों की भूमिका अलग अलग होती है। कोई कोई बहुत जगह भरोसा करते हैं, भगवान् पर भी करते हैं, किसी किसी को दूसरे सहारे टूटने पर भगवान् याद आते हैं। इसमें एक प्रकार से भगवान् का अपमान है कि उनका नम्बर अन्तिम रहा। परन्तु करुणानिधि भगवान् इसको बुरा नहीं मानते।

औषधी जाह्नवी तोयं वैद्यो नारायणो हरिः।
कठिवे व्याधि-संप्राप्ते औषधं नान्य विद्यते॥

कठिन बीमारी हो जाने पर कोई और दवा जानी नहीं जाती, श्री गंगाजल ही उसकी दवा है, स्वयं भगवान् उसके वैद्य हैं।

दूसरो भरोसो नहिं, वासना उपासना को।
(वि०प०)

भक्त अपना दोष और भगवान् का गुण समझते हैं–

गुण तुम्हार समुझैं निज दोसू। जेहि सब भांति तुम्हार भरोसू॥
(रा०च०मा०)

भक्त को सभी परिस्थितियों में भगवान् की करुणा, दया, अनुकम्पा पर अडिग विश्वास रहता है। श्री भरत जी के भाव हैं–

जौ करणी समुझैं प्रभु मोरी। नहिं निस्तार कलप सत कोरी॥
जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबन्धु अति मृदुल सुभाऊ॥
मोरे जिय भरोस दृढ़ सोई। मिलिहहिं राम सगुन सुभ होई॥
(रा०च०मा० उत्तरकाण्ड)

भगवान् पर भरोसा रखने वाले अनन्य गति सन्त एक ओर तो 'दैवाल्लब्धेन सन्तोष:', 'यथा लाभ सन्तोष सदाई।' 'सन्तुष्टो येन केनचित्' (गीता १२.१९)हैं, दूसरी ओर वे भगवान के विधान में प्रसन्न रहते हैं, भगवान् की विरुदावली पर उाहें विश्वास रहता है, अपने गुणों का अभिमान नहीं होता, भगवान् की कृपा पर भरोसा होता है।

है तुलसिहि परतीति एक प्रभु मूरति कृपा मई है।
(वि०प०)

भगवान् सभी योग क्षेम वहन करेंगे (गीता ९.२२), यौगिक और पारलौकिक भी; उनका विधान ही मगलमय है, ऐसा उनका दृढ़ विश्वास होता है। अनन्य भक्त का यह आग्रह नहीं होता कि उसकी कल्याण कल्पना भगवान् पूरी करें, जो भगवान् करें वही मंगलमय है, उसी में उसका सुख है। इसी से वह शान्ति सागर में मग्न रहता है। कदापि दुखी नहीं होता–

भोक्तार यज्ञ तपसां सर्व लोक महेश्वरं।
सुहृद सर्व भूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।।
(गीता ५.२९)

शरणागति के ६ लक्षण बताये गए हैं–

आनुकूल्यस्य संकल्पं प्रातिकूल्यस्य वर्जनं।
रक्षिष्यतीति विश्वास: भर्तृत्वे वरणं तथा।।
आत्म निक्षेप कार्पण्यं षड्विधा शरणागति:।

१–इष्टदेव के अनुकूल ही संकल्प करना, २-प्रतिकूल संकल्प भी न करना, ३–वे रक्षा करेंगे ऐसा विश्वास (भरोसा), ४–अपने भरण पोषण कर्ता रूप में इष्टदेव को ही मानना (वरण करना), ५–आत्म

समर्पण तथा ६–दैन्य (कातर) भाव, इन ६ लक्षणों वाली शरणागति है।

'शम दम' के लक्षण पहले कहे जा चुके हैं [छन्द ९] यहाँ प्रपत्ति संकल्प का वर्णन है, 'राम भजन अधिकाई' यह अनुकूल संकल्प है, रक्षा हेतु भरोसा यह इस दोहे में निरूपित है, भर्ता रूप में वरण करना एक आस विश्वास में कथित है, आत्म निवेदन का अत्यन्त स्पष्ट उल्लेख आगे [छन्द ४०] है, कार्पण्य चातक वृत्ति से सूचित है। इस प्रकार शरणागति का पूर्ण प्रतिपादन है।

राम के भरोसे पैं पसारि पाय सूति हौं।
'राजी हैं हम उसी में जिसमें तेरी रज़ा है।

रिन्दों को सिय:कारी में भी, रहमत का यक़ीने कामिल है।
ज़ाहिद को इबादत में भी ये शक, शायद वह बख्शा जा न सके।।

(रिन्द = मद्यपी, सिय:कारी = पापकर्म, रहमत = करुणा, यकीन = विश्वास, कामिल = पूर्ण, ज़ाहिद = भगवान् का प्रशंसक, उपदेशक, इबादत = उपासना, बख्शा = क्षमा किया)

बाँकी विरुदावली बनैगी पाले ही कृपालु।
अन्त मेरो हाल हेरि, यों न मन रहैगो।।

(वि०प०)

अहो बकीयं स्तन काल कूटम्,
जिघांसया ऽपाययदप्यसाध्वी।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोन्य,
कं वा दयालुं शरणं प्रपद्ये।।

[श्रीमद्भागवत ३.२.२३]

गई मारन पूतना कुच काल कूट लगाइ।
मातु की गति दई ताहि कृपालु यादव राइ।।
(वि०प०)

'एक भरोसो' के बाद 'एक बल' भी कहा है अनन्य वही है जिसका एक ही बल है, यानी भगवान् का, और किसी बल का भरोसा नहीं।

साधारण लौकिक वृत्ति वाले को ऐसा उपदेश कायरता का आवाहन जान पड़ता है। एक मात्र भगवान् के बल के भरोसे बैठे रहने में पुरुषार्थी व्यक्ति को सन्तोष नहीं होता। परन्तु पुरुषार्थी और शरणागत की मनोभूमिका एक नहीं होती। पुरुषार्थी की आवाज श्री लक्ष्मण जी के निम्न वचन में हैं।

नाथ दैव कर कौन भरोसा। सोखिय सिन्धु करिय मन रोसा।।
कादर मन कर एक अधारा। दैव दैव आलसी पुकारा।।
[रा०च०मा०]

जिसे अपने बल का अनुभव है वह उसे अवश्य प्रयुक्त करे। परन्तु सचमुच किसका बल काम कर रहा है, इसका तत्वत निश्चय करना इतना सरल नहीं है।

राक्षसों को अपने बल का घमण्ड था, परन्तु श्री हनुमान जी ने रावण का बल नहीं माना–

जाके बल लवलेस तों जितेहु चराचर झारि।
तासु दूत मैं जाकरि, हरि आनेहु प्रिय नारि।।
[सुन्दरकाण्ड २१]

लंका दहन आदि अपने पराक्रम को भी कहा कि–

सो सब तव प्रताप रघुराई। नाथ न कछुक मोरि मनुसाई।।

व्यवहार में हमें विभिन्न बलों का संघर्ष दिखाई देता है, परन्तु सन्त की दृष्टि में एक ही शक्ति कार्यरत है, उसी का बल है जो सन्त को प्राप्त है। अज्ञानी के लिए यदि एक ही बल हाथी और शेर में विरोधी कार्य कर रहा है तो वह व्यर्थ है, उसका आश्रय क्या लेना? परन्तु सन्त के लिए यह सब दूर की चीज या अनुमान प्रमाण के आश्रित नहीं हैं, प्रत्यक्षानुभूति है, वह भगवदीय शक्ति को ही सर्वत्र क्रियमाण पाता है, बल एक ही है और वही बल उसका रक्षक है। इससे विपरीत आभास श्री भगवान् की लीला है, जिससे मोहग्रस्त को भय होता है, ज्ञानी सन्त को नहीं।

नट कृत विकट कपट खगराया। नट सेवकहि न व्यापै माया।।

माया के दो रूप हैं—अविद्या 'जा बस जीव परेउ भवकूपा, और विद्या—जो भगवत्सन्मुख करती है—

हरि सेवकहि न व्याप अविद्या। प्रभु प्रेरित व्यापै तेहि विद्या।।
ताते नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढ़ै विहंगवर।।
(उत्तरकाण्ड ७९)

मुधा भेद यद्यपि कृत माया। बिनु हरि जाइ न कोटि उपाया।।

रहस्यमय अदृष्ट शक्ति ही, क़ुरान कथित ग़ैब है, वही एक मात्र शक्ति (वाहिद) हैं, सन्त उसके हैं, वह सन्त की है। उसके सहारे जिन्दगी काटना ही इस्लाम (शरणागति) का सार है। उसके बल पर निर्भय रहना सन्त का गौरव है। सबका योग क्षेम (रिज्क) उसी के आश्रित है, वह भर्ता (भरण पोषण कर्ता, रज्ज़ाक) है। सन्त का बल वही है और कोई नहीं।

तुलसिदास शीतल नित एहि बल बड़े ठिकाने ठौर को हौं ।
(वि०प०)

बलं बलवतां चाहं । (गीता ७.११)

न केवलं मे भवतश्च राजन् स वै बलं बलिनां चापरेषाम् ।
प्रह्लाद वाक्य (श्रीमद्भागवत ७.८.८)

यह एकमात्र दिव्य रहस्यमय व्यापक शक्ति जिसके साथ है, वह उसके बल से निर्भय है । इसीलिए अंगद ने रावण की सभा में निर्भीक होकर प्रवेश किया—

यथा मत्त गज यूथ महँ, पंचानन चलि जाइ ।
(लंका काण्ड १९)

एक सन्त के पास एक जगह से नियमित रूप से मनी आर्डर आता था । वह बन्द हो गया तो कुछ मित्र उन्हें धीरज बँधाने गए कि 'महाराज आपकी वृत्ति बन्द होइ गई है !' सन्त ने पूछा, 'हियाँ (इस संसार) से बन्द होइ गई है, कि हुआँ (भगवान् के यहाँ) से बन्द होइ गई है ?'

अकिंचन सन्तों का बल भगवान् ही है, उसकी विशेष व्यवस्था से उन्हें आवश्यकतानुसार सब कुछ प्राप्त होता है । सुरक्षा, पोषण, सुयश, सत्संग, साधन, सद्गति आदि सब कुछ मिलता है । 'दरे करीम पे बन्दे को क्या नहीं मिलता ।

मै कछु कहौं एक बल मोरे । तुम रीझहु सनेह सुठि थोरे ।।
(बालकाण्ड ३८९)

सन्त के लिए भगवान् का बल संकट काल के लिए सुरक्षित नहीं है, सर्वत्र सर्वदा उपलब्ध है। सन्त के लिए वही एक बल सच्चा है, संसार का व्यवहार नट का सा तमाशा है। कठपुतली के तमाशे में कौन पुतली जीतेगी यह सूत्रधार पर निर्भर है, कठपुतलियों पर नहीं—'राम सूत्रधर अन्तर्यामी। (रा०च०मा०) जो सच्चा सन्त हो चुका वही इस दिव्य अनन्यता में रह सकता है, दाम्भिक नहीं।

सन्त को एक ही आस है। इसका पहला संकेत यह है कि एक ही से आस है। किसी और से नहीं। श्री गोस्वामी जी कहते हैं–

जग जाँचिउ कोउ न, जाँचिय जौ, जिय जाँचिय ज़ानकी जानहि रे।
जेहि जाँचत जाचकता जरि जाइ, जो जारत जोर जहानहि रे।।
(कवितावली, उत्तरकाण्ड)

पहली बात यह है कि सन्त भगवान् के सिवा किसी और से कुछ नहीं माँगते। बिलकुल नहीं चाहिए तो सबसे अच्छा है, पर माँगने का नम्बर आए तो अपने मन में ही और भगवान् से ही मांगते हैं।

जो छोटा बालक माँ से ही मांगता है और कोई और कुछ देने लगे तो बिना माँ की अनुमति के स्वीकार तक नहीं करता, वह बड़ा अच्छा लगता है। वैसे ही जो भक्त भगवान् से ही माँगता है, दुख कष्ट, की निवृत्ति की आशा करता है, दूसरे के द्वारा कुछ मिलने लगे तो भी भगवदाज्ञा के विरुद्ध कुछ भी स्वीकार तक नहीं करता, वही सचमुच अनन्य और शरणागत है।

यदि भगवान् से सब आशाएँ पूरी होती जायँ, तो ठीक है, नहीं तो और की सहायता ले सकते हैं। उनसे माँग सकते हैं, ऐसा भाव हो तो यह अनन्यता नहीं है, न यह शरणागति है।

जे लोलुप भए दास आस के, ते सबही के चेरे।
प्रभु विस्वास आस जीती जिन, ते सेवक हरि केरे।।

(वि०प०)

तथा–

लोलुप भ्रम गृह ज्यों जहँ तहँ सिर पद त्रान बजै।
तदपि अधम बिचरत तेहि मारग अजहुँ न मूढ़ लजै।।

(वि०प०)

भगवान् सन्त की दृष्टि में कल्पवृक्ष के समान हैं।

जाइ निकट पहिचानि तरु, छाहँ समनि सब सोचु।
माँगत अभिमत पाव जग, राउ रंक भल पोच।।

(अयोध्याकाण्ड)

संसार वालों की आशाएँ पूरी नहीं होतीं, तो यह कहा जा सकता है, उन्होंने कल्पवृक्ष (भगवान्) की निकटता नहीं प्राप्त की, उसे पहचाना नहीं, छाँह (शरणागति) में पहुँचे नहीं, परन्तु भक्तों की आशाएँ पूरी न हो तो क्या यह कहेंगे कि उनको आशा रखनी ही नहीं चाहिए ? तो फिर भगवान् किसकी आशा पूरी करने के लिए कल्पवृक्ष हैं ?

सच्चा शरणागत यह आग्रह नहीं करता है कि उसकी सभी आशाएँ, आकांक्षाएँ, याचनाएँ भगवान् पूरी करें। निवेदन कर दिया, फिर भगवान् का जैसा विधान हो उसी में सन्तुष्ट रहते हैं—

अर्जी हमारी आगे मर्जी तुम्हारी है।

भक्त की इच्छा है, भगवान् पूरी नहीं कर रहे हैं, तो भक्त के विचार से इसका कारण यही है कि भगवान् उसको पूरा करना ठीक नहीं समझते। तो फिर भक्त को भी उनकी मर्जी पर सन्तोष है।

श्री स्वामी रामतीर्थ ने एक प्रवचन में समझाया कि जो जो आप कहें वह वह भगवान् पूरा करते जायँ तब तक आप खुश हैं, नहीं तो आप नाराज हो ज़ायँ, यह आप भगवान् की सेवा पूजा करते हैं या भगवान् को आपने अपना नौकर बना रक्खा है ? फिर कहा कि राम को तो भगवान् का वह नाम प्यारा है जिसका अर्थ है डाकू। हरि = हरण करने वाला = डाकू। पाने के बजाय देने का आनंद है। यदि भगवान् सब पापों, संस्कारों, आसक्तियों आदि का नि:शेष अपहरण कर लें तो फिर सहज ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाय।

'हरिर्हरति पापनि दुष्टचित्तैरपि स्मृत:।

व्रजे वसन्तं नवनीत चौरं, गोपांगनानां च दुकूल चौरं।
अनेक जन्मार्जित्त पाप चौरं, चौराग्रगण्यं सततं नमामि ।।

भक्त यह नहीं चाहता कि पाप छिन जांय, पुण्य बचे रहें, क्योंकि पुण्य बचे रहे तो भव बन्धन और आवागमन भी बचा रहेगा।

रहीम साहब अकबर का दरबार छोड़कर चित्रकूट में बसने लगे थे, वे वहां भार झोंक रहे थे। किसी ने पूछा –

जाके सिर अस भार, सो कस झोंकत भार इमि ?

'इतने बड़े उत्तरदायित्व के पद पर रहते हुए आप इस तरह भार क्यों झोंक रहे हैं ?' रहीम ने उत्तर दिया —

रहिमन उतरे पार, भार झोंकि सब भार में ।।

यदि अबोध बालक अनिष्टकारी क्रिया करता है या अनिष्टकारी वस्तु माँगता है तो हितकारिणी स्नेहमयी माता उसकी बात पूरी नहीं होने देती।

गह सिसु बच्छ अमल अहि धाई। तहँ राखै जननी अरगाई ।।

अथवा—

कुपथ माँग रुज व्याकुल रोगी। वैद्य न दोइ सुनहु मुनि योगी ।।

तो फिर हम यदि अज्ञानवश या असावधानी से अहितकर वस्तु माँगें तो क्यों मिले ? उसके न मिलने में क्या हित है यह तुरन्त नहीं तो बाद में स्पष्ट हो जाता है, हम अल्पज्ञ हैं, प्रभु तो सर्वज्ञ हैं।

नारद जी व्याह करना चाहते थे, भगवान् ने नहीं करने दिया इसी में देवर्षि का हित था।

एक सच्चे भक्त की पत्नी का देहान्त हो गया दूसरा व्याह होने वाला था कि घर में बड़ी भारी चोरी हो गई। उन्होंने श्री रामाज्ञा प्रश्नावली में प्रश्न निकाला तो नारद मोह सम्बन्धी दोहा निकाला। वे भगवान् का संकेत समझ गए कि वे उन्हें दूसरे विवाह से बचाना चाहते हैं। पहले विवाह सम्बन्धी उत्तरदायित्व उन्होंने नौकरी से निवृत्त होते होते लगभग पूरे कर लिए, सेवा निवृत्त होकर लगभग दस वर्ष अयोध्यावास व भजन किया, जो वे दूसरा विवाह होने पर न कर पाते। अत: वे सन्तुष्ट और प्रसन्न ही थे कि भगवान् ने दूसरे विवाह से बचा लिया।

एक सन्त रास्ते में जा रहे थे, किसी ने ऊपर से चूल्हे की गरम राख (जिसमें आग भी थी, फेंक दी जो उन पर गिरी। वे हँस पड़े। उनसे पूछा गया कि आपके ऊपर आग फेंकी गई और आप नाराज नहीं हुए, उल्टे हँसे ! ऐसा क्यों ? वे बोले, 'आज हमारे भाग्य में यह था कि हमारे ऊपर आग बरसेगी। जरा देखिए तो कि कैसे आग बरसी ?'

अनन्य शरणागत सन्त भगवान् के विधान को ही मंगलमय मानते हैं, इसलिए आशा भंग के दुःख से बचते हैं और भगवान् पर उनकी श्रद्धा कम नहीं होती।

अपनी बातें पूरी न हों, आघात पर आघात लगें तो भी सन्त को भगवान् की ही आशा रहती है, और किसी की नहीं।

जौ धन बरसै समय सिर, जौ भरि जनम उदास।
तुलसी या चित चातकहिं, तऊ तिहारी आस॥
(दोहावली २७८)

सन्त का विश्वास एक राम पर ही होता है। सांसारिक संयोग जिनसे हमारा काम चलता है, भगवान् के ही बनाए हुए हैं, उन्हीं की मर्जी से कायम हैं, और उनकी इच्छा से देखते ही देखते बदल सकते हैं, मिट सकते हैं या सुधर सकते हैं।

अपरिग्रही सन्तों का योग क्षेम चलता है, उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति का सिलसिला बनता रहता है। भगवान् सार सँभाल कर रहे हैं, करते रहेंगे ऐसा उनका दृढ़ विश्वास है। यह अक्षयवट के समान अक्षय है, कभी नष्ट नहीं होता।

भगवान् पर अटल विश्वास, इसका अर्थ आलसी जीवन नहीं है, परन्तु सक्रिय जीवन होने पर भी भगवान् की शक्ति पर ही विश्वास रहता है। सन्त यदि कोई मठ या आन्दोलन चलाते हों तो उस कार्य की सफलता के लिए वे भगवान् की कृपा पर ही विश्वास करते हैं। प्रह्लाद जी का विश्वास ही उनका रक्षक बना। बाइबिल में भी इस प्रकार की कथा है जिसमें तीन भक्त आग में झोंके गये। परन्तु उनके कपड़े तक नही जले जबकि आग इतनी तेज थी कि झोंकने वाले जल गए। (ओल्ड टेस्टामेण्ट, डैनिएल, अध्याय ३)। ईसा का उपदेश ही था कि

विश्वास (फ़ेथ्) से पहाड़ भी चल सकते हैं। विश्वास के चमत्कार पुराणों में, कुरान, बाइबिल आदि में, भक्तमाल में, तथा अन्य सन्त चरित्रों में भरे पड़े हैं।

एक कैदी था। उसे फ़ाँसी होनी थी। वह विश्वास करता था कि उसे फाँसी न होगी। कारण कुछ नहीं बता पाता था। फाँसी का दिन आ गया, वह फ़ाँसी के तख्ते तक पहुँच भी गया, मगर वह यह कहता रहा कि उसे फाँसी न होगी। इसी समय सहसा गवर्नर का आदेश पहुँच गया कि अभी फांसी न दी जाय। वह बच गया। सम्बन्धित जल्लाद के वक्तव्य के आधार पर यह घटना समाचार पत्र में प्रकाशित हो चुकी है।

सारी अनन्य गति, अस्मिता (अभिमान, अहंभाव) के निरसन से सम्बन्धित है। इसमें अपने बल की अनुभूति होती ही नहीं। सर्वत्र भगवदीय शक्ति ही क्रियमाण दिखाई पड़ती है। कठिन कलिकाल में विश्वास वालों की ऐसी रक्षा रहती है, जैसे कि जमाने का उन पर कोई असर ही न हो।

इस तरह के प्रश्न तो उठते ही हैं कि यदि यह सब सच है तो महान सन्तों के जीवन में विघ्न बाधा, व्याधि आदि का अभाव होना चाहिए वह क्यों नहीं होता? यह विषय अत्यन्त गूढ़ और रहस्यमय है, परन्तु एक सीमा तक श्री गोस्वामी जी ने इस विषय पर चातक छत्तीसी में अत्यन्त महत्वपूर्ण संकेत दिये हैं। चातक अपने नेम प्रेम के लिए प्रसिद्ध हैं, उसके जीवन में क्या दुःख आघात नहीं हैं? हैं। फिर उसका नेम प्रेम कैसे निभता है। चातक के रूपक का विस्तार करके श्री गोस्वामी जी ने सन्त रहनि को समझाया है। यह चातक हर बात में प्राणि शास्त्र वाला चातक नहीं है, साहित्य वाला चातक है। उसे (चातक को) श्री गोस्वामीजी ने चातक-छत्तीसी में अनन्य गति का प्रतीक बना दिया है।

यहाँ 'राम रूप स्वाती जलद' पाठ है। श्री दोहावली जी मे दोहा २७७ में केवल तृतीय चरण में थोड़ा पाठभेद है। वहाँ 'एक राम घनश्याम हित, चातक तुलसीदास ।। पाठ है।

यहाँ यह उपयुक्त होगा कि जब सन्त चातक हैं, भगवान् ही घनश्याम हैं (या स्वाती जलद हैं) तो सन्त रहनि के जो रहस्य 'चातक छत्तीसी' में प्रकट हुए हैं उन्हें संक्षेप से समझ लिया जाय।

एक भरोसो एक बल, एक आस विश्वास।
एक राम घनश्याम हित, चातक तुलसीदास ।।
(२७७)

जौ घन बरषै समय सिर, जौ भरि जनम उदास।
तुलसी या चित चातकहिं, तऊ तिहारी आस ।।
(२७८)

मान्यता के अनुसार चातक केवल स्वाति नक्षत्र में हुई वर्षा के पानी की बूँदों को बादल से गिरते समय नभ में ही अपनी चोंच में लेकर पीता है, अन्य जल का पान नहीं करता।

यह आवश्यक तो नहीं है कि स्वाति में जल वर्षा हो। वर्षा आर्द्रा नक्षत्र में सूर्य के आने पर प्रारम्भ होती है। स्वाति नक्षत्र सावन भादौं (श्रावण, भाद्रपद) महीनों के बाद वर्षा के अन्त में आता है। वह विशेष वर्षा का नक्षत्र नहीं है। यदि चातक आशा लगाए रहा, पर स्वाति नक्षत्र में वर्षा हुई ही नहीं तब क्या होगा ? यही नहीं ! कल्पना कीजिमे कि वहुत से वर्ष इसी तरह निकल गए। स्वाति नक्षत्र में पानी नहीं बरसा। तब क्या होगा ? श्रीगोस्वामी जी कहते हैं कि चाहे स्वाति नक्षत्र में वर्षा हो और वर्षा की बूंदें ठीक चातक के सिर पर गिरें और

वह आसानी से पी सके (क्योंकि दूरस्थ देश में वर्षा होने से चातक को क्या लाभ, जबकि वह वहाँ बरसा हुआ पानी पियेगा नहीं), या फिर ऐसा हो कि चातक का परम प्रेमास्पद मेघ जन्म भर उदासीन रहे, चातक को कभी स्वाति नक्षत्र की वृष्ठि की बूंदें मिलें ही नहीं, दोनों दशाओं में चातक को घनश्याम की ही आशा है, किसी और की कभी नहीं।

सन्त रहनि के पक्ष में अर्थ यह है कि सन्त अपरिग्रही हैं, जो कुछ भगवान भिक्षा रूप से सहज ही दिला दे उसी पर गुजर करने वाले हैं। चाहे इसी रूप से आराम के सारे साधन जुट जायँ या उन्हें एकदम वस्त्र अन्न का भी अभाव रहे, सन्त भगवान् के सिवा किसी और से कोई आशा नहीं करते, योग क्षेम के लिए भगवान् के ही आश्रित रहते हैं, उन्हीं की आशा करते हैं।

चातक तुलसी के मते, स्वातिहु पिये न पानि।
प्रेम तृषा बाढ़ति भली, घटे घटैगी आनि ॥ (२७९)

श्री गोस्वामी जी की सम्मति है कि चातक को स्वाति का जल पीना भी बन्द कर देना चाहिए, प्रेम की प्यास बढ़ती ही रहे यही अच्छा है, उसके घटने से तो प्रेम की प्रतिष्ठा ही घट जायेगी।

सन्त भगवदाश्रित हैं, अपरिग्रही हैं, भिक्षा आदि के नियमों का दृढ़ता से पालन करते हैं। भगवान् से निर्मल प्रेम की ही भिक्षा माँगते हैं, और कुछ नहीं माँगते। 'दिव्य भक्ति प्रयच्छ मे' नान्यं वस्तु कदाचन। तथापि यदि कुछ लौकिक आवश्यकताएँ हैं तो वे उनकी पूर्ति के लिए भगवान् के भिक्षुक हैं। योग क्षेम पारमार्थिक भी होती है। साधन ठीक सधे, अन्तःकरण शुद्ध हो, प्रेमा [या परा] भक्ति सिद्ध हो, इन सबके लिए तो अनन्य भक्त भगवान् का भिक्षुक है ही।

याचना कुछ भी हो, तीव्र संवेग के साथ याचना करने में जो भावोद्रेक होता है वह प्रेम का प्राकट्य है। याचना नहीं पूरी होने तक जो भाव की तीव्रता रहती है वह याचना पूरी होने पर नहीं रहती। कम तो हो ही जाती है, भले ही फिर से बढ़े। चातक यदि खूब प्यासा हैं, तो जिस तड़प के साथ घनश्याम से याचना करता है, प्यास बुझने पर वह तड़प कहाँ रहेगी ?

रटत रटत रसना लटी, तृषा सूखि गे अंग।
तुलसी चातक प्रेम को नित नूतन रुचि रंग।।
[२८०]

रटन करते करते जीभ थक गई, प्यास से अंग सूख गए, परन्तु चातक के प्रेम के रंग में नित्य नया निखार आता जाता है।

चातक मेघ से बराबर याचना करता है, रटते रटते थक जाता है, प्यास से अंग सूखते हैं, उधर मेघ पानी नहीं दे रहा है। चातक को कोई शिकायत नहीं पैदा होती। प्यारे के प्रति जो प्रेम है उसमें नित्य नया रंग चढ़ता जाता है, रुचि बढ़ती जाती है, खिन्नता नहीं होती।

सन्त भगवान् का ही नाम रटते हैं, परिस्थितियाँ प्रतिकूल होती जायँ तो भी उनके प्रेम में आघात नही लगता। विषम परिस्थिति में भी भगवान् को अधिकाधिक भावपूर्वक याद करते हैं, पुकारते हैं।

यहाँ स्मरणीय यह है कि सन्त सुख दुःख हानि लाभ आदि के तितिक्षु (सहने वाले) होते हैं। भगवान् ने भी तितिक्षा का उपदेश दिया है (गीता २.१४)। सन्तों के भजन का यह लक्ष्य नहीं है कि सुखी जीवन बना रहे। कोई कोई सन्त वर्षो कठिन बीमारी झेलते रहे, भगवान् से स्वस्थ होने के लिए प्रार्थी न हुए। भगवान् सब देख रहे हैं, जानते हैं,

उन्हें जो पसन्द है वह अपने को भी पसन्द है, उनका विधान सन्तोषपूर्वक स्वीकार है, ऐसा उनका भाव रहता हैं।

दु:ख दर्द में भगवान् को अधिक भावपूर्वक स्मरण करने का अवसर होता है, सबके लिए नहीं शरणागत के लिए। साधारण जीव तो दु:खदर्द के समय सकाम आर्त पुकार भले ही लगा दें, भगवान् का एकाग्रता से स्मरण नहीं कर पाते। शरणागत सन्त के लिए जब साधारण कार्यक्रम दु:खदर्द से भंग हो जाता है, तब विशेषत: भगवान् कों पुकारने का ही कार्यक्रम चलता है।

परिस्थितियाँ बिगड़ी रहें पर प्रेम बढ़ता रहे इसी में सन्त का अनोखा गौरव है, निष्काम भूमिका पुष्ट प्रमाण है। चाह नहीं तो कोई खटक नहीं, और भगवान् के प्रेम में कोई अटक भी नहीं। ग़ालिब कहते हैं—

दर्द मिम्नतकशे दवा न हुआ। मैं न अच्छा हुआ बुरा नहीं हुआ।।

बीमारी ने दवा की मिन्नतें (प्रार्थनाएँ) नहीं की, दवा ने कृपा नहीं की। मैं अच्छा नहीं हुआ। यह कोई बुरी बात नहीं हुई। दवा की मिन्नतें करना ही अपमानजनक था। इस शैर की व्यञ्जना निष्काम भक्ति, शरणागति की ओर है।

चढ़त न चातक चित कबहुँ, प्रिय पयोद के दोख।
तुलसी प्रेम पयोधि की, ताते नाप न जोख।।।२८१।

चातक के ध्यान में अपने प्यारे मेघ का कोई दोष नहीं आता। इसी से प्रेम के सागर की कोई नाप जोख नहीं हो सकती। वह अथाह और अपार है, उसकी सीमा नहीं।

किसी वस्तु की मजबूती नापने का यह सूत्र है कि उसके तोड़ने में कितनी शक्ति लगानी पड़ती है। जिसे तोड़ने में अधिक शक्ति लगे वह अधिक मजबूत मानी जायेगी।

साधारण व्यक्ति जैसा प्रेम करता है वह थोड़े आघात से चकनाचूर हो सकता है। वह प्रबल आघात सहन नहीं कर सकता।

मित्रता प्राय: टूट जाती है और आरोप सुनने में आता है कि अमुक बड़ा स्वार्थी या कपटी निकला। लेकिन स्वार्थ का आरोप प्राय: दोनों पक्षों की ओर से होगा। कुछ भी हो, आरोप लगाने वाला यह नहीं सोचता कि दूसरे को तो स्वार्थी तब माना गया जब आघात लगा और मैत्री टूटी। आघात लगा यानी अपनी इच्छा (स्वार्थ) पूरी नहीं हुई, उसमें दूसरे ने साथ नहीं दिया या साथ देना बन्द कर दिया। तो फिर विचारणीय है कि अरोपग्रस्त व्यक्ति स्वार्थी निकला (सिद्ध हुआ) या आरोपक स्वयं स्वार्थी निकला। यदि दूसरे की मित्रता स्वार्थपूर्ण थी तो आपकी कब निःस्वार्थ थी। यदि निःस्वार्थ होती तो आघात कैसे लगता ?

सुर नर मुनि सबकै यह रीती, स्वारथ लागि करहिं सब प्रीती।

अत: हम अपने स्वार्थ को न पहचानें और दूसरे को स्वार्थी बताएँ, इसमें बड़ा खतरा है, बड़ा धोखा है।

साधारणत: जो प्रेम होता है उसका कुछ लौकिक आधार रहता है। सहपाठी, सहयोगी, सहवासी, सहकर्मी आदि से प्रेम किया जाता है, समान कार्य उसका आधार है। किसी प्रेम में रूप का आकर्षण है, किसी में धन का या किसी में गुण का। इस प्रकार के प्रेम में हम कुछ पाना चाहते हैं, कुछ लाभ उठाना चाहते हैं। साथ में कुछ दे भी सकते

हैं। जो कुछ हम पाना चाहते हैं उसके मूल्य में हम कभी कभी बहुत कुछ दे सकते हैं।

जिस प्रेम (आसक्ति) का आधार नष्ट हो जाय वह जारी नहीं रह सकता। यदि रूप का ही आकर्षण है तो वह सौन्दर्य के नष्ट हो जाने पर टिक नहीं सकता, यह भी सम्भव है कि रूप की अधिकता मिलने पर आकर्षण केन्द्र बदल जाय। जरा या व्याधि से सौन्दर्य नष्ट होने पर आसक्ति का ह्रास हो सकता है। यदि धन (वैभव, सुख, सुविधा आदि) का आकर्षण है तो वह सम्पन्नता नष्ट होने पर नहीं टिकेगा। किसी अन्य गुण का आकर्षण है तो उस गुण के नष्ट, क्षीण या अप्रभावी होने पर वह अस्त होगा। परन्तु इस सब में तो स्वार्थ का आधार है ही। गुणों का प्रवाह एक रस नहीं रह सकता। अत: गुण आधारित प्रेम भी स्थिर या शाश्वत नहीं रह सकता। परन्तु किसी का अन्त:करण इस प्रकार के अस्थाई, क्षय होने वाले, स्वार्थाधारित प्रेम को सच्चा नहीं मानता, उससे सन्तुष्ट नहीं होता। तो फिर सच्चा प्रेम कहाँ है ? कैसे होता है ?

गुण रहितं कामना रहितं प्रतिक्षण वर्धमानं सक्ष्मतर मनुभवरूपं।
अनिर्वचनीयं प्रेम स्वरूपं।

(नारद भक्ति सूत्र)

दार्शनिकों ने, चिन्तकों ने यह माना है कि प्रेम का लौकिक आधार क्षीण होने पर वह अवश्य क्षीण होगा। गुण, कामना आदि के आधार से रहित प्रेम ही स्थिर रह सकता है।

जो प्रेमी जो कुछ माँगता है, वही उसके प्रेम का आधार जान पड़ता है। अभिलषित वस्तु मिलती रहे तो प्रेम दृढ़ होगा, नहीं तो क्षीण होगा। जिससे हम प्यार करते हैं, उससे हम जो कुछ माँगते हैं,

समझते हैं कि हमें मिलना ही चाहिए, वह नहीं मिलता तो आघात लगता है। प्रेमास्पद का हमारी याचना को पूरी न करना बुरा लगता है, वह ऐसा ही करता रहे तो कठोर, सहानुभूति रहित, उदासीन या अत्याचारी भी जान पड़ता है। ऐसे ही सन्दर्भ में उर्दू के कवि प्रेमास्पद को ज़ालिम रूप में चित्रित करते हैं।

ज़ालिम से प्रेम कैसे हो सकता है? परन्तु सच्चे प्रेम की यही प्रशंसा है कि वह कठोरता से समाप्त नहीं होता, बढ़ता ही है।

उन्हें हर दम यही धुन है, नया तर्ज़े जफा क्या है ?
हमें भी देखना है यह, जफ़ा की इन्तहा क्या है ?
(जफ़ा = अत्याचार)

उनको आता है प्यार पर गुस्सा। हमको गुस्से पे प्यार आता है॥

जुर्मे उल्फत कि हमें लोग सजा देते हैं।
कैसे नादान हैं, शोलों को हवा देते हैं॥

शोलों = अंगारों।

प्रेम की दृढ़ता की यह एक कसौटी है कि वह कितना आघात सह सकता है। कितनी कठोरता, बेरुखी उसे तोड़ सकती है? साधारणत: आसक्ति दोष दर्शन को रोकती है, परन्तु उसमें आघात लगता जाय तो कभी न कभी प्रियतम को दोष लगाना ही पड़ेगा। अत्यन्त आसक्त पुरुष अधिक सहन कर सकता है, अधिक समय तक सहन कर सकता है पर उसकी सहन शक्ति असीम नहीं है। उसकी सीमा पार हो जाने पर तीव्र प्रतिक्रिया होती है।

लो वह भी यह कहते हैं कि वे नंगो नाम है।

यह जानता अगर तो लुटाता न घर को मैं ।।

(ग़ालिब)

श्री गोस्वामी जी कहते हैं कि जहाँ तक प्रियतम की कठोरता सहन करके भी दोष, दर्शन न हो वही तक प्रेम की सीमा है । इसी हिसाब से प्रेम की नाप जोख हो सकती हैं । लेकिन जहाँ पर कुछ भी होता रहे, प्रियतम के दोष का दर्शन होता ही नही, वहाँ प्रेम की सीमा कैसे निर्धारित की जाय ? वह प्रेम समुद्रवत् अपार, अगाध है, उसकी नाप जोख नही हो सकतीं । चातक का प्रेम ऐसा ही हैं, ऐसा ही प्रेम सच्चा है ।

वरषि परुष पाहन पयद, पंख करौ टुक टूक ।
तुलसी परी न चाहिए, चतुर चातकहि चूक ।।

(२८२)

मेघ भले ही कठोर ओले बरसाकर चातक के पंख के टुकड़े टुकड़ें कर दे, परन्तु (गोस्वामी जी कहते हैं कि) चतुर चातक को अपने प्रेम प्रण के निर्वाह करने में चूकना नही चाहिए ।

यदि चातक जल की याचना करता है, मगर ओले बरस जायँ, तो उसके पंख भी टूट सकते हैं, फिर वह बादलों की ओर उड़ेगा कैसे ? और अपनी टेर कैसे लगाएगा ? साधारण चातक वेबस हो जायगा । परन्तु कवि के अनुसार चाहे जितनी वेबसी आए चातक को चूकना नहीं चाहिए, प्रेम की पुकार लगाते ही रहना चाहिए । प्रेम की पुकार शिकायत की पुकार न होने पाए ।

सन्त वृत्ति की गहराई में कवि उतर रहा है । बहुत विपत्ति आने पर भक्त कभी कभी विचलित होते देखे गए हैं । मिथिला के एक भक्त महारानी (सीता जी) के गहरे प्रेमी थे, उन पर विपत्ति पर विपत्ति

बड़ती गई । एक दिन उनका धीरज़ छूटा और उन्होंने एक पद बनाकर रोते हुए गाया—'सिय जू के चरण, चौपट करण ।' उनके आर्त भाव से महारानी जी ने प्रसन्न होकर दर्शन दिए । तब उन्होंने प्रसन्न होकर भावपूर्वक दूसरा पद गाया—

'सिय जू के चरण मंगल करण । उनके दुःख दूर हुए ।

हम लोगों को, जो थोड़े से दुःख से विचलित हो जाते हैं, यह अधिकार कदापि नहीं है कि उन सन्तों की आलोचना करें जो विपत्ति के पहाड़ टूटने पर कभी क्वचित् विचलित हो गए । वे हमारी प्रशसा, श्रद्धा के ही पात्र हैं । यदि वे प्रेम की झील सिद्ध हुए अपार सागर नहीं सिद्ध हुए, तो वे लोग उनका उपहास करने के अधिकारी कहां हैं, जो प्रेम का एक गिलास भी सिद्ध नहीं हुए ।

तथापि कवि ने आदर्श को स्पष्ट किया कि परिस्थिति चाहे जितनी विषम हो जाय चतुर चातक (आदर्श सन्त प्रेम निर्वाह में चूकेगा नहीं ।

विषम परिस्थिति में ही प्रेम की परीक्षा हो जाती है । आदर्श अध्यापक को विद्यार्थी की स्थिति परीक्षा से पूर्व ही ज्ञात रहती है, परन्तु परीक्षा के बाद विद्यार्थी को अपनी स्थिति अच्छी तरह ज्ञात हो जाती है तथा अन्य लोगों को भी ज्ञात हो जाती है । इसी तरह साधक की परीक्षा उसी के लिए उपयोगी होती है तथा अन्य लोगों को भी इससे उसकी स्थिति के समझने में सहायता मिलती है ।

कुन्ती ने भगवान् से वरदान ही माँगा कि विपत्तियाँ सदैव आती रहें (श्रीमद्भागवत १.८.२५), जिनको दूर करने के लिए आप आकर दर्शन देते हैं ।

जैसे अग्नि स्वर्ण के मैल को भस्म करती है, वैसे ही धैर्य और तितिक्षा पूर्वक प्रेम निर्वाह करने से अन्तःकरण पवित्र होता है और प्रेम विकसित होता है।

कनकहि बान चढ़ै जिमि दाहे। तिमि प्रियतम पद प्रेम निबाहे ।।

चतुर (सावधान) सन्त अन्तःकरण शुद्धि और प्रेम की वृद्धि होती रहे इसके लिए सब कुछ सहने को तैयार रहते हैं, क्योंकि वे अर्थ धर्म काम मोक्ष के चाहने वाले नहीं हैं, केवल प्रेम के ही चाहने वाले हैं।

माँ बालक का खेल इसलिए भी बिगाड़ सकती है कि वह उसे गोद में लेना चाहती है। वृत्रासुर ने रणभूमि में कहा—

त्रैवर्गिकायास विधातमस्मत्पतिर्विधत्ते पुरुषस्य शक्र।
तत्रानुमेयो भगवत्प्रसादो न लभ्यतेऽकिंचन गोचरोन्यैः ।।
(श्रीमद्भागवत ६.११.२३)

हमारे प्रभु ! हम लोगों के त्रैवर्गिक (अर्थ धर्म, काम सम्बन्धी) प्रयासों में विघ्न डाल देते हैं, उसमें भगवत्कृपा का ही अनुमान (दर्शन) करना चाहिए क्योंकि वे अकिंचन गोचर हैं, दूसरों को नहीं मिलते।

परम अकिंचन प्रिय हरि केरे।
(रा०च०मा०)

श्री राघवेन्द्र सरकार को स्वयं विवाह के थोड़े ही समय बाद राज्यतिलक मिलते मिलते बनवास मिल गया। परन्तु उन्होंने यहीं माना कि—

'सबहि भाँति हित मोर।,
(रा०च०मा०, अयोध्याकाण्ड)

इसलिए चतुर सन्त (सावधान, धीर, तितिक्षु, निष्काम, प्रेम का ही आदर्श रखने वाले सन्त) बड़ी से बड़ी विपदाओं में भी प्रेम प्रण के निर्वाह करने में चूक नहीं करते।

उपल बरषि गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक मेघ तजि, कबहुँ दूसरी ओर।।
(२८३)

यद्यपि मेघ कभी कभी ओले बरसाता है, गरजता है मानो चातक को फटकार रहा हो और वज्रपात (बिजली गिरना) भी करता है, परन्तु फिर भी क्या चातक मेघ को छोड़कर कभी दूसरी ओर देखता है ? (नहीं देखता)।

इस दोहे में अनन्य गति को और भी स्पष्ट किया है। ओले बरसाना, पत्थरों को फेंक कर मारने के समान है, गरजना डाटने के समान है, और वज्रपात करना (बिजली गिराना) क्रोध पूर्वक महान् दण्ड देने के समान् है। इस सबसे आकाश में उड़ते हुए चातक की कोई बचत नहीं और इस सबसे यह प्रतीत होता है कि चातक के प्रेम से मेघ प्रसन्न नहीं है, नाराज है। इसी प्रकार जो सन्त घोर कष्ट में पड़े हैं, विपत्ति दूर नहीं होती, बढ़ती ही जान पड़ती है, अज्ञानियों की दृष्टि में भगवान् उनसे नाराज हैं, खुश नहीं हैं। उनका प्रेम भगवान् को स्वीकार नहीं है, तभी तो वे दुःख में पड़े हैं। परन्तु सन्त और भगवन्त का सम्बन्ध अत्यन्त रहस्यमय है।

धैर्य में सहायक एक विचार यह है कि भगवान् किसी भक्त पर कृपा करके उसके कर्म का लेखा इसी जन्म में चुका देना चाहते हैं, कभी कभी यह कष्टमय जीवन सन्तों का कवच होता है, क्योंकि वह अज्ञानियों की दृष्टि से उनकी महिमा को दूर रखता है, अतः उनके भजन में

विघ्नकारी साँसारिक पुरुषों की भीड़ उनके पास नहीं जुटती। परन्तु सचमुच जो धीर है, सब्र करता है, साबिर (सन्तोषी) है, तितिक्षु है, वही पूज्य है, दान उसे मिलना चाहिए, वही उत्तम साधु (फ़कीर) है, वही भगवान् का साथी (औलिया) है, उसको दिया हुआ भगवान् को दिए हुए कर्ज़ के समान है, भगवान् उसे बढ़ा चढ़ाकर (सूद सहित) अदा करते हैं। वही सच्चा शरणागत है, अब्द उल् अल्लाह (भगवान् का दास)। आप चाहे धोखे से भगवान् के क्रोध का भाजन मानें परन्तु सचमुच वह प्रेम भाजन है। (मुहीबुल्लाह, अल्लाह का प्यारा है)। सूफी सन्त सरमद को नास्तिक करार देकर उनकी गरदन काटी गई परन्तु उन्होंने भगवान् से कहा—

वजुर्मे इश्के तोरा मो कुनन्द ग़ौका एस्त।
बर सरे बाम आ कि खुश तमाशा एस्त।।

तेरे प्रेम के जुर्म में लोग मुझको मार रहे हैं, जरा छज्जे पर आकर यह बढ़िया तमाशा तो देखो।

दुनियाँ कुछ भी समझे, सन्त विपत्तिग्रस्त होने पर भी भगवत्कृपा का ही अनुभव करते हैं। वे प्रत्यक्ष अनुभूति रखते हैं, अनुमान से काम नहीं चलाते—आत्मवान्नानुमानिकः (श्रीमद्भागवत ११.१९.१)। इसलिए सन्त कभी भगवान् से भिन्न किसी सत्ता का सहारा नहीं पकड़ते। भए हूँ उदास राम, मेरे आस रावरी। (वि०प०) जो तुम त्यागहु राम हौं तो नहिं त्यागौं। परिहरि पांय काहि अनुरागौं।। (वि०प०)। यही अनन्यता है।

पवि पाहन दामिनि गरज, झरि झकोरि खरि खीझि।
रोष न प्रीतम दोष लखि, तुलसी रागहिं रीझि।।
(२८४)

मेघ बिजली गिराकर, ओले बरसाकर, बिजली चमकाकर, गरज गरज कर, वर्षा की झड़ी लगाकर, सब प्रकार से अपनी खीझ यानी अप्रसन्नता प्रकट करता है, परन्तु चातक इस सब व्यवहार में अपने परम प्यारे मेघ का कोई दोष नहीं देता, क्रोध नहीं करता, उल्टे वह मेघ के राग (अनुराग, प्रेम) का ही अनुभव करता है और प्रसन्न होता है।

उनको आता है प्यार पर गुस्सा। हमको गुस्से पे प्यार आता है।।

जहाँ प्रेमास्पद का प्रतिकूल भाव है वहाँ अनुकूल भाव भी हो सकता है, यदि भाव परिवर्तन हो जाय। उदासीनता का प्रेम में बदल जाना कठिन है, विपरीत भाव बदलकर अनुकूल हो जाय यह इतना कठिन नहीं है।

इसके अतिरिक्त यह तथ्य भी है कि कभी कभी प्रेम के प्रत्युत्तर में विपरीत भाव आत्म रक्षार्थ होता है, अपयश, अपराध, पाप या कानून से बचने के लिए। इससे भी महत्वपूर्ण यह है कि प्रायः प्रेमास्पद अपने को बचाना चाहता है कि प्रबल प्रेम के सामने आत्म समर्पण न करना पड़े, इसमें प्रेम की महती शक्ति की मान्यता तो रहती ही है। इस मान्यता से भी प्रेमी प्रसन्न हो सकता है। प्रतिकूल व्यवहार में भी प्रेम की मान्यता निहित रह सकती है।

कई बार प्रतिकूल व्यवहार द्वारा प्रेम की परीक्षा हो जाती है। सच्चा प्रेमी ऐसी परीक्षा से व्यथित नहीं होता।

मुहव्बत करने वाले ग़म से घबराया नहीं करते।

एक और रहस्य है वह विचार विशेष रूप से इस दोहे में निहित है। प्रेमास्पद प्रेम को पहचानता है। वह अपने प्रेमी को आदर्श रूप में देखना चाहता है। साधारण मनुष्य से जिस त्याग, धैर्य, बलिदान,

तितिक्षा आदि की आशा नहीं की जाती उसकी आशा प्रेमी से की जाती है। प्रेमी इस उच्च आदर्श को पूरा न करे तो बुरा लगता है, क्योंकि वह अपना है, इस प्रकार प्रतिकूल व्यवहार भी राग का प्रमाण बन सकता है।

कहते हैं कि लैला दान बाँट रही थी, मजनूँ भी अपना खप्पर लेकर पहुँच गए। इनको भीख न मिली, हाथ के प्रहार से खप्पर गिरा दिया गया और टूट गया। ये प्रसन्न होकर नाचने लगे। किसी ने कारण पूछा तो कहा—सबकी तरह मुझे भी कुछ भीख मिल जाती तो क्या विशेषता थी ? विशेषता तो यही है कि सबकी तरह साधारण भिखारी की तरह सामने खड़ा होना नापसन्द किया गया।

इस प्रकार प्रतिकूल व्यवहार में भी अनेक प्रकार से राग का छिपा होना सिद्ध होता है। इस राग (प्रेम) को पहचानकर प्रेमी प्रसन्न होता है, प्रेमास्पद पर और भी रीझता है।

भक्त और भगवान् का सम्बन्ध अति गूढ़ है। कभी कभी तो सन्त दूसरे का दु:ख अपने ऊपर लेकर झेल डालते हैं। इसलिए साधारण व्यक्ति की यह कल्पना कि यदि कोई सन्त लौकिक दृष्टि से कष्ट में है, तो भगवान् उन पर रुष्ट हैं, मोह या अज्ञान ही है। सुख दु:खादि के आधार पर भगवान् की कृपा या कोप की पहचान करना मोहग्रस्त जीव का काम है, सन्त का नहीं।

मान राखिबो माँगिबो, पिय सों नित नव नेहु।
तुलसी तीनिउ तब फबैं, जो चातक मत लेहु।।
(२८५)

सम्मान की रक्षा, भिक्षा वृत्ति और प्यारे से नित्य नया प्रेम, (श्री गोस्वामी जी कहते हैं कि) ये तीनों बातें एक साथ तब निभ सकती

है, शोभायमान हो सकती हैं, जब चातक की रहनि का अनुसरण किया जाय।

सम्मावित जीवन, याचना और प्रेम निर्वाह—यह तीनों बेमेल तत्व हैं, एक दूसरे के विपरीत काम करते हैं, तीनों का साथ साथ निर्वाह होना कठिन है, परन्तु चातक इन तीनों का निर्वाह करता है। सन्त के जीवन में भी इन तीनों का निर्वाह पाया जाता हैं।

'सेवक सुख चह मान भिखारी।' के अनुसार भिक्षुक के लिए सन्मान की इच्छा रखना ब्यर्थ है। भिखारी सन्मानित नहीं हो सकता। उसे याचना भंग का डर है और अपमान सहन करना पड़ सकता है। इसलिए सन्मान रक्षा तथा भीख माँगना ये दोनों परस्पर विरोधी कार्य हैं, सहयोगी कार्य कदापि नहीं हैं।

इसी तरह यदि प्रेमास्पद के प्रति प्रेम का निर्वाह करना है, उसे अनुकूल करना हैं, उसकी प्रतिकूलता को बचाना है, तो उसके अनुकूल होकर चलना पड़ेगा। अपनी बात रह जाय, पूरी हो जाय, जो प्रेमी चाहे वह प्रेमास्पद को करना पड़े इसमें प्रेमी की शान है, लेकिन प्रेमी अपनी बात का आग्रह न करे, प्रेमास्पद की मर्जी पूरी होने दे तो इसमें प्रेमास्पद की शान है। जिस विषय में दोनों की रुचि अलग अलग हो, दोनों की शान नही रहेगी, एक की ही रहेगी। यदि प्रेमी ने अपनी बात का आग्रह नहीं किया, प्रेमास्पद की बात चलने दी तो शान (यानी सन्मान) की हानि हुई, परन्तु प्रेमास्पद की अनुकूलता मिल सकती है, अपनी शान रह जाय तो प्रेम की हानि हो सकती है। इस प्रकार सन्मान रक्षा व प्रेम—ये दोनों तत्व भी प्रतियोगीं हैं, सहयोगीं नहीं है। प्रेम में मान का त्याग करना पड़ेगा या मान के लिए प्रेम का।

परस्पर विरोधी तीनों तत्वों का समन्वय कैसे होगा ? ये साथ साथ कैसे चलेंगे ? चातक के रूपक का आश्रय लेकर कवि ने इन तीनों गुणों का सहअस्तित्व सन्तों के जीवन में प्रदर्शित किया है ।

चातक भिक्षु है पर सन्मानित है । प्रणय प्रार्थी है तथापि वह सन्मानित है । मान से उसका प्रेम खण्डित नहीं होता, न प्रेम से मान की हानि होती है । इसी प्रकार सन्त के जीवन में भिक्षुचर्या भी है, सन्मान भी तथा प्रेमास्पद प्रभु के प्रति नित्य नया प्रेम भी है । तीनों का निर्वाह भी हैं । यह आगे स्पष्ट किया गया है ।

तुलसी चातक ही फवै, मान राखिबो प्रेम ।
व्रक्र बूंद लखि स्वाति हू, निदरि निबाहत नेम ।।
(२८६)

तुलसीदास जी कहते हैं, अपनी सन्मान–रक्षा और प्रेम दोनों का निर्वाह चातक को ही शोभा देता है क्योंकि स्वाति नक्षत्र की वर्षा में भी यदि कोई बूंद टेढ़ी जा रही है, ठीक उसकी चोंच में नहीं आ रही है, तो उसके प्राप्त करने के लिए वह लपकता नहीं, उसका निरादर करके अपने नियम की रक्षा करता है ।

इस दोहे में नियम निर्वाह, मर्यादा का महत्व, निरूपित है । चातक अपने नेम (नियम निर्वाह) आदि के लिए प्रसिद्ध है ।

नेम तौ पपीहा ही के, प्रेम प्यारी मीन ही के,
तुलसी कही है नीके, हृदय आनि ।
(गीतावली)

चातक हंस सराहियत, टेक विवेक, विभूति ।
(रा०च०मा०, अयोध्याकाण्ड)

प्रेम नेम के निबाहे, चातक सराहिए।

(वि०प० १७८)

सन्त की शान इसी में है कि वह अपने त्याग मूलक नियमों को सुख सुविधा, सफ़लता आदि के पाने के लिए शिथिल नहीं करते, दृढ़ता से उनका पालन करते हैं। शिथिल करने के लिए बहाने तो सदैव उपलब्ध रहते हैं पर सन्त उनको प्रश्रय नहीं देते। सन्त अपने नियमों को हृदय से अपनाए हुए हैं, फिर वे उन्हें शिथिल करने के लिए बहाने क्यों ढूंढें ? कोटि विघ्न ते सन्त कर, मन जिमि नीति न त्याग।

(रा०च०मा०)

चातक का पहला नियम यह माना जाता है कि वह स्वाति नक्षत्र की वर्षा का ही जल पीता है, अन्य जल नहीं पीता। इस नियम से चातक साल भर प्यासा ही रहता है, स्वाति नक्षत्र में सूर्यं लगभग दो सप्ताह ही रहता है। उसी अवधि में पानी बरसा तो पिया नहीं तो वह भी गया। चातक का दूसरा नियम है कि बरसता हुआ जल ही पीता है पृथ्वी पर गिर जाने पर नहीं पीता। स्वाती नक्षत्र में खूब पानी बरसकर निकल जाय तो तालाबों में भरा पानी नहीं पीता। बादल से ही बरसा है, स्वाति नक्षत्र में ही बरसा है पर भूमि पर गिर जाने पर उसके काम का नहीं। चातक का तीसरा नियम है कि स्वाति की वर्षा में भी बूंद सीधे मुंह में आये तो स्वीकार करे नहीं तो निरादर करे, जाने दे, उसका पीछा न करे। ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि इन तीन नियमों के निर्वाह से तो चातक की जान ही चली ज़ायगी, वह जी ही न सकेगा। परन्तु चातक जीता ही है।

अब सन्त जीवन का पहलू देखिए। वह अपने कठोर नियमों से बँधा है। सांग रूपक में सन्तों की रहनि के नियम ही चातक पर घटित

किए गये हैं। सन्त का पहला नियम यह है कि कुवाच्य का वर्जन करता है, शुद्ध कमाई करता है या शुद्ध कमाई की भिक्षा लेता है। यह वैसा ही है कि पपीहा केवल स्वाति का जल पीता है। आजकल शुद्ध कमाई विरलतर हो गई है। शुद्ध कमाई पर ही गुजर करना अशक्य होता जा रहा है। शुद्ध कमाई की भिक्षा पर निर्वाह करना भी उतना ही कठिन है क्योंकि शुद्ध कमाई करने वाले कहाँ से आएँ, जिनकी भिक्षा सन्त ग्रहण करें? अतः इस नियम का पालन अशक्य दिखाई पड़ता है। पर सन्त तो इसके आगे और भी कठोर नियम रखते हैं।

सन्त रहनि का दूसरा नियम यह है कि भिक्षा देने वाले का भाव शुद्ध हो। भिक्षा में अजगरी, मधुकरी, कूकरी, व शूकरी, इस प्रकार चार भेद हैं। अजगर की तरह अपने स्थान पर पड़े रहना, वहीं लाकर दी जाय वही भिक्षा ग्रहण करना, भिक्षा प्राप्ति का यत्न न करना, यह अजगरी वृत्ति है। मधुकरी वृत्ति में थोड़ा थोड़ा भोजन कई घरों से माँग कर खाना होता है। किसी एक व्यक्ति पर एक समय के भोजन का भी भार न पड़े, भ्रमर की तरह विभिन्न पुष्पों का थोड़ा थोड़ा पराग ग्रहण करके काम चलाया जाता है। मधुकर किसी का आश्रित नहीं होता। किसी एक पर आश्रित होकर उसके दान पर गुजर करना और उसके प्रति कृतज्ञ होना उसका पक्ष ग्रहण करना, उसके हितों की पहरेदारी करना यह कूकरी (कुत्ते की) वृत्ति है। शुद्ध अशुद्ध, भक्ष्याभक्ष्य का विचार न करना, किसी तरह पेट भरना, अपमानजनक दी हुई भिक्षा भी स्वीकार करना, अपमानित जीवन व्यतीत करना, यह शूकरी वृत्ति है। अजगरी और मधुकरी वृत्तियाँ ही प्रशस्त हैं। चातक स्वाति नक्षत्र का भी जल, जलाशयों का भरा हुआ, नहीं ग्रहण करता। सहज प्राप्त ही उसे स्वीकार है। जलाशयों में भरा हुआ जल है, उस पर सभी जीवों का अधिकार है, उसमें चातक हिस्सा नहीं बटाना चाहता। सामूहिक सम्पत्ति, सार्वजनिक दान, अन्नक्षेत्र आदि पर निर्भर रहना भी सन्तों

को पसन्द नहीं। तो उनके लिए अलग अलग ट्रस्ट बना दिये जायँ ? वह भी सन्त को पसन्द नहीं। किसी ट्रस्ट का उसी के निर्वाह के लिए बनाया जाना भी उसे पसन्द नहीं। यह तो ऐसा ही होगा कि एक जलाशय उसके लिए अलग कर दिया जाय, और जीव उसमें पानी न पियें। असली सन्त वृत्ति सभी प्रकार की आर्थिक स्थिरता या सुरक्षा का त्याग करती है। सन्त आकाश वृत्ति से रहना चाहते हैं। सभी सन्त इन सब कठोर नियमों को नहीं अपनाते, परन्तु सन्त वृत्ति त्यागपूर्ण ही होती है। विकासशील सन्त स्वभाव उत्तरोत्तर श्रेष्ठतर त्याग सोपानों पर पहुँचता है। इसलिए इन सोपानों का दिग्दर्शन है। पृथ्वी पर गिरे हुए जल को न पीना अर्थात् आर्थिक स्थिरता, सुरक्षा का त्याग, आकाश वृत्ति का आश्रय। दैवाल्लब्धेन सन्तोषः। (यथा लाभ सन्तोष सदाई।)

एक सोपान इसके आगे भी है। स्वाति नक्षत्र गत हो रही वर्षा का जल जो अभी भूमि पर पहुँचा नहीं है, आकाश में ही है, यह चातक का पेय है। पर उसकी टेढ़ी बूंद को वह लपककर, झपटकर नहीं लेगा, उसका त्याग करेगा। स्वतः चोंच में आ जाय उसी बूंद को स्वीकार करेगा। अन्य बूंदों का त्याग करेगा।

सन्त अपने नियमों के अनुकूल भिक्षा के प्रति भी उत्साहित, उत्कंठित या व्यग्र नहीं रहते, उसके पीछे नहीं पड़ते। वह सहज ही सम्मानपूर्वक उन्हें मिले, उसके लिए वे, प्रयास नहीं करते, लालच नहीं करते।

इन प्रतिबन्धों के साथ कोई जीवित रह सकता है या नहीं, यह अलग प्रश्न है, यथा स्थान उस पर विचार किया जायगा। परन्तु यहां यह समझ लेना पर्याप्त है कि इतने नियमों से प्रतिबन्धित भिक्षा ग्रहण करने वाला सन्त नीच या अपमानित नहीं कहा जा सकता, उसका अत्यन्त सम्मानित होना सुनिश्चित है।

इस प्रकार चातक के इस सांग रूपक के बहाने श्री गोस्वामी जी ने सन्तों की रहनि समझाई है और स्पष्ट किया है कि किस प्रकार दो परस्पर विरोधी भावों (भिक्षा वृत्ति व सम्मान का) सामञ्जस्य, सन्तुलन व समन्वय सन्त जीवन में पाया जाता है।

तुलसी चातक मांगनो, एक सबै धन दानि।
देत जो भू भाजन भरत, लेत जो घूंटक पानि ।।
(२८७)

तुलसीदास जी कहते हैं कि चातक एक अनोखा भिखारी है और बादल वैसा ही अनोखा दानी है। देते समय मेघ पृथ्वी के सभी जलाशयों को भर देता है, परन्तु लेने वाला चातक केवल घूंट भर पानी लेता है।

कहते हैं कि एक सन्त थे उन्हें दो पैसे रोज़ प्राप्त होते थे। उतने में ही (सस्ते जमाने में) उनकी गुजर हो जाती थी। एक बार उन्होंने भगवान् से प्रार्थना की कि दो ही पैसे प्रतिदिन के हिसाब सम्पूर्ण जीवन के पैसे उन्हें एकदम एक बार में ही मिल जायँ। भगवान् ने प्रार्थना स्वीकार कर ली। उन्हें जीवन भर की आय तुरन्त मिल गई। उन्होंने अपने ऊपर दो ही पैसे खर्च किए, शेष सब धन से साधुओं का भण्डारा कर दिया। दूसरे दिन उन्हें फिर पूर्व दिवस के ही समान धनराशि मिली और उन्होंने उसका वैसा ही उपयोग किया। किसी सन्त ने भगवान् से जिज्ञासा की कि जब उक्त सन्त ने जीवन भर की आय एक ही दिन में प्राप्त कर ली, तो अब उन्हें रोज उतनी धनराशि क्यों मिलती है ? भगवान् ने कहा – उन्हें पूर्ववत् दो पैसे रोज मिलते हैं, शेष दूसरों का भाग है, जो दूसरों को उनके माध्यम से मिलता है।

विभिन्न योनियों में भोजन की खोज जारी ही रहती है, मनुष्यों को भी पेट भरने की विकराल समस्या का सामना करना पड़ता है।

रोटी की समस्या के कारण मनुष्य अत्यन्त विवश हो जाता हैं। उसको बहुत से कार्य न चाहते हुए भी करने पड़ते हैं लोग कहते ही हैं कि पेट बड़ा ज़ालिम है, पेट सब कुछ कराता है आदि ? इसके उल्टे यह भी कहा जाता है कि पेट न होता तो कोई भी उद्योग धन्धे या परोपकार के कार्य क्यों करता ? समाज का बहुत सा उपयोगी या आवश्यक कार्य लोग रोजी रोटी के लिए ही करते हैं। सन्त की रहनि में भोजन की समस्या का महत्व नहीं रहता है। सन्त यदि ग्रहस्थ आश्रम में भी हुए तो भी उनमें अद्भुत सहन शक्ति और धैर्य पाया जाता है। अनेक विघ्न आने पर भी सन्त नीति का मार्ग नहीं छोड़ते हैं। पेट के नाम पर भी वे कुमार्ग में पैर रखने को विवश नही होते। विरक्त सन्त पेट के लिए कोई धन्धा नहीं करते। कबीर और रैदास जैसे सन्त घर में रहते हैं और अपना धन्धा भी करते हैं परन्तु आर्थिक विवशता के नाम पर वे भगवान् के प्रेम के मार्ग को छोड़कर पाप के मार्ग में नहीं जाते। सन्त चाहे कोई उद्योग धन्धा करते हों चाहे न करते हों भाव जगत् में वे भगवान् के ही आश्रित हैं। जैसे सम्पन्न ईसाई भी भगवान् से प्रार्थना करता है कि हे प्रभु मुझे आज की रोटी दे (बाइबिल मेथ्यू ६।११)। सन्त के लिए केवल भगवान् का ही आश्रय है और किसी का नही। यही उसकी अनन्यता है। कुरान में कहा है कि भगवान् जिसकी रोजी रोटी चाहता है बढ़ा देता है या घटा देता है। सन्त न सम्पन्नता से प्रसन्न होते हैं न विपन्नता से खिन्न होते हैं। अत: किसी दृष्टि से वे भिक्षुक बिल्कुल नहो हैं। असली भिक्षुक को आवश्यकता की वस्तु माँगने पर भी न मिले तो दु:ख होता ही है। सन्त ऐसे नहीं हैं। वे भिखारी की दीनता, विवशता आदि से रहित हैं। इसलिए उनका मांगना प्रीति का कार्य है, विवशता का कार्य नहीं। इसी दृष्टि से सन्त की भिक्षा वृत्ति गौरव की वस्तु है निन्दा की वस्तु नहीं। श्री गोस्वामी जी ने इस पक्ष को भली भाँति उजागर किया है।

जब बादल बरसता है तब चातक की आवश्यकता या माँग की पूर्ति मात्र के लिए जल नहीं देता वह तो बरसने पर आवे तो वह पृथ्वी को जलमयी कर देता है। मेघ ऐसा दानी है कि सारी पृथ्वी को जल (जीवन) देता है, केवल चातक को ही नहीं, सबको देता है। चातक जिससे माँगता है वह जब इस प्रकार उदारता से देने लगता है तो भी चातक चाव से उसके दिए हुए जल का संग्रह नहीं करता और उसके द्वारा भरे हुए सरोवरों आदि का जल भी ग्रहण नहीं करता। इस सबसे स्पष्ट हो जाता है कि यह भिखारी और दानी की जोड़ी अनोखी और अनुपम है। यहाँ कवि ने इस अनुपमता की एक बात उठाई है और बातें आगे प्रदर्शित की हैं। चातक साल भर माँगता है परन्तु स्वाति नक्षत्र में बरसती हुई बूंदों का ही पान करता है। स्पष्ट है कि देने वाला असीम दान करने को तैयार है परन्तु लेने वाला केवल अपने मांगने को सार्थक करने के लिए नाम मात्र लेता है चातक एक घूंट पानी ही पीता है। इस प्रकार सदैव आर्त भाव से मांगने वाले परन्तु अपने जीवन में अभाव से व्यथित न होने वाले और सारी दुनियां की सम्पत्ति बरस पड़े तो भी अपने त्याग और अपरिग्रह के नियमों को ढीला न करने वाले सन्त जन यदि भिखारी हैं तो केवल भगवान् के और वह भी विलक्षण प्रकार के भिखारी हैं। ऐसे भिखारी कहीं और प्राप्त नहीं होते। सन्त सभी प्रकार की वासना और आवश्यकता से ऊपर उठ चुके हैं। परन्तु भगवान् के साथ प्रेम लीला में वे भिक्षुक बने रहते हैं। इसलिए वे अनोखे भिक्षुक हैं और भगवान् वैसे ही अनोखे दानी हैं। इसी विलक्षणता के कारण राजा लोग भी उनकी चरण बन्दना हेतु आते हैं और उनके समक्ष अपने मनोरथों की याचना प्रस्तुत करते हैं। इसलिए विवेकी साधकों को सन्तों की भिक्षा वृत्ति का कभी उपहास नहीं करना चाहिए। सन्तों की भिक्षा वृत्ति प्राय: उनकी महिमा को छिपाने का काम करती है। परन्तु ऐसा देखा गया है कि बड़े बड़े दुखी व्यक्तियों का दुःख उनकी कृपा से दूर हो जाता है।

तीनि लोक तिहुँकाल जस, चातक ही के माथ।
तुलसी जासु न दीनता, सुनी दूसरे नाथ ॥
(२८८)

श्री गोस्वामी जी कहते हैं कि तीनों लोकों में और भूत, भविष्यत् और वर्तमान् तीनों कालों में सुयश का सेहरा चातक के ही सिर पर है जिसकी दीनता की पुकार केवल मेघ ने ही सुनी, और किसी स्वामी ने नहीं सुनी।

यहां अनन्यता का स्पष्ट प्रतिपादन किया गया है जगत् के व्यवहार में यदि रोगी को एक डाक्टर से लाभ नहीं होता तो स्वाभाविक ही वह दूसरे डाक्टर के पास जाता है। अगर कोई मुकदमा एक वकील के सम्हाले नहीं सम्हलता है तो वह दूसरे बड़े वकील के सुपुर्द किया जाता है, क्योंकि रोगी या वादी किसी एक के साथ बंधा नहीं है उसका काम होना चाहिए जिसके द्वारा भी हो सके। इसी प्रकार यदि हम अपनी इच्छा पूर्ति के लिए, अपना काम बनाने के लिए, विभिन्न शक्तियों की शरण लेते हैं तो हम स्वार्थ को सिद्ध करने का ही प्रयोजन रखते हैं। यह भगवत् प्रीति का प्रयोजन नहीं। भगवान् में अटल विश्वास रखने वाले सन्त अपनी अभीष्ट सिद्धि के लिए भगवान् के सिवा किसी और से नहीं कहते, वे प्रायः भगवान से भी कुछ नहीं माँगते।

जाहि न चाहिय कबहुँ कछु, तुम्ह सन सहज सनेहु।
बसहु निरन्तर तासुउर, सो राउर निज गेहु ॥
(रा०च०मा० अयो०)

नहीं कुछ चाहिए जिसको, यही जिसकी इबादत हैं।

श्री आदि शंकराचार्य जी ने भी अत्यन्त निर्धन विधवा के लिए श्री लक्ष्मी जी की स्तुति की थी और धन की धारा बरसाने की प्रार्थना की थी। संस्कृत में इस स्तोत्र का नाम कनक धारा स्तोत्र है क्योंकि इसके बाद उस निर्धन विधवा के आंगन में सोने के आँवले बरस गए और उसकी विपन्नता दूर हो गई। इस प्रकार करुणावश आदि शंकराचार्य जी ने निर्धन विधवा के लिए धन की याचना की (अपने लिए नहीं)। समझने की बात यह है कि ऐसे किसी प्रकरण में भी कोई सन्त भगवान् के अतिरिक्त किसी अन्य से याचना नहीं करते।

जानकी नाथ बिना तुलसी, जग दूसरे सों करिहै नं हहा है।
(कवितावली)

चातक इसलिए धन्य है कि उसकी आर्त वाणी मेघ ही सुनता है, किसी और के सुनने में नहीं आती, अर्थात् किसी और को सम्बोधित नहीं होती। इसी प्रकार सच्चे सन्त की आर्त वाणी केवल इष्टदेव के लिए होती है। दूसरे के प्रति वह वैसी भावना नहीं रख सकते न वैसी वाणी सम्बोधित कर सकते हैं। इसीलिए सन्त गौरवान्वित हैं, धन्य हैं और सुयश का मुकुट उन्हीं के शीष पर शोभायमान है। उनका विश्वास अक्षय वट की भाँति शाश्वत है। भारी से भारी विपत्ति में भी उनका भगवत् प्रेम क्षीण नहीं होता, दूसरे किसी से वे कोई सहायता नहीं मांगते न स्वीकार करते हैं। इसी अनन्यता पर श्री गोस्वामी जी उन्हें साधुवाद देते हैं और यही उनकी अनोखी महिमा है।

प्रीति पपीहा पयद की, प्रगट नई पहिचानि।
जाचक जगत कनावडो, कियो कनौडो दानि॥
(२८९)

चातक और मेघ की प्रीति एकदम अनोखी और नए ढंग की है । वह इसी रूप में पहचानी गई है । सारे जगत में यह देखा गया है कि दान के मिल जाने पर भिखारी दानी का आभारी होता है परन्तु चातक ने दानी मेघ को अपना कृतज्ञ बना लिया ।

व्यवहार की मर्यादा है कि लेने वाला देने वाले का आभारी होता है, धन्यवाद देता है, कृतज्ञता ज्ञापन करता है, न कि देने वाला । पपीहे की जीवन की एक रोचक घटना के बहाने श्री गोस्वामी जी ने यहाँ सन्त जीवन के एक और गौरव को उजागर किया है । चातक आकाश में उड़ता हुआ मेघ के सामने सिर ऊँचा (मेघ की ओर) किए हुए पी पी की रट लगाता है । पानी बरसे तो सिर ऊँचा करके चोंच में पानी लेना चाहता है । पानी प्राप्त करने पर भी सिर ऊँचा ही रहता है (मेघ की ओर रहता है) । आभार से सर नहीं झुकता । मेघ जल से भरे होने पर मन्द गामी और नीचे हो जाते हैं—नवाम्बुभिर्भूरि विलम्बिनो घना: । कालिदास देने वाला बादल मन्दगामी होता है, नीचे झुकता है, लेने वाला चातक सर नहीं झुकाता, अभार नहीं प्रगट करता । यह प्रचलित मर्यादा का उल्टा है । सन्त भी इस मामले में चातक की तरह हैं ।

वे गिड़गिड़ा कर नहीं माँगते, न पाने पर व्यथित नहीं होते, भिक्षा मिलने पर अति हर्षित या आभारी नहीं होते, याचना पूर्ति को भगवत्कृपा का निर्णायक तथ्य यानी कसौटी कभी नहीं मानते, भगवान् प्रसन्न होकर सम्पूर्ण पृथ्वी का समस्त वैभव उन्हें देने लगें तो भी ग्रहण नहीं करते, सात्विक धन भी अल्पमत मात्रा में ही स्वीकार करते हैं । वे महान् यश के भागी हैं, क्योंकि भगवान् को अपने प्रेम से इतना प्रसन्न कर लेते हैं कि वह सब कुछ देने को तैयार हो जाता है, परन्तु वे अपने त्यागपूर्ण जीवन में कोई कमी नहीं करते । निर्वाह मात्र से अधिक भगवान् का दिया हुआ भी नहीं लेना चाहते ।

ऐसे ही सन्तों के वश में भगवान् हो जाते हैं। भगवान् कहते हैं—'हम बन्दर वे कलन्दर', जैसा चाहें हमें नचाएँ। 'बस में होते आए, भगवान भगत के।'

पीछे पीछे हरि फिरैं कि भूखे ना रहि जायँ।' कथा है कि श्री राघवेन्द्र पुरी जी के लिए भगवान् ने क्षीर पात्र चुराकर रख लिया, और पुजारी को आदेश देकर उनके पास भिजवाया।

अस सज्जन मम उर बस कैसे। लोभी हृदय बसै धन जैसे ।।
(रा०च०मा०)

तथापि व्यवहार में सन्त भिक्षुक हैं, भगवान् दानी है। कृतज्ञ तो भिक्षुक को होना चाहिए फिर भगवान् क्यों कृतज्ञ होते हैं? यही सन्त तपस्या की तेजस्विता है कि दानी भिखारी का कृतज्ञ रहता है।

सन्त भगवन्त दोनों ही एक दूसरे के प्रति समर्पित हैं, एक दूसरे पर न्यौछावर होते हैं। उनमें अभेद ही है, सन्त भगवन्त अन्तर निरन्तर नहीं किमपि मति मलिन कह दास तुलसी।

कपि सेवा बस भए कनौड़े, कह्यो पवन सुत आउ।
देबे को न कछू रिनियाँ हौं, धनिक तू पट्ट लिखाउ ।।
(वि०प०)

भगवान् की कृतज्ञता का यह प्रमाण भी है कि वे अपनी बात कट जाय पर भक्त की बात रखते ही हैं—

प्रबल प्रेम के पाले पड़कर प्रभु को नियम बदलते देखा।

महाभारत के युद्ध में भी कृष्ण की प्रतिज्ञा (अस्त्र न धारण करना) के विरुद्ध भीष्म की प्रतिज्ञा हुई कि उन्हें अस्त्र धारण करने पर विवश कर दिया जायगा। भगवान् ने भीष्म की प्रतिज्ञा पूरी होने दी।

भाग्य के विधान के विरुद्ध भी सन्त वचन को भगवान् पूरा करते हैं। नृसिंहावतार का खम्भे से प्रकट होना—इसमें भी अपने भक्त की बात पूरी करने का प्रयोजन था—

'सत्यं विधातुं निज भृत्य भाषितम्।'

(श्रीमद्भागवत ७.८,१८)

सूफी सन्त शम्से तब्रेज़ का चरित्र है कि सुल्तान के मृत पुत्र को उन्होंने दो बार आज्ञा दी 'अल्लाह के हुक्म से खड़ा हो जा' तो वह जीवित होकर खड़ा नहीं हुआ। तीसरी बार वे बोले–'मेरे हुक्म से खड़ा हो जा।' तो वह जी उठा। यहाँ भी रहस्य यही है कि भगवान ने सन्त की बात पूरी करने को विशेष महत्व दिया। जिस भिखारी पर दाता इस प्रकार लट्टू हो जाय उसके भाग्य या यश का क्या कहना! वह अप्रतिम तो है ही।

नहि जाँचत नहि संग्रही, सीस नाइ नहि लेइ।
ऐसे मानी माँगनेहि को वारिद बिनु देइ॥

(२९०)

जो भिखारी कुछ माँगता नही, जिसे लेकर रक्खे रहने (ज़मा रखने) से इनकार है, जो सिर झुकाकर दीनता या कृतज्ञता पूर्वक नहीं लेता, ऐसे मानी भिखारी को मेघ के अतिरिक्त और कौन दे सकता है।

यहाँ भी चातक के रूपक के बहाने सन्त रहनि की महिमा व कीर्ति को उजागर करने में कमाल किया गया है। 'सेवक सुख चह मान भिखारी'

(रा०च०मा० अरण्यकाण्ड) भिखारी के लिए इज्जत (सन्मान) का जीवन बिताना सम्भव नहीं। इसलिए 'मान राखिबो' और माँगिबो परस्पर विरोधी हैं। इनका समन्वय चातक के जीवन में पाया जाता है, या फिर सन्त के जीवन में।

भिखारी की असम्मान जनक स्थिति क्यों बनती है? उसके जीवन में असंमानजनक तत्व तीन हैं—भीख माँगने से ही माँगने वाले की स्थिति देने वाले से निम्न सिद्ध होती है, यह सम्भावना तो रहती ही है कि माँगी हुई भीख न मिले, अस्वीकार के साथ अपमानजनक व्यवहार भी हो तो सहना पड़ेगा। अपमानपूर्वक दिया हुआ दान भी स्वीकार करना पड़े तो मान की रक्षा कैसे होगी? इसलिए सुप्रसिद्ध है कि भिखमगे सम्मानित स्थिति नहीं पा सकते।

यदि साधारण स्थिति में भिक्षा माँगी जाय और मिल भी जाय, अपमानपूर्वक न मिले साधारण रूप से मिले, तो भी भिक्षा देने वाले के प्रति कृतज्ञ होना पड़ता है, चाहे अन्यत: उसका जीवन कैसा ही क्यों न हो। यह भी असम्मानजनक स्थिति है। भिक्षा न मिलने पर यदि कोसते हुए आगे बढ़ें तोअपना सम्मान नष्ट होता ही है, प्रतिष्ठा नहीं रह सकती है। भिखारी को तत्काल भोजन के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं की भी आवश्यकता पड़ती है, परन्तु कोई पसन्द नहीं करता कि भिक्षा मांग कर आश्रित अपने या आश्रित के चिकित्सा व्यय, यात्रा व्यय, त्योहार व्यय, संस्कार व्यय आदि को पूरा करे या तदर्थ संग्रह करे।

एक रोचक घटना कभी समाचार पत्र में छपी थी। एक भिखारिन कानपुर में किसी कारण गिरफ्तार करके थाने ले जाई गई। उसे छुड़ाने के लिए एक वकील साहब पहुँचे और उससे बोले, 'अम्मा, तुमसे कितनी बार कहा कि भीख न मांगो मगर तुम मानती नहीं, कितनी मानहानि

होती है ?' वह वोली, 'मैंने भीख माँग माँगकर तुम्हें वकील बना दिया, तुमने वकालत करके क्या किया, वह बताओ ।' भीख माँग माँगकर वेटे को वकील बना दिया इसकी कदर समाज में नहीं । पेट भरने के अलावा संग्रह किया इसका अपयश मिलता है । संग्रह भी असम्मान का कारण है ।

साधु का अपमान भी ऐसे कारणों से होता है, भोजन के लिए आतुर होने पर उसे दुष्ट का दिया हुआ कुधान्य भी ग्रहण करना पडता है और बेईमान और शोषक व्यक्ति का भी आभार मानना पड़ता है ।

जे जड़ जीव कुटिल कायर खल, केवल कलिमल साने ।
सूखत वदन प्रशंसत तिन कहँ, हरि ते अधिक करि माने ।।
(वि०प०)

तस्करों आदि की प्रशंसा में प्रवृत्त होना पड़ता है ।

तौ लौं जोगी जगतगुरु, जौ लौं रहे उदास ।
जौ मन में आशा भई, जग गुरु जोगी दास ।।

जे लोलुप भए दास आस के ते सब ही के चेरे ।
प्रभु विश्वास आस जीती जिन तो सेवक सब केरे ।।
(वि०प०)

लोलुप भ्रम गृह पसु ज्यों जहँ तहँ, सिर पद त्रान बजै ।।
(वि०प०)

तुलसी अद्भुत देवता, आसा देवी नाम ।
सेवत सोक समर्पई, बिमुख भए अभिराम ।।
(दोहावली)

सोइ सेंभर सोई सुआ, सेवत सदा वसन्त ।
तुलसी महिमा मोह की, सुनत सराहत सन्त ।। (दोहावली)

भिखारी के विषय में सहज ही ऐसी मान्यता रहती है कि वह दीन हीन, पापों का फल भोगने वाला, लोभ मोहादि से पीड़ित, आलसी व संदिग्ध व्यक्ति है । अत: सन्मान कैसे मिल सकता है ? सन्त भी यदि वह किसी डाकू या लोभी रईस का आश्रित हो जाता है तो जानकार विवेकियों की दृष्टि में सन्मानित नहीं रह पाता ।

साधू रुपया क्यों लेता है ? संग्रह क्य करता है ? उसके पास सम्पत्ति क्यों है ? वह अमीरी ठाठ से क्यों रहता है ? महन्ती के नाम पर विलासी जीवन क्यों है ? ऐसी बातें कही जाती हैं और उसका सन्मान नष्ट होता है ?

चातक मेघ से जल की याचना करता है, अन्य से नहीं, बारहों महीने माँगता है, पर स्वाति नक्षत्र का ही जल ग्रहण करता है, बरसता हुआ जल ग्रहण करता है, पृथ्वी पर गिरा हुआ नहीं । टेढ़ी वूंद को लपक कर नहीं लेता, सीधे चोंच में आई हुई बूँद ग्रहण करता है । बरसती हुई वूँदों को सिर उठाकर ग्रहण करता है, सिर झुकाकर नहीं लेता । संग्रह नहीं करता । स्वाति नक्षत्र का बरसा हुआ भी पृथ्वी पर सग्रहीत जल नहीं सेवन करता । इसलिए अपमानजनक तत्व उसके जीवन में नही हैं । वह सन्मानित ही रहना है । वल्कि श्री गोस्वामी जी महाराज कहते हैं कि ऐसे मानी भिखारी को मेघ के सिवा कोई अन्य दाता दे ही कैसे सकता है । अन्य दाता मानी भिखारी को दान देना पसन्द नही करेंगे ।

अब सन्त को देखिए । जैसे चातक 'पानी, पानी' की पुकार नही लगाता, 'पी कहाँ, पी कहां' पुकारता है, प्यारे को पुकारता है, पानी

की नहीं। इसी प्रकार सन्त जन भिक्षा के लिए भ्रमण करते हुए भी 'नारायण हरि' पुकारते हैं या भगवान् का कोई और नाम लेते हैं। भिक्षा के आदर्श के अनुसार सन्त जन सीधे सीधे रोटी दाल कभी नहीं माँगते। न मिलने पर शोक या क्रोध के बस में नहीं होते, मिलने पर वे दाता को धन्यवाद नही देते, उसके आभारी नहीं होते। प्राप्त भिक्षा को भगवान् का दिया हुआ प्रसाद ही मानते हैं, उसी को धन्यवाद दे सकते हैं। पैगम्बर मोहम्मद साहब जब भोजन करते थे तो कहते थे– बिस्मिल्ला हिर्रहमानिर्रहीम। (परम कृपालु करुणाकर भगवान् के नाम पर)। जब भोजन कर चुकते थे, तब कहते थे, 'अल् हम्द लिल्लाहि रब्बिल् आलमीन्। (सारी प्रशंसा उसी जगन्नियन्ता प्रभु की है)। आज भी कितने ही फकीर भिक्षा माँगते हुए कहते हैं–'दे खुदा की राह पर।' जो दाता भगवान् की ओर से देता है, अपने अभिमान पूर्वक नहीं, सन्त उसी का दिया स्वीकार करते हैं। जो दाता दान देकर सन्तों को अपना अनुवर्ती बनाना चाहता है, उसका दान शुद्ध नहीं, अनन्य गति सन्तों को वह स्वीकार नहीं। इस प्रकार सन्त भी (चातक की तरह) न भीख माँगते हैं, न सिर झुकाकर लेते हैं।

साधारण भिखारी खुश होते हैं कि दाता ने उन्हें दिया, सन्त किसी का दिया स्वीकार कर लें तो वह खुश और कृतज्ञ होता है कि सन्त ने उसका दिया स्वीकार (कबूल) किया। यहाँ दाता ही कृतज्ञ होता है, आदाता (लेने वाला) नहीं। सन्त साधारण भिखारियों की तरह दीन दुःखी नहीं हैं, उनका देने वाला भगवान् ही है, अन्य कोई नहीं, दूसरे माध्यम मात्र हैं, पत्र पहुँचाने वाले डाकिये की तरह।

यदि माध्यमों की उपेक्षा कर दें और दाता भगवान् और भिखारी सन्त को ही लें, तो भी हम देखेंगे कि सन्त का गौरव यह है कि वह कुछ नहीं चाहता—'जाहि न चाहिय कबहुँ कछु' (रा०च०मा०) तथा

'यस्य आशिष आशास्ते न स भृत्य: स वै वणिक्' (प्रह्लाद वाक्य। श्रीमद्भागवत ७.१० ४) 'जिसे आपसे वरदान की आशा है, वह सेवक (भक्त) नहीं बनिया है।' उधर भगवान् सन्त को सब कुछ देना चाहता है, परन्तु सन्त योग क्षेम मात्र के लिए कम से कम ही लेते हैं, जितना वे स्वीकार करें उतने के लिए एक प्रकार सें भगवान् भी उनका आभारी रहता है।

भगवान् सन्तों को जिस आराम से रखना चाहता है, सन्त उस आराम से रहना स्वीकार नहीं करते। वे अपने प्रखर त्याग को शिथिल नही करना चाहते। अत: भगवदीय पक्ष में भी दाता को ही हम कृतज्ञ पाते हैं। यह नहीं कि सन्त भगवान् के कृतज्ञ नहीं होते, वे ही सचमुच कृतज्ञ और विनीत होते है पर परम प्रेमास्पद की कृपा के लिए कृतज्ञ रहते हैं। रोटी या सांसारिक सुख सुविधा उस कृपा की (उनके लिए) कसौटी नहीं, प्रतीक या प्रमाण नहीं।

असंग्रह वाली बात भी नहीं भूलनी चाहिए। सभी लोग अपनी आवश्यकताओं, इच्छाओं की पूर्ति के लिए भगवान् की ही मर्जी पर उन्ही की व्यवस्था पर निर्भर हैं, भले ही वे इसे न जानते हों, न मानते हों। यदि यह मान् लिया जाय कि जिसे सुख सुविधा अधिक प्राप्त है, उस पर भगवान् की अधिक कृपा है, तो यह साधारण मनुष्य की कल्पना के अनुकूल तो हो सकता है, परन्तु तत्वदृष्टि से बड़ा व्यतिक्रम हो जायगा। फिर तो अरबपति लोग भगवान् के सर्वश्रेष्ठ कृपापात्र प्रतीत होंगे और 'परम अकिंचन प्रिय हरि केरं (रा०च०मा०) का सिद्धान्त समझ में ही न आ सकेगा।

स्वामी रामतीर्थ जी ने कहा था 'आपके अधिकृत पदार्थ आप पर कब्जा किये हैं और आपको सताते हैं।' संग्रह की हुई वस्तुओं की

रक्षा, उपयोग आदि की चिन्ता करनी पड़ती है। अधिक रईसी का अर्थ है अधिक चिन्ता। चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिता: (गीता १६.११) चिन्ता से अशान्ति होती है–अशान्तस्य: कुत: सुखम्। (गीता २ ६६)। इस स्थिति वाला भगवर्चिचतन और भगवत्प्रेम निर्वाह के लिए कब खाली है—

तुम्हें गैरों से कब फुरसत हम अपने ग़म से कब खाली।
चलो बस हो चुका मिलना, न तुम खाली न हम खाली।।

सुख के माथे सिल परँ, जो नाम हृदय ते जाय।
बलिहारी वा दु:ख की, जो छिन छिन नाम रटाय।।
(कबीर)

मान बड़ाई जा दिन भाई, ता दिन किस्मत फूटी।
पूरी विपति महन्ती आई, प्रीति राम से टूटी।।
(काष्ठ जिह्वा स्वामी)

इन्द्र को या राजा को या करोड़पति को सुख नहीं है, विरक्त को ही सुख है। असंग्रही, अपरिग्रही सन्तों की साधारण आवश्यकताएँ सहज ही पूरी होती रहती हैं (योगसूत्र २.३७)। वे निश्चिन्त रहते हैं, भगवच्चिन्तन निर्विघ्नता से चलता है, भगवत्प्रेम का निर्वाह होता है। वही उनका सुख है। सम्पदा या किसी प्रकार की सिद्धि उनके लिए विघ्न रूप है। अन्तराया वदन्त्येता कालक्षपण हेतव:। (श्रीमद्भागवत ११.१५.३३)। बिल्लौर से बेहतर है मेरा जामे सफ़ाली। (आपके बिल्लौरी पत्थर के प्याले से मेरा मिट्टी का कुल्हड़अच्छा है।)

और ले आइये बाजार से गर टूट गया।
जामे जम से मेरा जामे सफ़ाल अच्छा है ।।

जामे जम ✓/जमशेद का प्याला, जामे सफाल ✓/मिट्टी का कुल्हड़।

भगवान् के अनन्य प्रेमियों के लिए अपरिग्रह एक कवच है, वह उन्हें प्रेम निर्वाह की सुविधा प्रदान करता है। त्यागाच्छान्तिरनन्तरं। (गीता १२.१२)। 'जो ब्रह्म लोकादि वैभव विरागी' हैं (वि०प०), जिसका कोई और दायित्व रह नहीं गया है, वही अनन्य प्रेम को निबाह सकता है।

इसीलिए सन्त अचल सम्पत्ति नहीं स्वीकार करना चाहते, धनराशि का दान लेकर रखना स्वीकार नहीं करते। कोई दानी प्रतिवर्ष वर्ष भर के लिए खर्च पूरा करने का दान दे तो नहीं लेते। किसी संचित निधि पर भी आश्रित नहीं रहना चाहते। संसार की सारी सम्पत्ति भगवान् की ही है, पर उस पर उनका मन नहीं चलता। भोजनादि के लिए एक व्यक्ति का आश्रय वे नहीं ग्रहण करते।

'दाता एक राम, भिखारी सारी दुनियाँ' परन्तु बरसी हुई लक्ष्मी से उन्हें कुछ सरोकार नहीं, उन्हें ताल, झील से काम नहीं, घूंट भर पानी जो मुख में आ जाय वही उनके लिए है। तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः। (ईशोपनिषद १)।

ऐसे सम्मानित भिखारी को देने की प्रेरणा साधारण दाता को कैसे हो सकती है? जलधर, मेघ, जीवन दानी, घनश्याम ही ऐसे मानी चातक या सन्त को दे सकता है। इस प्रकार परम कुशलता पूर्वक सन्तवर श्री गोस्वामी जी ने यह स्पष्ट कर दिया कि सच्चे सन्तों को देखने मे जो कोई भी देता हो, उनका सच्चा दाता एक मात्र भगवान्

ही है। है मजाल किसकी तेरे सिवा, जो भरे फ़कीरों की झोलियाँ। जिसे तू हि दे वही ले तो ले, किसी और से कोई लेगा क्या ?

को को न ज्यायो जगत में, जीवन दायक दानि।
भयो कनौड़ो जाचकहि, पयद प्रेम पहिचानि ।।
(दोहा २९१)

इस संसार में जीवनदायक (जलदायक मेघ, जीवनदायक भगवान्) ने किस किस को नहीं जिलाया ? परन्तु पयद (मेघ) प्रेम को पहिचान कर अपने याचक चातक का कृतज्ञ हो गया।

पानी की आवश्यकता मनुष्यों, पशुओं, पक्षियों, बनस्पतियों सभी को होती है। उन्हें जीवित रहने के लिए पानी की आवश्यकता है। इसलिए पानी को जीवन भी कहते हैं, जलद (मेघ) को जीवनदानी भी कहते हैं।

गर्मी के दिनों में पानी ठीक से न मिले तो पेड़ सूखने लगते हैं। पशु पक्षी मरने लगते हैं, मनुष्य भी प्यास से जल्दी मरते हैं, भूख से इतनी जल्दी नहीं मरते। वर्षाऋतु में विशेषत: मेघ पानी बरसाते हैं, जिससे प्राणियों को जीवन मिलता है। मेघ अप्रतिम दानी है, करोड़ों, अरबों, खरबों आदमियों को वह प्यासे मरने से बचाता है, जिलाता है, किसको किसको उसने नहीं जिलाया ? अर्थात् सभी को जिलाया।

भगवान् के पक्ष में—

भगवान् ही सब जीवों के पालक प्रभु, जन्म और जीवन देने वाले, गुजर का सामान देने वाले, जीविका दायक, (रज्ज़ाक), जिलाने वाले, जीवित रखने वाले हैं, सभी का जीवन उन्हीं का दिया हुआ है, उन्होंने किसको किसको नहीं जिलाया, किसको नहीं जीता रक्खा, मौत से बचाया, नया जीवन दिया ? जब सबको जीवन देते हैं तो सन्त के साथ

और क्या करते हैं ? सबके भरण पोषण करता हैं, मालिक हैं, तो सन्तों का योग क्षेम चलाने में विशेषता क्या हुई ? विशेषता दोनों ओर से है उसे समझने की जरूरत है।

भगवान् की ओर से—

करम प्रधान विश्व करि राखा। जो जस करै सो तस फल चाखा।।
तदपि करहिं सम विषम विहारा। भगत अभगत हृदय अनुसारा।।

सबके दिल में बसते हैं पर भक्त का हृदय उनका विशेष निवास स्थल है। अपना घर है, मेहमानी की जगह नहीं है।

या रहें आप इसमें घर की तरह। या या मेरे दिल में आप घर न करें।
(ग़ालिब)

सन्तों का कहना है कि अनन्य शरणागति में प्रारब्ध भी भगवत् समर्पित हो जाता है, फिर तो भगवान् की मर्जी या लीला ही भक्त का प्रारब्ध बन जाती है। 'राज़ी हैं हम उसी में जिसमें तेरी रज़ा है।' ऐसे सन्त और भगवन्त् में विशेष निकट का सम्बन्ध है, रहस्यमय सम्बन्ध है, साधारण सम्बन्ध नहीं।

मुख्य भेद आत्म निवेदन का ही है, अन्य भेद उसी के परिणाम हैं। सन्त का लोक परलोक सम्बन्धी समस्त योग क्षेम भगवान् चलाते हैं (गीता ९.२२)। ऐसे अनन्य भाव के बदले भगवान् की असीम अनुकम्पा और भक्त वत्सलता सक्रिय हो तो आश्चर्य कैसा ? सहज प्रेम का अतिक्रमण तो प्रभु भी नहीं कर सकते। 'जानत प्रीति रीति रघुराई।' नाते सब हाते करि राखत राम सनेह सगाई।। (वि०प०)

जो भिखारी निरा स्वार्थी है उस पर किसी का प्रेम नहीं होता।

काज परे कछु और है, काज सरे कछु और।
रहिमन भाँवर के परे, नदी सिरावत मोर ।।

ऐसे स्वार्थी याचक को दाता संयोगवश दे दे, तो भी प्रेम, से अत्यन्त प्रसन्नता से नहीं देता। परन्तु जितना ही नि:स्वार्थ, त्यागी याचक हो, उतना ही दाता दान देने में विवश नहीं रहता। न देने में कोई आशंका नहीं, पर देने की श्रद्धा उमड़ती है। भगवान् जो सबको देते हैं वह प्रारब्धानुसार देते हैं, परन्तु सन्त यद्यपि प्रारब्ध को भोगने को बराबर तैयार रहते हैं, तथापि भगवान् प्रारब्ध को भी अपनी दिव्य अनुकम्पा से सौम्य और हितकर स्वरूप दे देते हैं। यह सन्तों की प्रार्थना पर नही, अपनी मर्जी से।

भीष्म ने महाभारत में कहा है कि वह मनुष्य है—'कृत: यस्मिन् न नश्यति।' जिसके साथ किया हुआ उपकार नष्ट नही होता। कृतघ्नी को मनुष्यता से गिरा हुआ माना। कहा कि अन्यान्य पापों के प्रायश्चित शास्त्रों में है पर कृतघ्नता का कोई प्रायश्चित नही है।

साधारण मनुष्य भगवान् का कृतघ्नी है। सब चीजें भगवान् की दी हुई हैं, पर वह उसे सोचता नहीं, जानता नहीं, मानता नहीं। उसके लिए भगवान् का उपकार नही मानता, आभारी नहीं होता, धन्यवाद नहीं देता, प्रेम नहीं करता। कुरान में एक अध्याय है, जिसमें प्रत्येक आयत (पद्य) में यह पूछा गया है कि तुम अपने रब (प्रभु) की किन किन नियामतों (हितकर वस्तुओं) को झुठलाओगे। इसी कृतघ्नता के पाप से हम भटक रहे हैं, भव बन्धन में हैं, अशान्त हैं, दु:खी हैं। भगवान् ही सबके सुहृद (हितू) हैं इसको जानने वाला ही शान्ति प्राप्त करता हैं। (गीता ५.२९)। प्राप्त दु:ख के लिए लोग भगवान् को दोष भी देते हैं अति बरसे, अनबरसे हूँ देहि दैवहि मारी। (वि०प०) यह लोग नितान्त मायावश हैं, निकृष्ट जीव हैं।

इन लोगों से वे अच्छे हैं जो भगथान् के न्याय में विश्वास करते हैं। सुख दु:खादि को प्रारब्ध जनित मानते हैं, भगवान् के पास न्याय तुला है (इंसाफ का तराजू है) वे कर्मानुसार ठीक ठीक फल देते हैं। (आमालनामे के हिसाब से ही अंज्जाम, यानी परिणाम होता है। ऐसे लोग भगवान् को दोष नहीं देते। भगवान् तो निष्पक्ष जज की तरह फैसला देता है, पक्षपात नहीं करता, इसलिए भगवान् का कोई दोष नहीं। निज कृत करम भोग सब भ्राता। भगवान् न्यायकर्ता हैं इस विश्वास से धैर्य प्राप्त हो सकता है, प्रेम नहीं। खुदा के इन्साफ पर एतक़ाद (विश्वास) होने से साबिर (धीर) बनने में आसानी होती है, आशिक़ बनने में नहीं।

जब हम इससे आगे बढ़कर भगवान् को अपना मित्र, सुहृद, संरक्षक, गोप्ता, भर्ता पहचानते हैं तब कहीं उनसे प्रेम करने का मार्ग प्रशस्त होता है। जितने अंश तक हम उनकी कृपा, करुणा, अनुकम्पा, दया, वात्सल्य को जानते हैं, अनुभव करते हैं, उतने अंश में शरणागति की भूमिका बनती है, प्रेम होता है। भगवान् के सच्चे शरणागत के लिए इन्साफ (न्याय) का कोई सवाल नहीं है। भगवान् की मनमानी (मन को पसन्द आने वाली) बात में ही उसे सुख है। वह तो भगवान् के हाथ का खिलौना बनकर रहना चाहता है, भगवान् चाहें प्यार करें या पटकें तोड़ें —

खेलिबे को खग मृग तरु किंकर, ह्वै रावरो राम हौं रहिहौं।
(वि०प०)

यदि आप भगवान् से न्याय की ही आशा करते हैं, तो फिर अपनापन कैसा? न्याय तो गैर के साथ भी करना ही है। जिसके साथ न्याय के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकते, मनमानी की तो आरोप

ग्रस्त होंगे, यह अपना कहाँ है ? इसलिए पाप प्रवृत्ति के कारण नहीं शरणागति की भावना के कारण शरणागत को भगवान् के न्याय की आवश्यकता नहीं है। सारी दुनियाँ के लिए वह निष्पक्ष जज बना रहे, उसके उस रूप से इनकार नहीं है परन्तु शरणागत को उसका 'जुल्मों सितम' अत्याचार भी पसन्द है—जैसा जी चाहे करे परन्तु प्राणनाथ वही है—

यथा तथा वा विदधातु लम्पटो, मत्प्राण नाथस्तु स एव नापर: ।।
(श्री चैतन्याष्टक ८)

सन्त पाप का फल भोगने को सदैव तैयार हैं परन्तु वहाँ भी वह यह आवश्यक नहीं मानते कि भगवान् पाप का फल दे अवश्य। वह क्षमा भी कर सकता है, बख्श सकता है, क्योंकि वह करुणासागर है (रहमानिर्रहीम है)। इसलिए बह जैसा चाहे करे, बख्श दे, सजा दे, सितम करे या करम करे, क्षमा करे, दण्ड दे, दु:ख दे या दया करे, सब खुशी से स्वीकार है—

जो वह सितम भी न करता तो आप क्या करते ?

इस भूमिका में पहुँचकर फिर यही हो जाता है कि—

मोरे शरण राम की पनहीं। राम सुस्वामि दोष सब जनहीं ।।
गुन तुम्हार समुझै निज दोसू। जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसू ।।
प्रभु समरथ कोसलपुर राजा। जो कछु करहिं उनहिं सब छाजा ।।

यह दशा है जहाँ लोक वेद व्यापार का सन्यास हो जाता है पुण्यापुण्य विवर्जित पन्थ है, नि:स्वार्थ निष्काम नि:सीम प्रेम है, प्रभु से अभिन्नता है।

ऐसे सन्त बिल्कुल भगवान् के हाथ में हैं परन्तु भगवान् भी बिल्कुल उनके हाथ में हैं। इसलिए शम्से तब्रेज की दृष्टि में इज्लल्लाह (भगवदाज्ञा) और इज्ज्नी (मेरी आज्ञा) में कोई भेद नहीं। प्रेम को पहिचानकर मेघ चातक का कृतज्ञ हो जाता है। अलौकिक प्रेम को पहिचान कर प्रभु सन्त के वश में हो जाता है। अपने बचनों से अधिक सन्त वचनों की पूर्ति की प्रभु व्यवस्था करते हैं। सन्तों के आभारी रहते हैं–

देवे को न कछू ऋषियां हौं, धनि कलु पट्ट लिखाउ।
(वि०प०)

साधन साँसति सब सहत, सबहि सुखद फल लाहु।
तुलसी चातक जलद की रीझि बूझ बुध काहु॥
(२९२)

इस संसार में सभी लोग विभिन्न प्रयोजनों के लिए साधन करते हैं और साधन का कष्ध सहते हैं, साधन सफल हो जाने पर सबको सुख होता है। परन्तु चातक और मेघ की परस्पर प्रीति और बूझ (भावना धारणा, विचार) अत्यन्त रहस्यमय है, उसे कोई बिरला ज्ञानी ही समझ सकता है।

संसार में कर्म सिद्धान्त प्रवर्तमान हैं, आप जो कुछ पाना चाहते हैं उसका मूल्य चुकाना पड़ता है, अभीष्ट लक्ष्य की प्राप्ति के लिए साधग रूप मूल्य चुकाइये, तब लक्ष्य प्राप्त हो सकता है। अर्थात् साधन रूपी मूल्य देकर साध्य वस्तु को खरीदिये। यह जगत् का व्यापार है। परन्तु प्रेम के पन्थ में यह सौदागरी नहीं चलती। जो कर्म का परिणाम है वही कर्म के द्वारा प्राप्त हो सकता है। जो कर्म का परिणाम नहीं है वह कर्म से प्राप्त नहीं हो सकता—नास्त्यकृत: कृतेन। (उपनिषद्)

प्रेम न बाढ़ै ऊपजै, प्रेम न हाट बिकाय। (कबीर)

प्रेम इस बाजार में बिकता नहीं, कर्म से खरीदा नहीं जा सकता, प्राप्त नहीं हो सकता।

चातक और मेघ के बीच (और वैसे ही सन्त और भगवन्त के बीच) जगत् के व्यवहार से उल्टा दृश्य दिखाई देता है। कभी तो यह दिखाई देता है कि चातक (या सन्त) का सम्पूर्ण तप, त्याग आदि व्यर्थ जा रहा है, क्योंकि मेघ की अभीष्ट कृपा उस पर नहीं होती। कभी यह दिखाई देता है कि मेघ असीम दान करने की कृपा करता है, पर चातक उसे ग्रहण नहीं कर रहा है। यह सब क्या है? यह लोक व्यवहार से उल्टा है।

पूरी तड़प से मांगे और न मिले तो शिकायत या व्यथा होती ही है, पर चातक को यह व्यथा नहीं होती। वह मेघ पर कभी खीझता नहीं, रीझता ही है। इसी तरह प्रियतम की कृपा से सब कुछ मिलने लगे तो भी नाममात्र लेता है, अपने नियम की मर्यादा निभाता है, विशेष हर्षित नहीं होता।

आसक्ति के विघात से दुःख होता ही है और उसकी पूर्ति में सुख मिलता है। जहाँ यह लक्षण न मिले, साधारण आसक्ति का अभाव सिद्ध होता है। वास्तविक प्रेम अलौकिक है, जगत् की आसक्ति से उल्टा है— गुण रहित कामना रहित प्रतिक्षण वर्धमान सूक्ष्मतरमनुभवरूपम्। अर्निवचनीय प्रेम स्वरूपं। (नारद भक्ति सूत्र)। किसी किसी अलौकिक पुरुष में ही त्रिगुणातीत, निष्काम प्रेम प्राप्त होता है, जैसे ब्रज की गोपियों में।

वैष्णव दर्शन में प्रेम और काम परस्पर विरोधी माने गए हैं। काम अपने सुख के लिए दूसरे को अपना बनाना चाहता है, उस पर अधिकार करना चाहता है, प्रेम दूसरे के हित व सुख के लिए उसके प्रति आत्म समर्पण की प्रेरणा देता है, इसमें देना ही देना है, त्याग ही त्याग है, तड़प और याचना तो प्रेमी में भी दिखाई देती है परन्तु उसका कामना से कोई सम्बन्ध नहीं। भक्तराज प्रह्लाद ने भगवान् की इच्छा से उनसे वरदान भी मांगा तो यह कि 'कामन्नामसरोहम् (कामनाएँ कभी न पैदा हों। जब कामना रहित प्रेम है तो तड़प या याचना कैसी? यही अद्भुत और रहस्यमय है। मीरा के प्रेम में भी याचना थी, तड़प थी, पर किस बात की? संसार की किसी वस्तु की नहीं। भगवत्प्रेम सम्बन्धी ही तड़प और याचना थी। गोपियों का विरह प्रसिद्ध है पर उसके साथ पूर्ण वैराग्य था, जगत् की आसक्ति का नितान्त अभाव था। भक्तों का जो विरह है वह आसक्ति को निर्मूल करने में सहायक है, अन्तःकरण को शुद्ध करता है। अतः भगवत्प्रेम का प्रभाध जगत् की आसक्ति के प्रभाव से उल्टा है। इसलिए आसक्ति की दृष्टि से यह प्रेम समझ में नहीं आता, स्वार्थ की दृष्टि से प्रेम व्यवहार को समझा नहीं जा सकता।

मज़ा देता है जख्में खन्जरे इश्क़। कभी ऐ बुल्हवस खाया तो होता।।

प्रेम की कटार का घाव सुखद है, बासनाग्रस्त जीवों ने कभी वह घाव प्राप्त तो किया होता!

नागरिया नागर मई, चली प्रेम तरवार।
नकटे नकटे ना कटे, कटे प्रेम रिझवार।।
(नागरीदास जी)

इसलिए चातक और मेघ की, और वैसे ही सन्त और भगवन्त की प्रीति, रहनि, भावना, व्यवहार, प्रेरणा, दार्शनिक भूमिका, बन्धन या मोक्ष आदि साधारण मनुष्य की समझ में नहीं आ सकता, इसके लिए कोई अनोखा ज्ञानी चाहिए। जो इस प्रेम की दशा में स्वयं प्रतिष्ठित है, जगत् की आसक्ति से एकदम अलग, उसके लिए यह कैसे कहा जाय कि वह इसे नहीं समझता। वही अनोखा ज्ञानी है। परन्तु वह भी इसे साधारण जनों के लिए बोधगम्य नहीं बना सकता। प्रेम का स्वरूप वाणी से प्रगट नहीं किया जा सकता। (ना०भ० सूत्र)।

चातक जीवन दायकहिं, जीवन समय सुरीति।
तुलसी अलख न लखि परै, चातक प्रीति प्रतीति।।

(२९३)

चातक की अपने जीवन (जल, प्राण) दायक मेघ के प्रति जो सुन्दर रीति है, (व्यवहार है, मर्यादा है नियम है), यह उसके जीवन काल में देखी जा सकती है। (इसी प्रीति के आधार पर उसका अप्रतिम यश है)। परन्तु श्री गोस्वामी जी कहते हैं कि चातक का प्रेम (प्रीति) और विश्वास [प्रतीति] अलक्ष्य है, वह न दिखाई पड़ती है, न समझ में आती है। वह अलक्ष्य है।

जब कोई स्वार्थ नहीं है, कोई कामना नहीं है तो चातक व मेघ का प्रेम कैसे हो गया? चातक की सुरीति तो दिखाई देती है, परन्तु उसका परिणाम? लाभ? यह अकारण प्रीति कैसी? क्या यह मूर्खता या पागलपन है?

इसी तरह सन्त के जीवन की तपस्या, मर्यादा, नीति, त्यागवृत्ति तो स्पष्ट है पर उससे लाभ? सांसारिक लोग सन्तों को भी चमत्कार के आधार पर नमस्कार करते हैं, परन्तु चमत्कार, सिद्धि आदि सन्त के

लिए विघ्न रूप है, प्रेम में सहायक नही है। यदि चमत्कार भी न दिखाई पड़े तो बहुत से लोग सन्तों की साधना को निष्फल या व्यर्थ मान लेते हैं, उसका जारी रहना उनकी समझ में नही आता।

सन्तों का भगवान् में जो प्रेम और विश्वास है बाद भी यदि वे लौकिक दृष्टि से दु:ख में पाए गए तो लौकिक परिणाम की अपेक्षा करने वाले उसकी सफलता कैसे समझें? अत: वे उसका लक्ष्य नहीं कर पाते, उसे बिल्कुल नहीं समझ पाते क्योंकि वह परिणाम निरपेक्ष है।

सन्तों का जो गूढ़ और रहस्यमय परन्तु प्रगाढ़ प्रभु प्रेम है वह रामचरित मानस में श्री गोस्वामी जी ने श्री भरत चरित्र में प्रदर्शित किया है, परन्तु श्री भरत चरित्र भी इसीलिए परम गूढ़ और रहस्यमय हो गया है।

जीव चराचर जहँ लगे, हैं सबको हित मेह।
तुलसी चातक मन बस्यो, घन सों सहज सनेह ।।
(२९४)

चलने वाले (पशु पक्षी आदि) और न चलने वाले (वृक्ष,लता आदि) सभी प्रकार के जीवों के लिए मेघ हितकारी है, श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि इनमें से चातक ही ऐसा है जिसके मन में मेघ के प्रति स्वाभाविक प्रेम बस गया है।

स्थावर जगम सभी प्रकार जीवों को प्राणधारण करने के लिए जल चाहिए, वह मेघ से वर्षा द्वारा मिलता है। इसी लिए मेघ सभी प्राणियों का हितू है 'सुहृद: सर्वं भूतानां, (गीता ५.२९) परन्तु फिर भी सब जीव मेघ से प्रेम नहीं करते। गर्मी जब अधिक होती है तो मेघ का आना और बरसना सभी को अच्छा लगता है, परन्तु यह तो स्वार्थ पूर्ति का सुख है प्रेम नहीं। सधारण जीव मेघ से लाभ उठाते हैं पर प्रेम नहीं करते,

विपरीतत: चातक मेघ से लाभ उठाने में बहुत पीछे है परन्तु प्रेम करता है। जहाँ प्राप्त लाभ के अनुपात में प्रेम हो, वह प्रेम नहीं है, स्वार्थ ही है। सच्चे प्रेम में अदला बदली या सौदा नहीं है, वहाँ बिना शर्त प्रेम है। बिना मोल की दासता है। जो प्रेम परिणाम निरपेक्ष है, प्रत्युपकार निरपेक्ष है, वही सच्चा प्रेम है। ऐसा प्रेम सुखार्थी नहीं होता। इसी लिए वह स्वाभाविक या नैसर्गिक या सहज कहा जाता है। वह विषम परिस्थिति में भी स्थिर रहता है। वह शाश्वत, अभिनाशी, अमर है।

जो उपकार के बदले में होगा यह नपा तुला, सीमित होगा, वह सापेक्ष ही रहेगा, निरपेक्ष नहीं, सहज प्रेम तो उपकार के साथ भी चलेगा, अपकार के साथ भी चलेगा। सहज है यानी स्वाभाविक है यानी यानी बाहरी परिस्थिति जन्य कारणों से नहीं है। जैसे प्रह्लाद की भक्ति के बारे में गुरुजनों ने कहा–नैसर्गिकीयं मतिरस्य राजन् (श्रीमद्भागवत ७. .५ २८)।

जब हम प्राण और अन्य सब कुछ भगवान् ही से प्राप्त करते हैं, फिर भी सुख में भी कृतज्ञ नहीं होते आसक्ति नहीं होते तो फ़िर परिणाम निरपेक्ष शाश्वत प्रेम भला कैसे करेंगे !

विषयी जीव और सन्त में आकाश पाताल का अन्तर है। विषयी सब कुछ पाने पर भी भगवान् से प्रेम नहीं करता, सन्त भगवान् से प्रेम करते हैं, जागतिक परिस्थिति की ओर से उदासीन रहते हैं। सांसरिक जीव भगवान् से उदासीन है, सन्त संसार से उदासीन हैं !

यह कल्पना बहुत ठीक नहीं हैं कि अमुक अमुक कष्ट कट जायँ तो हम भगवान् का भजन करेंगे, उससे प्रेम करेंगे, । जो लोग उन कष्टों से रहित हैं, वे क्या भगवान् से प्रेम करते हैं। जो व्यावहारिक कष्ट से रहित दिखाई पड़ते है वे प्राय: सांसारिक सुखोपभोग में मग्न होने के लिए अधिक खाली हैं न कि भगवत्प्रेम में मग्न होने के लिए।

इसी लिए वाह्य घटना क्रम भगवान् के प्रेम का थोड़ा बहुत साधक या बाधक हो सकता है, भगवत्प्रेम का मुख्म कारण नहीं हो सकता ।

सहज सनेह ही स्थिर रह सकता है,

यह जीव किसी भी उपकार के बदले अपनी स्वतन्तता, अपनी अस्मिता खोने के लिए तय्यार नहीं है । एक बार पता चल जाय कि कोई हमें अपने बस में करने के लिए उपकार कर रहा है तो उल्टे खिचाव पैदा हो सकता है । भगवान् के अनन्त उपकार हैं—

कोटिहुं मुख कहि जायँ न प्रभु के एक एक उपकार । (वि. प.)

परन्तु फिर भी हम उनके प्रति आत्म- निवेदन नहीं करते अल्प उपकार वालों की बात ही क्या है ?

वास्तविक प्रेम उपकार का प्रत्युपकार रूप नहीं हैं । वह स्वाभाविक प्रवाह है । सन्त का भी प्रेम ऐसा ही है, सहज है, अनपाई (क्षय न होने वाला) है ।

साधारण जीवों की चेष्टा है कि 'देत एक गुन, लेत कोटि गुन भरि सो' (वि. प.) परन्तु–

हेतु रहित जग युग उपकारी ।तुम तुम्हार सेवक असुरारी ।।

श्री गोस्वामी जी ने यही बर माँगा है कि–

हेतु रहित अनुराग राम पद बढ़ौ अनुदिन अधिकाई ।।
(वि. प.)

कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहि राम ।।
(रा. च. मा. उत्तर कांड)

राम कबहु प्रिय लागि हौ, जैसे नीर मीन को ।
सुख जीवन ज्यों जीवको, मनि जो ज्यों फनि को,
हित ज्यो धन लोभ लीन को ।।

ज्यों सुभाय प्रिय लगति नागरी नागर नवीन को ।
ज्यों मेंरे मन लालसा करिये करुणाकर ! पावन प्रेम पीनको ।
(वि. प २६९)

सन्त भगवान् के प्रति ऐसा ही प्रेम रखते हैं :

डोलत विपुल विहंग वन, पियत पोखरनि वारि ।
सुजस धबल चातक नवल, तुही भुवन दस चारि ।। २९५ ।।

जंगल में बहुत से पक्षी उड़ते फिरते हैं, प्यास लगने पर ताल तलैयों में जल पी लेते हैं, परन्तु हे चातक !चौदहों लोकों में उज्जवल और नई कीर्ति तूने ही पाई है, वैसी किसी और ने नही पाई ।

चातक भी पक्षी है और भी अनेक प्रकार के पक्षी हैं । पक्षित्व सबमें समान है । फिर भी चातक का नित्य नया उज्ज्वल यश है, दूसरे पक्षियों का नही । ऐसा क्यों? इसका रहस्य उनकी वृत्ति (जीविका) में है । श्री गोस्वामी जी ने यहाँ शुद्ध जीविका का महत्व सूत्र रूप में रख दिया है ।

संस्कृत में एक उक्ति है–हितभुक् मितभुक् ऋतभुक् । सोऽरुक् सोऽरुक् सोडरुक् । 'हित कारी, नपातुला, सच्ची कमाई का भोजन जो खाता है,

वह अरोगी है, वह अरोगी है, वह:अरोगी है ।) सिर्फ़ स्वास्थ का सवाल नहीं है । सन्तों की उक्ति है जैसा अन्न वैसा मन, जैसा वत्त वैसा चित्त । उत्तेजक भोजन करने वाले और शान्ति दायक भौजन करने वाले एकाग्रता की समान शक्ति नहींरखते । वेईमानी की कमाई से गुजर करने पर बुद्धि भी भ्रष्ट होगी, शुद्ध भक्ति भी नहीं सधेगी । भगवान् बुद्ध ने सम्यक् अजीविका को अष्टांग साधन का आवश्यक अंग माना ।

आज कल परिस्थितियाँ विगड़ती जा रही हैं । शुद्ध कमाई से गुजर करना अशक्य होता जा रहा है । अशुद्ध कमाई का आश्रय लेने की विवशता बढ़ती जा रही है । उसी हिसाब से विचार भी बदलते जा हहे हैं । खाने में क्या रख्खा है ? कुछ भी खाएँ, भजन करें, भगवान् की याद करें, ऐसा ही लोग समझने और कहने लगे हैं । परन्तु इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि अलग अलग प्रकार के भोजनों का न केवल शारीरिकस्वास्थ्य पर बल्कि मन पर भी, संकल्प शक्ति, चिन्तन शक्ति, ध्यान शक्ति, धारणा शक्ति, मेधा शक्ति, एकाग्रता शक्ति आदि पर भी बहुत प्रभाव पड़ता है । यही नहीं, गाढ़ी कमाई का अन्न खाया कि काम चोरी का, कि रिश्वत का, तस्करी या लूट का, इसका भी प्रभाव पड़ता है ।

अशुद्ध कमाई का केवल शुद्ध प्रयोजन के लिए उपयोग हो यह संभव नहीं होता । पाप की कमाई हाथ में आकर और भी पाप कराती है । पापी स्वाभात: भगवद्विमुख ही होता है, सम्मुख नहीं । पाप की कमाई वालों को एकाग्रता कठिन पड़ती है । भगवान् के प्रेम में प्रवृत्ति कठिन है । इस लिए यह कल्पना ठीक नहीं है कि रोजी रोटी की समस्या जैसे भी हो हल कर लेना चाहिए फिर भगवान् से प्रेम करने का कार्यक्रम वरता जा सकता है । । वित्त अशुद्ध हो तो चित्त शुद्ध नहीं हौता और–

निरमल मन जन सो मोहिं पावा । मोहिं कपट छल छिद्र न भावा ।।

जैसे सम्पत्ति उत्पादन के साधन होंगे उनका प्रभाव धर्म, दर्शन आदि समस्त जीवन पर पड़ेगा। मह केवल मार्क्स का सिद्धान्त नहीं है, भीष्म ने भी कहा है–

अर्थस्य पुरुषो दास: नार्थो दासस्तु कस्यचित् !
(पुरुष अर्थ का का दास है, अर्थ किसी का दास नहीं।)

साधारण व्यक्ति शुद्ध कमाई के मामले में पूरी सावधानी बरत नहीं पाता। वह उन्हीं पशु पक्षियों कि तरह है जो प्यास लगने पर किसी भी जलाशय का जल पी लेते हैं। वह आती हुई लक्ष्मी का त्याग नहीं कर पाता। इस समय प्रजा (१९८४) में विषम आर्थिक कष्ट में है, अत: अर्थाभाव के कारण भी अर्थ का त्याग कठिन है। परन्तु विवेक द्रष्टि से यह स्मरणीय ही है कि येऽार्थ शुचि: स शुचि: जो वित्त के मामले में पवित्र है, वह पवित्र है।

यद्यपि अर्थ-शुचिता का विस्तृत विवेचन यहाँ प्रासंगिक न होगा परन्तु यह कह देना आवश्यक है कि इस विषम समय में भी अर्थ-शुचिता, ईमानदारी की कमाई, मेहनत की रोटी का ध्यान रखना आवश्यक है। इस विषय में कुछ बातें याद रखना उपयोगी होगा—

बेईमानी की कमाई सबको उपलब्ध नहीं है। शायद सहस्र में एक को उपलब्ध हो। शेष लोगों को जो मुसीबत झेलनी है, उसे बढ़ाकर हम चैन करें, ऐसा विचार नहीं करना चाहिए। ऐसे विचारों से हम अपने से भी अधिक दीनदु:खियों के प्रति सहानुभूति नहीं रख पाते। राष्ट्र द्रोह होता है। हमें दीन दु:खियों का आशीर्वाद नहीं मिलता अभिशाप मिलता है। जिन लोगों के शोषण सें पाप की, बेईमानी की कमाई नहीं आती है उन्हें भी आप विवश कर रहे हैं कि अवसर मिले तो वे

भी बेईमानी की कमाई करें। इस प्रकार अस्वस्थ समाज बनता है। स्वस्थ समाज सेवा और सहयोग पर ही आधारित हो सकता है, लोभ और लूट पर नहीं। देश, राष्ट्र व समाज की प्रगति भी मेहनत और ईमानदारी पर निर्भर है। स्वस्थ व अस्वस्थ अर्थ व्यवस्था यहाँ हमारा विषय नहीं है। परन्तु यह तो हमारा विषय है ही कि ईमानदारी की रोजी वाला व्यक्ति ही भगवत्प्रेम के मार्ग में प्रगति कर सकता है।

यह ठीक है कि वाह्य क्रियाओं के आधार पर आज बहुत से लोग भक्त, सन्त या भगवत्प्रेमी मान लिए गए हैं, जिनका ईमानदारी की रोटी पर आग्रह नहीं। किसी प्रकार धन अर्जित करके उसका एक अंश दान पुण्य में व्यय करने से यश मिल जाता है, परन्तु भगवान् के जिस सच्चे और अनन्य प्रेम का वर्णन इस ग्रंथ में हुआ है, उससे यह लोग दूर ही रहते हैं। सच्चा प्रेम वैराग्य के साथ चलता है–

जिन रघुबीर चरन अनुरागे। तिन सब भोग रोग सम त्यागे।
(वि. प.)

वैराग्य और बेईमानी की कमाई का कोई मेल नहीं बैठता। अनन्य भक्त सबको प्रभु का रूप देखता है–

निज प्रभु मय देखहिं जगत (रा. च. मा. उत्तर कांड)। तो वह क्या अपने इष्ट देव को ही ठगेगा? शोषित करेगा?

साधारण लोगों कीं दृष्टि में आप भक्त बन जायँ पर आप शुद्ध कमाई का आश्रय लिए बिना न परा भक्ति कर सकते हैं, न उसका यश आप को मिल सकता है। जो पशु पक्षी पोखरों का पानी पीते हैं, वे चातक के यश का एक क्षुद्र अंश भी नहीं पा सकते। चातक चौदहों भुवनों में विमल यशभाजन है।

इस दोहे में व्यंजना-शक्ति से आकाश-वृत्ति का प्रति पादन कर दिया गया। सन्तों की प्राय: आकाश-वृत्ति रहती है, जैसे चातक की रहती है। आसमान से जो बरस पड़े, सहज ही अपने को प्राप्त हो जाय उसी पर गुज़र करना, पृथ्वी पर फैले हुए वैभव से उदासीन रहना, कम मिलने न मिलने का खतरा उठाना और सुख दुख को सब्र के साथ सहना। इस तपके साथ जो भगवान् से प्रेम करते हैं, वे ही अनन्यता (चातकवृत्ति) का निर्वाह कर सकते हैं।औरों को तो दूसरे सहारे पकड़ने ही पड़ेंगे।

यह भ्रम नहीं रखना चाहिए कि यह सब निरूपण केवल साधुवेश-धारियों के लिए है। चातक लक्षणों में सन्त है, वेश से नहीं। भगवान् की 'योग क्षेमं बहाम्यहम्' वाली विरुदावली सिर्फ़ साधु वेश धारियों के लिए नहीं है। जिन सन्तों की आकाश वृत्ति है उनके द्वारा भी भगवान् की कृपा से बड़े बड़े कार्य हो जाते हैं, विवेकियों की दृष्टि में यह भगवान् की लीला ही है।

मुख मीठे मानस मलिन, कोकिल मोर चकोर।
सुजस धवल चातक नवल, रह्यो भुवन भरि तोर॥
(२९६

कोयल, मोर व चकोर मुख के मीठे है, मन के मलीन हैं, पर हे चातक। सारे संसार में तेरा नवीन व निर्मल यश परिपूर्ण हो रहा है।

प्रह्लाद ने कहा–

प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विम्डबमम् (श्रीमद्भागवत)।

भगवान् निर्मल भक्ति से ही प्रसन्न होते हैं, बाकी सब ढोंग है।
रहति न प्रभु चित चूक किये की। करत सुरति सौ बार हिये की॥
(रा. च. मा.)

काय न कलेस लेस लेत मानि मन की । (वि० प०) ।

भगवान् हृदय का भाव देखते हैं । इस दोहे में दंभ और सच्ची प्रीति का भेद बता दिया गया है ।

कोयल अपनी मधुर स्वर-लहरी के लिए प्रसिद्ध है उसकी बोली सबको प्रिय लगती है, वह विशेषत: वसन्त ऋतु में ही सुनी जा सकती है । वाणी से तो इतनी कधुर है परन्तु कहा जाता है कि वह अपने अण्डे कौवे के घोसले में रख आती है, जन्म के कुछ वाद कोयल के बच्चे कोयलों में मिल जाते हैं । इस प्रकार कोयल के मन में चालाकी है । वृत्ति में स्वार्थ है, व्यवहार में धोखा धड़ी है मीठी वाणी इस सब में सहायक है ।

जो लोग मिलन सार हैं, मिष्ट भाषी हैं, लोगों को आर्कषित करते परन्तु है, अपना उल्लू सिद्ध करते हैं, स्वार्थी हैं, चाग्लाक हैं दूसरो को धोखा देकर अनुचित लाभ उठाते हैं, वे कोयल की तरह हैं । मुहँ के मीठे मन के मलीन हैं ।

मोर एक उदाहरण है—

देखत चारु मयूर बयन सुभ बोलि सुधा इव सानी ।

सविष उरग आहार निठुर उर, यह करनी वह बानी । (वि. प.) ।

कोयल देखने में काली है, कौवे की तरह, परन्तु कौवे की बोली कर्कश है कोयल की मधुर है । मोर शरीर का भी रंग बिरंगा, सुन्दर है, वाणी भी मधुर है, अमृत से सनी जान पड़ती है परन्तु सर्प उसका आहार है,विषधर को वह खा जाता है । रूप सुन्दर, वाणी मधुर, करनी कठिन, हृदय निष्ठुर है । समझने की बात यह है कि कथनी करनी में बड़ा अन्तर

है। यही असन्त का लक्षण है। मन वचन कर्म की एकता और सत्य निष्ठा महात्माओं का लक्षण है, मन में कुछ, वचन में कुछ, कर्म में कुछ और दुरात्माओं का लक्षण है। इस लिए कोयल और मोर महात्माओं के लक्षण नहीं रखते।

तीसरा उदाहरण चकोर का है। वह चन्द्रमा का प्रेमी माना जाता है। उसकी नज़र चन्द्रमा पर लगी रहती है। परन्तु किम्वदन्ती है कि वह अंगार खाता है। चन्द्रमा का प्रेमी और अंगार का आहार ! हिमांशु का प्रेम, अग्नि का आहार ! इष्ट के विपरीत गुण वाले से निकटता ! यही तो अनन्य या परा भक्ति का बाधक है शरणागति में तो 'प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्' है, सेवन नहीं। एक ओर तो इष्ट से प्रत्यक्ष प्रेम व्यवहार दूसरी ओर प्रतिकूल का सेवन। यही कमी है।

बहुत से लोग भक्त कहे जाते हैं, अपने को भक्त मानते भी हैं, भक्ति का व्यवहार भी करते हैं, परन्तु 'इष्ट के प्रतिकूल का त्याग' इस लक्षण में शिथिल रहते हैं।

कृष्ण गोपाल थे और हैं, क्या आप कृष्ण भक्त, सच्चे भक्त हो सकते हैं, परन्तु गोपालन में उदासीन रहकर श्वानपाल रह सकते हैं। भगवान् विष्णु को तुलसी प्रिय है, क्या आप सच्चे वैष्णव भी हैं और तुलसी से कोई सम्बन्ध नहीं रखते। यानी इष्ट के अनुकूल संकल्प रखना आवश्यक नहीं समझते ? यदि ऐसा है, तो सच्ची शरणागति से आप दूर हैं। इसलिए चकोर भी कसौटी पर ख़रा नहीं उतरता।

चातक प्रेम की कसौटी पर खरा उतरता है। इसीलिए उसका सुयश संसार भर में ब्याप्त है।

विपुल उदाहरणों से युक्त एक अन्य दोहा भी श्री गोस्वामी जी ने दोहावली जी में लिखा है—

माखी काक उलूक बक, दादुर से भए लोग ।
भले ते शुक पिक मोर से, कोउ न सराहन जोग ।।

समय खराब आ गया । साधारण लोग मक्खी, कौवा, उल्लू, बगुला, मेढक के से हो गए हैं, जो इनसे अच्छे हैं वे तोते, कोयल या मोर से हैं, इनमें कोई भी प्रसंसा योग्य नहीं । जो अच्छे हैं वे शुक पिक मोर से हैं हमारे दोहावली जी के दोहा न० २९६ में कोकिल मोर चकोर कहे गए है, इसमें भेद इतना ही है कि एक जगह चकोर को गिना दूसरी जगह शुक (तोते) को । तोता चश्मी प्रसिद्ध है । बहुत दिन जिसने पाला, उसके प्रति भी उसे कोई प्रेम नहीं होता । पिंजड़े से खुल जाय, उड़ जाय तो पालने वाले के पास नहीं लौटता । (कबूतर का व्यवहार इससे भिन्न है ।)

सच्ची स्वामि भक्ति, अनन्यता, सत्यनिष्ठा, प्रेम इनमें नहीं होता, अत: इनमें से कोई भी प्रशंसा योग्य नहीं हंस, मछली और चातक प्रशंसनीय माने गए हैं ।

वास वेश बोलनि चलनि, मानस मंजु मराल ।
तुलसी चातक प्रेम की, कीरति विशद विशाल ।। (२९७)

निवास स्थान बौली चाल, सभी जिसके उत्तम हैं, ऐसा पक्षी हंस हैं, परन्तु प्रेम के मामले में विशद कीर्ति वाला पक्षी चातक ही है, अन्य कोई नहीं । विशेष प्रशंसनीय पक्षी हंस है । उसका रूप सुन्दर है, रंग भी सफ़ेद है, बोलता कम है परन्तु वाणी मधुर ही है, चाल भी अच्छी है, सौम्य है, सधी हुई है, उत्तम है । हस मन का भी कपटी नहीं है । शिकारी भी नहीं है कि दूसरों के लिए घातक हो । इस प्रकार हंस गुणों से भरपूर है । बगुले की तरह ही हंस धोखा देने के लिए ध्यान नहीं

लगाता। वह सचमुच शान्त है। संस्कृत में एक श्लोक हैं, उसमें श्री राम चन्द्र जी श्री लक्ष्मण जी से कहते हैं—

पश्य लक्ष्मण पम्पायां बका: परम धार्मिका: ।
शनै: शनै: पद धत्ते जीव घात विशंकया ।।

हे लक्ष्मण ! देखो पम्पासर के बगुले परम धार्मिक हैं, धीरे धीरे पैर रखते हैं कि कहीं कोई जीव दब न जाय। इस पर उस साहित्यिक ग्रथ में उल्लेख है कि एक मछली पम्पासर से बोली—'सहवासी विजानीयात् चरितं सहवासिन:' । (साथ में रहने वाले एक दूसरे का चरित्र जानते है। किबगुले क्यों धीरे धीरे पैर रखते हैं) । हंस निर्मल मन है।

परन्तु हंस का विशेष यश नीर—क्षीर विवेक के कारण है। कहा जाता है कि दूध और पानी मिला हुआ हो, तो हस दूध पी जायगा, पानी रह जायगा। उसका यह विवेक बड़ा प्रशसनीय रहा है। विवेषत: संस्कृत साहित्य व हिन्दी साहित्य में इसी गुण के कारण हस की कीर्ति पताका फहरा रही है।

श्री गोस्वामी जी हंस की प्रशंसा ही करते हैं, आलोचना बिल्कुल नहीं करते, परन्तु वे यह कह देते है कि चातक के प्रेम की विशद और विशाल कीर्ति है। इसमें पूज्यपाद गोस्वामी जी की पूर्णत: मर्यादित भाषा में यह संकेत आ गया कि सिद्धि और ज्ञान दोनों से प्रेमाभक्ति श्रेष्ठ है।

नीर—क्षीर विवेक हंस की सिद्धि है, अनेक सिद्धियाँ विविधि साधनों की सफलता से मिलती हैं। सिद्धियों से वाहवाही खूब मिल सकती हैं और लौकिक सम्पन्नता भी बन सकती है। परन्तु सिद्धियों के कारण पुज जाना और बात है, भगवत्प्रेम में डूब जाना और बात है। सच्चे भगवत्प्रेम तथा मोक्ष के मार्ग में सिद्धियाँ विन्घकारी मानी गई हैं—

अन्तरायान् वदन्त्येते कालक्षपण हेतवः। (श्रीद्भागव ११.१५.३३)

सिद्धियों से बहुत सी तकलीफें दूर हो सकती हैं, बहुत सा आराम मिल सकता है, अपने को भी, दूसरों को भी। परन्तु इस रास्ते में चलते हुएँ सुख दुःख समान वाली भूमिका में प्रतिष्ठित होने की प्रेरणा नहीं होगी, संसार को स्वप्नवत् जानने की प्रेरणा नहीं होगी अर्थात् परमार्थिक उच्च मूमिकाएँ उपलब्ध नहीं होंगी। यदि सिद्धियों से सम्मान अर्जित किया तो 'देख ब्रह्म समान सब माहीं'। (रा. च. मा) वाली बात से उल्टी भावना बनेगी। 'मान' और 'ज्ञान' परस्पर सहायक नहीं हैं, विरोधी हैं। सिद्धियाँ ज्ञान की भी बाधक हैं, प्रेम की भी। भगवान् की शक्ति सिद्धियों में काम कर रही है। यदि हम सिद्धियो में अटक गए, आसक्त हो गए, और भगवान् के प्रेमी न हुए, तो यह अविवेक का काम हो गया। माँ के दिए हुए खिलौनों में भूल कर, माँ को ही भूल जाना ऐस काम है जिसे मूर्ख बालक भी अधिक समय तक नहीं कर सकता। परन्तु सिद्धियों में अटक कर हम सिद्धिदाता को भूल जाते हैं और सिद्धियों की शक्ति अपनी विशेष उपलब्धि है, ऐसा अभिमान भी कर बैठते हैं। बिना श्रद्धा विश्वास के सिद्धाजन भी अपने भीतर स्थित ईश्वर को नहीं देख पाते। (रा च मा. बाल काण्ड)। यहाँ यह सकेत बिल्कुल नहीं कि हंस में सिद्धि के कारण ऐसे दोष हैं। चमत्कार को नमस्कार साधारण लोगों कि वृत्ति है, परन्तु भगवत्प्रेम को ही नमस्कार, यह अनन्य भक्ति का लक्षण है।

हंस को ज्ञान का स्वरूप माना जा सकता है। इस जगत् में जो सारभत सत्य वस्तु है ब्रह्म, उसे असार, असत्य से अलग करके ग्रहण कर लेना, असार वस्तु को हंस की तरह छोड़ देना ज्ञानी का लक्षण है। सच्चे ज्ञानी का सब जगह सन्मान होता है। होना भी चाहिए। परन्तु ज्ञान का यश होना और बात है, भगवान की प्रीति की कीर्ति और ही है।

चातक का प्रेम के मामले में, उत्तम, निर्मल और विपुल यश है। सन्त के दरबार में भगवत्प्रेम का ही महत्व है, उससे भिन्न ज्ञान का नहीं।

विषयी साधक सिद्ध सयाने। त्रिविधि जीव जग वेद बखाने।
राम सनेह सरस मन जासू। साधु सभा बड़ आदर तासू।
(रा०च०मा०)

सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू। कर्णधार बिनु जिमि जलजानू॥
(रा०च०मा०)

नैष्कर्म्यमप्यच्युत भाव वर्जितं न शोभितं ज्ञानमलं निरंजनम्।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्॥
(श्रीमद्भागवत १.५.१२)

कर्म बन्धन से रहित, निर्मल ज्ञान की जो दशा है, वह भी श्रीभगवान् के प्रेमभाव के बिना शोभामती नहीं होती है, फिर अन्य कर्म तो सदा ही अभद्र (अकल्याणकारी) हैं, वह कामना से न भी किया गया हो, तो भी यदि भगवान् को समर्पित नहीं हैं, तो वह भला शोभा को कैसे प्राप्त हो सकता है ?

प्रेम के पन्थ में चातक ही यशस्वी है, सन्तों के लिए वह हंस से भी श्रेष्ठ है। श्री गोस्वामी जी महाराज ने अत्यन्त कुशलता और मर्यादा पूर्वक इसी बात का इस दोहे में संकेत दिया है।

प्रेम न परिखिय परुषपन, पयद सिखावन एह।
जग कह चातक पातकी, ऊसर बरसै मेंह॥
(२९८)

मेघ यह शिक्षा देता है कि प्रेम में कठोरता पर ध्यान नहीं देना चाहिए। (गलत धारणा के कारण ही) संसार वाले लोग यह कहते

हैं कि ऊसर में भी बरसने वाला मेघ, चातक की याचना पर जल क्यों नहीं देता ? अवश्य ही चातक पापी है, अभागा है।

इस दोहे में यह मन्त्र दिया गया है कि साधारण अज्ञानी जीव या नए साधक की यह धारणा, कि संसार की सुख सुविधा मिले और कष्ट की निवृत्ति हो, तो भगवत्कृपा का लक्षण है, विपरीत दशा है तो भगवान् का कोप या अकृपा की सूचक है, ठीक नहीं है।

नए साधक की दृष्टि इसी गलत धारणा के अनुसार काम करती है। जब यह कहा जाता है कि भगवान् भक्त के बस में हैं, भगवान् भक्त की इच्छा पूरी करते हैं, भगवान् योग क्षेम वहन करते हैं, भगवान् के लिए कुछ भी ऐसा नहीं जो वह भक्त को न दे सकें, वे सर्व समर्थ और कृपासिन्धु भी हैं, तो फिर भक्तों पर विपत्ति या सन्तों को कष्ट क्यों ? वे पूरे सुखी निर्विघ्न निश्चिन्त क्यों नहीं।

इसका पहला जबाब तो यही है कि भक्तों सन्तों को भी सुख दु:ख, हर्ष शोक, हानि लाभ, यशापयश, प्रारब्धानुसार मिलता ही है। यदि ऐसा ही है, तो क्या मान लिया जाय कि सुख-दु:खादि की प्राप्ति पूर्व कर्मों के परिपाकानुसार ही होगी, उसमें भक्ति से कोई अन्तर नहीं पड़ेगा। ऐसा मानें तब तो सीधे सीधे यही सिद्ध होगा कि दु:ख में पड़े हुए सन्त इस समय चाहे पापी न हों, पर्वकाल का अवश्य कोई पाप है जो फलित होकर दु:ख दे रहा है। यदि यह भी कहें कि भगवान् अशुभ प्रारब्ध कम कर देते हैं, एकदम नष्ट नहीं करते, तो भी तीव्र कष्ट में पड़े हुए सन्त का कोई पूर्वकृत् महापाप सिद्ध होगा जिसका फलोदय हो रहा है।

यदि कोई चोर जेल काट रहा है, तो उसके परिचय में यही कहा जाता है कि यह चोर है, यह नहीं कहा जाता कि यह चोर था, अब

इसकी चोरी का पाप जेल काटने से क्षय हो रहा है। उसे चोर ही कहा और माना जाता है। यद्यपि सब लोगों की (और अपनी भी) ऐसी मान्यता का यह प्रभाव होता है कि चोर बने रहने की ही उसकी धारणा पुष्ट होती है, सुधार की भूमिका नहीं बनती। इसी तरह जिसे हम बड़े कष्ट में देखते हैं, उसके किसी पुराने महापाप का फल मिल रहा है, ऐसा मानते हैं। उस समय यह नहीं सोचते इसका कोई महान् पाप भोग द्वारा क्षीण हो रहा है। वह शुद्ध हो रहा है। हम उसे महापापी के रूप में लेते हैं। इस प्रकार लोक दृष्टि में सन्त पापी ठहरते हैं। तात्विक, यौगिक या दार्शनिक दृष्टि से यह कल्पना ठीक नहीं है।

कर्मभोग पर भक्ति का क्या प्रभाव पड़ता है या पड़ सकता है, वैसा पड़ना दृष्टिगोचर न हुआ तो हम जल्दी से फैसला देते हैं या तो भक्त के विरुद्ध या भगवान् के विरुद्ध या दोनों के विरुद्ध। भक्त या सन्त को हम पापी निश्चित करते हैं या भगवान् को निष्ठुर (कठोर) या कुपित मान लेते हैं। इस प्रकार के प्रायः सब निर्णय गलत ही होते हैं, वे केवल हमारी भक्ति को असिद्ध करते हैं, हमारी अविनय के भी सूचक हैं, कि हम सन्त भगवन्त के गूढ़ और रहस्यमय सम्बन्धों के विषय में जज बनकर बैठे हैं।

कर्म परिपाक की सारी बारीकियाँ यहाँ प्रासंगिक नहीं हैं, परन्तु यह बात विचारणीय है कि प्रेमी और प्रेमास्पद के दृश्यमान् व्यवहार से ही हम अनुकूलता या प्रतिकूलता का अनुमान करते हैं, यह स्वाभाविक है। जहाँ हम जानते हैं कि प्रेमास्पद तो समर्थ और उदार प्रसिद्ध है (यथा मेघ या भगवान्) वहाँ यदि प्रेमी को माँगने से घूंट भर पानी भी न मिले तो उसके अपात्र (अयोग्य, पापी) होने का अनुमान होता ही है। विपरीततः यदि हमारी अत्यन्त श्रद्धा ओर सहानुभूति प्रेमी के प्रति है, तो प्रेमास्पद को मूर्ख या अयोग्य या अनुचित रूप से कठोर मानना

स्वाभाविक होगा। कुतर्कियों के लिए दोनों को दोष देना भी सम्भव है। साधारण लौकिक प्रेम में भी यदि माधुर्य की कमी दिखाई पड़े, कष्ट हो या कटुता दिखाई पड़े तो देखने वाले पूरा सन्दर्भ न जानते हुए भी विविधि अनुमान और चर्चा करते हैं। उसका सचमुच ठीक होना आवश्यक नहीं।

यत: संसार में प्रेम प्राय: निर्विघ्न नहीं चलता, विविधि प्रकार की उक्तियाँ प्रचलित हो गई हैं, जैसे—शुद्ध प्रेम का घटनाक्रम कभी स्निग्ध और निर्विघ्न नहीं होता।

सीस उतारै भुइँ धरै, तब पैठे घर माँहि।
(कबीर)

मोहब्बत करने वाले ग़म से घबराया नहीं करते।
न लावे ताब जो ग़म की, वो मेरा राज़दाँ क्यूँ हो ?
(ग़ालिब)

रोएँगे हम हजार बार, कोई हमें सताए क्यों ?
(ग़ालिब, आदि

साँसारिक अनुभव यह है कि हम प्रेम के बिना रह नही सकते और प्रेम में आघात लगता है। इसलिए प्रेमी के प्रति हमारी प्राय: सहानुभूति बनती है। श्रृंगार और करुणा रस के कवियों, नाटककारों, उपन्यासकारों ने अपनी प्रतिभा से इस सहानुभूति को बढ़ाया है। प्रेमी के दु:ख का प्रभावशाली चित्रण करके करुणा रस का उत्तम परिपाक किया जाता है। प्रेमी के दु:ख, कष्ट, विरह व्यथा आदि के वर्णन में उर्दू शायरों ने एक अनोखा कीर्तिमान स्थापित किया है। चातक छत्तीसी में भी चातक नायक है। कवि की प्रतिभा से हमारी सहानुभूति उसी की ओर आकृष्ट होती है। इसलिए प्रेमास्पद घनश्याम, जलद को दोष

देना स्वाभाविक हो जाता है। उर्दू शायरी में तो प्रेमास्पद (माशूक़) अत्याचारी (सितमगर) के रूप में रूढ़ हो ही गया है।

हम सब प्रायः अपनी आसक्तियाँ रखते हैं, जिनमें आघात लगता है तो दुःख होता है. उसमें सहानुभूति चाहते हैं (दण्ड नहीं चाहते)। ऐसी दशा में हम सब श्रृंगार व करुणारस के साहित्य से जी बहलाएँ यह स्वाभाविक हो सकता है। आचार्य भवभूति ने तो मात्र करुणारस को ही रस माना है और उसी से निमित्तभेद से अन्य रसों की उत्पत्ति मान्य की है।

साहित्यकारों, कवियों में, प्रायः सभी प्रेमी की ओर के वकील मिलेंगे प्रेमास्पद की ओर के नहीं, परन्तु श्री चातक छत्तीसी में (या श्री वैराग्य संदीपनी में), तत्वतः निर्णय का भी प्रश्न है, केवल साहित्यिक मनोविनोद तो है नहीं, अतः प्रेमास्पद का भी पक्ष विचारगत होना चाहिए। दोहावली जी के दोहा (सं० २९८) में उसका सूत्र दे दिया गया है।

मेघ का उपदेश (सिखावन) यह है कि प्रेम में कठोर व्यवहार या (या मृदुल व्यवहार) की परीक्षा नहीं करनी चाहिए। जैसे बड़े से बड़ा अधिवक्ता कभी कभी अपने पक्ष को एक ही वाक्य में प्रस्तुत कर देता है, और वही वाक्य निर्णायक होता है, वैसे ही श्री गोस्वामी जी ने चार ही शब्दों में मेघ का पक्ष प्रस्तुत कर दिया है—'प्रेम न परखिय परुषपन' वैसे इस पंक्ति में प्रेम के प्रथमाक्षर 'प' के अनुप्रास की छटा भी देखते ही बनती है।

कोई असली विवाद तो है नहीं जिसमें किसी निर्णायक के समक्ष गोस्वामी जी मेघ का पक्ष प्रस्तुत कर रहे हों, यहाँ तो साधारण जीवों को कुछ मार्गदर्शन देना है, जिससे वे विवेकपूर्वक निश्चय कर सकें, भटक

न जायँ। तदर्थं मेघ का उपदेश है—व्यवहार के मृदुल या पुरुष होने की कसौटी ठीक नहीं है, इसके आधार पर प्रेम का निर्णय न कीजिये। एक ही वाक्य में बहुत कुछ भरा है—'अरथ अमित अति आखर थोरे।' (रा०च०मा०)

प्रेम में परुषपन की परीक्षा या समीक्षा क्यों नहीं होनी चाहिए। यह बात मननीय है। ऐसी परिस्थितियाँ आती हैं जब कठोरपन दिखाई देता है पर वह प्रेम के अभाव का सूचक नहीं होता।

कभी कभी प्रेम को गुप्त रखने के लिए कठोरपन दिखाया जाता है, सहज या अन्तः स्फूर्त नहीं होता। यह कठोरपन प्रेम का आवरण होता है, अभाव का प्रमाण नहीं।

कहा गया है कि—माता शत्रुर्पिता वैरी, येन बालो न पाठितः। बालक को पढ़ाना ही प्रेम है, अपढ़ रहने देना प्रेम नहीं। पढ़ाने में माता, पिता, अध्यापक आदि को सख्ती करनी पड़ती है, यह प्रेम का ही अंग है। वैसी सख्ती न करने से प्रेम सिद्ध न होगा।

कहा गया है कि पुत्र या शिष्य की प्रशंसा उसके मुख पर नहीं करनी चाहिए। पुत्र के या शिष्य के दोष दूर करने के लिए यदि उस पर सख्ती की जाय और उससे यह परिस्थिति बने कि उसके गुरुजन उसकी प्रशंसा औरों से सुनें, स्वयं न करें, तो यह उसका हित होगा, ऐसा हित करना ही सच्चा प्रेम है, न कि लाड़ प्यार में पुत्र या शिष्य को बिगड़ने देना।

इसी प्रकार वे सेवक अभागे हैं जिनसे उनके मालिक अपनापन मानकर उनके अपराध करने पर शिक्षार्थं दण्ड नहीं देते। (श्रीमद्भागवत ४.२६.२१)।

जिससे अपनापन नहीं होता उससे इसलिए भी मृदु व्यवहार रक्खा जाता है, कि अत्याचार का आरोप न आए। अर्थात् बिगानापन साबित न हो इसलिए मृदु व्यवहार आवश्यक लगता है। जैसे प्रेम को छिपाने के लिए कभी कठोरपन का दिखावा होता है।

कभी कभी ऐसा होता है आपके स्नेहपूर्ण व्यवहार पर दूसरे लोग आलोचना करेंगे परन्तु आप कठोर व्यवहार करें तो वे ही लोग मृदु व्यवहार की सलाह देंगे, जो आपके अनुकूल होगी।

जहाँ प्रेमी सच्चा और निर्दोष है और प्रेमास्पद भी भीतर से अनुकूल ही है पर व्यवहार में कठोर है, वहाँ प्रेमास्पद प्रेमी का यश चाहता है, अपयश नहीं। कठोर व्यवहार का दोष प्रेमास्पद पर आएगा, परन्तु सच्चे प्रेम की नेकनामी प्रेमी को मिलेगी। उसका हित होगा।

ऐसा हो सकता है कि प्रेमी सच्चा ही हो और प्रेमास्पद भीतर से उसके अनुकूल भी हो पर अन्य कुछ मित्रों, गुरुजनों आदि को प्रेमी के सच्चे होने का विश्वास न हो। ऐसी दशा में यदि प्रतिकूलता होते हुए भी वह टिक गया तो सन्देहशील लोगों को भी उसके सच्चे प्रेमी होने का विश्वास सहज ही हो जायेगा। इस प्रकार कई बार कठोरपन प्रेम की कसौटी सिद्ध होता है। उस पर खरा उतरने पर प्रेमी यशश्वी होता है। यह प्रेमास्पद की अनुकूलता ही है यदि वह प्रेमी को यशश्वी देखना चाहता है, अपयश भाजन नहीं।

इन सब बातों से भी अधिक महत्व पूर्ण बात वह है जो श्री भरत जी ने कही हैं—

अरथ न धरम न काम रुचि, गति व चहौं निरवान।
जनम जनम रति राम पद, यह वर दान न आन॥

जानहु राम कुटिल करि मोहीं। लोग कहउ गुरु साहिब द्रोही ॥
सीताराम चरण रति मोरे। अनुदिन बढ़ै अनुग्रह तोरे ॥
जलद जनम भरि सुरति बिसारउ। माँगत जल पबि पाहन डारउ ॥
चातक रटनि घटै घटि जाई। बढ़े प्रेम सब भाँति भलाई ॥
कनकहिं बान चढ़इ जिमि दाहे। तिमि प्रियतम पद प्रेम निबाहे ॥

जैसे स्वर्ण को तपाते हैं तो वह अधिकाधिक खरा होता जाता है, निखर उठता है, उसी तरह प्रतिकूलता को सहन करते हुए प्रियतम के चरण कमलों में प्रेम का निर्वाह करने से अन्तःकरण भी शुद्ध होता जाता है, शुद्धतम प्रेम का पात्र बनता जाता है।

जहाँ प्रेम सुख का साधन है, उपर्युक्त भाव नहीं टिक सकते, परन्तु जहाँ तप प्रेम के लिए है और शुद्ध प्रेम ही जीवन का लक्ष्य है, श्रेष्ठतम मूल्य है, वहाँ यही भावधारा स्वाभाविकी है।

श्रीमद्भागवत में रास लीला का वर्णन है। जब श्रीकृष्ण रासलीला में अन्तर्धान हो गए तो गोपियाँ बहुत दुःखी हुईं। उनका विलाप गोपी गीत श्रीमद्भागवत का मधुरतम अध्याय माना जाता है। जब श्रीकृष्ण पुनः प्रकट हुए तो गोपियों ने उपालम्भपूर्वक पूछा—कोई सज्जन ऐसे होते हैं कि अपने से प्यार न करने वालों को भी प्यार करते हैं, कोई अपने से प्यार करने वालों से ही प्यार करते हैं, और कोई अपने से प्यार करने वालों को भी प्यार नहीं करते। आप इनमें से कौन हैं ?

श्री भगवान् ने कहा उदार चरित्र वाले, परोपकारी, निःस्वार्थ सज्जन अपने से प्यार न करने वालों से भी प्यार करते हैं। जो अपने से प्यार करने वालों से ही प्यार करते हैं, औरों से नहीं, वे साधारण स्वार्थी जन हैं। जो अपने से प्यार करने वालों से भी प्यार नहीं करते, उनमें कई तरह के लोग हैं—

आत्मा रामा आप्तकामा अकृतज्ञा गुरुद्रुहः ।
(श्रीमद्भागवत १०.३२.१९)

कुछ लोग आत्माराम हैं, अपने स्वरूप का बोध हो चुका है, आत्म-रति, आत्म-तुष्टि है, कभी वाह्य परिस्थिति या व्यक्ति में आसक्त नही होते । ऐसे दिव्य सन्तों के व्यवहार से ऐसा आभास हो सकता है कि वे अपने से प्यार करने वालों से भी प्यार नहीं करते, बड़े निष्ठुर या कठोर हैं। कुछ लोग आप्त काम (पूर्ण काम) होते हैं। अपनी कोई कामना बाकी नहीं है, जिसकी पूर्ति करना हो, इसलिए और के प्यार के जबाब में वे प्यार नहीं करते । प्रेम के जबाब में प्रेम नहीं कर पाते, उनको लौकिक प्रेम की आवश्यकता ही नहीं, अतः उपराम हो गए हैं । यह दो (आत्माराम व आप्तकाम) निन्दनीय नहीं हैं, वन्दनीय ही हैं । तीसरे ऐसे लोग भी हैं कि हैं जो साधारण कोटि के हैं, जिन्हें ममता और सहारा चाहिए परन्तु वे अपने से प्यार करने वालों की कोमल भावनाओं का स्वागत नहीं करते अथवा सत्य निष्ठा नही रखते इसलिए दूसरे लोगों के प्रेम की कद्र नहीं करते, उनके प्रेम में आघात लगे तो उसकी परवाह नही करते । यह लोग अकृतज्ञ हैं (यानी कृतघ्नी हैं) । जिनको उपकार मानना चाहिए, उनका उपकार नही मानते ।

एक चौथा वर्ग भी है जो अपने से प्यार करने वालों से भी प्यार नहीं करता । जगत् के व्यवहार में ममता पानी की तरह निम्न गामिनी होती है । ममता अपने से छोटे के प्रति प्रवाहित होती है, गुरुजनों के प्रति भक्ति होती है, साधारण ममता नहीं । प्रकृति ममता की ही प्रेरणा देती है, भक्ति की नहीं ।

माता, पिता, गुरुजन, पुत्रों, पुत्रियों, शिष्यों पर ममता करते हैं, यह प्यार उनके विकास में उन्नति में सहायक होता है, इसके लिए छोटों को कृतज्ञ, विनयशील, आज्ञा परायण और भक्त होना चाहिए । परन्तु

नालायक लोग गुरुजनों की ममता का लाभ उठाते हुए भी उसका तिरस्कार करते हैं। यह द्रोह है, करना नहीं चाहिए, परन्तु बहुत प्रचलित होता जा रहा है। गुरुजनों के प्रेम के बदले प्रेम करने की प्रेरणा प्रकृति नही देती। यह भक्ति एक अर्जित गुण है। जो गुरुजनों के प्यार का लाभ उठाते हैं, परन्तु भक्ति नहीं करते, वे गुरु द्रोही हैं, पापी हैं। वे निन्दनीय हैं।

प्रेम करने वालों से भी प्रेम करने वालों के दो वर्ग (आत्माराम व आप्तकाम) वन्दनीय हैं और दो वर्ग (अकृतज्ञ, गुरुद्रोही) निन्दनीय हैं। श्रीकृष्ण इन चारों वर्गों से भी अपने को अलग बताते हैं। वे प्यार करने वालों से जब प्यार नहीं करते तो उनका प्रयोजन उस प्रेम को तीव्रतर करने का होता है, फिर उस तीव्रतर प्रेम का उत्तर मिलता है।

इस प्रकार प्रेमास्पद की कठोरता का यह प्रयोजन भी हो सकता है कि प्रेमी का प्रेम शुद्धतर, तीव्रतर हो झाय। तव उस प्रेम के साथ मिलन हो। यह तो अनुकूलता ही हुई। अधिक अनुकूलता अधिक कठोरता के रूप में भी दिखाई दे सकती है।

इसलिए प्रेमास्पद मेघ का सारा पक्ष एक सूत्र में कहा गया, 'प्रम न परखिय परुषपन'। प्रेम में कठोरता की परीक्षा करके उसके आधार पर प्रेम के अस्तित्व या अभाव का निर्णय नहीं करनाचाहिए।

होइ न चातक पातकी, जीवन दानि न मूढ़।
तुलसी गति प्रह्लाद की, समुझि प्रेम पथ गूढ़॥ (२९९)

न चातक पापी है, न जीवनदानी मेघ मूर्ख है। श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि प्रेम को समझने के लिए प्रह्लाद की गति पर विचार करना चाहिए, प्रेम का पथ गूढ़ है रहस्यमय है।

पहले यह कह चुके हैं कि 'जग कह चातक पातकी', संसार चातक के कष्ट को देखकर उसके पापी होने का निश्चय करता है। विकल्प से कभी मेघ के मूर्ख होने का भी निश्चय होता है, कि वह संसार भर में बरसता है पर प्रेमी भिक्षुक चातक के मुख में एक घूँट पानी डाल देना उसे कठिन होता है। इसी प्रकार अज्ञानियों के मन में कभी सन्त के पापी होने का निश्चय होता है, कभी भगवान् के मूर्ख या सनकी होने का (या न होने का)। श्री गोस्वामी जी कहते हैं कि यह दोनों कल्पनाएँ गलत हैं। न चातक पापी है न मेघ मूर्ख है।

तो फिर जब दोनों पक्ष एकदम विवेकी, निर्दोष हैं, सुजान हैं, परस्पर अनुकूल हैं, तो फिर विपत्ति, दुःख, निठुरता, याचनाभंग का दर्शन क्यों होता है ? दोनों एकरस आनन्द मग्न क्यों नहीं दिखाई देते। व्यथा कैसी ? निराशा की झलक क्यों ?

कहाँ का इश्क़ कैसा गम कि जब सर फोड़ना ठहरा।
तो फ़िर से संग दिल तेरा ही संगे आस्ताँ क्यूँ हो ?

(ग़ालिब)

संग | पत्थर, आस्ताँ | डेहरी।

निष्काम कर्मयोगी से पूछिये—जब आप निष्काम हैं, परिणाम निरपेक्ष हैं, हानि लाभ, जय पराजय, मान अपमान में समान हैं तो फिर यह अखण्ड पुरुषार्थ, यह दिन रात की दौड़ क्यों ?

अद्वैतवादी ज्ञानी से पूछिये कि जब एकमद्वितीयं ब्रह्म हैं और वह निश्चल, निरीह, निश्चेष्ट, निष्पक्ष हैं तो यह जगत् का गतिशील व्यवहार सदैव परिवर्तनशील स्वरूप कैसा ? निःस्पन्द (लहरहीन) में स्पन्दन कैसा ?

उसी प्रकार का प्रश्न प्रेम के क्षेत्र में यह बनता है कि जब प्रेमी और प्रेमास्पद दोनों ही ज्ञान विवेक सम्पन्न, शुद्ध अन्त:करण युक्त, भीतर से एक हैं तो फिर विरह कैसा ? शिकायत या याचना कैसी ? व्यथा कैसी ?

यह विश्व रहस्यमय है। इसमें अद्वितीय में द्वैत भासता है, (वाहिद में दुई दिखाई देती है), निष्काम व्यक्ति भी अत्यन्त सक्रिय दिखाई देता है, तिलक और गाँधी ही नहीं श्री अरविन्द घोष और आदि शंकराचार्य भी अत्यन्त सक्रिय थे। इसी तरह परा भक्ति में स्थित, प्रेम के आदर्श स्वरूप मुक्त प्रबुद्ध भक्तों में ही प्रेम और विरह आदि की अद्भुत छटा दिखाई देती है। गोपियों में, मीरा में, चैतन्य महा प्रभु में, जयदेव में, बिल्व मंगल में, राम कृष्ण परमहंस में, । यही तो रहस्य है, दिव्यता है।

अनिर्वचनीयं प्रेम स्वरूपम्। (नारद भक्ति सूत्र) इसी लिए प्रेम का तर्क शुद्ध पूर्ण विवेचन प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। परन्तु कोई एक प्रश्न विशेष उलझन पैदा कर रहा हो तो सन्त जन सूत्र रूप में उनका उत्तर दे सकते हैं, देते हैं। उस सूत्र का जितना मनन कीजिए अर्थं खुलेगा, हल निकलेगा, समाधान होगा। यहाँ सूत्र दिया गया, 'प्रह्लाद की दशा पर विचार करो, प्रेम का पन्थ रहस्यमय है'। आदर्श उदाहरण प्रस्तुत कर दिया, उसी से सारा प्रश्न हल हो जायगा।

प्रह्लाद की कथा में इस प्रश्न के हल की कुंजी है। कैसे ? भक्तराज प्रह्लाद जी के कष्टों का क्या ठिकाना ? जहाँ पिता (और राजा) स्वयं ही मार डालने पर तुले हों, कष्टों की सीमा कहाँ ? क्या इससे प्रह्लाद पापी सिद्ध हुए ! बिल्कुल नहीं। वे दैत्य कुल में उत्पन्न (जात: सुरेतर कुले, श्रीमद्भागवत् ७. ९.२६) होते हुए भी एक निष्पाप

भक्त हैं, वे भक्तराज माने गए। वे द्वादश महा भागवतों में भी पहले गिने गए–प्रह्लाद नारद पराशर पुण्डरीक,

व्यासम्बरीश शुक शौनक भीष्म दाल्भ्यान्।

हिरण्यकश्यप ने अपने पुत्र प्रह्लाद को मरवा देने की सब तरकीबें कर डालीं, परन्तु वे बेकार हुईं। तब उसे बड़ा आश्चर्य और भय हुआ। अपना पुत्र है इससे वह कुछ भी आश्वस्त नहीं हुआ। उसने सोचा—

परोऽप्यपव्यं हितकृद्यथौषधं, स्वदेहजोऽप्यामयवत् सुतोऽहितः।
(श्रीमद्भागवत ७. ५. ३७)

दूसरे से पैदा (अन्य का पुत्र) भी हितकारी हो सकता है, जैसे औषधि। ज़डी बूटी वनस्पति से प्राप्त होने पर भी मानव शरीर के लिए दवा के रूप में हितकारी हो सकती हैं, जबकि अपने शरीर से पैदा किया पुत्र भी अहितकारी हो सकता है। बीमारी अपने शरीर से उत्पन्न है पर वह अहितकर है, उसकी चिकित्सा के लिए अन्य शरीर से उत्पन्न औषधि का प्रयोग आवश्यक हो सकता है।

इधर प्रह्लाद उद्विग्न भी नहीं हुए, वे यह मानते रहे कि–

देवाऽसुरो मनुष्यो वा यक्षो गन्धर्व एव च।
भजन्मुकुन्द चरणं स्वस्तिमान् स्याद् यथा वयं॥
(श्रीमद्भागवत ७ ७ ५०)

देव, असुर, मनुष्य, यक्ष, गन्धर्व कोई भी हो भगवान् के चरणों की भक्ति करता हुआ हमारी तरह कुशलमंगल से रह सकता है।

परमापत्ति में भी 'स्वस्तिमान्'! प्रत्येक परिस्थिति में समत्व–

समत्वमाराधनमच्युतस्य

कष्टों के विचार से तो प्रह्‌लाद भी महान पापी मालुम होंगे, परन्तु वे निष्पाप भक्तराज-मान्य हैं, इसी लिए प्रह्‌लाद का प्रबलतम उदाहरण माना जा सकता है जो यह सिद्ध करता है कि प्राप्त कष्टों के ही आधार पर किसी को पापी नहीं माना जा सकता। यह भी आवश्यक नहीं कि पहले कभी वह महापापी रह चुका हो। प्रह्‌लाद का उदाहरण इन धारणाओं को ध्वस्त करता है। ऐसे महान् भक्तों (सन्तों) के जीवन के घटनाक्रम का अपनी बुद्धि से कर्म सिद्धान्त मात्र के आधार पर विश्लेषण नहीं करना चाहिए।

यदि प्रह्‌लाद को पापी न मानें तो क्या भगवान् को मूर्ख मान सकते हैं? भगवान् ने विपत्ति की निवृत्ति क्यों नहीं की? ज्ञानियों की दृष्टि में तो विपत्ति निवृत्ति की ही, नहीं तो मृत्यु के सव उपाय क्यों वेकार हो जाते। प्रह्लाद अपने को 'स्वस्तिमान्' कैसे कह पाते? अन्त में भगवान् नाटकीय ढग से नृसिंहानतार धारण करके भक्त की रक्षा करते हैं।

शेर को देखकर तो बालक सहम कर भी मर सकता है पर प्रह्लाद भगवान् के सिंह वाले मुख से विल्कुल नहीं डरे। (श्रीमद्भागवत ७ ९.१५)। देवताओं को और स्वयं लक्ष्मी जी को उस समय भगवान् के पास जाने का साहस न हुआ तो प्रह्लाद भेजे गये। भगवान् ने उन्हें गोद में बिठाकर उन्हें उन्हीं शेर के पंजों से दुलराया और उसे भक्त ने कर कमलों का प्रसाद (पद्मकर: प्रसाद: ७.९.२६) माना।

इन सब बातों में भक्त और भगवान् की लीला है जो साधारण बुद्धि से समझ में नहीं आती। समस्त प्रह्लाद चरित्र पर विचार करके कोई भी भगवान् को मूर्ख या सितमगर नहीं ठहराता, वे करुणाकर ही

सिद्ध होते हैं। कौन कह सकता है कि उन्होंने प्रह्लाद की भक्ति की क़द्र नहीं की ?

'होय न चातक पातकी, जीवन दानि न मूढ़' इसके दोनों बिन्दु सिद्ध करने के लिए श्री गोस्वामी जी ने श्रेष्ठतम उदाहरण प्रस्तुत कर दिया। इसी से प्रेम पथ की गूढ़ता भी स्पष्ट हो गई।

अतर्क्या खलु ये भावा न तान् तर्केण साधायेत्।

यह भाव अतर्क्य हैं, इन्हें तर्क में सिद्ध करने का प्रयास न करें।

गरज आपनी सबनि को, गरज करत उर आनि।
तुलसी चातक चतुर भो, जाचक जानि सुदानि।
(३००)

स्वार्थ की आवश्यकता सबको होती है, वह हृदय में आकर गरजती है, (ज़ोर करती है), व्यक्ति को अनुनय विनय, प्रार्थना, याचना के लिए विवश करती है। पर चातक सुजान दानी को पहचान गया इसलिए चतुर जाचक हो गया, धन्य हो गया।

कहते हैं कि एक फ़क़ीर एक शाह के दरबार में गए। शाह नमाज़ पढ़ रहे थे। नमाज़ अदा कर चुकने पर फ़क़ीर से बातचीत की और योग्य सेवा पूंछी। फ़कीर ने कहा, पहले यह तो बताइये कि आप कर क्या रहे थे। शाह ने उत्तर दिया, 'खुदा से दुआ माँग रहा था। फकीर ने कहा, कि जब आप खुद माँग रहे थे तो मैं माँगने वाले से क्या माँगूं ? उसी से माँगूंगा जिससे आप माँग रहे थे।

यहाँ यह उपदेश दिया गयाँ है कि आवश्यकताओं का होना और याचना करना यह लगभग सर्वव्यापी है, परन्तु याचकों में भी वर्ग और

श्रेणी विभाजन है। इसीलिए एक से एक अपमानित और सन्मानित याचक हैं। सबको एक सा नहीं मान सकते।

'दाता एक राम, भिखारी सारी दुनियाँ।'

सारी दुनियां की आवश्यकताएँ हैं, कामनाएं हैं, लालसाएं हैं, उनके पूरी करने की प्यास सबको है। यदि आवश्यकता का अनुभव है, तो पूर्ति का प्रश्न भी है। जो भी पूर्ति होती है, भगवान् के विधान से ही होती है, अतः सबकी स्थिति भिखारी की है, दाता केवल भगवान् हैं। साधारण भिखारी केवल प्रत्यक्ष दाता को जानता है। मनी आर्डर के रुपये का प्रत्यक्ष दाता डाकिया है पर असली, परोक्ष दाता भेजने वाला है। माँ बच्चे को दूध पिलाती है, वह प्रत्यक्ष दातृ है परन्तु बच्चे के लिए माँ के स्तनों में दूध आ जाने का विधान भगवान् का है। अज्ञानी जीव इन बातों को नहीं समझता। इसलिए वह दीन होकर सबसे माँगता है, सबकी सहता है, अपमानित होता है, भगवान् की शक्ति को, उनके विधान को नहीं जानता।

इससे कुछ श्रेष्ठ भिखारी वह हैं जो साधारणतः तो सबसे माँगता है पर जब इस स्थिति से अति कष्ट मिलता है तो भगवान् से माँगता है।

इससे भी आगे वह है जो पुरुषार्थ करता है, पर विशेष विपत्ति के समय भगवान् से माँगता है। दूसरों से कुछ भी माँगने में उसे संकोच होता है।

यदि आपत्ति में पड़ने पर आवश्यकतानुसार विभिन्न दैवी शक्तियों का आराधन किया जाय और उनसे माँगा जाय तो यह दूसरों से माँगने के समान हुआ। अनन्य भक्त ईष्टदेव के अतिरिक्त दूसरों से नहीं माँगता।

उस भक्त की सत्यनिष्ठा अधिक है, जो साधारणतः किसी से कुछ नहीं मांगता, विषम परिस्थिति में आर्त भक्ति से ईष्टदेव की ही सहायता मांगता है। इससे भी अधिक समर्पण उसका है जो कि विषम परिस्थिति में भी ईष्टदेव के आगे रोता चिल्लाता नहीं। स्थिति को भगवान् के आगे रख दिया, प्रार्थना की, परन्तु इसके बाद भगवान् की मर्ज़ी में सन्तुष्ट हैं—

राज़ी हैं हम उसी में, जिसमें तेरी रज़ा है।

पं० रामप्रसाद बिस्मिल (क्रान्तिकारी) जब फ़ाँसी के लिए जाने लगे तो इस प्रकार गाते हुए गए–

मालिक तेरी रज़ा रहे, और तू ही तू रहे।
बाकी न मैं रहूं, न मेरी आरज़ू रहे।
जब तक कि तन में जान, रगों में लहू रहे।
तेरा ही ज़िक्र हो या तेरी जुस्तजू रहे॥

रज़ा = मर्ज़ी, इच्छा, आरज़ू = वासना, ज़िक्र = याद, जुस्तजू = खोज

यह उत्तम समर्पण का भाव है।

'कामानाम्हृद्यसंरोहम्' (श्रीमद्भागवत ७.१०.७), यह भी एक कामना है।

कोई भिखारी दुनियाँ से ही माँगता है, भगवान् से नहीं, कोई दोनों से माँगता है, कोई केवल भगवान् से माँगता है, पर अधीर है, कोई भगवान् से भी अधीर होकर कुछ नहीं माँगता, और किसी से कुछ नहीं माँगता। कोई निष्काम होते हुए पराभक्ति, अहैतुकी प्रीति, सच्ची शरणागति की भावना आदि की याचना करता है। भगवान् के विधान को अपने लिए मंगलकारी मानता है। भगवान् याचना पूरी न करें तो उसमें भी अपना कल्याण ही देखता है—

कुपथ मांग रुज व्याकुल रोगी । वैद्य न देइ सुनहु मुनि योगी ।।

अबोध बालक कुपथ माँगे तो भी वैद्य या माता उसे क्यों दे ? भगवान् सब जीवों के सुहृद हैं (गीता ५.२९) इसका ज्ञान होने पर ही शान्ति प्राप्त होती है । श्री गोस्वामी जी कवितावली जी में कहते हैं—

जग जाँचिइ कोउ न जाँचिय जो, जिय जाँचिय जानकि जानहिं रे ।

१—संसार में किसी से कुछ न माँगिए, २—यदि माँगिये तो श्री जानकी जीवन रामजी से ही माँगिये, ३—वह भी अपने मन में माँगिये । भगवान् से आपने क्या माँगा, उन्होंने दिया या नहीं, इन बातों को सबको विदित न होने दीजिये कि लोग तरह तरह की मनमानी बातें कहते फिरें ।

जिसकी दुनियाँ को खबर हो ये वो नासूर नहीं ।
उनके मातम की नुमाइश मुझे मंजूर नहीं ।।

किसी भी दशा में भगवान् के विधान से असन्तुष्ट न रहिये । अखण्ड प्रफुल्लित रहिए दुःख में भी । (श्री १००८ स्वामी एकरसानन्द जी का उपदेश) ।

उपर्युक्त श्रेणियों के याचकों में श्रेष्ठता उसी अनुपात में है जिस अनुपात में वे भगवान् के दयालु और दानी स्वभाव को जानते हैं और शरणागत हैं ।

उमा राम स्वभाव जिन जाना । तिनहिं भजन तजि भाव न आना ।।

चातक की श्रेष्ठता इसी में है कि मेघ के स्वरूप को समझता है जीवनदानी और दयालु जानकर मेघ का शरणागत है । सुदानी, को पहचानकर मात्र उसी का याचक बन जाने में ही चातक का चातुर्य है,

अन्यथा अन्य प्राणी न उसे ऐसा दानी मानते हैं, न उसके प्रति शरणप्रपन्न होते हैं। क्योंकि मेघ अतिवृष्टि, अवृष्टि, उपलवृष्टि, बज्रपात आदि के लिए भी उत्तरदायी है।

इसी तरह सन्त भगवान् का करुणासिन्धु होना जानते हैं, उनके अनन्य शरणागत हैं, अन्य लोगों की तरह वे संशयशील नहीं हैं कि—

अति बरसे अनबरसे हूँ, देहिं दैवहिं गारी।

(वि०ष०)

भगवान का दानी स्वभाव समझ जाना ही सन्तों का चातुर्य है, यही उनकी बड़ाई है, इसी में उनका विवेक है, श्रेष्ठता है, और यही उनकी शरणागति भावना का रहस्य है, अनन्यता का आधार है।

तुलसिदास सब भाँति सकल सुख जो चाहसि मन मेरे।
तो भजु राम काम सब पूरन करहिं कृपानिधि तेरे।।

(वि०प०)

चरग चंगु गत चातकहिं, नेम प्रेम की पीर।
तुलसी परबस हाड़ पर, परिहैं पुहुमी नीर।।

(३०१)

वाज के चंगुल में पड़ जाने पर चातक को मृत्यु की पीड़ा नहीं है, नेम प्रेम के निर्वाह की पीड़ा है, बाज के पंजे में आ जाने पर वह बेबस हो गया अत: उसे आशंका है कि न मालूम किस भूमि पर उसकी हड्डियाँ गिरेंगी, तब पृथ्वी पर गिरा हुआ जल उन हड्डियों पर पड़ेगा। (मरते मरते वह यह चाहता है कि उसकी हड्डियाँ पृथ्वी के जल में न गिरें, स्वाति के बरसते हुए जल के ही बरतने के नियम का निर्वाह हो जाय।)

काल के पंजे में पड़ा हुआ चातक, अपने घाव की, मृत्यु की, परवाह नहीं करता, उसे केवल इस बात की चिन्ता है कि कहीं अपना नेम प्रेम न बिगड़ जाय। जीवन भर तो स्वाति नक्षत्र के बरसते हुए जल पर गुजर की, दूसरे पृथ्वी पर पड़े हुए जल से कोई सरोकार नही रक्खा, अतः अन्त समय, परवश हुए तो पृथ्वी पर के जल में हड्डी न गिर पड़े, यही चिन्ता है।

चातक की यह इच्छा नहीं मानी गई कि जीवन में तो नेम प्रेम निभा दिया अब अन्त समय में हड्डियाँ श्री गंगा जी में गिरें या पहुँचें तो उत्तम गति प्राप्त हो।

आदर्श सन्त अपने नेम प्रेम को अन्त तक निभा देते हैं। मृत्यु के समय तक उसमें कोई अन्तर नहीं आने देते। बीमारी या मृत्यु भी उन्हें विवश नहीं कर पाती। बीमारी की चिकित्सा, परहेज, स्वास्थ्य या जीवन की कामना, लोक की कोई विभूति या परलोक की कोई सुगति भी उन्हें अपने व्रत से च्युत नहीं कर पाती।

सन्त मृत्यु से नहीं डरते परन्तु परम प्यारे प्रभु की याद में ही मरना चाहते हैं। जैसे परीक्षित जी की यह इच्छा थी कि मैं भगवत्कथा में मग्न रहूँ, उसी दशा में तक्षक मुझे काटे। उन्होंने ऐसा कोई यत्न नहीं किया कि शाप सफल न हो, तक्षक काट ही न पाए। कथा में आता है देवता लोग कथा के पहले अमृत का घड़ा लेकर उपस्थित हुए और कहा कि परीक्षित जी अमृत पीकर अमर हो जायँ, कथा हमें दे दी जाय, परन्तु श्री शुकदेव जी ने इसे स्वीकार नहीं किया। कहाँ मणि के समान कथा, कहाँ कांच की तरह सुधा! मर जाना स्वीकार है, करके प्रेम निबाह। श्री दशरथ जी ने भी शरीर को त्याग करके प्रेम का निर्वाह

किया। एक कृष्ण भक्त अन्त समय में निम्न छन्द को विह्वल होकर गाते हुए गए—

ऐसे नहीं हम चाहन हारे कि आज तुम्हैं कल और को चाहैं ।
फोरि के आँखैं निकारि दें दोऊ, जो दूसरी ओर मिलावैं निगाहैं ।।
लाख मिलैं तुमसे हमको, तुमही को चहैं, तुमही को सराहैं ।
देह में प्रान रहैं जबलौं, हम नेह को नातो सदा ही निबाहैं ।।

भगवान् के सच्चे प्रेमी तो मोक्ष भी नहीं लेते,विभिन्न योनियों और जन्मान्तरों में भी केवल अहैतुकी भक्ति का निर्वाह चाहते हैं ।

एक सन्त प्रात: नदी स्नान को जाते थे । रास्ते में एक वेश्या का घर पड़ता था । वह कभी कभी पूछ देती, 'आपकी मूँछ श्रेष्ठ है, या कुत्ते की पूँछ ?' वे कभी चुप रह जाते, कभी उत्तर देते, 'कभी कहेंगे ।' सन्त ने शरीर छोड़ा और उनकी लाश उसी मार्ग से निकली । वेश्या ने कहा, 'सन्त ने कभी उत्तर देने को कहा था, बिना उत्तर दिये चले जा रहे हैं ।' सन्त उठ बैठे और कहा, 'माई मेरी मूँछ कुत्ते की पूंछ से अच्छी है ।' वेश्या ने कहा, 'तो अब तक कहा क्यों नहीं था ?' उन्होंने उत्तर दिया, 'कुत्ते की पूँछ यदि उठी रहती है तो जीवन भर वैसी ही (उठी हुई) रहती है । लच (झुक) नहीं सकती । जीवन काल में यह आशंका थी कि अपने से कोई अधम कार्य न हो जाय कि मूँछ नीची हो जाय । अब जीवन पूरा हो चुका इसलिए कहा ।' नेम प्रेम निर्वाह की सन्तों को इतनी चिन्ता रहती है ।

बध्यो बधिक पर्यो पुण्य जल, उलटि चलाई चोंच ।
तुलसी चातक प्रेम पट, मरतहु लगी न खोंच ।।
(३०२)

किसी बधिक ने, बहेलिये ने चातक को तीर मारा तो वह पुण्य शलिला गंगा जी में गिरा। उसने चोंच ऊपर को उठा ली कि गंगाजल मुख में न चला जाय (और अपना व्रत भंग हो जाय)। श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि चातक के प्रेम के पट (वस्त्र) में मरते मरते (अन्तकाल में भी) एक खोंच तक नहीं लगी, उसका प्रेम पूर्णत: अन्त तक निभ गया।

प्रेम की साधना में नियम-निर्वाह की सत्यनिष्ठा यहां भली भाँति दर्शाई गई है। यह कहना ग़लत है कि नियम मूर्खों के लिए हैं, या यह कि प्रेम में कोई नेम (नियम) नहीं। प्रेम की साधना में नेम की आवश्यकता होती है। प्रेम के कारण जो नियम लिए जाते हैं और निर्दिष्ट हैं, आवश्यक हैं, उनका दृढ़ अनुपालन प्रेमी की सत्यनिष्ठा का प्रमाण है। केवल यह कहा जा सकता है कि उनका निर्वाह विवेकपूर्वक करना विहित है, जिससे वे विरोधी प्रभाव वाले, प्रेम के बाधक, न बन जायँ। अन्यथा उनका दृढ़ पालन ही प्रेम की शोभा है, प्रेमी का गौरव है। प्रेम में अपनी सुविधा का मार्ग नहीं ढूँढ़ा जा सकता। प्रेमी तो सब कुछ त्याग करने को तैयार रहता है। वह प्राण रक्षा की परवाह नहीं करता, प्रेम रक्षा की परवाह करता है।

हमने दिल दे भी दिया, अहदे वफ़ा ले भी लिया।
आप अब दे दें खुशी से, जो सजा देते हैं॥

अहद = प्रतिज्ञा, वफ़ा = प्रेम में सत्य-निष्ठा।

सभी लोग चाहते हैं कि उनके अन्त समय में श्री गंगा ज़ल उनके मुख में पहुँचे और पार्थिव शरीर के अवशेष श्री गंगा जी को समर्पण किए जायँ। श्री आदि शंकराचार्य कहते हैं—

तवोत्संगे गंगे पतति यदि कायस्तनुभृताम् ।
तदा मात: शातक्रतव पद लाभोऽयति लघु: ।।

हे देवि गंगे यदि आपकी गोद में कोई शरीरधारी का वपु पड़ जाय, तो इन्द्रासन का प्राप्त होना भी उसका बहुत छोटा परिणाम है ।

ऐसी परम पवित्र पतितपावनी श्री गंगा जी में चातक का शरीर बहेलिए के बाण के लगने से अपने आप गिर पड़ा । इससे बढ़कर सौभाग्य का विषय ही क्या हो सकता हे ? परन्तु, वाह रे चातक ! धन्य तेरा प्रेम, तेरी सत्य-निष्ठा, कि तूने अपने नेम-प्रेम के निर्वाह में ऐसे दिव्य श्री गंगा जल का भी तिरस्कार कर दिया ।

चातक तो 'पहुमी-नीर' का स्पर्श भी नहीं करना चाहता, पीना तो दूर रहा । फिर श्री गंगाजल का ग्रहण भला उसके ब्रत के अनुकूल कैसे हो सकता है ?

लौकिक लाभ ही नहीं बड़े से बड़े पारलौकिक लाभ के लिए भी चातक अपनी ब्रत निष्ठा को शिथिल नहीं करना चाहता । उसकी साधना प्रेम साधना है, वह परिणाम सोपेक्ष नहीं है ।

वैसा ही सन्तों का भी हाल है, उनका भी भगवान् के प्रति प्रेम परिणाम सापेक्ष नहीं है, परिणाम निरपेक्ष है । उस प्रेम के नाते वे जो नियम लेते हैं, उन्हें दृढ़ता से निभाते हैं । जहाँ साधारण धर्म में और उनके अनन्य शरणागति के विशेष धर्म में विरोध आए, उनका विशेष धर्म ही उनके लिए प्रमाण है, साधारण धर्म नहीं ।

परम प्यारे प्रभु के प्रति प्रेम निर्वाह उनका परम धर्म है, उससे विरोध होने पर कोई अन्य धर्म प्रमाण नहीं हो सकते ।

'अन्ते नारायण स्मृतिः ।' 'अन्तकाल में, मृत्यु के समय, भगवान् की याद' यही सर्वश्रेष्ठ है ।

राम सुमिरन सब विधि ही को राज रे ।
राम को बिसारिबो निषेध सिरताज रे ।।
(वि०प०)

तुम अपने प्रभु को पूरे मन से, पूरे चित्त से, पूरे अन्तःकरण से, पूरी शक्ति से प्यार करो । यह प्रथम आदेश है (बाइबिल मार्क १२.३०)

अनन्य भक्तों की विपत्ति की कल्पना ही कुछ दूसरी है । जब श्री रघुनाथ जी ने श्री सीता जी के कष्ट सुने तो वे दुःख पूर्वक बोले–

बचन काय मन मम गति जाही । सपनेहु बूझिय बिपति कि ताही ।।

मन वचन कर्म से जो मेरी शरण में है, उसे तो स्वप्न में भी विपत्ति नहीं आनी चाहिए । श्री हनुमान् जी ने कहा–

कह हनुमन्त विपति प्रभु सोई । जब तब सुमिरन भजन न होई ।।

भगवान् की याद ही सुख है, विस्मृति ही विपत्ति है । 'तद्विस्मरणे परम व्याकुलता ।' (नारद भक्ति सूत्र) ।

प्रेम नेम के कारण चातक अन्त तक अपने प्रेम प्रण का पूर्ण निर्वाह करना चाहता है, घायल या मरणासन्न अवस्था की उसे परवाह नहीं है, इसी प्रकार का अद्भुत धैर्य, सब्र व तप सन्तों में भी पाया जाता है ।

'कोटि विघ्न ते सन्त कर, मन जिमि नीति न त्याग ।'
(रा०च०मा०)

न्याय्यात् पथात् प्रविचलन्ति पदं न धीराः।
भर्तृहरि (नीति शतक)

अण्ड फोरि कियो चेटुवा, तुष पर्यों वारि निहारि।
गहि चंगुल चातक चतुर डार्यो बाहिर वारि ॥
(३०३)

चातक ने अण्डे को फोड़कर उसमें से बच्चा निकाला, परन्तु अण्डे के छिलके को पानी में पड़ा हुआ देखकर चतुर चातक ने उसे पंजे से पकड़ कर पानी से बाहर फेंक दिया।

चातक पक्षी है, अण्डे से ही बच्चा निकलता है, अण्डा फूटता है तो छिलके के टुकड़े इधर उधर पड़े रहते हैं, चातक ने देखा कि अण्डे के छिलके का एक टुकड़ा पानी में पड़ा हुआ है। उसने यह पसन्द नही किया कि अपना ही अंश अण्डा और उसके छिलके का टुकड़ा साधारण जल में पड़ा रहे। अपने अंश को ऐसे जल का स्पर्श या सम्पर्क क्यों हो ? इसलिए उसने उसे जल के बाहर कर दिया, निकालकर अलग फेंक दिया। यहाँ चातुक को चतुर कहा गया है। चतुराई यह है कि चातक ने अपने अंश स्वरूप अण्डे के छिलके को जल से बाहर निकाल फेंकने में भी अपने व्रत को शिथिल नहीं होने दिया। साधारण पक्षी अण्डे के छिलके को चोंच से ही उठाएगा, परन्तु चातक ऐसा करता तो उसकी अपनी चोंच ही पृथ्वी पर पड़े हुए जल में चली जाती और जल चोंच में पहुँच सकता था। यह उसके ब्रत के विरुद्ध होता। इसलिए उसने अण्डे के छिलके को पंजे से निकाला, चोंच से नहीं।

यहाँ विवेक को ही चातुर्य माना है। चातक चतुर है यानी विवेकी है। यह अविवेक पूर्ण होता कि अण्डे के छिलके को जल से बारर करने

के लिए स्वयं अपनी चोंच उसी पानी में डालता। इसलिए पंजे से निकालने में ही विवेक है और यही चातुर्य माना गया है।

अब इसे सन्त के पक्ष में घटित कीजिए। सन्त आकाशवृत्ति पर रहते हैं। प्यारे प्रभु का नाम लेते हैं किसी और से कुछ याचना नहीं करते। एक मात्र प्रभु के ही भरोसे पर ज़िन्दगी गुज़ारते हैं। अनन्य भाव से शरणागत हैं। इस पृथ्वी पर सम्पत्ति का अपार विस्तार है, यह सब प्रभु की ही सम्पत्ति है–सम्पत्ति सब रघुपति कै आही। (रा०च०मा०) परन्तु पृथ्वी भर में फैली हुई प्रभु की सम्पति सभी जीवों के लिए है, खासकर सन्तों ही के लिए नहीं है। सन्त उसमें से कोई हिस्सा नहीं बटाना चाहते।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा: मा गृध: कस्यस्विद्धनम्।
(ईशोपनिषद १)

जो विशेषत: सन्तों के लिए आ जाय, अयाचित उपहार, उसी से सन्त अपना काम चलाते रहते हैं। इस आधार का पूर्ण निर्वाह कठिन है। कोई ऐसे हैं जिन्हें निश्चित मासिक सहायताएँ मिलती हैं, कोई किसी संचित निधि का आश्रय लेते हैं, कोई पेन्शन पर गुजर करते हैं। किसी को किसी सम्पन्न गद्दी की महन्ती मिली है जिससे उनका काम चलता है यह सब सन्त भले ही अनन्य शरणागत न हों तथापि वन्दनीय हो सकते हैं, पर वे चातक वाली वृत्ति नहीं रखते। चातक वृत्ति वाले सन्त सर्वश्रेष्ठ हैं। वे भगवदाश्रय पर ही रहते हैं, अंशत: भी दूसरा सहारा नहीं पकड़ते। प्रत्यक्ष या परोक्ष रीति से सरकारी सहायता पर या सम्पन्न व्यक्तियों की सहायता पर निर्भर नहीं होना चाहते।

अपनी गुजर आकाशवृत्ति से हो तो भी अन्य प्रकार से सहायता का प्रश्न आता है, यथा—

अपनी देह के अतिरिक्त पारिवारिक जन हैं, उनकी आकाशवृत्ति नहीं है, साधारण वृत्ति है, अतः वे साधारण वृत्ति से रहते हैं, साधारण रूप से सहायता माँगते हैं और पाते हैं।

अथवा अपने लिए आकाश वृत्ति, अपने मठ के लिए सहायता का स्वागत।

अथवा किसी सार्वजनिक कार्य या सेवा के लिए सहायता, अपने लिए आकाशवृत्ति।

देखने में यह सब कितना ही निरापद लगे परन्तु यदि आप अभी भी कुछ पारिवारिक या मठादि सम्बन्धी, या प्रचार सम्बन्धी दायित्व ग्रहण किए हुए हैं, तो वह दूसरा कार्य भी आपका ही है। आपका व्यक्तित्व द्विविधि है। एक अंश में अनन्यता है, दूसरे अंश में अन्याश्रय है। इससे अनन्यता का निर्वाह नहीं होता।

अपना कोई अंश, जीवन का कोई क्षेत्र, अनन्यता के बाहर है तो वह अपूर्ण है। चतुर चातक ऐसी खण्डित अनन्यता से सन्तुष्ट नहीं। उसे अखण्ड और पूर्ण अनन्यता और शरणागति चाहिए। अतः चतुर चातक अपने अण्डे को, बच्चे को, अण्डे के छिलके को भी अपने व्रत की विरोधी स्थिति में नहीं देखना चाहता।

हद की बाद तो यह है कि अण्डे के छिलके को जल से बाहर करने के लिए भी पंजे का ही प्रयोग करता है, चोंच का नहीं, क्योंकि अन्य जल में चोंच नहीं जानी चाहिए।

अपने व्रत के प्रतिकूल परिस्थिति के बदलने के प्रयास में भी व्रत को शिथिल करना सम्भव है, वैसा करने का प्रलोभन हो सकता है। चतुर चातक ऐसा नही करता, उसी प्रकार विवेकी सन्त भी, दूसरो को

प्रभावित या परिवर्तित करने की लालच में भी अपने व्रत को शिथिल नहीं करते।

वही सन्त चतुर (बिवेकी हैं, जो प्रचार, प्रसार, परोपकार, उद्धार आदि के लालच में भी अपने व्रत को ढीला नहीं करते। लौकिक दृष्टि से वहुतों को यह मूर्खता लगेगी परन्तु तात्विक दृष्टि से यह चतुरता है क्योंकि फिसलते हुए को फिसलने से बचाने के लिए स्ययं फिसलना कोई चतुरता नही हो सकती। अपने सिद्धान्त को ढीला करने की मिसाल पेश करके आप सिद्धान्त के कट्टर व्यक्ति नही बना सकते। स्वयं भगवान् का भरोसा ढीला करके दूसरे भगवान् के अनन्य भक्त तैयार करने की आशा में कोई वास्तविक चतुराई नहीं है।

तुलसी चतुराई सोई, वृत्ति राम पद लीन।
परधन पर मन हरन कहँ, वेश्या परम प्रवीन।।

(दोहावली)

तुलसी चातक देत सिख सुतहि बारही बार।
तात न तर्पन कीजिये, बिना वारिधर धार।।

(३०४)

तुलसीदास जी कहते हैं कि चातक अपने पुत्र को वार बार निदेश देता है कि प्यारे मेघ की बरसती धारा के जल को छोड़कर अन्य किसी जल से (मेंरे मरने पर) मेंरा पितृ-तर्पण कभी न करना।

कवि ने प्रदर्शित किया है कि चातक सभी अवस्थाओं में व्रत का निर्वाह चाहता है—जीवन काल में, मरण पूर्व बीमारी या कष्ट की दशा में, मरते मरते, मरने के बाद, अपने अण्डों बच्चों के जीवन में।

यहाँ मरणोत्तर काल में व्रत निर्वाह की चिन्ता है, जल से पितृ तर्पण किया जाता है कि वह जल पितरों को प्राप्त हो, उससे वे तृप्त हों,

जब चातक स्वाति नक्षत्र के बरसते हुए जल को ही ग्रहण करता है, अन्य जल को नही, तो फिर अन्य जल से तर्पण करके उसे तृप्त करने की कल्पना क्यों होनी चाहिए ? यदि चातक का (मरणोपरान्त) पितृ तर्पण किया जाय तो वर्षा के ही जल से हो पृथ्वी पर के जल से न हो ।

यहाँ चुपचाप यह संकेत आ गया कि परम विरक्त वीतराग अनन्य शरणागत भगवत्प्रपन्न सन्तों के जीवन काल के बाद उनकी यादगार में जो कुछ शुभ कार्य किया जाय या उनके कार्यों को जारी रक्खा जाय या आगे बढ़ाया जाय तो उसमें भी उनकी त्याग बृत्ति को शिथिल न किया जाय, उसे भी 'आधीन सुसाधित दाम को' समझा जाय । यदि शुद्ध वित्त का आग्रह छूटा तो तात्कालिक लाभ कुछ भी जान पड़े, अन्त में विषमताएँ आएँगी ही और उन शुद्ध सन्तों के शुद्ध आदर्शों की शुद्ध सेवा न हो सकेगी । माया के जाल में फँसने की स्थिति आ बनेगी । अत: सन्तों के स्मारक कार्यों में भी उनकी त्याग वृत्ति पूर्ण प्रतिष्ठित रहनी चाहिए । इसी में उनकी सच्ची सेवा है ।

जियत न नाई नारि, चातक घन तजि दूसरेहि ।
सुरसरि हू को को वारि मरत न माँगेउ अर्ध जल ।। (३०५)

चातक ने जीतेजी मेघ को छोड़कर किसी के आगे गरदन नहीं झुकाई और मरते मरते श्री गंगा जी के जल की अर्धजली तक नहीं माँगी ।

मरते समय अर्ध शरीर गंगाजल में रहना मोक्षदायक माना गया है । इसे अर्धंजली कहा गया है । यदि मरते समय चातक का आधा शरीर श्री गंगा जी में रहे, परन्तु चोंच बाहर रहे, तो इसमें उसके व्रत का भंग कहाँ है ? व्रत भंग न होगा, मोक्ष भी मिलेगा । तो चातक इस दशा की अभिलाषा क्यों नहीं करता ?

जीवन भर उसने केवल स्वाति के वर्षाजल की प्रतिष्ठा की अन्य जल की नहीं, श्री गंगा जल की भी नहीं। अब मरते समय जबंजली की अभिलाषा से श्री गंगा जल की प्रतिष्ठा हो जायगी—मोक्ष की लालच में। यह अनन्य निष्ठा के विरुद्ध होगा। अनन्य निष्ठा परलोक में शुभगति या मोक्ष प्राप्ति की स्पृहा से भी प्रभावित नहीं होती। अनन्यता का निर्वाह होना ही चाहिए, मोक्ष मिले या न मिले। यही अनन्य भक्ति का गौरव है।

'भुक्ति मुक्ति स्पृहा यावद् पिशाची हृदि वर्तते।'
(श्री रूप गोस्वामी कृत 'हरि भक्ति रसामृत सिन्धु')

जब तक भोग या मोक्ष की इच्छा रूपी चुड़ैल हृदय में नाच रहीं हैं तब तक हरि भक्ति रसामृत का अभ्युदय कैसे हो सकता है?

राउर वदि भल भव दुख दाहू। प्रभु बिनु वादि परम पद लाहू॥
(रा०च०मा०)

राम नाम ही सों योग छेम, नेम प्रेम पन,
सुधा सों भरोसो यह दूसरो जहरु।
(वि०प० २५०)

सुनु रे तुलसीदास, प्यास पपीहहि प्रेम की!
परिहरि चारिउ मास, जो अँचवै जल स्वाति को॥
(३०६)

हे तुलसीदास सुन! पपीहे को जल की प्यास है ही नहीं, प्रेम की ही प्यास है, इसीलिए तो वह वर्षा के चारों महीनों में बरसता हुआ जल नहीं पीता, केवल स्वाति नक्षत्र में ही बर्षा का जल पीता है।

यहाँ श्री गोस्वामी जी आत्म चिन्तन कर रहे हैं, स्वयं अपने से कह रहे हैं, मन में सोच रहे हैं, तत्व की बात अंकित करते हैं, अधिकारी गण ध्यान दें।

चातक 'पी पी' पुकारता रहता है, 'पानी पानी' नहीं। परन्तु मेघ को देखकर हर्षित होता है, उसी का प्रेमी माना जाता है। मेघ को ही वह 'पी, पी' पुकारता है, तो मेघ ही उसका प्रेमास्पद है। मेघ वर्षा का दानी है तो लोगों ने मान लिया वह मेघ से पानी ही माँगता है। परन्तु इस मान्यता का आधार दृढ़ नहीं है।

वैसे भी कभी कभी पानी बरस जाता है, परन्तु भारतवर्ष में वर्षाऋतु के चार महीने होते हैं—आषाढ़, श्रावण भाद्रपद, आश्विन्। इन चार में से भी मध्य के दो मास श्रावण या भाद्रपद तीव्र वर्षा के महीने हैं।

सावन और भादौं यह वर्षा के मुख्य महीने हैं, पर आषाढ़ और आश्विन् भी वर्षा के महीने हैं, इनमें भी वर्षा होती है और वह नगण्य नहीं होती।

आर्द्र का अर्थ है 'गीला', भीगा या नम। जब आद्रा नक्षत्र में सूर्य आते हैं (लगभग २२ जून को) तो हवा में नमी बढ़ जाती है। उस समय आषाढ़ मास होता है। नक्षत्रों के हिसाब से वर्षा का आरम्भ आर्द्रा नक्षत्र (में सूर्य के आने) से होता है। सूर्य ३६० दिनों में बारहों राशियों का चक्र पूरा कर लेता है। एक एक राशि में एक मास (३० दिन रहता है) यही ३६० दिन का सौर वर्ष २७ नक्षत्रों में भी बटा है। अतः एक एक नक्षत्र में सूर्य की स्थिति लगभग ३६०/२७ = ४०/३ = १३⅓ दिन की होती है। वर्षा के चार महीनों में ९ नक्षत्रों में सूर्य की गति होगी। आर्द्रा से प्रारम्भ करके ९ नक्षत्र इस प्रकार होंगे आर्द्रा, वनर्वसु, पुष्य, आश्लेषा,

मघा, हस्त, चित्रा, स्वाति, विशाषा। इस प्रकार स्पष्ट है स्वाति वर्षा के अन्तिम चरण का नक्षत्र है, वह सावन भादों में नहीं आता। विशेष तीव्र वर्षा का नक्षत्र नहीं है।

यदि चातक सचमुच पानी का प्यासा है, और पानी ही पीना चाहता है, तो यह विडम्बना क्यों कि वर्षा के चारों महीनों में माँगता है पर पानी बरसने पर पीता नहीं, पीता केवल स्वाति नक्षत्र में है। जब वर्षा की घनघोर झड़ी लगती है तो याचक होते हुए भी ग्रहण नहीं करता। वर्षा के अन्त में स्वाति नक्षत्र में ही यदि जल बरसे तो बरसता हुआ जल ही पीता है। यदि प्यास बुझाने का ही प्रयोजन हो, तो यदि बरसता हुआ जल ही ग्राह्य हो, तो जब भी पानी बरसे जल ग्रहण करना चाहिए, स्वाति नक्षत्र का भी बन्धन क्यों? फिर नक्षत्र भी ऐसा छाँटा गया, जिसमें विशेष जल वृष्टि का योग नहीं होता, बिना वर्षा के भी नक्षत्र का बीत जाना सम्भव है! ऐसा व्यवहार क्यों कि माँगेंगे पर (प्राय:) ग्रहण नहीं करेंगे।

व्यवहार-चतुर लोगों की दृष्टि में चातक मूर्ख है। प्यास साल भर लगती है, केवल वर्षाऋतु में ही नहीं लगती। जल सदैव नहीं बरसता। वर्षाऋतु में जो जल बरसता है वह केवल उस ऋतु के लिए नहीं बरसता, वर्ष भर के लिए बरसता है। अत: वर्ष भर भूमि की नमी से, जलाशयों, (कूपों, बावलियों, तालावों) के जल से सब प्राणी (पेड़, पौधे, पशु, पक्षी, मनुष्य, कीट आदि) अपना काम चलाते हैं। तो चातक ने ही एक कृत्रिम प्रतिबन्ध अपने ऊपर क्यों लगाया? वर्षाऋतु के अतिरिक्त अन्य समय में उसे प्यासा रखने के लिए तो इतना ही प्रतिबन्ध पर्याप्त था कि वह केवल बरसता हुआ जल पिये, 'पहुमी-नीर' पृथ्वी पर पड़ा हुआ पानी न पिये, परन्तु उससे आगे बढ़कर उसने स्वाति नक्षत्र का भी प्रतिबन्ध लगा लिया। इसका क्या औचित्य है? यह सब प्रेम निर्वाह का कार्यक्रम

है या आत्म हत्या का ? जब सारी बरसात में जलवृष्टि होती है, प्रेमास्पद का ही दिया हुआ जल रहता है, बरसता हुआ भी मिल सकता है, तो फिर उसका ग्रहण क्यों नहीं होता ?

भौतिक संसार में चातक पक्षी के जीवन में यह सब होता है या नहीं, इसका जीव विज्ञान के अनुसार अनुसंधान आवश्यक नहीं। चातक छत्तीसी का चातक प्रेम के एक आदर्श का प्रतीक है, चातक के विशद रूपक द्वारा सन्तों की रहनि की विशेषताएँ कुशलतापूर्वक प्रदर्शित की गई हैं। अतः चातक वृत्ति पर उठी हुई आपत्तियाँ वस्तुतः सन्त जीवन पर घटित होंगी और उसी जीवन में उन आपत्तियों का उत्तर मिलेगा और इसी अनुसंधान में सन्त जीवन के रहस्य खुलेंगे।

अर्थ व्यवस्था दो प्रकार की हो सकती है, परिग्रहमूलक, अपरिग्रह मूलक। सभी देशों में परिग्रहमूलक अर्थ व्यवस्था व्याप्त है। यह मान्यता व्याप्त है कि परिग्रह के बिना काम नहीं चल सकता। आज की सभ्यता परिग्रह के साथ ताने बाने की तरह जुड़ी है। परन्तु परिग्रही अर्थ व्यवस्था के अनर्थं आज विश्व के सामने हैं, विचारक उनसे भयभीत हैं। इस विषय का विशद विवेचन यहाँ प्रासंगिक न होगा।

सन्तों का जीवन अपरिग्रहमूलक है। अपरिग्रह सिद्ध होने से प्राकृतिक विधान द्वारा ही उनकी आवश्यकताओं की सहज पूर्ति समय समय पर होती रहती है। (योगसूत्र) देखने वालों को यह बड़ा चमत्कारिक मालूम होता है, जबकि हमारा यह भाव परिग्रही अर्थं व्यवस्था का दिया हुआ संस्कार मात्र है।

ऐसे आदिम समाज मिलेंगे जिनमें परिग्रह नगण्य हैं। साम्यवादियों का आदर्श समाज व्यक्तिगत परिग्रह से प्रायः रहित होगा। राज्य या समाज परिग्रह करेगा, व्यक्ति का योग क्षेम वहन करेगा। मनुष्येतर

प्राणियों के जीवन में प्राय: अपरिग्रह ही रहता है। वहुत से प्राणी परिग्रह कर ही नहीं सकते, फिर उनका जीवन यापन कैसे होता है ? वड़े वड़े दीर्घजीवी प्राणी हैं, जो अपरिग्रही हैं, वह उनकी विवशता है, विशेषता नहीं, परन्तु जीवन-यापन या दीर्घ जीवन कैसे सम्भव होता है ? जिस पेड़ के नीचे ब्रुद्ध को बोध हुआ वह अभी तक कैसे जीवित है ? ढाई हजार वर्ष से अधिक समय तक जीवन यापन कैसे सम्भव हुआ ? यही असंख्य जीवों का हाल है। तो फिर क्या जिस तरह अपरिग्रह वृक्ष की विवशता है, वैसे ही परिग्रह मनुष्य की विवशता है ? कदापि नहीं। यह आदत हो सकती है, परम्परा हो सकती है, एक प्रकार की विशेषता बन गई है, पर विवशता नहीं है। सन्त जीवन इसका ज्वलन्त प्रमाण है।

श्री अयोध्या जी में एक वहुत ऊँचे राजयोगी सन्त थे, वे अपने उत्तराधिकारी शिष्य को पाँच आज्ञाएँ दे गए हैं, उनमें से तीन यह हैं— कोई आश्रम के लिए भूमि दान में दे तो नहीं लेना, कोई पैसा दे जाय तो रात तक तुम्हारे पास न रह जाय, मरते समय कफ़न का पैसा पास न निकले। शिष्य सन् १९८३ में ८५ वर्ष से अधिक आयु भोगकर जीवित हैं, आश्रम भी भली भाँति चल रहा है। परिग्रह की विवशता कहाँ गई ? म० गांधी ने अपरिग्रह का निर्वाह भी किया, स्वराज्य का आन्दोलन भी चलाया। अत: अपरिग्रह की अशक्यता का भ्रम त्याग देना चाहिए।

सभी जलाशयों का जल ग्रहण करना परिग्रहमूलक अर्थ व्यवस्था का आश्रय है। बरसते हूए जल पर ही गुजर करना—यथा लाभ सन्तोष सदाई। (रा०च०मा०) दैवाल्लब्धेन सन्तोष:। (श्रीमद्भागवत) यह आकाशवृत्ति है, अपरिग्रहपूर्वक जीवन यापन। चातक सग्रही नहीं, है, संग्रहीत पर आश्रित नहीं हैं, अपरिग्रही है, वैसे ही सन्त अपरिग्रही हैं।

निम्न प्राणियों के अपरिग्रह में विवशता है, सन्त के अपरिग्रह में विवेक है। थोड़ा सा विवेक निम्न प्राणी भी प्राय: बरतते हैं, जैसे बीमार होने पर, भोजन प्राप्त हो तो भी ग्रहण न करना, विषाक्त भोजन या जल का त्याग। परन्तु सन्त का विवेक इससे कहीं आगे तक जाता है। वस्तु दोष, स्पर्श दोष, भाव दोष आदि का विचार चलता है, चाहे वह हर एक पर प्रकट न हो। जो वस्तु अपने नियम, साधन, संयम स्वास्थ्य आदि के अनुकूल नहीं वह ग्रहण नहीं की जाती। जैसे खद्दर का नियम लेने वाले सन्त मिल का कपड़ा ग्रहण नहीं करेंगे, शाकाहार के नियम के विरुद्ध मांसाहार ग्रहण नहीं करेंगे। झोपड़ी निवास का नियम हो तो रात्रि को महल में नहीं रुकेंगे। शुद्ध कमाई का दान न हो, तो उसे ग्रहण करना बरतना पसन्द नहीं करेंगी। उच्छिष्ट, बासी, गन्दा, व्याधि संक्रमणकारी भोजन का त्याग करेंगे। अशुभ कामनाओं प्रयोजनों, भावों से दिया हुआ द्रव्य या आहार स्वीकार नहीं करेंगे। स्वीकार न करने का एक सौम्य मार्ग यह है कि ले लेना पर अपने काम में न लाना, दूसरे के काम में प्रयुक्त करना। जैसे हम लोग सब बासी भोजन कभी किसी पशु को दे देते हैं।

इस प्रकार आकाशवृत्ति के अतिरिक्त अन्य विवेकमूलक प्रतिबन्ध सन्त के जीवन में रहते हैं। साधारण सांसारिक व्यक्ति यह सब सुनकर ही घबराता है कि इन प्रतिबन्धों के साथ योग क्षेम कैसे चलेगा? परन्तु सन्त के जीवन में यह सब चलता है। यह सब अनन्य भक्ति का ज्वलन्त चमत्कार है, और योग क्षेमं वहाम्यहम् (गीता ९.२२) का पुष्ट प्रमाण है, सन्त अनन्य भक्ति का निर्वाह करते हैं, भगवान् उनके योगक्षेम का निर्वाह करते हैं। प्रेम का यह एक दिव्य सम्बन्ध है।

इस रहस्य को समझने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि चातक पानी का प्यासा है ही नहीं, प्रेम का प्यासा है, सन्त पदार्थों की आवश्यकता मिटा चुके हैं, केवल दिव्य प्रेम के याचक हैं—

दिव्यं भक्ति प्रयच्छ मे, नान्यं वस्तु कदाचन ।
जाँचै बारह मास, पियै पपीहा स्वाति जल ।
जान्यों तुलसीदास, जोगवत नेही नेह मन ।।
(३०७)

चातक बारहों महीने जल की याचना करता है, परन्तु केवल स्वाति नक्षत्र का जल पीता है। इससे श्री गोस्वामी जी यह समझ गए कि प्रेमी चातक स्नेही मेघ का मन रखने के लिए स्वाति नक्षत्र में जल ग्रहण कर लेता है, प्यास बुझाने की विवशता या प्रयोजन है ही नहीं। वर्ष भर की याचना भी प्रेमास्पद का मन रखने के लिए है।

पिछले सोरठे से आगे बढ़कर गोस्वामी जी कहते हैं कि चातक की याचना बारहों मास चलती है (केवल वर्षाऋतु के महीनों तक भी सीमित नहीं है।) परन्तु सत्ताइस नक्षत्रों में से केवल एक स्वाति नक्षत्र की वर्षा का ही जल वह पीता है। इससे सिद्ध हो जाता है कि वस्तुत: उसका काम चलेगा यदि स्वाति नक्षत्र में वर्षा का भी जल न पिये। फिर वह उसे भी क्यों नहीं छोड़ देता ?

इसी शंका का समाधान इस सोरठे में है। सचमुच सन्त मुक्त हैं, देह बन्धन से मुक्त हैं, माया के बन्धन से मुक्त हैं, न उनकी कोई आवश्यकता है, न अभाव है। तथापि प्रेम के नाते सदा सर्वदा भिखारी हैं, माँगते ही रहते हैं। यदि सन्त भगवान् से यह कहें कि हमें आपसे कुछ लेना देना नहीं है तो क्या यह प्रेम का सूचक होगा ? कभी कुछ न माँगना और न लेना यह प्रेम सूचक नही।

सारी दुनियाँ भगवान् पर निर्भर है, भले ही इसका ठीक ठीक ज्ञान उसे न हो। सन्त तो अनन्य गति से, सचेत होकर, पूर्णत: शरण प्रपन्न हैं, अत: भगवदाश्रय ही नही संरक्षण की भी उनकी चेतना पूर्ण है।

अतः वे भिखारी की ही भूमिका में हैं। हाँ! ग़ैरियत के साथ नहीं—'हम तुम्हारे तुम हमारे हो चुके' की भावना के साथ।

सदैव भगवान् की याद करते रहना यही भिक्षा है। रट पी पी की है, पानी की नही, प्यारे प्रभु की तलब है पदार्थों की नही। परन्तु पुकार का प्रयोजन होना चाहिए इसलिए याचना है, उत्कंठा और उत्सुकता है।

पलटू सनकारत रहै, पिय को छिन छिन माँहि।
काजर दै के का भयो, जो चितवन को ढब नाँहि॥

जब सन्त इस प्रकार प्रेम के नाते भिखारी हैं, गरीबी के नाते नहीं, जैसे प्रह्लाद भगवान् के अकाम भक्त थे पर भगवान् की बात रखने के लिए वरदान माँगा, उसी तरह सन्त भी भगवान् की प्रसन्नता के लिए माँगते भी हैं, लेते भी हैं। 'राम निछावरि लेन हित हठि होहिं भिखारी।'

यदि कुछ न मांगे तो प्रेम व्यवहार कैसे चले, यदि कभी कुछ न लें तो माँगना सार्थक न हो, देने वाले को खुशी कैसे हो। अतः सदैव माँगते हैं पूर्ण काम हैं अतः लेना नही है पर प्रेमास्पद प्रभु की रुचि रखने के लिए ले लेते हैं। इस प्रकार भगवान के स्नेह भरे मन का आदर करते हैं और अपने प्रेम को बढ़ाते हैं।

श्री भगवान् ने जब नरसी मेहता जी की हुण्डी सकारी (स्वीकार की) तो जबाब में पत्र लिखा कि ऐसा व्यवहार बनाए रखियो जी। इस प्रकार प्रेम में व्यवहार बन्द नहीं होता, प्रेममय व्यवहार होता है।

तुलसी के मत चातकहि, केवल प्रेम पियास।
पियत स्वाति जल जान जग, जाँचत बारह मास॥
(३०८)

श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि हमारी सम्मति में चातक को प्रेम की ही प्यास है, जल की नही, क्योंकि वह बारहों महीने माँगता है पर सारा संसार जानता है कि वह स्वाति नक्षत्र का ही जल पीता है, वह भी वरसा हुआ, 'पहुमी-नीर' नहीं।

यहाँ पूर्व के दो सोरठों के प्रकाश में स्पष्ट घोषित कर दिया है कि चातक को प्रेम तृषा ही है, जल की तृषा नही, क्योंकि तृषा के नाम पर बारहों महीने याचना करता है पर तृषा बुझाता नही, वर्षा होने पर भी स्वाति के अतिरिक्त जल ग्रहण नहीं करता।

यहाँ सन्तों की महिमा स्पष्ट घोषित की गई है, सच्चे सन्त न भिखमगे हैं, न परोपजीवी हैं, न समाज पर बोझ हैं, वे भगवान् पर भी भी बोझ नही हैं। भगवान् योग क्षेम वहन करते हैं, परन्तु वह भार वहन (बोझा ढोने) के समान नही है। अविवेकी लोग इसे समझें या न समझें परन्तु सच्चे सन्त समाज के लिए भी और भगवान् के लिए भी हार (माला) के रूप हैं, भार (बोझ) रूप नही।

आल बाल मुकुता हलनि, हिय सनेह तरु मूल।
होइ हेतु चित चातकहिं, स्वाति सलिल अनुकूल ।। (३०९)

चातक के हृदय में मोतियों का एक थाला बना हुआ है, उसमें प्रेम का वृक्ष लगा है, उस वृक्ष के लिए स्वाति नक्षत्र का जल मगलकारी हो।

इस दोहे में एक प्रकार से चातक छत्तीसी का उपसंहार और आशीर्वाद है, यद्यपि तीन दोहे और भी लिखे गए हैं।

चातक का लगाव मेघ से तो है ही परन्तु स्वाति नक्षत्र से भी उसका लगाव प्रसिद्ध है। चातक का प्रेम रूपी वृक्ष स्वाति के जल से सिंचित होकर ही बढ़ता है।

श्री गोस्वामी जी ने चासक की हृदयगत प्रेम की आदर्श स्थिति का प्रभावशाली चित्रण किया है, वृक्ष के रूपक के सहारे। चातक के हृदय में प्रेम का एक वृक्ष है। वह कैसा है? उसकी शान कैसी है? उसका पोषण कैसे होता है?

कहते हैं कि जब स्वाति का बूंद सीपी में चला जाता है तो वह मोती बन जाता है। कल्पना कीजिए कि ऐसे बहुत से मोती एकत्र किए गए। फिर उन्हीं मोतियों का (गजमुक्ताओं का नहीं) एक थाला बनाया गया। चातक के हृदय का सनेह तरु (प्रेम वृक्ष) इसी थाले में रोपा हुआ हुआ है। अब उस प्रेम वृक्ष को सींचने और पुष्ट करने के लिए साधारण जल नहीं चाहिए, उसके लिए 'स्वाति सलिल' ही अनुकूल होगा। श्री गोस्वामी जी का आशीर्वाद है कि चातक के हृदय के प्रेम वृक्ष के लिए स्वाति का सलिल खूब मिले, मंगलदायक हो, उस सिंचाई से वह प्रेम वृक्ष बढे और पुष्ट हो।

इस कठिन कलिकाल में भी एक से एक शुद्ध सन्त हो गए हैं और हैं। उनके हृदय में भगवान् के प्रेम का अंकुर जमा, फिर वह विकसित वृक्ष हो गया। पहले वृक्ष को थाले की आवश्यकता होती है जिससे वह सुरक्षित रहे, नष्ट न हो जाय, पशु उसे चर न जायँ। चातक के हृदय में प्रेम के पौधे के लिए मोतियों का थाला है। सन्त को साधन की या जीवन की प्रथम अवस्था में संरक्षण चाहिए। ऐसा अनुकूल वातावरण चाहिए जिसमें अध्यात्म का विकास हो सके। हृदय में भगवान् का प्रेम वृक्ष बढ़े, हरा भरा रहे और दृढ़ हो, इसके लिए सिंचाई (भाव पोषण) भी चाहिए। यह पोषण अर्थात् 'पुष्टि' भगवान् ही की देन है। 'पोषणं तदनुग्रहः।' भगवान् की कृपा ही पुष्टि है। श्रीवल्लभाचार्य जी महाराज का पुष्टि मार्ग है, इसके अनुसार हम शरणागत हो जायँ तो मोक्षदायक भाव की पुष्टि भगवान् करते हैं। श्री रामानुचार्य महाराज ने मर्यादा मार्ग

से अनुग्रह मार्ग को पसन्द किया। श्री भगवान् का अनुग्रह ही पोषण है, यही प्रेम को दृढ़ करता है। यही 'स्वाति सलिल' से सिंचन है जो कि 'सनेह तरु' को पुष्ट करता हैं।

सन्त सदैव दिव्य प्रेम चाहते हैं, कोई और वस्तु नहीं चाहते। भगवत्प्रीति ही उनका एक मात्र जीवन प्रयोजन है। भगवान् की अद्भुत दिव्य लीला होती रहती है जिससे प्रेम रूपी वृक्ष की सिंचाई और पुष्टि होती रहती है। श्री गोस्वामी जी जैसे सन्त यही आशीर्वाद देते हैं कि प्रेम रूपी वृक्ष खूब फले फूले, उसे खूब स्वाति की वर्षा का जल मिले और वह दृढ़ होता जाय। यह प्रेम साधना सफल होती जाय। यह प्रेम साधना सफल हो, यशस्विनी हो, क्योंकि सन्त शुद्ध प्रेम के ही याचक और पोषक हैं।

उष्ण काल अरु देह खिन, मग पंथी तन ऊख।
चातक बतियाँ ना रुची, अन जल सींचे रूख।।
(३१०)

गर्मी के दिन थे, देह क्षीण हो गई थी, अथवा खिन्न (श्रमित) हो गई थी। आराम की आवश्यकता थी। कुछ भी चातक के दृष्टि पथगामी हुए। क्या चातक उनकी छाया में थोड़ी देर विश्राम करके तब आगे बढ़े? अथवा वह उड़ता चला जाय? चातक को ऐसी विश्राम सम्बन्धी कल्पनाएँ अच्छी नहीं लगीं। क्योंकि वृक्ष अन्य जल के सींचे हुए थे।

अन्य जल से सिंचित व पुष्ट हुए वृक्षों की छाया में विश्राम करने का विचार अनन्य निष्ठा से बेमेल है। यदि कोई अन्य आश्रय को स्वीकार करके बलिष्ठ और सम्पन्न हुआ है, और हम विपत्ति में,

आपत्काल में, उसका आश्रय लें, तो यह अनन्य निष्ठा के प्रतिकूल होगा, अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता, अन्य आश्रय का त्याग ही अनन्यता है। अत: अन्य आश्रय से पुष्ट हुए व्यक्ति का सहारा लेना चातक वृत्ति के विरुद्ध है।

देखने में असम्भव बात कहकर एक सिद्धान्त का निर्देश श्री गोस्वामी जी ने किया है। सिद्धान्त यह है कि विरोधी आश्रय के ग्रहण से निष्ठा निर्बल होती है और साध्य (लक्ष्य) की प्राप्ति में सच्ची सहायता नहीं मिलती। ब्यावहारिक सुविधा के फेर में पड़कर निष्ठा को शिथिल करना वस्तुत: माया में फँसकर लक्ष्य से अलग पड़ जाना है। साधक के जीवन में बार बार ऐसी परिस्थितियाँ आती हैं, जिनमें यह आभास होता है कि निष्ठा को शिथिल करने से कार्य सम्पादन में वृद्धि या सिद्धि होगी। अधिकाँश साधक निष्ठा पर डटे नहीं रह पाते।

यदि राणा प्रताप अकबर की अधीनता स्वीकार कर लेते तो अपार कष्टों का अन्त होता, मेवाड़ का राज्य भी शान से करते और उस राज्य को दृढ़ करते। अंग्रेज़ी राज्य के समय में देशी रियासतों ने अपने अस्तित्व की रक्षा के लिए व सुख सुविधा बनाए रखने के लिए, सहायक सन्धि योजना स्वीकार की। यद्यपि इससे सैंकड़ों रियासतें नाम मात्र के लिए स्वराज्य के समय तक कायम रह गईं, परन्तु उनकी अपनी आज़ादी और देश की आज़ादी के लिए सचमुच यह घातक योजना सिद्ध हुई।

थोड़ा सा फिसल जाइये, बहुत सी सम्पदा, सुख, सुविधा लीजिये। ऐसी बात के पीछे लक्ष्य-भ्रष्ट करने की योजना रहती ही हैं। कहने को तो यह भी कहा जा सकता है कि बलिदानी देशभक्त या धर्मभक्त यदि अपनी जान बचा लेते तो न मालूम क्या क्या सेवा कर्म करते। परन्तु क्रान्तिकारी लोग तो कुछ और ही गाते थे—

सर फ़रोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है।
देखना है जोर कितना बाजुए क़ातिल में है।।
(बिस्मिल)

सूख जाए न कहीं पौदा ये आज़ादी का।
खून से अपने इसे इसलिए तर करते हैं।।
खुश रहो अहले वतन हम तो सफर करते हैं।

जिसकी निष्ठा जितनी पक्की है, वह तप को उतना ही अधिक महत्व देता है, भौतिक साधनों को नहीं। निष्ठा का वैपरीत्य उसे सहन नहीं. उस मार्ग से लक्ष्य सुलभ होगा या प्राप्त होगा यह लालच उसे नहीं होती।

अनन्य निष्ठा के निर्बाह का अपना अनुपम परिणाम है, सावधान सन्त उस निष्ठा को वाह्य परिणामों के प्रलोभन में पड़कर कभी नहीं बिगाड़ते।

अगले दोहे में इसी सिद्धान्त की स्पष्ट घोषणा है।

अन जल सींचे रूख की, छाया ते वरु घाम।
तुलसी चातक बहुत हैं, यह प्रवीन को काम।।
(३११)

श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि यों तो चातक बहुत हैं, परन्तु इस धारणा को रखना किसी प्रवीन चातक का ही काम है कि अन्य जल से सींचे हुए वृक्ष की छाया से घाम ही अच्छा।

यदि चातक के रूपक के आवरण में जो संकेत पूज्यवाद गोस्वामी जी ने दिया है उसे स्पष्ट रूप से सन्तों के जीवन पर घटित करते हुए ग्रहण करें तो सिद्धान्त विचार इस प्रकार होगा—

सन्त बहुत से हैं जो भगवदीय आश्रय के व्रती हैं, वे सब आकाश वृत्ति रखते हैं, परन्तु उनकी निष्ठा में यह आवश्यक नहीं कि अयाचित आये हुए दान में भी ग्राह्य और त्याज्य (ग्रहण और त्याग के योग्य) दान का विवेक रक्खें। प्राय: भगवदाश्रय का प्रमाण यही माना जाता है कि वे द्रव्य अर्जित नहीं करते, दान पर गुज़र करते हैं।

यदि कोई सन्त स्वयं पाप नहीं करते, हिंसा नहीं करते, झूठ नहीं बोलते, स्वार्थी जीवन नहीं बिताते, परन्तु ऐसा करके धनार्जन करने वालों का दान खुशी से ले लेते हैं, तो सूक्ष्म दृष्टि से निष्ठा का विघात होता है। जिसका दान आप स्वीकार करते हैं, उसके धनार्जन की विधि का मनुमोदन उसी में आ जाता है। ब्रह्मचर्य प्रचारिणी सभा वेश्या के दान पर चले, यह उचित नहीं है। यदि आप नास्तिक से दान लेकर उससे आस्तिकता का प्रचार करना चाहें तो आप धोखे में हैं। जिन्होंने येन केन प्रकारेण धन का अर्जन और संचय किया, वे दान में समर्थ हैं, बल्कि कई बार तो उन्हें अपने अशुभ अर्जन के पाप, दोष, अपयश आदि को मिटाने के लिए दान देने की विवशता भी रहती है। ऐसे लोगों से खूब दान लेकर आप नैतिक मूल्यों का प्रचार प्रसार कर सकेंगे या अपने जीवन में वैराग्य को दृढ़ कर सकेंगे, इसकी आशा न कीजिये।

बहुत से मांसाहारी स्वय पशु को मार नहीं सकते, परन्तु बाजार से क्रय करके मांस लाकर खा सकते हैं। इसी प्रकार यदि आप बेईमानी नहीं कर सकते परन्तु बेईमानी की कमाई दान में आवे तो उसका प्रयोग कर सकते हैं, तो आपकी निष्ठा बलवती नहीं कही जा सकती। विचार-

वान् लोग यह स्वीकार करेंगे कि अशुभ मार्ग से धनार्जन करने वाले भगवदाश्रयी नहीं कहे जा सकते, मायाश्रयी ही हैं। यदि आप किसी प्रकार, प्रत्यक्ष या परोक्ष रीति से उनके आश्रित हो गए, तो फिर आप सच्चे भगवदाश्रयी नहीं रहे। वैराग्य निरूपण में धनिकों का आश्रय प्रशस्त नहीं माना गया है—

सहन्ते सतापं तदपि धनिनां द्वारि कृपणाः ।
(भोज प्रवन्ध)

कस्माद्भजन्ति कवयो धन दुर्मदान्धान ।
(श्रीमद्भागवत २.२.५)

सूरदास जी कहते हैं—

तजो रे मन हरि विमुखन को संग ।

जो हरि विमुख हैं, हरि आज्ञा को भंग करने वाले हैं, उनका संग प्रशस्त नहीं। दुसंगः सर्वथैव त्याज्यः (ना०भ०सू०), उन लोगों के आश्रय को पकड़ने से भगवन्निष्ठा शिथिल होगी, मानव आश्रय आएगा, अनन्य निष्ठा शिथिल होगी।

अतः सब सन्त तो नहीं, परन्तु विशेष विवेक प्रवीण सन्त इन बातों का बड़ा विचार रखते हैं, किसी प्रकार के भी दान पर गुजर करना पर्याप्त नहीं समझते। मर्यादानिधान श्री गोस्वामी जी प्रवीण सन्त की रहनि बताते हैं, इसकी आलोचना नहीं करते कि सब सन्त इसी प्रकार का नियम निर्वाह नहीं करते।

एक अंग जो सनेहता, निसि दिन चातक नेह ।
तुलसी जासों हित लगै, वहि अहार वहि देह ।। (३१२)

जिसका प्रेम चातक की तरह एकांगी और अखण्ड (निसि वासर सक्रिय) है, उसका परम प्रिय प्रेमास्पद ही उसके लिए आहार स्वरूप व देह स्वरूप हो जाता है।

यह चातक छत्तीसी का अन्तिम दोहा है। इसमें अनन्य **प्रेम** का पर्यंवसान प्रदर्शित किया गया है। अन्तिम या उच्चतम दशा क्या होती है यह बताया गया है।

अनन्यता के भी सोपान हैं। अनन्यता से पहले के सोपान हैं, कि १–औरों से तो सम्बन्ध है ही, उनका आश्रय भी है, परन्तु जहाँ उन सम्बन्धों से काम नही चलता वहाँ भगवान् भी पुकारे जाते हैं, उनका सहारा भी पकड़ा जाता है। जैसे रोगी के स्नेही सम्बन्धी उसकी सेवा कर सकते हैं पर रोग निवृत्त नही कर सकते, उसके लिए डाक्टर बुलाया जाता है। रोगी अच्छा हो जाय तो डाक्टर से सम्बन्ध समाप्त हो जाते हैं, जान पहचान मात्र रह जाती है। उसी डाक्टर की भूमिका में भगवान् रक्खे जाते हैं। इससे आगे का सोपान है जिसमें भगवान् से गरज पूरी होने पर सम्बन्ध समाप्त नहीं होता, बराबर बना रहता है। दूसरों का भी सहारा है, भगवान् का भी, जैसी स्थिति हो वैसा बरताव, वैसी याचना। इससे ऊँचा वह सोपान है जहाँ यह अनुभव रहता है कि जगन्नियन्ता बहुतों में से एक नहीं हो सकता। उसका सहारा लें तो वही मुख्य आधार होना चाहिए। अन्य सहारे उसके आगे क्षुद्र ही हैं, समकक्ष (बराबर) नहीं हो सकते। दूसरों का सहारा लेने की विवशता है, भगवान् का सहारा ही बड़ा है, मुख्य है। पहले तो दुनियाँ का सहारा पूरा नहीं पड़ता तब भगवान् का सहारा लिया जाता है, फिर भगवान् के ही सहारे रहने से काम नहीं चलता तब दुनियाँ का सहारा भी लिया जाता है। भाग्योदय हुआ मानना चाहिए जब यह अनुभव हो जाय कि

यह जो भगवान् का सहारा पूरा नहीं पड़ता इसमें करुणा सिन्धु की कृपा की कमी नहीं है, अपनी अयोग्यता, अपात्रता है--

झोली ही अपनी तंग थी, उसके यहाँ कमी नहीं।
जो माँगने का तरीका है उस तरह माँगो।
दरे करीम बन्दे को क्या नहीं मिलता ॥
जाइ निकट पहिचानि तरु, छाहँ समनि सब सोच।
माँगत अभिमत पाव जग, राउ रंक भल पोच ॥
(रां०च०मा०)

जन कहँ कछु अदेय नहिं मोरे। अस बिश्वास तजहु जनि भोरे ॥
(रा०च०मा०)

यदि भगवान् का सहारा एक के लिए पूरा नहीं पड़ता तो वह अन्यान्य सन्तों का कल्पवृक्ष कैसे बना हुआ है? उनके लिए कसर क्यों नहीं? उनके लिए भगवान् क्यों सब कुछ करता हुआ दिखाई पड़ रहा है? मूर्ख तो भगवान् को भी पक्षपातग्रस्त मान लेता है परन्तु यह तो सोचना ही पड़ेगा कि इस आरोपित पक्षपात का कारण क्या है? कारण अनुसंधान करने पर श्रेष्ठ भक्ति भाव ही निकलेगा।

भगवान् के यहाँ तीन प्रकार की व्यवस्था है—प्रारब्ध, योगक्षेम वहन की विशेष व्यवस्था और अभिन्न एक रूप हो चुके सन्तों के लिए दिव्य व्यवस्था।

प्रारब्ध व्यवस्था में कर्मो के परिपाकानुसार फल प्राप्त होता है, कष्ट में पड़े हुए व्यक्ति का या देशभक्त का या करुणा प्रेरित सन्त का भगवान् को सच्चे दिल से पुकारना भी एक महान् शुभ कर्म है। इसी तरह पूजा पाठ, तन्त्र मन्त्र, आदि करना कराना भी शुभ कर्म है, तीव्र

भावना से किया हुआ कर्म शीघ्र फलित हो सकता है। यह सब प्रारब्ध व्यवस्था है। साधारण व्यक्ति की यहीं तक गति है।

जिसने अनन्य भाव से भगवान् की शरण ग्रहण की और भक्ति की वह साधारण व्यक्ति की तरह अपने योग क्षेम का प्रबन्ध सँभालने के लिए ख़ाली नहीं रह जाता परन्तु इससे अनन्य भक्त की व्यवस्था बिगड़ने नहीं पाती। वह चलती ही रहती है। कुछ सीमा तक तो यह इसलिए भी होता है कि दुःख की तरह सुख भी प्रारब्धवश मिलता ही है, रुकता नहीं है, अतः जो उसके लिए व्यग्र होकर यत्न नहीं करता उसे भी मिलता ही है। परन्तु पूरी बात इतनी ही नहीं है। भगबान् की विशेष व्यवस्था है कि प्रारब्ध जनित अभाव को यह अवसर नहीं दिया जायगा कि अनन्य भक्ति को बिगाड़े।

जैसे एक गायनाचार्य है, प्रारब्धवश अति निर्धन है, ठीक से खाने को नहीं मिलता। संगीत में निपुणता है। किसी महोत्सव में या सम्पन्न व्यक्ति, अधिकारी या राजा की सभा में गाने के कार्यक्रम को स्वीकार कर लिया। फ़ीस पारिश्रमिक, अनुतोष आदि कोई शर्त नही रक्खी। बिल्कुल मुफ्त में कार्यक्रम स्वीकार किया। परन्तु कार्यक्रम के दिनों में अन्य महान् कलाकारों के समान उनका भी सत्कार किया गया। वह सत्कार ऊँचे स्तर का ही था। तो महोत्सव के दिनों में एक प्रकार से प्रारब्धजनित निर्धनता जारी रहते हुए भी स्थगित रही। यदि गायनाचार्य जी को बराबर ऐसे कार्यक्रम मिलते रहें तो उनकी निर्धनता कहाँ रहेगी। यह भी सम्भव है कि इन कारणों से पारिवारिक निर्धनता भी कम हो जाय। इस प्रकार अशुभ प्रारब्ध निरस्त न हो तो भी अतिक्रमित या अप्रभावी हो सकता है।

अनन्य भक्त भगवान् के निष्काम भक्त हैं, उनका पारिश्रमिक, अनुतोष, पारितोषिक आदि कुछ भी नही है। एकदम 'बिनमोल बिकाउँ'

(वि०प०) वाली बात है। परन्तु भगवान् की शान के खिलाफ होगा कि वे भूखे रह जायँ या अभावग्रस्त और पीड़ित रहें। अत: यह कैसे हो सकता है, किऐ से अनन्य भक्तों को साधारण सुविधाएँ न मिलें शरीर यात्रा न चले, योग क्षेम न चले। अत: इस योग क्षेम की विशेष व्यवस्था के अन्तर्गगत उनका काम चलता रहता है।

भगवान् की अनन्य भक्ति स्थाई होती है, अत: यह योगक्षेम वहन भी सदा चलता रहता है।

साधारणत: यह सब इतनी सौम्य रीति से होता है कि मामूली लोग इसे जान समझ नहीं सकते। कभी कभी तो लाभान्वित व्यक्ति भी इसे नहीं ज्ञान पाता। परन्तु कभी कभी विशेष परिस्थिति आ जाती है, जब योग क्षेम के चलने के साधारण उपाय व्यर्थ होने लगते हैं, तब भगवान् का विशेष प्रबन्ध चमत्कारिक ढँग से प्रकट होता है। तब वह बहुतों की दृष्टि में आ जाता है और मान लेने की विवशता हो जाती है। जैसे भगवान् गोपीनाथ जी का खीर प्रसाद चुराकर रखना और पुजारी को आज्ञा देकर भक्त के पास भिजवाना।

एक भक्त थे, वे दुलहेराम जी के उपासक थे। जहाँ कहीं विवाह होता वे पहुँच जाते और प्रत्येक दुलहे को राम रूप जानकर पूजा करते। एक बार उनके घर में उनकी लड़की की शादी के लिए कुछ आभूषणों का प्रबन्ध किया गया था। वे सब आभूषण समय से पूर्व किसी अन्य दुलहे राम जी को समर्पित कर आए। इससे घर में लड़की की शादी के लिए एक संकट उत्पन्न हो गया। फिर से आभूषण जुटाने क शक्ति नही थी। एक दिन उनकी अनुपस्थिति में एक सज्जन उनके घर पधारे। वे बोले 'भगत जी एक दुकान पर आभूषण खरीद रहे हैं, उन्होंने गहने दिखाने के लिए भेजे हैं कि यह बिल्कुल उन्ही आभूषणों की तरह हैं

या नहीं, जो चले गये थे। यदि हो, तो रख लीजिये, उन्होंने खरीद लिए। घर वालों ने प्रमाणित किया कि गहनें उतने ही और वैसे ही हैं। अतः रख लिए गए। भगत जी के आने पर पता चला कि उन्होंने कोई आभूषण नही खरीदे, न दिखाने के लिए भेजे।

एक सन्त गृहस्थ थे। श्री राम नाम के अत्यन्त प्रेमी थे, आमतौर से सन्त माने नहीं जाते थे। गुप्त और अमानी थे। एक विवाह में घर के सब लोग जाने वाले थे। इनका अलग से जाने का कार्यक्रम था। इन्हें एक कीमती वस्त्राभूषणों का बक्सा अपने साथ ले जाने को कहा गया। रास्ते में गाड़ी बदलना था। ये प्लेटफार्म पर बैठे थे। दूसरी गाड़ी के लिए पर्याप्त समयान्तर था। वहाँ से श्री गंगा जी निकट थीं। सोचा कि दर्शन स्नान हो जाय। चले गए। बक्सा स्टेशन पर ही रह गया। स्नानादि के बाद याद आया कि बक्सा तो प्लेटफार्म पर ही छूट गया। वहाँ पहुँचने पर मिला नहीं। सन्त इस उधेड़बुन में पड़े कि अब शादी में जायँ या घर लौट जायँ। मन में आया कि नुकसान हो गया तो भी शादी में जाना चाहिए और समाचार बताना ही चाहिए, लोगों की नाराजगी झेलना चाहिए। वे गए। पहुँचते ही विचित्र फटकार मिली। आप कैसे अनुत्तरदायी आदमी हैं ? ऐसे कीमती सामान का बक्सा अपने साथ न रखकर अनजाने आदमी के हाथ भेज दिया। वह अगर न पहुँचाता तो क्या होता ? इस फटकार से पता चला कि बक्सा उनसे पहले पहुँच गया था और सामान सब ठीक था। उन्होने किसी के हाथ नहीं भेजा था।

एक सन्त गृहस्थाश्रमी पण्डित हैं। उन्हें कुछ कर्ज अदा करना था, उसकी उन्हें चिन्ता थी। वे एक दूसरे नगर में थे। वहाँ महाजन की चिट्ठी आ गई कि कर्ज की पूरी रकम मिल गई अतः

सूचना दी जाती है। वापस जाने पर यह पता नहीं चल सका कि रुपया कौन दे आया।

इस प्रकार कभी कभी भगवान् की योग क्षेम वाली विशेष व्यवस्था तीव्रता के साथ सामने आ जाती है। तब बहुत से लोगों को उसका अस्तित्व स्वीकार करना पड़ता है।

इस विशेष योग क्षेम वहन व्यवस्था से भी भिन्न और दिव्य है अद्वैत की दशा, भगवान् में इतना तन्मय हो जाना कि कुछ अलगाव न रहे, इस दशा में योग क्षेम का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है, जेसे भगवान् के लिए अपने योग क्षेम की कोई धमस्या नहीं है, वैसे ही ऐसे सन्तों के लिए नहीं है। तत्वत: ज्ञान दृष्टि से नही है, अज्ञानियों की दृष्टि में बिल्कुल है। सूफ़ी शब्दावली में ऐसे सन्तों को 'मज्ज़ूब' कह सकते हैं।

'तन्मम दशा वाले'। लोक दृष्टि से वे भी खाते पीते हैं, शरीर यात्रा चलती है, परन्तु वे किसी और ही दुनियाँ में रहते हैं, वहाँ वे भगवान् के साथ एक हैं। उस तन्मयता की दृष्टि से ही कहा गया है कि भगवान् ही उनका आहार है, वही उनकी देह हैं। श्री वैराग्ग संदीपनी में भी छन्द २८ में कहा है, 'ते जन प्रगट राम की देहा।'

श्री वैराग्य संदीपनी के छन्द १५ को मूत्र सयझना चाहिए श्री दोहावली के दोहा २७७-३१२ को उस पर भाष्य समझना चाहिए। वै०सं० १५ व दोहा २७७ में केवल तीसरे चरण में पाठ भेद है।

सन्तों की रहनि का सारा रहस्य श्री वै० सं० १५ में समाविष्ट मानना चाहिए।

———

सो जन जहान है जाके राग न रोष।
तुलसी तृष्णा त्यागि कै, गहेउ शील सन्तोष ।।१६।।

श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि जिस व्यक्ति के मन में राग द्वेष (क्रोध) नहीं है, तथा जिसने तृष्णा को बिल्कुल छोड़ दिया है और शील सन्तोष धारण किया है, वह इस जगत् में जहाज की तरह है।

सन्त तरन-तारन हैं। तरन तो उनका हो चुका, तारन चलता रहता है—तीर्णाः स्वयं भीम भवार्णवं जनान हेतुनान्यानपि तारयन्तः। (विवेक चूड़ामणि) स्वयं तो तरे हुए हैं ही, अकारण औरों को भी तारते हैं।

यहाँ स्पष्ट रूप से जगत् को भवसागर नहीं कहा है, परन्तु भावार्थ यही सयझना चाहिए कि भव (जगत्) सागर है। सन्त भवसागर के जहाज हैं, भवसागर पार करने के लिए साधन हैं, आश्रय है। 'भवसागर कहँ नाव, शुद्ध सन्तन के चरन (वि०प०)।

पहले तो यही समझना चाहिए कि जगत् को भवसागर माना ही क्यों ? और इसे पार करने की आवश्यकता ही क्या ? शास्त्रों में बारम्बार संसार-सागर का उल्लेख आया है—

अपार संसार समुद्र मध्ये निमञ्जतो में शरणं किमस्ति ?।
गुरो कृपालो कृपया वर्दतद्, विश्वेश पादाम्बुज दीर्घ नौका ।।
(विवेक चूड़ामणि।

इस अपार संसार समुद्र में डूबते हुए मेरे लिए क्या सहारा है, हे कृपालु गुरुदेव, यह मुझे बताइये। गुरुदेव का उत्तर है कि 'जगत्पति के चरण कमल ही बड़ी भारी नौका (जहाज) हैं।

यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावतां।
(रा०च०मा० बालकाण्ड)

जिन (राम जी) के चरण कमल, भवसागर से पार होने की इच्छा रखने वालों के लिए प्लव (जहाज) हैं।

पुमान् भवाब्धि न तरेत स आत्महा।
(श्रीमद्भागवत)

जो न तरै भवसागर, नर समाज अस पाइ।
सो कृत निन्दक मन्दमति, आतमहन गति जाइ॥
(रा०च०मा० उत्तरकाण्ड)

निमज्जतोऽनन्त भवार्णवन्तश्चिराय में कूलमिवासि लब्धः।
(आलवन्दार स्तोत्र, श्री यामुनाचार्यकृत)

'अनन्त भवसागर में डूबते हुए मुझको आप (प्रभु) तट की तरह मिल गए हैं।'

समझना है कि संसार का वर्णन सागर रूप में क्यों किया गया। पहली बात तो यह है कि संसार की रमणीयता का बाध करना है।

अनबिचार रमणीय सदा, संसार भयंकर भारी।
(वि०प०)

अविचारी, अज्ञानी लोगों के लिए संसार रमणीय है, तत्वत: (विचार करने पर) अत्यन्त भयंकर है । सभ्य नागरिक के लिए अत्यन्त भयंकर या तो जंगल है या सागर । संसार की भयंकरता को प्रगट करने के लिए ही श्रीमद्‌भागवत में स्कन्ध ५ अध्याय १३ में 'भवाटवी' (संसार रूपी जगल) का वर्णन किया गया है । 'भवाटवीं याति न शर्म विदन्ति' संसार रूपी जंगल में भटक जाता है, शान्ति नहीं मिलती । 'यस्यां इमे षण्नरदेव दस्यव:' उसी जंगल में यह ६ डाकू रहते हैं—काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर । वह इसका पुण्य रूप धन लूट लेते हैं । विविधि वासनाएँ ही इस जगल की झाड़ी, झंखाड़ी हैं, जिनके कारण मार्ग प्रशस्त नहीं, अवरोध और उलझाव आता ही रहता है ।

इसी प्रकार कभी संसार की भयंकरता को समझाने के लिए इसे अखण्ड नृत्य की तरह बताते हैं—

नाचत ही निसि दिवस मर्यौं ।

(वि०प०)

एक प्रसिद्ध (सखी भाव निष्ठ) सन्त से किसीं ने पूछा, 'शरम नहीं आती, मर्द होकर जनाने वेष में इधर उधर नाचते फिरते हो । उन्होंने कहा, 'कौन नहीं नाचता ? क्या आप दहीं नाचते ? भेद इतना ही है कि कोई माया से बँधा हुआ है (वानर या भालु की तरह) विवश होकर नाचता है, कोई प्रभु के प्रेम में नाचता है । अखण्ड नृत्य के रूपक से भी संसार की भयंकरता दर्शाई गई है ।

भवसागर के रूपक से यह भयंकरता और भी स्पष्ट हो जाती हैं । अपार सागर में डूबता हुआ मनुष्य जिस कष्ट में है, जगल में भटकने वाला उससे कम कष्ट में ही है, वैसे जलचरों अथवा वनचरों के द्वारा मारे जाने का भय उभयवर्ती ही है ।

वेदान्तियों ने ब्रह्म को अधिष्ठान रूप, साक्षीमात्र, निरीह, निश्चेष्ट बताया है, उसमें कोई लहर (ऊर्म्भि) या कम्पन (स्पन्दन) क्रिया नहीं होती, जब कि जगत् गतिशील है, संसरण करने से संसार नाम है, ब्रह्म अच्युत है, संसार सतत् परिवर्तन शील है। ब्रह्म प्रशान्त है, जगत् अशान्त है। ससार सिन्धु में पड़े हुए जीव के भीतर राग द्वेष की लहरें वराबर उठा करनी हैं। इन लहरों से जीव स्थिरता या शान्ति का लाभ नहीं ले पाता। लहरों में पड़ा हूआ डूबता उतराता रहता है। प्रवल लहरों का स्थान सागर ही है, इसलिए रूपक की उपयोगिता है। काम क्रोध आदि विकार ही 'मकर, नक्र, झख, व्याल' आदि जलजीवों की तरह निगल जाने को तैयार हैं। अत: समझने वाले के लिए यह भव-सागर ही है। इसमें जो भगवान् में चित्त को स्थिर कर लेते हैं, उन्हें भगवान् बचा लेते हैं—

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्यु संसार सागरात्।
भवामि न चिरात् पार्थ मय्यातेशित चेतसां।।

(गीता १२.७)

श्री भगवान् ने भी गीता जी में जगत् को संसार सागर कहा। वे अनन्य भक्तों का इस संसार सागर से शीघ्र ही उद्धार करते हैं।

इस संसार सागर में कुछ लोग डूब रहे हैं, मगर अपने दु.ख से अचेत हैं, कुछ घबरा और चिल्ला रहे हैं, कुछ तैरते हुए थक रहे हैं, कुछ कहीं थाह पा गए, पैर टेक पाए हैं, कुछ थोड़े से सागर से निकलकर तट पर पहुँच गए हैं, सुरक्षित हो गए हैं, कुछ दूसरे डूबने वालों को बचाने के लिए प्रयत्नशील हैं।

जो संसार में अपने को सुखी पाते हैं, जिन्हें समझ में ही नहीं आता कि इस संसार को जंगल या सागर की तरह भयंकर क्यों बताया,

ऐसी कल्पनाओं को जो विकृत बुद्धि की उपज मानते हैं वह अपने कष्ट से अचेत हैं, जैसे सरसाम का रोगी अपने रोग की भयंकरता को नही जानता, जैसे जंजीर में बँधा हुआ पागल भी अपने को बादशाह समझता है, परन्तु विवेकी को उसकी इस दशा पर करुणा आती है, और इस दशा को दूर करने के लिए पागलपन की निवृत्ति हेतु इलाज चलता है। वैसे ही मोहवश जीव सन्तों के लिए अनुकम्पा का पात्र हैं। जैसे कोई कोई अबोध बालक जब परीक्षा में शून्य पा गए और किसी ने परिहास में कह दिया कि लड्डू मिला, तो स्वयं घर आकर खुशी से बोले, 'लड्डू मिला।'

वातुल भूत विवश मतवारे। ते नहिं बोलहिं बचन सँभारे।
जिन कृत महामोह भद माना। तिनकर कहा करिय नहिं काना।।
(रा०च०मा० बालकाण्ड)

जो महामोहवश निरा अचेत नहीं हैं, वे डूबने और बेहोशी में रहने वालों में नहीं हैं। होश में आए हुए, होश हवास ठीक रखने वालों को जगत् सुख निधान नहीं लगता। उन्हें बोध होता है कि 'चक्रवत् परिवर्तन्ते सुखानि च दुःखानि च'।। इसलिए यदि वर्तमान् में सुखावस्था भी हो तो वह स्थिर नहीं रह सकती। फिर वर्तमान के सुख को भी बिगाड़ती हुई समस्याएँ, चिन्ताएँ, कुन्ठाएँ घेरे रहती हैं। निश्चिन्त होकर सुखभोग नहीं हो पाता। अभ्यास से भोग का सुख क्षीण होता है, परन्तु निर्भरता बढ़ती है। अतः सुख जो कुछ प्रतीत होता है, वह दुःख मिश्रित, दुःखदग्ध है, दुःख से अस्पृष्ट (अछूता) कभी नहीं। गए सुख की याद, भावी सुख की आशाएँ, वर्तमान् की चिन्ताएँ सुख को व्यर्थ बनाती हैं।

लहर की उछाल से अगर सुख है तो लहर के गिरने से दुःख है, और इन्हीं लहरों में पड़े रहना ही असली दुःख है। लहरों के झझकारों में झूलता हुआ विचारवान् व्यक्ति सुखी नहीं होता, घबराता ही है। यह

संसार सागर रागद्वेष की लहरों से भरा हुआ है। जैसे बड़ी बड़ी लहरों से सागर का ऊपरी तल चचल रहता है, वैसे ही रागद्वेष (रोष) के संस्कारों से अन्तःकरण का ऊपरी (चेतनता का) स्तर भी चंचल रहता है। इससे चित्त शान्त नहीं रह पाता। वह विक्षिप्त रहता है। संसार में सुखाभास जितना घटता जाता है उतना ही रागद्वेष की लहरें कम उठती हैं, और कमजोर हो जाती हैं। यदि बाह्य जगत् का सुखाभास बिल्कुल मिट जाय, तो रागद्वेष की लहरें अन्तःकरण में उठेंगी ही नहीं। क्योंकि सुखदायक विषय में ही राग होता है, उससे विपरीत दुःखदायी विषय से द्वेष होता है, द्वेष से ही रोष (क्रोध) होता है। विषयों में सुख न भासने पर रागद्वेष शान्त हो जायेंगे और चित्त समाहित होगा। क्षोभ नहीं होगा। मोक्ष का अधिकार बनेगा अर्थात् भवसागर से पार होगा।

रागद्रेष रहित अन्तःकरण मुक्त होगा, परन्तु स्वयं पार हो जाने से सदा दूसरों को पार करने की वृत्ति नहीं बनती। पूर्व छन्द १० में कह चुके हैं कि परोपकाराय पारमार्थिक प्रीति का निर्वाह करने वाले सन्त बिरले ही होते हैं। बहुत से ज्ञानी मोक्षदान की भी वृत्ति नहीं रखते। तथापि यह समझना और मानना अच्छा होगा कि मुक्त और त्रिगुणातीत पुरुष का व्यवहार भी त्रिगुणानुसार ही होता है। मुक्त सन्त का व्यवहार तीन गुणों की कसोटी पर कसा जा सकता है। उसका व्यवहार सतोगुणी होगा। यद्यपि वह सतोगुण से भी बँधा नहीं हैं। सतोगुणी वृत्तियाँ 'करुणा मैत्री मुदिता उपेक्षा' सन्त के व्यवहार से सिद्ध हों तो यह स्वाभाविक है, आश्चर्यंजनक नहीं। भवसागर से पार होने में सहायता करना 'करुणा' का ही परिणाम है। यथा—लागि दया कोमल चित सन्ता। (रा०च०मा०) इस अभयदान के कार्यंक्रम में तात्कालिक करुणा पर्याप्त नहीं है, स्थिर करुणा चाहिए। यह सबके लिए स्वाभाविक नहीं है। वैसे दुखियों पर करुणा उत्पन्न होना सतोगुणी के लिए स्वाभाविक है। इसी दृष्टि से कहा गया है—

सन्त सहज स्वभाव खगराया । पर उपकार वचन मन काया ।।

संसार वाले लोग प्राय: यह कल्पना करते हैं कि राग द्वेष रहित मनुष्य रूखा होगा, कठोर होगा, दूसरों के प्रति बेरुख, लापरवाह होगा। यह सब अविवेक है, इसकी जड़ में यह विचार है कि मृदु व्यवहार, शील, दूसरे की सुविधा का घ्यान रखना, यह सब ममता (राग) से ही होता है। निर्मोही कठोर का पर्यायवाची सा हो गया है। इस विचार की एक त्रुटि तो यह है कि जो शिष्ट और मृदूल व्यवहार ममता प्रेरित है, वह ममता के क्षेत्र तक ही सीमित होगा, व्यापक नहीं होगा। यदि कोई ममतावश शिष्ट है, तो द्वेषवश अशिष्ट भी होगा।

साधु चरित शुभ सरिस कपासू । निरस विशद गुणमय फल जासू ।

विषय रस से अलग रहने के कारण साधु चरित अविवेकियों को नीरस लगता है, परन्तु कपास जैसे नीरस होते हुए भी अत्यन्त गुणमय है, वैसे ही साधु चरित परम कल्याणकारी होने के कारण विवेकी की दृष्टि में सरस है। सन्तों के कल्याणकारी चरित्र तो पढ़ने, सुनने कहने में भी मनोहर होते हैं, फिर लाभान्वित ब्यक्तियों के लिए उनकी सरसता की क्या सीमा हो सकती है।

महर्षि दधीचि ने बिना किसी ममता की प्रेरणा के देवकार्य के लिए अपनी हड्डिया दे दीं। क्या यह चरित्र सरस नहीं माना जायगा। सन्तों के चरित्र में मैत्री और करुणा है पर ममता व अहंकार नही है। (गीता १२.१३)।

सिद्धान्त पर आग्रह रखना, नीति पथ को न छोड़ना, यह भी मूर्खों की दृष्टि में अति कठोरता है। इस विषय में सन्त वज्र से भी कठोर हो सकते हैं, परन्तु वैसे फूल से भी कोमल सिद्ध हो सकते हैं। 'सन्त हृदय

नवनीत समाना। कहा कविन पर कहै न जाना ।। निज परिताप द्रवै नवनीता। पर दु:ख द्रवै संन्त सुपुनीता ।। मक्खन स्वयं गर्मी पाकर पिघलता है, सन्त हृदय अपने दु:ख से नहीं, दूसरे के दु:ख से पिघलता है। जिस तरह की मृदुता दुनियाँ चाहती है और पाती है, उससे कैसा अनर्थं परिपाक होता है यह देश और दुनियाँ के सामने है, छिपा नहीं है।

महान् चिन्तक श्री बर्ट्रेण्ड रसेल ने एक जगह शिकायत की है कि धार्मिक लोग प्राय: न दुनियाँ का सुख उठा सकते हैं, न दूसरों को उठाने देते हैं। यह बात सच्चे सन्तों पर लागू नहीं होती—

'पर दु:ख दु:ख सुख सुख देखे पर। (रा०च०मा०) यह सन्तों का लक्षण है। यदि किसी को किसी दूसरे का लौकिक सुख देखकर दुख या डाह होती है तो उसकी आसक्ति का ही यह प्रमाण है, अर्थात् रागद्वेष निर्मूल नहीं हुआ। श्री सौभरि ऋषि मछलियों को देखकर पारिवारिक जीवन के सुख में प्रवृत्त हुए परन्तु समर्थ स्वामी रामदास जी विवाह मण्डप में सावधान हो गये और विवाह को त्यागकर चल दिए, फिर कभी विवाहित जीवन को अधिक सुखी नहीं माना। रागद्वेष रहित चित्त वाले यही चाहते हैं कि दुनियाँ की स्पृहा रखने वालों को दुनियाँ के भोग मिलें, अपने लिए वे सन्तुष्ट हैं, भोगेच्छु नहीं। यह उदार वृत्ति तृष्णा के त्याग के बिना नहीं बन सकती। तृष्णा यदि निर्मूल न हुई तो रागद्वेष की लहरें पुन: जोर से उठ सकती हैं। यह लहरें अनुकूल संग पाकर बात की बात में समुद्र बन जाती हैं (ना०भ० सूत्र)। इसलिए कच्चा साधक भवसागर के जहाज का काम नहीं कर सकता। यदि कहीं भी वासना रूपी छिद्र (छेद) है तो पानी भर सकेगा। उस दशा में डूबते हुओं को बचाने के कार्य हेतु ऐसा जहाज नहीं भेजा जा सकता है। उसके स्वयं डूब जाने की आशंका का पहले निवारण होना चाहिए।

तृष्णा थोड़ी भी हो तो सहसा बहुत बढ़ सकती है, कालक्रम से बूढ़ी और कमजोर नहीं होती—तृष्णा न जीर्णा वयमेव जीर्णा।(भर्तृहरि) मनुष्य के बुढ़ापे में उसकी तृष्णा जवानी पर देखी गई है। आध्यात्मिक उद्धार कार्य करने वाले के लिए पहले तृष्णा का निर्मूल करना आवश्यक है।

श्री गोस्वामी जी ने तृष्णा त्याग के साथ साथ शील, सन्तोष का ग्रहण भी आवश्यक बताया है। आर्जव (सरलता) (गीता १६.१) तथा मार्दव (मृदुता) (गीता १६.२) दैवी सम्पत्ति के लक्षण हैं। ऋजुता, सरलता, निष्कपट व्यवहार सच्चे सन्त का सहज लक्षण है, सन्त विरोधी को भी धोखा नहीं देना चाहते। 'नवम सरल सब सन छल हींना। (रा०च०मा०)। मृदु व्यवहार, आतंक रहित, दर्परहित, अभिमान रहित, दीनता सहित, माधुर्यपूर्ण, सुखद व्यवहार, (जहाँ तक वह धर्म का विरोधी न हो) शील का अनिवार्य अंग है। दुनियाँ वाले सज्जनता में सन्तों की बराबरी नहीं कर सकते। फिर यह भी है कि दुनियाँ वालों की सज्जनता दिखावटी शिष्टाचार मात्र सिद्ध हो सकती है जबकि सन्त की सज्जनता सहज और स्वाभाविक गुण है, निरत निरन्तर सज्जन धर्मा। (रा०च०मा०) सन्त की सज्जनता स्वार्थ प्रेरित या तात्कालिक कारणों से नहीं होती, अत: वह निरन्तर बनी रहती है।

सन्तों में राजनैतिक दाँव पेंच नहीं होता, दक्षता व सतर्कता तो मिल सकती है पर कपट छल नहीं होता। इसलिए उनकी व्यावहारिक सफलता एक सीमा तक उनके शील पर निर्भर है। शील गुण के धनी सन्त अधिक लोकप्रिय होते हैं, उनकी छाप लोगों के दिलों पर अधिक पड़ती है, और इसलिए उनके द्वारा उद्धार कार्य भी अधिक सक्षमता से हो जाता है। इस प्रकार जहाज के रूप में उनकी कार्य क्षमता अधिक होती है।

सन्तोष गुण का भी महान् उपयोग है। 'सन्तोषादनुत्तम सुख लाभः' (योगसूत्र)। कोउ विश्राम कि पाव तात सहज सन्तोष बिनु। (रा०च०मा० उत्तरकाण्ड)। बिनु सन्तोष न काम नसाहीं। काम अछत सुख सपनेहु नाहीं ।। (रा०च०मा०) उदित अगस्त्य पंथ जल सोषा। जिमि लोभहि सोखइ सन्तोषा ।।

समन्तात् तोषः स सन्तोषः, जिसकी भली भाँति (पूर्ण) तृप्ति है वह सन्तोष युक्त है। जिसे इस प्रकार की सम्यक तृप्ति नहीं है, वह अपनी तृप्ति की फिक्र छोड़कर दूसरों की निष्काम सेवा कैसे करेगा? उद्धारक कैसे बनेगा?

नृप सब भए योग उपहाँसी। जैसे बिनु विराग सन्यासी।

सन्तोष से ही वैराग्य की दृढ़ता और शोभा है। स्वार्थ के नितान्त त्याग से ही जीव मुक्त हो सकता है, भवसागर से पार हो सकता है। ऐसे स्वार्थ त्याग की प्रेरणा वह नहीं दे सकता जिसका स्वार्थ अभी कुछ बाकी है, नितान्त अस्त नहीं है। अतः सन्तोष का गुण भी अनिवार्य है।

राग का अन्त, द्वेष (रोष) का अन्त, तृष्णा का त्याग, शील गुण का प्रावल्य, सन्तोष की दृढ़ भूमिका, यह सब गुण जिस किसी सन्त में दृढ़ हों वह इस जगत् में जहाज की तरह है अर्थात् उसका आश्रय लेकर जीव सरलता से णवसागर से पार हो सकता है।

———————

शील गहनि सबकी सहनि, कहनि हीय मुख राम।
तुलसी रहिए एहि रहनि, सन्त जनन को काम ॥१७॥

स्वयं शीलवान् रहते हुए सबकी कठोर वाणी व व्यवहार को सहन करते रहना, मन में और मुख से भी सदा भगवन्नाम लेते रहना—श्री तुलसीदास जी की सम्मति में यही सन्त जनों कीं रहनि है, इसी प्रकार रहना चाहिए।

श्री गोस्वामी ने यहाँ पर तीन लक्षण बताए हैं जिनसे युक्त रहनि को अपनाने की संस्तुति की है क्योंकि वही सन्तों की रहनि है। श्री गोस्वामी जी की सम्मति में आदर्श सन्त में यह लक्षण पूर्णरूप से पाए जाने चाहिए। तीन लक्षण इस प्रकार हैं—

१—शील गहनि २—सबकी सहनि ३—कहनि हीय मुख राम। इनमें उत्तरोत्तर अस्मिता त्याग और अनन्य शरणागति के सोपान हैं।

अहंमन्यता अधिक होने पर शील गुण नही ठहर सकता। घमण्ड की तो यह माँग है कि और सब लोग हमारे प्रति विनयशील शिष्ट और मृदु हों, न कि हम औरों के प्रति। अपने को बड़ा औरों को छोटा समझना ज्ञान का भी विरोधी है, भक्ति का भी।

ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥
(रा०च०मा०)

प्रतिष्ठा शूकरी विष्ठा, गौरवं घोंर रौरवम् ।
अभिमानं सुरा पानं, त्रयस्त्यक्त्वा सुखी भवेत् ।।
(योग वासिष्ठ)

जो अपने में श्रेष्ठता, दूसरे में कनिष्ठता देखता है, वह सब में समान रूप से व्यापक ब्रह्म को नहीं देखता अत: ज्ञान की स्थिति से अलग है। अनन्य भक्त अपने को सेवक और सचराचर जगत् रूप में अपने प्रभु को ही देखता है, अत: उसकी दृष्टि में सबसे छोटा वही है, सब उसके पूज्य हैं।

झुका दो सर उसी को सामने आ जाय जो कोई।
कि जब सिज्दा ही करना है, तो अल्लाह सब में रहता है ।।

कर्म के क्षेत्र वालों का भी ऐसा हाल है कि अपनी श्रेष्ठता और दूहरों की हीनता देखने वाले प्रचारक, नेता, अधिकारी, सेवक, शासक आदि अभिमानवश हो जाते हैं, सेव्य जनता को हेय दृष्टि से देखने लगते हैं, मूर्ख, स्वार्थी, बेवफ़ा आदि समझते हैं, परन्तु विवशतावश उसी जनता को रिझाने के लिए तरह तरह के यत्न करते हैं और भयभीत रहते हैं कि कब पांसा पलट जाय। फिर ऐसी स्थिति आती है कि ये नेता स्वयं ही ऐसे आरोपों से ग्रस्त होते हैं और पराभव को भी प्राप्त होते हैं।

इस प्रकार कर्म उपासना ज्ञान किसी भी क्षेत्र में अभिमान के साथ अच्छा निबाह नहीं हो सकता। अभिमान हर एक क्षेत्र में साधना का घातक है। विद्या और कला के क्षेत्र में अभिमान प्रगति और लोकप्रियता का अवरोधक है। अत: अभिमान धारण करना अविवेकपूर्ण और त्रुटिपूर्ण है।

जिमि शिशु तन व्रण होइ गोसाईं। मातु विराव कठिन की नाईं।

यदपि प्रथम दुख पावै, रोवै बाल अधीर।
व्याधि नास हित जननी, गनै न सो शिशु पीर।।
तिमि रघुपति निज दासकर, हरैं मान हित लागि।
तुलसिदास ऐसे प्रभुहिं, कस न भजहु भ्रम त्यागि।।
(रा०च०मा० उत्तरकाण्ड)

सन्त अभिमान नहीं करते—

सबहिं मान पद आपु अमानी। भरत प्रान सम मम ते प्रानी।

श्री भगवान् दीन बन्धु हैं। उन्हें दीन ही प्रिय हैं, अभिमानी नहीं।

कबीर जी ने कहा है—

यह तौ घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारै भुइँ धरै, तब पैठे घर माहिं।।

खाला = मौसी।

प्रेम मार्गी साक्षात् अपना सिर काट करके जमीन पर तो नहीं रख देते परन्तु कबीर के दोहे का भावार्थ यह है कि उन्हें मरने को तैयार रहना पड़ता है। परन्तु घमन्ड को तो सिर से उतार कर जमीन पर रखना ही पड़ता है।

ते सिर कटु तूमरि सब तूला। जे न नवहिं हरि गुरु पद मूला।।

शीलवान् भगवान् का प्रिय बन जायगा क्योंकि भगवान् का अभिमान से बैर है; दैन्य से प्रेम है (ना०भा० सूत्र)। अभिमान और शरणागति परस्पर विरोधी हैं, साथ साथ नहीं निभ सकते।

जाउँ कहाँ तजि चरण तिहारे।
काको नाम पतित पावन जग, केहि अति दीन पियारे।
(वि०प०)

निदरि गनी आदर गरीब को, रीति सदा चलि आई ।
(वि०प०)

मोटो दशकन्ध सो न दूबरो विभीषन सो,
जानि परी रावरे की प्रेम पराधीनता ।
(वि०प०)

दीनता प्रभु की कृपा के लिए पहली अर्हता (योग्यता) है, अभिमान अयोग्यता है ।

राम गरीब नेवाज हैं, हौं लही न गरीबी ।
तुलसी प्रभु निज ओर ते, बनि परै सो कीबी ।
(वि०प०)

दूसरी अर्हता सहनशीलता है । सहज सहन शीलता का ही श्रेय है, विवशता के कारण सहना पड़े तो कोई श्रेय नहीं । सन्तों की सहनशीलता सहज होती है, विवशताजन्य नही ।

हानि लाभ जीवन मरन, जस अपजस विधि हाथ ।
(रा०च०मा० अयोध्याकाण्ड)

देखने में कारण कुछ भी हो, माध्यम कोई हो, सुख दु:ख प्रारब्धानुसार ही प्राप्त होते हैं ।

काहुहि दोष देहु जनि ताता । निज कृत कर्म भोग सब भ्राता ।।

सन्त इस रहस्य को जानते हैं अत: माध्यम व्यक्तियों पर रीझते खीझते नही, प्रभु प्रसादवत् सुख दु:ख को एक समान स्वीकार करते हैं, भोगते हैं ।

उनका जालिम (अत्याचारी) या करीम (करुणाकर) जो भी है, एक ही है, और वह उनका प्यारा प्रभु ही है।

हर जुलुम हर सितम गवारा है।
कह दे एक बार तू हमारा है।।

और अपने कर्मानुसार फल मिले तो सितम कैसा ? सन्त कर्मफल से बचने के लिए प्रार्थी नहीं हैं, भोग स्वीकार है। वे तो मुक्ति के भी प्रार्थी नहीं हैं। अत: जो भी सुख दु:ख होता है सहते हैं। शायद हम लोग सोचें कि दु:ख सहने का सवाल है, सुख के सहने का क्या सवाल है। परन्तु विशेषत: सन्तों के जीवन में, कभी कभी औरों के भी जीवन में ऐसे प्रसंग आते हैं, जब ज़गत् में सुखवत् मान्य किया हुआ भोग प्राप्त होता है और अनिच्छा होते हुए भी भोगना पड़ता है सहन करना पड़ता है। इसीखिए गीता जी में भी तान् तितिक्षस्व भारत २.१४.) कहा है।

जिन सन्त के आशीर्वाद से, संकल्प मात्र से दूसरों के कष्ट दूर होते देखे जा सकते हैं, वे अपना कष्ट सहते रहें, न उसके दूर होने का संकल्प करें न प्रभु प्रार्थना करें, यह अलौकिक धैर्य ही है। ऐसे सन्त कुरान शरीफ के अनुसार 'साबिर' कहलाते हैं, जो दीन परस्त (धार्मिक व्यक्ति ऐसे सन्तों के योग क्षेम का विचार करके उन्हें आवश्यक पदार्थ पहुँचाते रहते हैं, उन पर भगवान् की विशेष प्रसन्नता रहती है।

ऐसे सन्त 'तितिक्षु' हैं, तपस्वी हैं। वे एक की नहीं सबकी सहते हैं। अबोध बालक, मनचले युवक, दुष्ट जन; चोर, डाकू, पशु पक्षी सबकी सहते हैं, दुर्भावना तक किसी के प्रति नहीं रखते हैं। यही उनकी अहिंसा का उच्च सोपान है। कालक्रम से इस तपस्या का यह फलोदय होता है कि फिर कोई उन्हें नहीं सताता। परन्तु सहन करने में वे धीर और सन्तुष्ट रहते हैं। न भगवान्, न इन्सान, न राजा, न प्रजा, किसी से भी रक्षा या सहायता के प्रार्थी नहीं होते।

सुख दुःख सहौं, रहौं सदा शरणागत तोरे।

(वि०प०)

'शील गहनि' और 'सबकी सहनि' के साथ भगवन्नाम साधना की वहार है, वही शोभा है, पात्रता है।

तृणादपि सुनीचेन, तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन, कीर्तनीयः सदा हरिः॥

(श्री चैतन्याष्टक ३.)

जो तृण से भी लघु बन करके, तरु से सधिक तितिक्षु सदा हो।
स्वयं अमानी रहकर संतत, सबका मान सदा करता हो॥
कीर्तनीय उसके ही द्वारा, पावन हरि का नाम सदा है।

सन्तों की सम्मति में इस असार संसार में वैराग्यपूर्वक भजन ही एक मात्र सार है। साधारण जप पूजा ठीक से हो तो वैराग्य का कारण बनती है, असली बहार, दिव्य आनन्द उसी भचन में है जो वैराग्यपूर्वक किया जाता है किसी कामना से नहीं।

जिसे अध्यात्म के मार्ग पर अग्रसर होवा है, वह लौकिक सुख दुःखों को अपने दैहिक जीवन के मामलों को, स्वार्थो को महत्वपूर्ण नही समझता, तभी शीलवान् रहकर बर्ताव कर सकता है। जव सभी सांसारिक सुख दुःखों के सहने की तैयारी रहती है, समता में स्थिति हो जाती है, तो न कोई तृष्णा बचती है, न लौकिक अर्थ हेतु प्रार्थना होती है। जब सव कुछ प्रारब्ध जनित जानकर 'समत्व बुद्धि से सहने की स्थिति हो जाती है, तब 'सबकी सहनि' सम्भव है। यह दृढ़ वैराग्य से ही सम्भव है। इस तितिक्षा के बाद भजन में विघ्न नहीं रहता पदार्थो व परिस्थितयों में आसक्ति नहीं होती।

मायावश जीव यह सोच सकता है कि ऐसी स्थिति किसी को प्राप्त हो जाय तो फिर उसे भगवान् का नाम लेने की जरूरत ही क्या है ? परन्तु इस शंका के मूल में यह मान्यता है कि भजन करने की जरूरत सिर्फ दुनियाँ की चीजों को पाने के लिए है, समस्याओं के सुलझाने के लिए है, दु:ख को मिटाने के लिए है। असली भजन भगवान् की 'अहेतुकी' भक्ति, परा भक्ति, शुद्ध प्रेम) इन सब प्रयोजनों से अलग रहता है।

दिव्य प्रेम का जो आनन्द है, वही भजन का प्रयोजन है, अन्य प्रयोजनों के पीछे छूट जाने पर अथवा अतिक्रमित हो जाने पर, साधक के उनसे ऊपर उठ जाने पर, यह असली भजन होता है। फिर दूसरी चाह नही रहती।

सकल कामना हीन जे, राम भगति रस लीन।
नाम सप्रेम पियूष हृद, तिनहुँ किए मन मीन ।।
(रा०च०मा० बालकाण्ड)

वे हृदय से भी नाम लेते हैं, मुख से भी लेते हैं।

मुख से भगवान् का नाम लेने वाले बहुत हैं, वे सब धन्य हैं, क्योंकि भगवान् से विमुख रहने वालों से अच्छे हैं, परन्तु यह विचार उन्हें रखना चाहिए कि मन क्रम वचन से किसी भी स्तर पर, वे भगवद्विमुख न हों। यह अच्छा न होगा कि भगवान् का नाम लेते रहें परन्तु शरणागति के विपरीत लक्षण कायम रक्खें और उस दशा में सन्तुष्ट रहें। भगवन्नाम का यान्त्रिक ग्रहण और सप्रेम ग्रहण इसी प्रकार भिन्न हैं।

वैसे भाव भक्ति पूर्वक भगवन्नाम ग्रहण मुख से ही प्ररम्भ होता है। महात्मा चरणदास जी ने 'भक्ति सागर' में कहा है :—

आठ मास मुख सों जपै, सोरह मास कण्ठ जाप।
बत्तिस मास हृदय जपै, तन में रहै न पाप।।

वाणी चार प्रकार की कही गई है—वैखरी (सुनाई पड़ने वाली, बातचीत में प्रयुक्त), मध्यमा कण्ठ से निकलने वाली, पश्यन्ती हृदय से निकलने वाली, और परा (दिव्य) जो नाभि से उदित होती है। वैखरी वाणी से नाम लेने पर वह दूसरे भी सुनते हैं, उपांशु जप में ओष्ठ हिलते हैं, बाहर ध्वनि नहीं आती। पश्यन्ती में नाम ध्वनि हृदय से उठती है, परा में नाभि से। नया साधक बैखरी से ही प्रारम्भ करेगा। नाम साधकों को बहुत बार यह शौक होता है कि साधन गुप्त रखा जाय। साधन को गुप्त रखने के अनेक लाभ हैं, परन्तु नया साधक छिपाने की चेष्टा में कहीं साधन ही न छोड़ बैठे या उसे बिगड़ जाने दे यह आशंका रहती है। अतः साधना दृढ़ हो जाने पर गोपनीयता अधिक साध्य है। वाह्य साधना से ही प्रारम्भ करना विधि अनुकूल है।

राम नाम मन से भी लेना है, मुख से भी।
राम नाम मणि दीप धरु, जीह देहरी द्वार।।
तुलसी भीतर बाहरहु, जौ चाहसि उजियार।(रा०च०मा०)

जीवन यात्रा की भी कुशल, अन्तः साधना भी सफल, ऐसा भीतर बाहर दोनों ओर प्रकाश करने के लिए श्री राम नाम को मणि दीपक जीभ रूपी देहली पर मुख द्वार पर ही रखना चाहिए।

'कहनि हीय मुख राम' का द्विविधि भाव है, मुख से राम नाम लिया जाय परन्तु हृदय से भी यानी मन लगाकर, भावपूर्वक, प्रेम से, राम नाम लिया जाय, लापरवाही से नहीं। दूसरे यह कि मुख से भी राम नाम लें और सामर्थ्य प्राप्त हो जाने पर पश्यन्ती वाणी से भी राम नाम चलता रहे। सन्तों का तो यह कथन है कि श्री राम नाम की ध्वनि

तो अपने आप अखण्ड रूप से हो रही है। यदि सुनाई पड़ने लगे और मन उसी में रमा रहे, तो हीय से राम नाम होता रहेगा। इसी को अनहद (अनाहत) या अजपा जप कहते हैं।

इस प्रकार तीनों बातें (शील, तितिक्षा, राम नाम साधना) पूरी करते हुए जीवन यापन करना सन्त की रहनि है और यही श्री गोस्वामी जी को प्रिय है।

कोई कह सकता है कि यदि सभी ऐसी रहनि अपना लें तो लोक व्यवहार ही न चले। श्री गोस्वामी जी ने इस विचार के खण्डन में यहां लेखनी नहीं उठाई है, परन्तु विचारणीय है कि सन्त शब्द विरक्ति वेष धारी तक सीमित नहीं है। उसमें गृहस्थ सन्त, समाज में सक्रिय सन्त भी सम्मिलित हैं। सन्त शब्द व्यापक है, किसी जाति, वर्ण या आश्रम में आबद्ध नहीं है। उपर्युक्त शंका मायावश की जाती है। सन्त रहनि सब लोग अपना लें तो जीवन यापन कठिन नहीं होगा, सरल और पवित्र बनेगा, जीवन यात्रा चलेगी, विकृति मिटेगी।

किसी किसी को यह शंका है कि सन्त रहनि सब तो अपनाएंगे-नहीं, जो थोड़े से लोग अपनाएंगे, वे तबाह हो जाएंगे उनकी जिन्दगी दूभर हो जायगी। यह भ्रम भी ध्वस्त होना चाहिए। यह तो कोई नहीं कहता कि राज्य, शासन, दण्ड, न्यायालय, जेल, सेना आदि होनी ही नहीं चाहिए, परन्तु सन्त भगवान् के ही आश्रित हैं, शासन तन्त्र के नहीं। वह सबकी सहते हैं, रक्षा की याचना नहीं करते, परन्तु श्री राम नाम के प्रताप से ही अपने आप सुरक्षित रहते हैं।

राम नाम नर केहरी, कनक कशिपु कलिकाल।
जापक जन प्रह्लाद जिमि, पालइ दलि सुरसाल।।
(रा०च०मा० बालकाण्ड)

तथा —

फिरत सनेह मगन सुख अपने, नाम प्रसाद सोच नहिं सपने ।।
(रा०च०मा० बालकाण्ड)

सन्त रहनि रहने वालों का लौकिक जीवन (यहाँ तक कि सार्वजनिक जीवन कैसा निरापद चलता है, यह विवेकपूर्वक देखने वाले मानते हैं, दूर से देखने सुनने वाले प्राय: उसे ठीक से समझ नहीं सकते ।

यहाँ भी दृष्टि का वैपरीत्य (उलटापन) स्पष्ट है । लौकिक वृत्ति से सन्त रहनि असम्भव अथवा अशक्य प्रतीत होती है, सन्त की दृष्टि में त्राण की वही एक मात्र मार्ग है ।

बाइबिल में ईसा जी के 'पहाड़ी पर का उपदेश' में भी शील गहनि, सबकी सहनि' का ही उपदेश है । वहाँ भी यही जान पड़ता है कि उस पर चलने वाला, मर जायगा, या तबाह हो जायगा । वहुत से आलोचकों ने कहा ईसा के उपदेश बहुत ऊँचे हैं अच्छे हैं, परन्तु उन पर चलने से तबाही आएगी । प्रसिद्ध दार्शनिक टॉल्सटॉय ने इसकी हँसी उड़ाई । जिन उपदेशों के पालन से सत्यानाश की आशंका हो, वे अच्छे या ऊँचे कैसे कहे जा सकते हैं । जिन लोगों को भगवान् पर भरोसा नहीं है, जो शरणागत नहीं हैं, वे 'सबकी सहनि' के अयोग्य हैं वे न तितिक्षु हो सकते हैं, न कुरान के अनुसार 'साबिर' हो सकते हैं, न बाइबिल के पहाड़ी पर के उपदेश पर चल सकते हैं, बौद्ध या जैन धर्मानुसार भी वे अहिंसक या अपरिग्रही नहीं हो सकते । परन्तु–

उमा राम स्वभाव जिन जाना । तिनहिं भजन तजि भाव न आना ।।

'शील गहनि' से सामाजिक वैर विरोध शान्त होंगे और 'सबकी सहनि' से बदलती हुई परिस्थिति में निर्विघ्न रह सकेंगे। तब सब विकारों से रहित, भाव भक्ति सहित भगवन्नाम ले सकेंगे, भगवत्स्मरण कर सकेंगे। जगत् से विराग, राम चरण में अनुराग, ऐसी भूमिका में जो स्थिति है वही श्री भगवन्नाम आराधन की गौरवमयी स्थिति है, दिव्य आनन्द की धाम है, निरापद अखण्ड आनन्द प्रदायिनी है।

निज संगी निज सम करत दुरजन मन दुख दून।
मलायाचल हैं सन्त जन, तुलसी दोष बिहून ॥१८॥

सन्त अपने संग वालों को अपने समान बना लेते हैं, परन्तु दुर्जनों के मन का दुःख द्विगुण हो जाता है। सन्त मलयाचल (चन्दन गिरि) के समान हैं, श्री गोस्वामी जी कहते हैं कि वे दोष से रहित होते हैं।

सन्तों का यह गौरव है कि उनका संग करने से अन्य पुरुष भी उनके समान अर्थात् सन्त हो जाते हैं। इस संसार में उदार या दानी पुरुष, परोपकारी लोग बहुत से हैं, परन्तु वे दान लेने वालों को अपने समान नही बना देते, अपने से कम ही रखते हैं। राजा यदि किसी को अति प्रसन्न होकर दान दे तो बहुत सा रुपया दे सकता है, या पदार्थ, सम्पत्ति या पद दे सकता है, अपना राज्य नहीं देगा। राजा के दान से कोई उस राजा के समान नहीं बन सकता। रईस ही बन सकता है। विभिन्न उद्योग धन्धों में कलाओं आदि के क्षेत्र में यदि कोई वरिष्ठ व्यक्ति किसी कनिष्ठ व्यक्ति की सहायता करता है आगे बढ़ाता है, तो भी प्रायः यह नहीं पसन्द करता कि वह कनिष्ठ व्यक्ति उससे भी आगे बढ़ जाय। आगे बढ़े परन्तु वह संरक्षक से भी आगे बढ़ जाय, यह बात प्रायः वरिष्ठ व्यक्ति के अनुकूल नहीं पड़ती।

इतना अवश्य माना गया है कि पिता प्रायः पुत्र को अपने से भी आगे देखना चाहता है और योग्य गुरु के लिए भी यह अनुकूल पड़ सकता है कि उसका उत्तम शिष्य उससे भी आगे निकल जाय, सम्पत्ति, पद,

लोकप्रियता, योग्यता, यश आदि में उससे भी अधिक हो जाय। पुत्रादिच्छेत् पराभवं, शिष्या दिच्छेत्पराभवं ।। पुत्र से, शिष्य से, हारने की इच्छा करनी चाहिए। सत्पुत्र या सत् शिष्य से एकता का भाव रहता है जिससे उसकी उन्नति अपनी ही जान पड़ती है। भाई, मित्र, पड़ोसी आदि से इतनी एकता कठिन है। इससे राम भरत की एकता लोकोत्तर मानी जा सकती है। पृथ्वीराज चन्द्र वरदाई की मित्रता भी अनोखी ही थी।

लौकिक भावों के मानवी स्तर पर, उपकारी इतना उपकार नहीं करता कि उपकृत व्यक्ति उसके समान हो जाय या आगे निकल जाय इस सीमा के भीतर ही वह सहायता करता है।

श्री भर्तृहरि जी का प्रसिद्ध श्लोक है–

किं तेन हेम गिरिणा रजताद्रिणा वा,
यस्याश्रिताश्च तरवस्तरवस्त एव।
मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण,
कंकोल निम्ब कुटजा अपि चन्दना स्युः ।।

(नीति शतक)

सुवर्णमय उस सुमेरु पर्वत से क्या, और रजताद्रि (चाँदी के पर्वत) से क्या, जिसके आश्रित वृक्ष, साधारण वृक्ष ही रह गए। धन्य है वह मलयाचल, जिसके आश्रित कंकोल, नीम और कुटज आदि निम्न कोटि के वृक्ष भी चन्दन हो गए।

मलयागिरि का लोहा इसलिए माना कि उस पर पाये जाने वाले अन्य वृक्ष भी चन्दन की तरह सुगन्धित हो गए। उनकी लकड़ी भी सुगन्ध का काम देने लगी। 'निज गुण देइ सुगन्ध बसाई।' (रा०च० मा०)।

श्री भगवान् की यह बड़ाई है कि वह भक्ति से प्रसन्न होकर अपना स्वरूप तक दे डालते हैं। ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति। (उपनिषद्) जानत तुम्हहिं तुम्हहिं होइ जाई।

सन्त का भी यह प्रताप है कि सन्त-भक्त भी सन्त ही हो जाता है।

जिन्हें सन्त का संग है, वे सन्त हो जाते हैं। संग यानी आसक्ति सन्त में प्रेम हो तो आप भी सन्त हो जायेंगे। शास्त्र में विषयों के 'संग' को दोष बताया है, सत्यानाश का कारण है। (गीता २.६२-६३) इसकी विपरीत प्रक्रिया है–सत्संगत्वे निःसंगत्वं (शंकराचार्य)।

सन्त के प्रति आसक्ति, विषयासक्ति की काट है। अत्यन्त विषयानुरागी का सन्त के प्रति आकर्षण नहीं होता। 'बड़े भाग पाइय सतसंगा। बिनहि प्रयास होइ भव भंगा।। (रा०च०मा०) श्री शंकराचार्य जी ने भी महापुरुष की शरण को दुर्लभ और भगवदनुग्रह से प्राप्तव्य माना है। नारद भक्ति सूत्र में भी कहा है—महत्संगस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च।

पुराणों में भी संग को दोष बताया है, संग न करना चाहिए। बिना हुए न रहे तो संग सन्तों से ही करना चाहिए क्योंकि—

'संग दोष हरा हि ते।' (वे संग दोष को हरने वाले हैं)।

विषयासक्ति के लिए सन्त का संग इलाज है। इलाज (उपचार, चिकित्सा) की आवश्यकता है तो रोग है ही, परन्तु उसे मिटाने की योजना है, बढ़ाने की नहीं।

पुण्य पुंज बिनु मिलहिं न सन्ता । सत्संगति संसृति कर अन्ता ।।
(रा०च०मा०)

श्रीमद्भागवत में वृत्रासुर ने अपनी अन्तिम प्रार्थना में कहा है—

मागार दारात्मज वित्त बन्धुषु, संगं यदि स्याद् भगवत्प्रियेषु नः ।
(श्रीमद्भागवत)

श्री जड़ भरत जी ने भी उपदेश किया कि मनुष्य को चाहिए कि असंग व सत्संग से प्राप्त ज्ञान रूपी कटार से मोह को काटकर, श्री हरि के लीला के श्रवण कथन से स्मृति प्राप्त करके परमार्थ प्राप्त करें। (श्रीमद्भागवत ५.१२.१६.)

श्री गोस्वामी जी ने कहा है कि सन्त अपने संगी जनों को अपने समान कर देते हैं, अर्थात् अपने आप वे सन्त नहीं हो जाते, सन्त उन्हें सन्त बना देते हैं । इसमें सन्त की प्रसन्नता प्राप्त करने, कृपापात्र बनने की वात ध्वनित होती है । यह कल्पना ठीक न होगी कि सन्त का सम्पर्क पर्याप्त है, उनकी कृपा की आवश्यकता नहीं । सन्त यदि तटस्थ रह गए, अनुकूल न हुए, तो हम उनके सम्पर्क मात्र से सन्त नहीं हो जाएँगे । जिसे सन्त में संग(आसक्ति) है वह उनके तटस्थ भाव से सन्तुष्ट नहीं रह सकता । जिस पर हम आसक्त होते हैं उसके प्रिय बनने की चेष्टा करते हैं, उसकी तटस्थता से सन्तुष्ट नहीं रहते । सन्त सारे संसार से अनासक्त रहते हैं । हम यदि उनसे तटस्थ रहें तो हमारी भव व्याधि की, विषयासक्ति की ठीक चिकित्सा न हो सकेगी । सन्त के प्रति आसक्ति ही जगदासक्ति की काट है, वह होनी ही चाहिए । जो जगत् में आसक्त है सन्त के प्रति तटस्थ है वह सन्त का संगी है ही नहीं, वह सन्त कैसे बनेगा ? जो सन्त के चरण कमलों में प्रेम करेगा उसकी जगदासक्ति क्षीण होगी । वह सन्त का कृपापात्र बनेगा । उसका अन्तःकरण सन्त के

उपदेश को धारण करने योग्य बनेगा। फिर सन्त के चरित्र से, आदर्श से, उदाहरण से वह प्रेरित होगा। सन्त के उपदेश से भी वह जगत् की असारता, क्षण-भंगुरता, विकरालता आदि को समझ जायगा और उसे भगवत् प्रपन्न जीवन की आवश्यकता तथा उपादेयता, यहाँ तक कि अनिवार्यता भी लक्षित हो जायगी। तब वह स्वयं जगत् से अनासक्त और भगवान् में आसक्त हो जायगा। तब वह भी यही रहनि बना लेगा कि 'शील गहनि, सबकी सहनि' कहनि हीय मुख राम।' अर्थात् वह स्वयं सन्त हो जायगा। यही, 'निज सगी निज सम करत' का रहस्य है।

दूसरी बात है, 'दुर्जन मन दुख दून।' दुर्जनों के मन में दु.ख दूना हो जाता है। जैसे साफ शब्दों में 'निज़ संगी, निज सम करत', कहा गया, वैसे ही 'दुरजन दु:ख दूनो करत' नहीं कहा गया। सन्त किसी के दु:ख को दूना नहीं करते, किसी को कुछ भी दु:ख नहीं देते। इसलिए यही अर्थ ठीक है कि दुर्जनों के मन का दुख दूना हो जाता है, न कि सन्त उसे दूना कर देते हैं।

सन्त पूरे अहिंसक होते हैं, किसी का बुरा नहीं चाहते। 'अरिहु का अनभल कीन्ह न रामा।' (रा०च०मा०) इसी प्रकार सन्त अपने विरोधी का भी दु:ख नहीं चाहते।

स्वर्गीय श्री जमनालाल बजाज का एक चरित्र है। उनका एक विरोधी था, वह सदा उनकी निन्दा करता था। परन्तु श्री बजाज उसके विरोधी नहीं थे। वे उसकी कुशल मंगल की खोज खबर रखते थे। एक बार वह बहुत बीमार था। अस्पताल में पड़ा था। श्री बजाज उसे देखने गए। उससे मिले, उसकी तबियत का हाल पूछा। उसने अपनी बीमारी गम्भीर बताई। श्री बजाज ने उसे धीरज रखने व भगवान् पर भरोसा रखने की सलाह दी। उसे सान्त्वना दी। फिर उससे पूछा—आपको किसी बात

की (विशेष) चिन्ता तो नहीं है। वह बोला, 'एक चिन्ता है। मैंने आपके विरुद्ध एक पुस्तक लिखी है, उसके प्रकाशन के लिए अर्थ (धन) का अभाव हैं। यदि मै इस बीमारी में मर गया तो वह अप्रकाशित रह जायगी।' श्री बजाज ने पूछा, 'उसे प्रकाशित करने में कितना खर्च लगेगा?' उसने ५००० रुपए बताए। श्री बजाज ने घर जाकर पाँच हजार रुपए का एक सील मुहरबन्द पार्सल बनाया और अपने पुत्र को देकर उसके पास वह पार्सल अस्पताल में रोग शय्या पर भेज दिया। पुत्र पार्सल देकर लौट पड़ा। वह विरोधी ५००० रुपए पाकर द्रवित हो गया, रो पड़ा। सन्त तो यह चाहते हैं कि–

सर्वे भवन्तु सुखिन:, सर्वे सन्तु निरामया:।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दु:खभाग्भवेत्॥

सभी सुखी हों, सभी निरोग हों, सभी का कल्याण हो किसी को दु:ख न हो।

सन्त दुर्जनों के दु:ख को दूना नहीं करते, मिटाना ही चाहते हैं, तो फिर वह दूना कैसे हो जाता है? इसी में मर्यादा का रहस्य भरा है। निज संगी को निज सम' करने में तो सन्त कृपा का हाथ है, परन्तु दुर्जनों के दु:ख को दूना करने में सन्त के कोप, श्राप, अप्रसन्नता, या खिन्नता का हाथ बिल्कुल नहीं, क्योंकि सन्त इन अनिष्टकर भावों से परे हैं। फिर दर्जनों का दुख दूना कैसे हो जाता है? इसको समझ लेने से यह बात स्पष्ट हो जायगी कि सन्त का संग भी विधि और मर्यादा के अनुकूल करना चाहिए, अन्यथा अनिष्ट की आशंका है।

सासारण मनुष्य को जो यह भय है कि 'शील गहनि, सबकी सहनि' वाली रहनि अपनाने से महान् अनिष्ट की प्राप्ति होगी, वह विशेषत: इसीलिए हैं कि शील और तितिक्षा का अनुचित लाभ उठाने के लिए

दुष्टजन प्रवृत्त हो सकते हैं। सज्जन लोग तो शील निधान हैं औरतितिक्षु सन्तों को कोई कष्ट नहीं देना चाहते, परन्तु दुष्ट जन इन गुणों के कारण अपमान, विरोध, प्रतिरोध, प्रपंच आदि कर सकते हैं, क्योंकि सन्त प्रतिकार नहीं करते। जहाँ इस प्रकार का दुराचरण किया जाता है, वहाँ ऐसा दुराचारी सन्त का संगी नहीं है, अपराधी है। इसलिए वह सन्त बनने के स्थान पर अपने पापों का फल भोगेगा, दुःख भाजन होगा। इस प्रकार उसका दुख बढ़ जायगा। इस दुःख वृद्धि में सन्त का कोई हाथ न होगा। इसलिए शास्त्र का आदेश यही है कि सन्तों के पास विनयपूर्वक, विनत होकर, मर्यादानुसार ही जाना चाहिए, दर्पाभिमान, चुनौती आदि भावों को लेकर नहीं। अविवेकी यह समझता है कि सन्त अप्रतिकारी हैं, अतः उनसे दुर्व्यवहार करना निरापद है, दूसरों से दुर्व्यवहार करने में आशंका है। विवेकी की दृष्टि इससे विपरीत है। उसे पता है कि अप्रतिरोधी व अक्रोधी सन्त का अपराध करना विशेष भयावह है, वह गुरुतर पाप है जिसका फल अधिक भयावह होता है। अतः सन्त के प्रति अधिक विनयशील होना आवश्यक है।

सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। निज अपराध रिसाहिं न काऊ।।
जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सो जरई।।
(रा०च०मा०)

सन्त के दरबार में अत्यन्त सावधानी से जाना चाहिए, क्योंकि जाने या वेजाने उनका अपराध बन सकता है और—

मुनि तापस जिनते दुःख लहहीं। ते नरेश बिनु पावक दहहीं
(रा०च०मा०)

भक्त या सन्त आपका अनिष्ट चिन्तन भी न करें तो भी उनका अपराध करने से महान् अनर्थ की प्राप्ति हो सकती है, इसका प्रवल

उदाहरण अम्बरीष दुर्वासा की कथा में मिलता है। महर्षि च्यवन की कथा में भी ऐसा उदाहरण प्राप्त है। सच्चे सन्त भगवान् की शक्ति से सुरक्षित हैं, यह सुरक्षा व्यवस्था साधारण दृष्टि से दिखाई नहीं देती परन्तु उनकी सुरक्षा के विरुद्ध आचरण करने वाले को उस व्यवस्था और शक्ति का प्रमाण मिल सकता है, दुर्गति भुगतनी पड़ सकती है। अतः अपने पूरे दर्पाभिमान, अविवेक, प्रमाद आदि के साथ सन्त के पास जाना ठीक नहीं, विनय, मर्यादा, विवेक, श्रद्धा, प्रेम, सेवाभाव के साथ जाना चाहिए।

दुर्जनों के लिए सन्त के पास जाकर अपना दुःख बढ़ा लेने का सिलसिला कई तरह से बनता है, इसलिए बहुत सावधानी से सन्त के प्रति बरतना चाहिए कि कोई अपराध न हो जाय। एक राजा या अफसर या डाकू के सामने हम जितने सावधान व विनयशील रहते हैं, उससे अधिक सन्त के सामने रहना चाहिए, क्योंकि सन्त भगवन्त में कोई अन्तर नहीं है। (वि०प०) सन्त के सम्पर्क में हम मोक्ष भी कमा सकते हैं, पुण्य भी कमा सकते हैं, परन्तु पाप भी खूब कमा सकते हैं। इसलिए 'दुर्जन मन दुख दून' में एक चेतावनी है, सर्तकता का उपदेश है।

लापरवाही से सन्त सम्पर्क करने पर हम बहुत आसानी से सन्त निन्दक बन जाते हैं। सन्त की निन्दा महान् अपराध है। श्री गुरुनानक जी ने भी सन्त निन्दा को महान् अपराध माना है जिससे जन्म ज़न्म तक मायावश भटकना पड़ता है। यह सही है कि सन्तों के प्रति आकर्षण भी अपने अपने संस्कारानुसार होता है, परन्तु यदि हम आकर्षित न हों तो भी निन्दक न बन जायँ, इसकी बड़ी सावधानी रखनी चाहिए।

सत्पुरुषों की निन्दा प्रथम नामापराध माना गया है, जिनके द्वारा भगवन्नाम की ख्याति हुई, उन्हीं सन्तों की निन्दा नाम कैसे सह सकता है? दस नामापराधों के उल्लेख में पुराणों में ऐसा वचन मिलता है—

सतां निन्दा नाम्न: प्रथममपराधं वितनुते ।
यत: ख्यातिर्यातां कथमुपसहते तद्विगर्हाम् ।।

दूसरी आशंका यह है कि यदि हम अच्छी भावना लेकर सन्त के पास जायँ तो भी रहन सहन व दृष्टिकोण का भारी भेद तो रहता ही है। अविवेक या प्रमादवश हम सन्तों के नियमों को बड़ी आसानी से दिखावा, ढोंग, दकियानूसीपन, अन्ध विश्वास, संकीर्णता आदि के रूप में ले सकते हैं। क्या हम सन्तों को ठीक राह पर लगाने के लिए जाते हैं ? या इसलिए कि वे हमें ठीक राह पर लगाएँ ?

यह बात दूसरी है हर एक सन्त पर हमारी श्रद्धा नहीं उमड़ेगी, हर एक की विचारधारा या साधन पद्धति हमारे अनुकूल नहीं होगी, परन्तु हमें सोचना चाहिए कि हम सन्त के पास परीक्षा लेने जाते हैं या परीक्षा देने जाते हैं। हम उनके निर्णायक हैं, या वे हमारे निर्णायक हैं ? जब तक हम सन्त के निर्णय को मानने की भूमिका में नहीं होंगे, सन्त बनने की प्रकिया प्रारम्भ नहीं होगी। बाइबिल में कहा है, 'दूसरों का निर्णय मत करो कि कहीं तुम्हारा ही निर्णय न हो जाय। (मैथिउ ७.१) सन्त के दरबार में इसलिए जाना ही नहीं चाहिए कि हम वहां का हाल चाल देखकर उनके सच्चे या ढोंगी होने का निर्णय करेंगे। जैसे कोई डाक्टर चिकित्सा के लिए हमें अनुकूल न पड़े तो उससे इलाज न कराएँ, परन्तु वह अयोग्य है ऐसा निर्णय देने का हमें अधिकार नहीं है, वैसा ही सन्तों के विषय में समझना चाहिए।

एक मूर्खता यह भी होती है कि किसी सन्त के यहाँ जाकर उनके नियमों को व्यर्थ या अनावश्यक समझकर भंग करना। हम अपने निवास में जो मर्यादाएँ रखते हैं, उनके विरुद्ध दूसरों का आचरण पसन्द नहीं करते, वैसा ही सन्तों का अधिकार मानना चाहिए। हमारी समझ में

आए या न आए, सन्त के आश्रम में जाकर वहाँ के नियमों के अनुसार ही बरतना चाहिए। इसके विरुद्ध आचरण करना हमारी अनाधिकार चेष्टा होगी। इसलिए बहुत सावधान रहना चाहिए कि हमारे द्वारा सन्त के आश्रम की मर्यादा भंग न हो।

इसी प्रकार यह अविवेकपूर्ण है कि सन्त के समय का मूल्य न समझा जाय। अपने को बड़ा कामकाजी और सन्त को बहुत ख़ाली (कार्य रहित) समझना, उच्च कोटि की मूर्खता है। वस्तुतः हम पामर सांसारिक जीव समय को (अपने जीवन को) नष्ट करते हैं, सन्त एक एक मिनट सार्थक करते हैं। इसलिए सन्तों का समय व्यर्थ की बकवास द्वारा या कोरे वाद विवाद द्वारा नष्ट नहीं करना चाहिए। आत्म कल्याणार्थ प्रश्न पूछना और उपदेश ग्रहण करना भी तभी सार्थक है, जब हमारी यह तैयारी हो कि बताए और समझाए हुए साधन को करेंगे।

कम से कम जिन सन्त पर हमारी श्रद्धा हो, उन्हें तो अध्यात्म के विशेषज्ञ के रूप में लेना चाहिए और यह कल्पना नहीं करनी चाहिए कि उनके पास बहुत सा व्यर्थ का समय है, जो हम नष्ट कर सकते हैं। सन्तों का एक भी क्षण हमारे कारण नष्ट न हो, ऐसी सावधानी रखनी चाहिए।

बहुत बड़े डाक्टर के पास आपके इलाज के लिए (अपनी शर्तों पर) समय है, पर आपके रोग, निदान, चिकित्सा आदि पर आपसे बहस के लिए समय नहीं है। बहुत बड़े वकील को अपने हाथ में लिए हुए वाद पर भी विशेष बातचीत की सुविधा नहीं रहती, क्योंकि वह सम्बद्ध विन्दुओं पर ही केन्द्रित रहना चाहता है, व्यर्थ की बकवास या इतिहास सुनने की उसे फुरसत नहीं। एक बार भारत सरकार के महाधिवक्ता को उत्तर प्रदेश सरकार की ओर से सर्वोच्च न्यायालय में

किसी प्रकरण में पक्ष प्रस्तुत करना था। उ०प्र० सरकार ने एक पी०सी०एस० अधिकारी को सब भत्ता आदि देकर दिल्ली भेजा कि वे महाधिवक्ता जी को प्रकरण समझा दें। वे गए। दिल्ली में पहुँचकर अधिकारी ने महाधिवक्ता से मिलकर प्रकरण परिचय देना चाहा। उनसे कहा गया कि आप महाधिवक्ता जी से नहीं मिल सकते। आप उपलब्ध रहें, वे स्वयं आपसे कुछ पूछना चाहें तो उतना आप बता दें। इस प्रकार हम देखते हैं कि अपने ही मामले में भारी फीस चुकाने के बाद भी हम विशेषज्ञ के समय को बरबाद करने का क्वचित अधिकार नहीं पाते। सन्त का बाहरी टीम टाम कुछ भी न हो परन्तु वे चोटी पर के डाक्टर या वकील से अधिक आदरणीय हैं, उनके समय का मूल्य भी अधिक है। निम्न कथा से यह बात और भी स्पष्ट हो जायगी।

एक रईस अपनी सवारी पर कहीं से लौटकर अपनी कोठी पर आ रहे थे। फाटक पर पहुँचकर उन्होंने देखा कि पास ही एक फकीर कंकड़ों पर पड़ा था। सर्दी भी पड़ रही थी। उन्होंने सोचा कि इसके लिए कुछ बिछाने ओढ़ने को भिजवा दें। कोठी के अन्दर पहुँच कर वे भूल गए और खा पीकर सो गए। प्रातः उन्हें याद आ गई तो एक नौकर से कहा—'कल फाटक के पास एक फकीर कंकड़ों पर पड़ा था। देखो है या चला गया।' नौकर ने बताया कि वह अभी है। रईस स्वयं गए और फ़कीर से कहा—'आप रात भर कंकड़ों में पड़े रहे, सर्दी भी थी। मैंने देखा था और सोचा था कि कुछ बिछावन ओढ़न भेज दूँ, परन्तु भूलगया, क्षमा कीजिये। कहिए रात कैसे कटी ?' फकीर ने कहा, कुछ आपके बराबर कटी, कुछ आपसे अच्छी कटी।' रईस, ने पूछा, 'यह कैसे ?' फकीर ने उत्तर दिया, जितनी देर हम और आप दोनों सोते रहे, अमीरी गरीबी, कंकड़ बिस्तर का भेद प्रभावशाली नहीं रहा इसलिए बराबर कटी। जागते में आप क्या सोचते रहे ? दुनियाँ की समस्याएँ, झंझट ? मैं भगवच्चिन्तन करता रहा। इसलिए सोते समय बराबर कटी, जागते समय हमारी

आपसे अच्छी कटी ।' रईस लाजबाब हो गए । सन्त यदि अकिंचन हैं तो भगवच्चिन्तन के लिए । इसलिए उन्हें अखण्ड चिन्तन का अधिकार है, हम उसमें बाधक न बनें ।

उपर्युक्त के समान अन्य बातें भी हैं, जिनका विचार न करके प्रमादवश हम सन्त के अपराधी बन सकते हैं । फिर हमारे ही पाप से हमारा दुख दूना हो सकता है, उसमें सन्त के नाराज़ होने या श्राप देने की आवश्यकता नहीं है ।

'दुर्जन मन दुख दून' का ऊपर सरल अर्थ लिया गया है, दून = दुगना । यह गीता प्रेस को भी मान्य है । परन्तु सन्तवर श्री कान्तशरण जी ने 'दून' को भस्म करने के अर्थ में लिया है और यह अर्थ समझाया है कि सन्त दुर्जनों के मन के दुःख को भस्म कर देते हैं (दूर कर देते हैं) । कभी कभी इसके बड़े प्रबल उदाहरण मिले हैं कि सन्तों के प्रभाव से दुर्जनों की दुष्टता भी छूटी, दुःख भी मिटे । तथापि पूर्वोक्त अर्थ छन्द ८ के प्रकाश में तथा मर्यादा का पोषक होने से श्री गोस्वामी जी के मन्तव्य के अधिक अनुकूल प्रतीत होता है ।

दुर्जनों में सन्तों से डाह करने वाले भी सम्मिलित हैं । यह अनेक उपाय करके भी सन्तों के यश को नहीं मिटा पाते, कभी कभी तो ये सन्तों के यश को बढ़ाने का कारण बन जाते हैं, जिससे उनका अपना दुख और भी बढ़ जाता है ।

कबीर साहब ने कह रक्खा है, 'निन्दक नेरे राखिये, आँगन कुटी छवाय ।'

तृतीय चरण में सन्त जनों को मलयाचल के समान कहा है । मलयाचल = मलयगिरि = चन्दन वन वाला पर्वत । मलयाचल में चन्दन

के वृक्ष हैं, पूरा चन्दनवन है। इसमें तीन गुण हैं शीतलता, सुगन्ध, अन्य वृक्षों की लकड़ी को भी सुगन्धित कर देना। सन्त में भी यह तीन गुण हैं, अतः वे मलयाचल हैं।

शीतलता का अर्थ वरफ़ वाली ठंडक नहीं है। विचारवान ज्ञानी के हृदय में चन्द्रमा की सी शीतलता रहती है। (योग वासिष्ठ) शीलग्रहण के कारण सन्त शीतल हैं। शोक, क्रोध, मत्सर आदि विकारों से नितान्त मुक्त अन्तःकरण शीतल माना गया है क्योंकि परितप्त नहीं होता। यह ऐसी शीतलता है कि दूसरे अन्तःकरणों के विकारों की ज्वाला को भी शान्त कर देती है।

सन्त दूसरे को भी शीतलता प्रदान करते हैं। इस शीतलता को आगे छन्द २१ तथा ४७,४८ में समझाया है। छन्द ५६ में भी शीतलता का उल्लेख है। परन्तु कवि ने छन्द ४९ में शीतलता की परिभाषा दी है। अतः आगे यथा स्थान शीतलता पर और भी विचार किया जा सकेगा।

चन्दन का दूसरा गुण सुगन्ध है। सन्त जीवन में पुण्य है, यश है, शान्ति है, विषय रस से रहित दिव्य आकर्षण है, यही उसकी मनोहारिणी सुगन्ध है। सन्त का हृदय कमल विकसित है, अतः इसका जीवन सुगन्धमय है, सुपात्र के लिए। बाहर से वह जीवन कितना ही अनाकर्षक लगता हो, परन्तु उसकी सुगन्ध अधिकारियों को आकर्षित करती है। श्री रामकृष्ण परमहंस जी ने कहा है कि कमल का खिल जाना ही काफ़ी है, उसके अतिरिक्त उसे कोई और विज्ञापन नहीं करना पड़ता, योग्य (सुपात्र) भ्रमरगण स्वयं ही लाभ उठाने के लिए पहुँच जाते हैं। इसी प्रकार सुपात्र साधक भी गुरु के पास पहुँच जाते हैं।

सन्त मलयाचल हैं, उनकी शीतलता व सुगन्ध से प्रभावित अन्तःकरण शान्त और सुखी हो जाता है और विषय विकारों से ऊपर

उठ जाता है। वाह्य परिस्थितियों से अप्रभावित रहने का गुण उसमें आने लगता है। अर्थात् वह सन्त हो जाता है।

सुगन्ध का उल्लेख इसलिए भी उपयुक्त है कि सन्तों की एक राजयौगिक दशा है जब उन्हें विपुल सुगन्ध का अनुभव होता है। उन्हें कमरे भर में सुगन्ध भरी हुई जान पड़ती है। दूसरों को उस कमरे में सुगन्ध भरी हुई नहीं मालूम होती। सन्तों के संग से जिस किसी अन्य के चक्र बिंध जायेंगे, कमल खिल जायेंगे वह भी सुगन्ध का अनुभव करेगा। यह भी वही चन्दन के संग से चन्दन बन जाने की बात है। इसके लिए मलयाचल मशहूर है।

सन्तों को दोष रहित कहा है। मलयाचल के गुण सन्तों में पाये जाते हैं, परन्तु मलयाचल के यदि कुछ दोष हैं तो वे सन्तों में नहीं पाये जाते।

मलयाचल के बारे में यह मान्यता है कि चन्दन वन में शीतलता के लोभ से सर्प आकर चन्दन के वृक्षों की जड़ों के पास तनों से लिपटे रहते रहते हैं। यह चन्दन वृक्ष का गौरव माना जाता है कि सर्पों के लिपटे रहने पर भी उनका विष चन्दन वृक्षों में व्याप्त नहीं होता।

चन्दन विष व्यापत नहीं, लिपटे रहत भुजंग।

सच्चे सन्तों के दरबार में दुष्ट भी पहुँचते हैं। उनकी निकटता से लाभ उठाते हैं। कुछ तो वे सन्तों के पास जाने की ही नेकनामी कमाते हैं, कुछ इस सम्पर्क के कारण चतुराई से समाज के अन्य क्षेत्रों में लाभान्वित होते हैं। सन्तों के आशीर्वाद को प्राप्त करके भी समाज में लाभ उठाते हैं। इस सबके बारे में बहुत से विवेकियों या सत्पुरुषों को शिकायत भी होती है। दुर्जन सन्त शक्ति का प्रयोग कर्म सिद्धान्त को

काटने में करना चाहते हैं। कभी कभी इसमें तात्कालिक सफलता भी दिखाई देती है, परन्तु कर्म विपाक की गति अत्यन्त रहस्यमय है। सन्तों की कपट पूर्वक संगति करने का भी फल परिपाक होता है। पहले ही कह चुके हैं, 'दुर्जन मन दुख दून। दुर्जनों का सन्तों के साथ जो सम्पर्क है वह ऐसा ही है जैसे सर्पों का चन्दन के वृक्षों में लिपटे रहना।

चन्दन की प्रशंसा यह है कि सर्पों के लिपटे रहने पर भी सर्पों का विष चन्दन में नहीं आता। यह ठीक है कि 'संसर्गजा दोष गुणा भवन्ति।' परन्तु सच्चे सन्त दुष्टों के आते जाते रहने पर भी दोष से लिप्त नहीं होते। यदि उनके कारण परिस्थिति में कुछ विषमताएँ और जटिलताएँ पैदा हों तो उनसे भी सन्त प्रभावित नहीं होते, अपना गुण स्वभाव नहीं छोड़ते। (यद्यपि निरापद मार्ग यही है और सन्त प्रायः इसका विचार रखते हैं कि वे दुष्टों के संरक्षक न बन जायँ।) प्रतिकूल परिस्थिति में भी सच्चे सन्त अपने गुण स्वभाव का अनुसरण करते हैं। ऐसे पक्के दुष्ट भी मिलते हैं जो सन्त के साथ से भी अपनी दुष्टता नहीं छोड़ते।

खलहुँ करहिं भल पाइ सुसंगू। मिटइ न मलिन स्वभाव अभंगू।।
(रा०च०मा०)

विधि बस सुजन कुसंगति परहीं। फनि मनि सम निज गुन अनुसरहीं।।
(रा०च०मा०)

सन्त की यह बड़ाई है कि वह दुर्जन के सम्पर्क से दुर्गुणी नहीं बनता, परन्तु दुष्ट प्रायः देर सबेर कुछ न कुछ सुधरता है। इस दृष्टि से सन्त शक्ति दुष्ट शक्ति से बलवती सिद्ध होती है।

यह तो मलयाचल का गुण पक्ष है कि सर्पों के संसर्ग से चन्दन वृक्षों में विष व्याप्त नहीं होता, परन्तु सर्पों के लिपटे रहने से दूसरों को

चन्दन का लाभ लेने में, पहुँचने में, रुकावट होती है, भय लगता है। उसी सीमा तक सन्तों के संग में दुष्टों के कारण भले आदमियों को बाधा का अनुभव नहीं होता, क्योंकि दुष्ट सन्तों के सम्पर्क क्षेत्रमें दुष्टता नहीं करना चाहते। यदि अन्य लोग सन्त संग के अतिरिक्त दुष्ट सग भी करेंगे, तो उसका अशुभ परिणाम होगा ही। इस प्रकार सन्त (मलयाचल से भी अधिक) निर्दोष हैं।

चन्दन वन के अन्य पेड़ भी चन्दन की सुगन्ध पा जाते हैं। सुगन्ध उनमें बस जाती है। उनकी लकड़ी को भी घिसकर सुगन्धित लेप प्राप्त किया जा सकता है और लगाया जा सकता है, तथापि ऐसे अन्य वृक्ष हर प्रकार से चन्दन नहीं बन जाते। नीम का पेड़ चन्दन की खुशबू तो पा जायगा, परन्तु वह स्वरूप से नीम ही रहेगा। नीम के सारे गुण छोड़कर चन्दन के समस्त गुण नहीं धारण करेगा। रहेगा वह नीम ही। सुगन्धित नीम हो जायेगा। चन्दन वन के दूसरे वृक्ष चन्दन हो जाते हैं, यह पूरी तरह सच नहीं है। वे पूरी तरह चन्दन नहीं हो पाते। यह कमी है। सन्तों के सम्पर्क में आने वाले सब लोग भी पूरे सन्त नहीं बन पाते। जीवन में कुछ सुगन्ध प्राप्त करके रह जाते हैं। परन्तु सन्तों का संग करने वाले, मलयागिरि के वृक्षों की तरह चौबीस घण्टे उनके प्रभाव में रहने वाले, सच्चे अर्थ में उनके अनुगत शिष्य, पूरी तरह सन्त हो जाते हैं संस्कार, रुचि, दिनचर्या, वेषभूषा, व्यवहार आदि के व्यक्तिगत भेद तो रहते हैं, परन्तु सन्तों के लक्षण पूरी तरह विकसित हो जाते हैं। मलयाचल में जो कमी है वह सन्तों में नहीं।

चन्दन के अतिरिक्त अन्य वृक्ष जो चन्दन वन के प्रभाव से सुगन्ध पा गए हैं, चन्दन हो गए हैं, दूसरे वृक्षों को चन्दन नहीं बना सकते, परन्तु सन्त अपने प्रभाव से जिन्हें सन्त बना देते हैं, उनमें ऐसी कोई कमी नहीं देखी जाती। तस्मात् अनेक अर्थों में सन्त दोष ररित मलयाचल हैं।

सन्तवर श्रीकान्त शरण जी ने 'दोष का अर्थ यहाँ द्वेष' लिया है, और यह माना है कि यहाँ सन्तों का द्वेष-रहित होना घोषित किया गया है। (दृष्टव्य 'सिद्धान्त तिलक' टीका)

कोमल बानी सन्त की, स्रवत अमृतमय आय।
तुलसी ताही कठोर मन, सुनत मैन होइ जाय ।।१९।।

सन्त की वाणी कोमल होती है। वह अमृतमय है कानों के द्वारा प्रवेश करके हृदय में अमृत बिन्दु टपकाती है। उस वाणी के सुनने से कठोर मन भी पिघले हुए मोम के समान कोमल हो जाता है।

सन्त की वाणी कोमल होती है। मृदु-अक्षरों के बाहुल्य से यह कोमलता नहीं, स्वरों की कोमलता भी यहाँ अभिप्रेत नहीं है। नाद की कोमलता का भी अर्थ नहीं है, शिष्टाचार की शालीनता और मृदुता से भी यहाँ मतलब नहीं है। इस प्रकार की कोमलता सन्त की वाणी में हो भी सकती है, नहीं भी हो सकती है। सन्त अपनी मातृ-भाषा में ही प्राय: बोलेंगे, उनके जीवन सन्दर्भ के अनुसार उनकी भाषा–'ग्राम्य गिरा' या नागरी भाषा, देवभाषा, या कोई अन्य भाषा हो सकती है। इस सब वाणी भेद के साथ कोमलता रहेगी। कभी कभी सन्त भीड़-भाड़ बचाने के लिए कठोर शब्द कह देते हैं। यहाँ उनके उपदेश के शब्दों की कोमलता से मतलब है। वैसे अभिप्राय शुभ और कोमल होने पर कठोर शब्द भी कोमल माने जाते हैं। विवाह में गालियाँ गाने के लिए भी नेग मिलता है। सन्त का अन्त:करण करुणार्द्र, कोमल होता है, अत: उनकी वाणी भी समझदारों के लिए सदैव कोमल ही है।

सन्तों की जिस वाणी से कठोर मन भी कोमल हो जाता है, वह उपदेश की वाणी है अथवा कभी कभी विषम परिस्थिति में भी

शान्त, उद्वेग-रहित, सत्य, प्रिय व हितकर वाणी । इस वाणी का अत्यन्त तीव्र प्रभाव होता है ।

इस दोहे के मर्म को समझने के लिए, श्रीमद्भागद्गीता के सन्दर्भ से मिलाकर विचार करना चाहिए । अर्जुन का विषाद भगवान ने हरण कर लिया । उनका उपदेशामृत कोमल वाणी का ही उदाहरण माना जायेगा। चाहे उसमें व्यंग्योक्तियाँ भी क्यों न पाई जायँ । भगवान् की प्रसाद (कृपा) मयी वाणी अर्जुन के लिए कोमल ही थी ।

विवेक की दृष्टि से गुरुजनों की फटकार भी कोमल है । और चापलूसों की मधुर वाणी भी कठोर है, वह उपहासात्मक या व्यंग्यात्मक भी हो सकती है । भयावह परिणाम ला सकती है ।

आध्यात्मिक दृष्टि से भी सन्त वाणी की कोमलता का एक रहस्य है । प्रेम से प्रभावित होने वाला हृदय कोमल माना जाता है, अप्रभावित रहने वाला पत्थर का सा कठोर माना जाता है ।

तदश्म सारं हृदयं वतेदं, यद् गृह्यमाणैं र्हरि नाम धेयैः ।
न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः ।।
(श्रीमद्भागवत २, ३.२४)

कुलिस कठोर निठुर सोइ छाती । सुनि हरि चरित न जो हरषाती ।।
(रा०च०मा०)

यहाँ भगवत्प्रेम सम्बन्धी कोमलता ही से मतलब है लौकिक श्रृंगार रस की कोमलता से नहीं । लौकिक श्रृंगार रस की कोमलता का सन्त के समक्ष कोई मूल्य नहीं । भगवत्प्रेम में द्रवित होने का ही सन्त की दृष्टि में गौरव है । सन्त की वाणी में जो कोमलता है वह भगवत्गुण गान में प्रगट होती है और अधिकारी सत्पात्र ही उसको पहचान सकते हैं और उसकी कद्र कर सकते हैं ।

सन्त की कोमल वाणी कानों की राह से अन्तःकरण में पहुँचती है और अमृत की तरह टपकती है । सन्त की आध्यात्मिक वाणी, भगवत्कथामयी वाणी, अमृतमय मानी गयी है । सब सन्त गायनाचार्य नहीं होते । अतः संगीतामृत से मतलब नहीं है, यद्यपि सन्तों में श्री हरिदास जी, श्री सूरदास जी, श्री नरसी मेहता, श्री जयदेव कवि, श्री बिल्वमगल जी आदि भी सम्मिलित हैं । सन्त वाणी को कई कारणों से अमृतमयी मान्य किया गया है ।

संस्कृत में एक श्लोक है—

अब्धो विधौ वधुमुखे, फणिनाम् निवासे,
स्वर्गे सुधा वसति सा, प्रवदन्ति चैके ।
क्षारः क्षयः पतिमृति विषमस्य पातः,
कण्ठे सुधा वसति सा भगवज्जनानाम् ।।

अमृत कहाँ है ? विभिन्न लोग अलग अलग स्थान बताते हैं। समुद्र में, चन्द्रमा में, वधू के मुख में, नाग लोक में अथवा स्वर्ग में । परन्तु कवि इन मतों को ठीक नहीं मानता ।

समुद्र में यदि अमृत है तो समुद्र खारी क्यों ?
चन्द्रमा में यदि अमृत है तो (उसकी कला का) क्षय क्यों ?
वधू मुख में यदि अमृत है तो उसके पति की मृत्यु क्यों ?
नाग लोक में यदि अमृत है तो सर्पों में विष क्यों ?
स्वर्ग में यदि अमृत है तो वहाँ से पतन क्यों ?

अतः कवि की सम्मति में सुधा (अमृत) यहाँ कहीं नहीं है । अमृत का वास भगवज्जनों के कण्ठ में है । उनकी भगवत्प्रेममयी वाणी निकलती है जिसके प्रताप से सेवन करने वालों को अमृतत्व (मोक्ष) की प्राप्ति होती है ।

जहाँ सन्त सभा होती है—

तस्मिन् महन् मुखरित: मधुमिच् चरित्र ।
पीयूष पान परित: सरित: स्रवन्ति ।। (श्रीमद्भागवत)

वहाँ महापुरुषों के मुख से मधुसूदन भगवान् के चरित्रों के अमृत से परिपूर्ण सरिताएँ प्रवाहित होती हैं, जिनके अमृत का सेवन करने वालों को भय, तृष्णा, कष्ट, मोह आदि कुछ नहीं व्यापते ।

लौकिक महत्व की वाणी को भी कविगण अमृतमयी कह देते हैं, या आसक्त पुरुष अमृतमयी मान लेते हैं, परन्तु प्रभावत: वह विपरीत गुण वाली है क्योंकि जन्म मरण के चक्कर में डालने वाली है । बिष तो एक बार ही मृत्यु का कारण बनता है, परन्तु विषयासक्ति पुन: पुन: (जन्म व) मरण का कारण बनती है । सन्तों की वाणी में विषय रस नहीं होता, भगवदामृत रस ही होता है । जन्म मृत्यु के कारण की नाशक होने से सन्त वाणी सुधामयी है ।

पिबन्ति ये भगवत आत्मन: सतां कथामृतं श्रवणपुटेषु संभृतं ।
पुनन्ति ते विषय विदूषिताशयं ब्रजन्ति तच्चरण सरोरुहान्तिकम् ।।
(श्रीमद्‌भागवत २.२.३७)

जो लोग भगवदीय जनों सत्पुरुषों से भगवत्कथामृत को प्राप्त करके, कान रूपी दोनों में भर भर कर पीते हैं, वे विषयासक्ति से दूषित हृदय को पवित्र कर देते हैं, और अन्त में भगवत् चरण कमलों को ही प्राप्त होते हैं ।

भगवत्कथा सुधा की ही यह महिमा है कि—

य: कर्ण नाडीं पुरुषस्य यातो भवप्रदां गेह रतिं छिनत्ति ।
(श्रीमद्‌भागवत)

पुरुषों के कानों पहुँचकर यह कथा भवभयदायक गृहासक्ति को काटती है।

नाथ तवानन ससि स्रवत, कथा सुधा रघुवीर।
स्रवन पुटनि मन मान करि, नहिं अघात मति धीर।।
(रा०च०मा०)

गोपियों ने भी भगवान् के विरह में विलाप करते हुए कहा कि आपके विरह से तप्त जीवों के लिए आपकी कथा अमृत है, जो उ अमृत के दानी हैं, वे इस संसार में बहुत बड़े दानीं हैं।

सन्तजन भगवत् कथा से, अपने निरूपण से, वचनामृत से मोह का हरण कर लेते हैं—

तौ प्रभु हरहु मोह अज्ञाना। कहि रघुनाथ कथा विधि नाना।।
(रा०च०मा०)

मोह नाश से ही ज्ञान प्राप्त होता है, ज्ञान से ही मोक्ष है, मोक्ष ही अमरत्व है, इसलिए भी सन्तवाणी अमृतमयी है।

श्री रूप गोस्वामी जी ने अपने ग्रन्थ का नाम रक्खा 'भक्ति रसामृत सिन्धु।' भक्ति ही अपूर्व अमृत रस का सिन्धु है। इसमें मग्न रहने वाले मोक्ष की भी इच्छा नहीं करते। श्री रूप गोस्वामी जी अपने ग्रन्थ में उन मछलियों की वन्दना की है, जो भक्ति रसामृत सिन्धु की गहराई में रहती हैं, और कुछ ऊपर आकर मुक्ति की नदियों में प्रवेश नहीं करतीं—'अप्रविष्ट मुक्ति नदीकानां।' अमृतरस मयी भक्ति सन्तों के उपदेश से ही मिलती है—

'सो बिनु सन्त न काहू पाई।'

अस बिचारि जोइ कर सत्संगा । राम भगति तेहि सुलभ बिहंगा ।।
(रा०च०मा०)

सन्तों का यह गौरव है कि अपना दु:ख सहने में पर्वत के समान धीर हैं, वज्र के समान कठोर हैं, परन्तु परदु:ख कातरता में पुष्प से भी कोमल हैं—

वज्रादपि कठोराणि, मृदूनि कुसुमादपि ।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति ।।

सन्त वाणी, उपदेश और आशीर्वाद के द्वारा दूसरे के महान् कष्ट को तत्काल दूर कर देती है, इसलिए भी अमृतमयी है ।

इस कोमल अमृतमयी वाणी का प्रभाव भी गोस्वामी जी ने दोहे में कह दिया है । इस वाणी के सुनने से कठोर मन अति कोमल हो जाता है ।

साधारणत: कठोर और कोमल वस्तु का संघात होने से कठोर वस्तु के अप्रभावित रहने की आशा है, कोमल वस्तु टूट फूट सकती है । विरोधभास के साथ सन्तवाणी का विलक्षण प्रभाव दोहे में दर्शाया गया है, यह अलौकिकता है कि सन्तवाणी कोमल है, मन कठोर है, परन्तु इनका संसर्ग होने से सन्तवाणी को कोई आघात नहीं पहुँचता, कठोर मन को ही कोमल हो जाना पड़ता है ।

कठोर मन कोमल कैसे हो जाता है ? पत्थर की तरह कठोर मन मोम की तरह कैसे हो जाता है ?

श्री गोस्वामी जी विनय पत्रिका में कहते हैं—सहस सिला ते अति जड़ मति भई है । काहि कहौं कौने गति पाहनहिं दई है । हे

भगवान पत्थर से हजार गुनी जड़ता (कठोरता) बुद्ध में आ गई है। अब किससे प्रार्थना करूँ ? पत्थर को (और) किसने सुगति प्रदान की है ? श्रीराम जी के चरण स्पर्श से शिला रूप अहिल्या पुनः पवित्र ऋषि पत्नी हो गई। 'गोतम सिवारे गृह गौनो से लिखाइ कै। (गीतावली) पत्थर को भी कोमल बना देने का जादू भगवान् के चरण कमलों नें है। उसी प्रकार सन्त भी कठोर मन को कोमल कर देते हैं।

श्री रामचन्द्र जी ने एक अहिल्या को ही शिला से मुनि नारी बना दिया। परन्तु भगवन्नाम ने अनेक दुष्टों की बुद्धि शुद्ध की।

राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी ॥

भगवन्नाम का जादू बराबर चलता रहता है कि कठोर मनों को भगवत्प्रेम मार्ग में कोमल और स्निग्ध बना दे। सन्त भगवन्नाम का ही प्रताप प्रकट करते हैं, उनकी वाणी में भगवन्नाम की ही दिव्यता प्रकट है, वे इसी से कठोर मन को कोमल बना देते हैं।

यहाँ कोई यह कह सकता है कि सन्तों की वाणी के सुनने मात्र से ही मन नहीं बदलता, साधन करके क्रमागत रीति से बदलता है। ऐसा विचार एकदम गलत नहीं है, सन्तों की वाणी से हम साधन में प्रवृत्त होते हैं, और लाभ उठाते हैं। परन्तु सन्तवाणी का जो माहात्म्य यहाँ कहा गया है, वह कोई अतिशयोक्ति नहीं है, किसी दृष्टि से ठीक ठीक समझने पर यथार्थ है।

सबसे पहले तो इस बात पर हम ध्यान दें कि दुष्टों के तत्काल सुधर जाने के प्रबल उदाहरण प्राप्त हैं। रत्नाकर डाकू ऋषियों के साथ से सहसा बदल गया और ऋषि प्रवर बाल्मीकि हो गया। शिष्यता और सेवा करके क्रमागत परिवर्तन नहीं हुआ। श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा

जगाई व मधाई का उद्धार सहसा ही किया गया। भयानक दस्यु अंगुली माल भगवान् बुद्ध से मिलकर सहसा ही बदला, क्रमागत रूप से नहीं।

सुत मंगल मय सन्त समाजू। जो जग जंगम तीरथ राजू।।
(रा०च०मा०)

तथा—

मज्जन फल पेखिय ततकाला। काक होंहि पिक बकहु मराला।।
(रा०च०मा०)

सत्संग ऐसा अद्भुत तीर्थ है कि उसमें स्नान करने वाले तुरन्त ही कौवे से कोयल और बगुले से हंस बन जाते हैं। काक के समान कर्कश वाणी कोयल की सी कोमल वाणी हो जाती है, बगुले के समान कपटी घ्यानी, विवेक पूर्ण हंस बन जाते हैं।

सन्त हंस गुन गर्हहि पय, परिहरि वारि विकार।
(रा०च०मा०)

सत्संग का जो अलौकिक प्रभाव है वह ऐसे सहसा परिवर्तनों में सहज ही देखा जा सकता है। इसीलिए—

सात स्वर्ग अपवर्ग सुख, घरिय तुला इक अंग।
तुलै न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सत्संग।।

यह भी कहा गया है कि—

तबहि होइ सब संशय भंगा। जब बहु काल करिय सत्संगा।।
(रा०च०मा०)

परन्तु यह न भूलना चाहिए कि जब श्री गरुड़ जी इस उपदेश सुनकर सत्संग करने के लिए श्री काक भुशुण्डि जी के आश्रम पर पहुँचे तो उन्होंने अनुभव किया और कहा—

> प्रभु तब आश्रम आए, मोर मोह भ्रम भाग ।
> कारण कवन सो नाथ सब, कहहु सहित अनुराग ।।
> (रा०च०मा०)

प्रश्न तो इस चमत्कार के बारे में भी किया गया और उत्तर भी मिला, परन्तु तत्काल प्रभाव तो अनुभव में आया ही ।

बाइबिल में भी सहसा परिवर्तन की मिसालें हैं । इनमें से प्रमुख है सॉल का पॉल बन जाना, ईसाई-उत्पीड़क से ईसाई प्रचारक हो जाना (ऐक्ट्स अध्याय ९)

यह ठीक है कि ऐसे सहसा चमत्कारिक परिवर्तन थोड़े ही होते हैं, शेषजनों का तो क्रमागत विकास ही होता है, परन्तु ऐसे सहसा परिवर्तनों से यह लक्षित हो जाता है कि सत्संग का कितना बड़ा प्रभाव है ।

कुछ ऐसे भी दृष्टान्त होते हैं कि जिनमें सहसा परिवर्तन तो हो जाता है परन्तु साधारणजनों को क्रमागत रूप में ही दृष्टिगोचर होता है ।

जैसे किसी रोगी की शल्य चिकित्सा की जाती है, तो रोग तुरन्त निवृत्त माना जा सकता है, परन्तु रोगी की देखभाल बाद तक करनी पड़ती है और इस अवधि में वह रोगी ही समझा जाता है । इसी प्रकार मन पर तत्काल प्रभाव पड़ जाता है, परन्तु उसके बाद वह साधनरत रहता है और उसका उपयोग भी है ।

कभी कभी डाक्टर यह कहते हैं कि शल्य चिकित्सा से रोग निवृत्त हो सकता है परन्तु इसमें सन्देह है कि रोगी चीर फ़ाड को झेल पाएगा या नहीं, उसी तरह दिव्य शक्ति का प्रभाव तो असीम है, परन्तु दिव्य विभूतियों को भी सोचना पड़ता है कि किसी व्यक्ति का अन्तःकरण कितनी शक्ति का प्रभाव झेल पाएगा। जैसे लाख को गलाकर तब उस पर मोहर लगाई जाती है और तभी मोहर ठीक से लग पाती है, उसी तरह द्रवित चित्त पर सन्त की छाप अच्छी लगती है। श्रद्धा से चित्त द्रवित होता है। माहात्म्य ज्ञान से श्रद्धा होती है। सन्त की महिमा को सुनकर श्रद्धा उत्पन्न होती है, तब मनुष्य सन्त का संग करने जाता हैं। फिर उनकी रहन सहन देखकर, उपदेश सुनकर, उनका माहात्म्य ज्ञानकर मन श्रद्धा पूरित हो जाता है। तब सन्त वाणी की छाप अच्छी पड़ती है।

सच्चा साधक श्रद्धा सहित ही सन्त के पास जाता है, परन्तु सन्त वाणी से उसकी श्रद्धा पूर्ण और परिपक्व होती है, उससे अन्तःकरण द्रवित हो जाता है। यही वज्र के समान कठोर हृदय का पिघले हुए मोम की तरह कोमल हो जाना है। ऐसा द्रवित हृदय नए साँचे में ढाला जा सकता है। फिर उसका रूप पूर्व रूप से विलक्षण ही दिखाई पड़ता है। पत्थर की जाली बनाना कठिन है, परन्तु आजकल सीमेंट की जाली बना ली जाती है जो जमने और सूखने पर दृढ़ सिद्ध होती है।

जैसे बीमार अपनी शल्य चिकित्सा स्वयं नहीं कर पाता, विद्यार्थी नई भाषा या विद्या, बिना किसी सहायता के स्वयं नहीं सीख पाता, उसी तरह कठोर हृदय स्वयं अपने को कोमल बनाने में असमर्थ है, इसके लिए संत की चमत्कारिक शक्ति चाहिए, जो प्राय: आशीर्वाद और उपदेश के रूप में काम करती है। सन्त का मानसिक संकल्प भी काम

कर सकता है, जो कारण विशेष से वैखरी वाणी में प्रगट न हुआ हो। वह भी वाणी है, पश्यन्ती सही, वह भौतिक कर्णगत न हो पर उसे भी कठोर मन धारण करता है, उस वाणी से भी उसका कोमल हो जाना सम्भव है।

एक बार मन इस प्रकार श्रद्धापूरित और द्रवित हो जाय तो फिर सन्त की वाणी श्रवण करने मात्र से नव आध्यात्मिक अनुभूति होने लगती है। इसी से कहा है—

सत्संगति संसृति कर अन्ता।

(रा०च०मा०)

अनुभव सुख उतपति करत, भव भ्रम धरै उठाइ ।
ऐसी बानी सन्त की, जो डर भेदै आइ ॥२०॥

सन्त की वाणी ऐसी होती है कि हृदय में गड़ जाय तो अनुभव (आत्मानुभूति, भगवत्प्राप्ति) का सुख उत्पन्न करती है और संसार रूप भ्रम को तो वह उठाकर अलग रख देती है (सहज ही पूर्णत: निवृत्त कर देती है ।)

इस दोहे को पूर्व के सन्दर्भ में लेना चाहिए । सन्त वाणी का जो प्रभाव यहाँ बताया गया है वह पूर्वोक्त द्रवित और कोमल चित्त के लिए है, श्रद्धालु शरणागत शिष्य के लिए है । पूर्वोक्त चमत्कार के बाद अत्रोक्त चमत्कार है ।

शुद्ध सरल श्रद्धाभरित, द्रवित प्रपन्न विनीत ।
सो सुनतहि अनुभव लहै, भवभ्रम रहित पुनीत ॥

वेदान्त में साधन चतुष्टय सम्पन्न व्यक्ति को ब्रह्मज्ञान का अधिकारी माना गया है । साधन चतुष्टय इस प्रकार है । विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व । नित्य अनित्य वस्तु की पहिचान विवेक है । अनित्य वस्तु में आसक्ति घटनी और मिटनी चाहिए । इस लोक और परलोक के सभी भोगों से तबियत हट जाना वैराग्य है, जैसे श्री हनुमान जी के लिए विनय पत्रिका में कहा गया है—ब्रह्मलोकादि वैभव विरागी । (वि०प०) षट्सम्पत्ति में ६ गुण आते हैं–शम, दम, तितिक्षा, उपरति, श्रद्धा और समाधान । मानसिक शान्ति, इन्द्रिय निग्रह, सुख दु:खों का समत्व पूर्वक

सहन, जगत् से चित्त का अनाकर्षित रहना, श्रुति, शास्त्र, सन्त वाक्यों में प्रत्यक्षवत् विश्वास तथा बुद्धि का शान्त और सन्देह रहित होना मुमुक्षुत्व यानी मुक्त होने की अभिलाषा। इन चार साधनों से जो युक्त हो वह ब्रह्मज्ञान का अधिकारी है। उसे ब्रह्मज्ञान का उपदेश मिलना चाहिए।

कोई कह सकता है कि उल्लिखित गुणों से युक्त पुरुष तो मुक्त ही होगा, मुमुक्षु नहीं। परन्तु सच यह है कि इन गुणों से रहित व्यक्ति का निज अनुभव ज्ञान के विपरीत होगा, अत: उसे ब्रह्मज्ञान की बातें समझ में नहीं आएँगी और निज अनुभव से विपरीत विचारों को वह धारण न कर सकेगा। निर्दिष्ट गुणों से युक्त पुरुष का निज अनुभव उल्टा नहीं होगा, अत: वह ब्रह्मज्ञान के उपदेश को सुनता जायगा और समझता जायगा। उसके हृदय में ज्ञानोपदेश टिकेगा, और श्रुतवाणी अनुभव से पुष्ट होती जायगी।

ब्रह्मज्ञान का जो अधिकारी है. उसे श्रवण के साथ ही अनुभूति होती जायगी। श्रवण. मनन, निदिध्यासन के लिए उसे बहुत लम्बा समय नहीं चाहिए। इसलिए समर्थ सन्त और अधिकारी शिष्य का संवाद होने पर सन्त वाणी (उपदेश) के साथ ही अनुभव सुख की प्राप्ति होती जायगी।' 'अनुभव सुख उतपति करत' का यही अर्थ है।

दोहे में यह भी कहा है कि सन्त वाणी 'भव भ्रम' की तत्काल निवृत्ति करती है, जैसे कोई चीज उठाकर कहीं और रख दी जाय।

भव भ्रम और उसकी निवृत्ति के विषय में दो भिन्न विचार प्रस्तुत किये जाते हैं, और साधन और चिन्तन के स्तर भेद से दोनों ही ठीक हैं। एक ओर यह कहा जाता है कि ज्ञान की प्राप्ति क्रमागत है। विविधि साधनों से अन्त:करण की शुद्धि और वैराग्य की प्राप्ति होगी, तब ज्ञान

होगा। दूसरी ओर यह भी कहा जाता है कि जगत् स्वप्नवत् है या मृगतृष्णा की तरह का भ्रम मात्र है। स्वप्न से जागना या भ्रम से छूटकर यथार्थ दर्शन सहसा ही होता है क्रमागत नहीं। किसी को रस्सी में सर्प का भ्रम है तो वह सहसा निवृत्त होगा, धीरे धीरे कालक्रम से नहीं।

जहाँ कहीं दृढ़ आसक्ति है, वहाँ आकर्षण है, सुखाभास है, तदाधारित राग है। इन सब संस्कारों के कारण ही आसक्ति की वस्तु में सत्य बुद्धि होती है। स्वप्नकाल में स्वप्न की सब वस्तुएँ सत्य ही भासती हैं, स्वप्नगत प्रवचन से भी यह मिथ्या आभास दूर नहीं होता। दोष दुःख सपने के जागे ही पे जाहिं रे। (वि०१०)

संसार स्वप्नतुल्यो हि राग द्वेषादि संकुलम्।
स्वकाले सत्यवद्भाति प्रबोधेऽसत्यवद् भवेत्॥

राग द्वेष से भरा हुआ संसार, स्वप्न तुल्य है, स्वकाल में सत्य लगता है, प्रबोध होने पर असत्य प्रतीत होता है।

सुभग सेज सोवत सपने वारिधि बूड़त भय लागै।
कोटिन नाव न पार पाव कोउ जब लगि आपु न जागै॥
(वि०१०)

स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्ध वस्तुः।
(श्रीमद्भागवत ३.२८.३८)

जागने पर मनुष्य स्वप्न की वस्तु का सेवन नहीं करता है।

यह दोनों विचार परस्पर विरोधी भले ही लगें पर हैं नहीं। यह ठीक है कि जागने पर स्वप्न की तुरन्त निवृत्ति होती है, तथा बोध होने पर भ्रम की तुरन्त निवृत्ति नहीं होती है, परन्तु जागा कौन है?

मोह निसा सब सोवनि हारा। देखहिं स्वप्न अनेक प्रकारा।।
एहि जग जामिनि जागहिं योगी। परमारथी प्रपंच वियोगी।।
जानिय तबहिं जीव जग जागा। जब सब विषय विलास विरागा।।

जागने पर तो स्वप्न भ्रम तुरन्त निवृत्त होता है, क्रमागत रूप से नहीं परन्तु जागने की पहिचान वैराग्य ही है। जागने पर स्वप्नवाली सब वस्तुएँ अविद्यमान् हो जाती हैं, फिर उनकी प्राप्ति की स्पृहा, अप्राप्ति का दु:ख आदि नहीं होता। उनसे पक्का वैराग्य हो जाता है। मिथ्यात्व की अनुभूति से वैराग्य हो जाता है, परन्तु मोह निशा में सोने वाले और अनेक प्रकार कें स्वप्न देखने वाले अपने जागने का प्रवन्ध स्वयं नहीं कर सकते। ज्ञान की पुकार पर वे जागेंगे परन्तु वह पुकार अन्त:करण भेद से भिन्न भिन्न प्रभाव रखती है. अत: पूर्व दोहे के अनुसार अन्त:करण के तैयार हो जाने पर ही सन्त वाणी का इस दोहे में कथित चमत्कार अनुभूत होगा।

जो मन सन्त वाणी को श्रद्धापूर्वक सुनते सुनते कोमल हो गया है, साधन चतुष्टय सम्पन्न हो गया है, जो ज्ञानोपदेश का पात्र हो गया है, वह प्रणिपात, परिप्रश्न, और सेवा करके ज्ञानियों से ज्ञानोपदेश प्राप्त कर सकता है। (गीता ४.३४)। ऐसी परिस्थिति में और कोई साधन नहीं करना पड़ता, उपदेश श्रवण के साथ ही साथ अनुभूति होती जाती है।

श्री शुकदेव जी द्वारा जब श्रीमद्भागवत की कथा श्री परीक्षित जी को सुनाई गई तो श्री परीक्षित जी खाना पीना सब छोड़कर सात दिन तक कथा ही सुनते रहे। फिर निश्चिन्त हो गए, निर्भय हो गए, मृत्यु का भी भय न रहा। यहाँ श्रोता में पूर्ण पात्रता आ गई थी, सन्त वाणी के श्रवण के साथ ही साथ तत्वानुभूति होती गई, भवभ्रम निवृत्त हो गया।

सन्त लोग अपनी वाणी व्यर्थ नहीं खोते, या तो यथार्थ बोधक वाणी बोलना चाहते हैं, या मौन रहना चाहते हैं। (पूर्व छन्द सं० ११) उपनिषद् में भी कहा है।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।।

'जिसकी भगवान् में परा भक्ति होती है, और जैसी भगवान् में वैसी ही गुरु में होती है, उसके प्रति ही महात्मागण उपनिषद् कथित इन अर्थो को प्रकाशित करते हैं।'

श्री गोस्वामी जी ने इस दोहे में सन्त वाणी का जो प्रभाव बताया है, उसके साथ यह शर्त लगा दी है कि 'जो उर भेदै आइ।' (यदि हृदय में गड़ जाय)। यह उपेक्षणीय नहीं है। यह शर्त बड़ी महत्वपूर्ण हैं।

श्रवण बहुत लोग करते हैं, परन्तु सन्तवाणी सबके मन में तीर की तरह गड़ नहीं जाती। यदि साधारण भाव से सुन लिया, विशेष महत्व नहीं दिया तो उस वाणी का चमत्कारिक प्रभाव कैसे होगा? जो श्रद्धा पूर्वक जाता है, वही ध्यान से सुनता है। सुनने का प्रयोजन भी अलग अलग होता है। ध्यान से सुनने वालों का भी प्रयोजनानुसार फल अलग अलग होगा।

ऐसा हो सकता है कि किसी प्रकान्ड विद्वान् सन्त का भाषण कोई और केवल इसलिए सुने कि नई नई शास्त्र की बातें उसे मालूम हो जायँ जिन्हें बाद में लेखों, पुस्तकों या प्रवचनों आदि में प्रयुक्त करके अपनी धाक जमाई जा सके। इस भाव से सुनने वाले अपने पान्डित्य या वाक् चातुर्य को बढ़ाने के लिए सुनते हैं, तत्वग्रहण के लिए नहीं। इसलिए सुने हुए उपदेशों से वे पाण्डित्य का ही लाभ लेंगे, यह लाभ नहीं होगा कि सुनते

ही तत्वानुभूति हो जाय। उपदेश हृदय को भेदेंगे नहीं। स्वयं श्री गोस्वामी जी ने विनय पत्रिका में कहा है।

वचन तेरे मेरे मन गड़े हैं।
देखे सुने जाने मैं जहान जेते बड़े हैं।

कोई कोई श्रोता महान् सन्तों का उपदेश सुनते हैं, मुख्यत: मनोरंजन के लिए। उनके लिए इतना काफी हैं कि बड़ा अच्छा उपदेश हुआ, खूब आनन्द आया। उनके लिए सुने हुए उपदेशों को याद रखना भी आवश्यक नहीं, तत्सम्बन्धी अनुभूति का प्रश्न ही क्या है? आध्यात्मिक अनुभूति की उन्हें परवाह नहीं, तो वह अपने आप कहाँ से हो जायगी ?

कुछ श्रोता (अथवा पढ़े लिखे अधिकांश श्रोता) वक्ता के परीक्षक बनकर सुनते हैं। प्रवचन के बाद आप इनसे जान सकते हैं कि प्रवचन किस कोटि का था ? यह भी कि प्रवचन गत विचार ठीक थे कि नहीं। परीक्षकों को यह कहाँ याद रहता है कि परीक्षार्थियों ने उत्तरों में क्या क्या कहा या लिखा था। इस कोटि के श्रोता भी तत्वानुभूति से कोसों दूर हैं।

कोई कोई श्रोता कथा, प्रवचन या उपदेश मे केवल इसलिए सम्मिलित होते हैं यह एक पुण्य का कार्यक्रम है। सम्मिलित होना, सुनना स्वयं पुण्यप्रद है। क्या कह गया उसे समझना याद रखना, आत्मसात् करना, अमल में लाना, अनुभूति करना—इस सबसे उन्हें कोई मतलब नहीं। ऐसे श्रोताओं को भला सुनते ही अनुभूति कैसे हो सकेगी ? भव भ्रम कैसे मिटेगा ?

ऐसे उत्तम साधक भी होते हैं, जो जिज्ञासु भाव से ही श्रवण करते है, सतोगुण में स्थित होने से वे ज्ञान के पात्र होते हैं, सन्त वाणी का प्रभाव भी उनपर होता है। प्राप्त उपयेश पर वे सन्देहशील नहीं होते और उसे कार्यान्वित करने में भी सत्यनिष्ठा रखते हैं। ऐसे साधकों का जीवन तेजी से सुधरने लगता है। परन्तु इनको भी सभी श्रुत विषयों की तत्काल अनुभूति का सुख नहीं मिलता। कभी ऐसी स्थिति आ जाती है जब सन्तवाणी हृदय को भेद दे। इसी को बात लग जाना कहते हैं। ऐसी स्थिति में वाणी श्रवण के साथ अनुभूति का सुख पूरी तरह मिलेगा। यह सन्त वाणी का गौरवपूर्ण आदर्श प्रभाव है जो हर समय हर एक के प्रति प्रकट नहीं होता। जितना अधिक से अधिक प्रभाव हो सकता है वही माहात्म्य कथन में कथित होना योग्य है। श्री गोस्वामी जी के कथन में यथार्थवाद और आदर्शवाद का अपूर्व समन्वय है।

सीतल बानी सन्त की, ससिहू ते अनुमान।
तुलसी कोटि तपन हरैं जो कोउ धारैं कान ।।२१।।

सन्त वाणी को चाँदनी से भी अधिक शीतल (ठण्ढी) समझना चाहिए, जो उसे कानो में धारण करे, उसके करोड़ों ताप हरण करती है ।

यहाँ जो शीतलता बताई गई है वह वरफ की सी ठण्ढक नहीं है। शीतलता इसलिए कही गई है कि ताप हारी प्रभाव है। 'कोटि तपन' हरण करने वाली होने से शीतल मान्य है। तपन भी साधारण गर्मी के अर्थ में नहीं है। यह देह तवे की तरह हैं सदैव त्रयताप से तप्त रहती है। (छन्द ६) श्रीं राम प्रताप से शान्ति पद प्राप्त होने पर ही यह तवा ठण्ढा होता है, शान्ति मिलती है।

पहले यह समझना चाहिए कि कोटि तपन क्या है ? हम लोग लौकिक जीवन को सुख और दु:ख से युक्त मानते हैं। किसी किसी के जीवन में सुख बहुत दिखाई पड़ता है दु:ख कम या बिल्कुल नहीं। जो जीवन हमें सुखी दिखाई देता है उसे परितप्त कैसें मानें ? साधारण दृष्टि से ऐसा जीवन ताप रहित होता है, परन्तु ज्ञानदृष्टि से नहीं।

कोई कोई जिगर के रोगी ऐसे होते हैं कि शत अंश तक ज्वर हो तो उन्हें ताप का कुछ अनुभव नहीं होता, ताप मापक यन्त्र से ज्वर सिद्ध होता है, (नब्ज) नाड़ी की गति ज्वर की तरह की होती है, दूसरे को

स्पर्श में देह गरम लग सकती है, पर रोगी को ज्वर का अनुभव नहीं होता। परन्तु निदान में ज्वर मानना पड़ता है।

यह सम्भव है कि अपनी ही दृष्टि में हम परितप्त न हों, परन्तु विवेक की दृष्टि से हम अत्यन्त परितप्त हों, प्रतीतित, हँस बोल रहें हों, वस्तुत: अत्यन्त दु:खद परिस्थिति में हों।

किसी की पदच्युति का आदेश हो चुका है, उसे अभी मिला नहीं है, वह मौज शौक में है पर जानने वाले की दृष्टि में करुण परिस्थिति है। कर्ज लेकर नशा करने वाला दूसरों की दृष्टि में विनाशकारी परिस्थिति में है, अपनी दृष्टि में नहीं। अनाथ बच्चा दयनीय है पर अविवेकवश कभी हँसता, खेलता, सुखी दिखाई पड़ सकता है।

किसी भी समय यदि दु:खदायी विषय या परिस्थिति की विस्मृति हो जाय और सुखद विषय पर हमारी एकाग्रता हो जाय तो हम सुखी प्रतीत हो सकते हैं। निष्पक्ष चिन्तकों का यह भी निश्चय नहीं है कि कुल मिलाकर धनी व्यक्ति निर्धन से अधिक सुखी है, यद्यपि—नहि दरिद्र सम दुख जग माहीं। (रा०च०मा०) परन्तु विपरीतत: यह नहीं कहा कि धनी होने के समान कोई सुख नहीं है। यह कहा कि—'सन्त मिलन सम सुख कछु नाहीं।'

विषयों का जो सुख है वह अनेक प्रकार के ताप से जुड़ा है, अत: योगी की दृष्टि में 'दु:खमेव सर्वं' तथा 'तापमेव सर्वं'। विवेकी की दृष्टि में 'जीव सकल सन्ताप के भाजन जग माहीं।' (वि०प०) सुख भोग अभ्यास से कम होता जाता है, परन्तु निर्भरता बढ़ती है। सुख आगामी दुख का सूचक है और उसे तीव्रतर बनाएगा। विषय के सुख को पाने, भोगने, उसे बनाए रखने के प्रयास में अनेक अशुभ कर्म करने पड़ते हैं, जिनके फल परिपाक में दुख मिलेगा। 'नानुपहत्य भूतानि भोगा:

सम्भवन्ति हि ।' (बिना जीव हिंसा के भोग सम्भव नहीं । अतः सुख भोग वाद में दुःखवृद्धि का ही कारण बनता है ।

आज के विश्व में सुखद भोग पहले से अधिक है, परन्तु नर-समाज के सामूहिक विनाश की परिस्थितियां भी अभूतपूर्व हैं, इसलिए विद्वानों और चिन्तकों को बड़ी बेचैनी है । जिसे फांसी पर लटकाने के लिए लोग ले जा रहे हैं उसे कोई भोग तृप्तिदायक नहीं हैं । मृत्युना नीयमानस्य वकयस्यैव न तुष्टिदः । मुल्कराज आनन्द की एक कहानी है, 'खोया हुआ बच्चा' । मेले में जाकर एक बच्चा माँ बाप से मिठाई के लिए, गुब्बारे के लिए, खिलौने के लिए जिद करता है परन्तु थोड़ी देर में वह खो जाता है, माँ बाप से अलग हो जाता है तो दूसरा व्यक्ति उसे वही चीजें देने के लिए कहता है तो वह नहीं लेता अधीर होकर रोता है । जब तक परमपिता से मिलने की तड़प नहीं होती तभी तक विषय मीठे हैं । फिर तो सभी जगत् शून्य है, तापमय है, दुःख रूप है—

शून्यायितं जगत् सर्वं गोविन्द विरहेन मे ।
(चैतन्याष्टक)

शंख समूंदा बीछुड़ा, लोग कहैं बाजन्त ।
अपने प्रीतम कारने, घर घर ढाह दियन्त ।।

जो मोहि राम लागते मीठे ।
तो नवरस खट्रस रस अनरस, ह्वै जाते सब सीठे ।।
(वि०१०)

विषयों की भी कुछ डंक मारने की शक्ति है, दुख देने की प्रकृति है, क्षणभंगुरता की नियति (भाग्य) है । प्रायः अनुभव करके ही उनकी तीक्ष्णता का पता लगता है–

नानुभूय न जानाति, पुमान् विषयतीक्ष्णताम् ।

अनुमान कीजिये कि कोटानुकोटि विषयों की तीक्षणता का अनुभव करने में कितना दु:ख झेलना पड़ेगा और कितना समय लगेगा, फिर पूर्व अनुभवों की विस्मृति से पुन: प्रवृत्ति होगी ।

दु:ख शोक, क्रोध आदि विकार गरमी पैदा करने वाले हैं, इसलिए भी ताप मान्य हुए । इस प्रकार जीव कोटि तपन से सन्तप्त है, उस ताप के प्रति सचेत हो या न हो । ज्यों ज्यों जीव भगवान् के निकट पहुँचता हैं, संसार भयावह लगता है ।

जिन रघुबीर चरन अनुरागे । तिन सब भोग रोग सब त्यागे ।।
(वि०प०)

ज्यों ज्यों मोह प्रमाद कम होता है, ससार की तपन का अनुभव होता है । यह 'कोटि तपन' कैसे दूर हो ।

अत्यन्त मोहवश प्राणी को यह संसार अति रमणीक लगता है, फिर यह अत्यन्त दु:खद लगता है, अन्त में ज्ञान प्राप्त होने पर स्वप्नवत् मिथ्या लगता है, उसकी सुख दु:ख देने की शक्ति नहीं रहती । जागे हुए व्यक्ति की स्वप्न के पदार्थों में न सत्यबुद्धि रहती है न आसक्ति रहती है । भगवत्प्राप्ति से ही मोह का नाश होता है, अन्यथा नहीं । (छन्द २) । मोह को हटाने में और भगवत्प्राप्ति द्वारा उसके समूल नाश में सन्तों की वाणी काम करती है ।

पूर्व दोहे में कह आये हैं कि सन्त वाणी अनुभव सुख पैदा करती है और भव भ्रम को मानों उठाकर एक ओर रख देती है (सहज ही, सहसा ही) भ्रम की निवृत्ति कर देती है ।

न हि ह्यात्मारामो विषय मृग तृष्णां भ्रमयति ।

आत्मा में रमण करने वाला ज्ञानी विषय की मृग तृष्णा से भ्रमित नहीं होता ।

बसै जो शशि उछंग, सुधा स्वादित कुरंग ।
ताहि क्यों भ्रम निरखि रवि कर नीर ।। (वि०प०)

जो मृग चन्द्रमा की गोद में बैठा है, और अमृत पान कर रहा हैं, उसे मृग तृष्णा के जल को देखकर क्यों भ्रम होगा ?

जेहि जाने जग जाइ हेराई । जागे यथा सपन भ्रम जाई ।
(रा०च०मा०)

तेजो वारि मृदां यथा विनिमयो यत्र त्रिसर्गोमृषा ।
(श्रीमद्भागवत १.१.१)

मोह की सहायता से ही माया सत्यवत भासती है, यही त्रिगुणात्मिका माया ताप का कारण है, मोह की निबृत्ति से तत्वानुभूति होती है, भ्रम निबृत्त होता है, रवि कुल रवि राम के प्रताप से तम नष्ट हो जाता है, राम के प्रताप से ताप निवृत्त हो जाता है, शान्ति मिलती है। ताप का निवृत्त हो जाना ही शीतलता है। सन्तवाणी भगवदनुभव कराती है त्रयताप शामक है, इसलिए शीतल है। पूर्व दोहे के सन्दर्भ में यहाँ आवाहन है कि हम लोग सन्त वाणी का सेवन करके भगवदनुभव प्राप्त करें, भवभ्रम निरसन करें, त्रयताप मुक्त हों, परम कल्याण के भाजन बनें ।

सन्त वाणी कितनी शीतल है, इस पर कहा है कि चन्द्र से भी अधिक शीतल है। चन्द्रप्रभा का ताप नाशक प्रभाव प्रसिद्ध है–

सरदातप निसि ससि अपहरई । सन्त दरस जिमि पातक टरई ।।
(रा०च०मा०)

नाथ तवानन ससि स्रवत, कथा सुधा रघुवीर ।
स्रवंन पुटनि मन पान करि, नहिं अघात मति धीर ।।
(रा०च०मा०)

श्री योग वासिष्ठ के अनुसार ज्ञानियों में अन्तःकरण में चन्द्रमा की सी शीतलता उदित होती है—'अन्तः शीतलता चेन्दोः ।' सन्त सभी मनोविकारों (काम, क्रोध, मद, मत्सर आदि) के ताप से मुक्त, शान्त और शीतल रहते हैं, यही शीतलता उनकी वाणी में प्रकट होती है और सुपात्र के अन्तःकरण में भी वैसी ही शीतलता पैदा करती है । श्रोता का अन्तःकरण भी शुद्ध, शान्त और शीतल हो जाता है ।

सन्त वाणी चन्द्र से भी अधिक शीतल है यह कोई अतिशयोक्ति नहीं है । शशि का महत्व यही है कि उसकी चाँदनी आतपतप्त शरीर के ताप को दूर कर देती है, उसको आराम पहुँचाती है, चाँदनी का प्रभाव थोड़ी देर के लिए होता है, सदा के लिए ताप निवृत्त नहीं होता । दूसरे दिन पुनः शरीर तापतप्त होगा, तब फिर रात को चाँदनी का सेवन करके ताप को शान्त करेगा । नित्य चाँदनी मिलेगी भी नहीं, न वह एक सी रहेगी । चन्द्र कलाओं के परिवर्तन के साथ घटेगी या मिटेगी । परन्तु सन्त वाणी से जब 'कोटि तपन' हरण होगा, तब श्रवण के दूसरे दिन पुनः ताप का उदय नहीं होगा । चन्द्रमा में अल्पकालिक विश्रान्ति है, सन्त वाणी में चिर विश्रान्ति है । इसलिए सन्त वाणी शशि से भी अधिक शीतल मानी गयी है ।

पुनः शशि केवल दैहिक ताप का हरण करता है, मानसिक ताप का हरण नहीं कर सकता । विरही जनों के मानसिक ताप को बढ़ाने का भी कारण बनता है—

विष संयुत कर निकर पसारी । जारत विरह वन्त नर नारी ।।
(रा०च०मा०)

श्री बरवै रामायण में एक भ्रम अलंकार है, श्री जानकी जी अशोक बाटिका में विरह व्यथिता हैं, उन्हें चाँदनी घाम की तरह लगती है। त्रिजटा उन्हें समझाती हैं—

डहकु न है उजियरिया, निसि नहि घाम ।

(डरिये नहीं यह चन्द्रिका है, रात का समय है, रात को घाम नहीं होता ।)

इस पर श्री जानकी जी कहती हैं कि—

जगत जरत अस लाग, मोहि बिनु राम ।

सन्त वाणी दैहिक और मानसिक सभी तापों को दूर करने में समर्थ हैं, इसलिए अधिक शीतल मान्य हैं । श्री गंगा जी पापहारी हैं और शशि ताप हारी है । सन्त वाणी पाप व ताप दोनों का हरण करती है ।

जीव का पहला विवेक-सोपान है कि वह अपनी दीन हीन दशा को, मोह को, भव-बन्धन को, भवभ्रम की विकरालता को जाने समझे, तब उसे भयंकर त्रयताप की अनुभूति होगी–

ऐसेइ जनम समूह सिराने ।
प्रान नाथ रघुनाथ से प्रभु तजि, सेवत चरन बिराने ।
(वि०प०)

नाचत ही निसि दिवस मर्यो ।
(वि०प०)

जब तक जीव इस जगत् को सुख रूप मानकर इसमें रममाण है, अपनी परितप्त दशा में भी उसने सुखी होने का अभ्यास (आरोप) कर रक्खा है, तब तक उसे त्रयताप की अनुभूति नहीं और वह सरसाम के रोगी की तरह कल्पित सुख या दुःख की दशा में हैं–

तहँ मगन मज्जसि पान करि, त्रय काल जल नाहीं जहाँ।
(वि०प०)

इसलिए हमारे अन्तः के रोग दोष से हमें सन्त वाणी की शीतलता का यथावत् अनुभव नहीं होता। अन्यथा यह स्पष्ट हो जाता कि सकल भवभयहारी, मोहान्ध विदारक, त्रयताप निवारक सन्त वाणी की शीतलता को चन्द्रमा नहीं पा सकता।

जों कोई भी शीतल सन्त वाणी को कानों में धारण करे, उसकी 'कोटि तपन' हरण हो जायगी। 'धारै कान' से क्या मतलब है ? वाणी को तो सभी कान से ही सुनते हैं, सर्पों के कान नहीं होते परन्तु संस्कृत में उनका एक नाम 'चाक्षुश्रवः' है उनकी आँख के पास एक छेद होता है जो कान का काम देता है। कुछ विशेषज्ञों की सम्मति में सर्प सुन ही नहीं सकते। कुछ भी हो श्रवणेन्द्रिय कर्ण है, सभी कान से ही सुनते हैं, अतः सुनने वाले वाणी को कान से ही ग्रहण करेंगे, फिर 'जो कोउ धारै कान।' क्यों कहा गया ? इसके भावार्थ ग्रहण का प्रयास करना चाहिए।

जहाँ कहीं कोई प्रवचन या उपदेश होता है, शब्दों की तरंगें कानों में पहुँचती हैं। शब्द-स्पंदन तो पशु-पक्षियों के कानों में भी पहुँचते हैं, परन्तु वे मनुष्यों की तरह प्रभावित नहीं होते क्योंकि स्पन्दन ही ग्रहण कर पाते हैं, भावार्थ ग्रहण में असमर्थ हैं। प्रयुक्त भाषा के विज्ञ न होने से वे भाव ग्रहण नहीं कर सकते। इसलिए नहीं माना जाता कि उन्होंने

वाणी को कानों में धारण कर लिया। उन्होंने वाणी को ग्रहण ही नहीं किया, नाद-स्पन्दन मात्र प्राप्त किया।

मृग के विषय में कल्पना है वह संगीत का प्रेमी है, परन्तु वह भी नाद, स्वर-लहरी, राग से आकर्षित होता है। सपेरे जब बीन बजाते हैं तो सर्प उसके नाद से प्रभावित प्रतीत होता है, परन्तु वाद्य संगीत में वाणी तो होती नहीं। इसलिए वहां राग का प्रभाव मान' जा मकता है वाणी का नहीं। वाणी को कान में धारण करने के लिए श्रवण शक्ति पर्याप्त नहीं है, भाषा ज्ञान भी आवश्यक है। श्री जयदेव जी के गीत गोविन्द 'मधुर कोमल कान्त पदावली' का पद किसी मूर्धन्य संगीतकार द्वारा गाया जाय तो वे लोग भी मुग्ध हो सकते हैं, जो संस्कृत बिल्कुल नहीं जानते और पद का अर्थ नहीं समझते, वे अलंकार योजना, कोमल स्वर, संगीत लहरी तथा मुख पर प्रतिबिम्बित भावों आदि से मुग्ध हो सकते हैं। वे भी वाणी के ग्रहण और धारण करने वाले नहीं माने जायेंगे। किसी अपरिचित भाषा नें कुछ कहा जाय तो हम शब्द-स्पन्दन राग, शब्दालंकार, आदि से भले ही प्रभावित हों, वाणी का ग्रहण और धारण नहीं कर सकते।

अब उन लोगों को लें जो सुन भी सकते हैं, भाषा ज्ञान भी रखते हैं, अर्थ समझ सकते हैं, भावग्रहण में समर्थ हैं, ऐसे लोगों के लिए भी कभी कभी कहा जाता है कि—कान से सुना नहीं, कान नहीं दिया, कितनी बार कहा, पर सुनते ही नहीं। जैसे—

सुनेहि न श्रवन अलीक प्रलापी।

श्री रामचन्द्र जी ने बालि से कहा–

मूढ़ तोहि अतिशय अभिमाना। नारि सखावन करेसि न काना॥
(रा०च०मा०)

'करेसि न काना'—शब्दार्थं में कान से सुना नहीं, भाषा के अलंकारिक प्रयोग के अनुसार भावार्थ हुआ, सुना परन्तु ध्यान नहीं दिया, माना नहीं, उस पर अमल नहीं किया।

'जो कोउ धारै कान' का भी इसी तरह भावार्थ ग्रहण करना चाहिए।

जो सन्त वाणी को सुने, उस पर ध्यान दे, उपदेश की बात को सही समझे, उस पर आचरण करने पर कटिवद्ध हो उसी को समझना चाहिए कि उसने वाणी को कानों में धारण किया।

एक उदाहरण लीजिए—एक डाक्टर अपने दरवाजे पर बैठा है, कुछ मित्र भी बैठे हैं। एक रोगी आया। डाक्टर ने उसे देखा, उससे आवश्यक बातचीत की और दवा लिख दी या बता दी, या दे दी और सेवन विधि बता दी। रोगी ने डाक्टर के निर्देशानुसार कार्य किया और अच्छा हो गया। डाक्टर के जो मित्र वहाँ उस समय बैठे थे उन्हें दवा नुस्खे, उपचार आदि से क्या मतलब ? शब्द उन्होंने भी सुने, ध्यान नहीं दिया, उनके लिए वे शब्द थे नहीं। उन्होंने डाक्टर की तत्सम्बन्धी वाणी को कानों में धारण नहीं किया।

यदि किसी बड़े डाक्टर का व्याख्यान रख दिया जाय और किसी रोग विशेष पर सार्वजनिक भाषण हो जाय, तो श्रोतागण भाषण का आनन्द लेने के लिए या कुछ सूचना पाने के लिए एकत्र होंगे। इन्हीं श्रोताओं में कोई उस रोग का रोगी हो और उसी डाक्टर के पास तपचार के लिए पहुँचे तो वह न विद्वत्ता का आनन्द लेने जायगा, न सूचना पाने, वह डाक्टर के निदेशानुसार उपचार करने ही जायगा, जो कुछ डाक्टर साहब कहेंगे उसे सुनेगा, ध्यान देगा और मानेगा। 'धारै कान' का ऐसा ही अर्थ है। श्री श्री रामकृष्ण परमहंस जी का उपदेश

है कि जैसे सिप्पी स्वाति की एक बूंद धारण करके चुपचाप उसे मोती बना देती है, उसी प्रकार सत् शिष्य गुरु उपदेश को श्रवण करके साधन निष्ठ होकर अपूर्व परिणाम प्राप्त करता है।

सन्त वाणी के श्रवण हेतु जो लोग विद्या, रोचकता, नाद, स्वर, संगीत आदि का प्रयोजन लेकर जाते हैं, वे उन्हीं वस्तुओं को पाते हैं, जहाँ तक सम्भव हो। परन्तु वे महाभाग और ही हैं, जो अपने भवरोग के उपचार हेतु सन्त की शरण में गए हैं, वे प्रवचन सुनने वाले श्रोता नहीं हैं, वे उपचार हेतु आए हुए रोगी की तरह हैं जिन्हें डाक्टर पर पूर्ण श्रद्धा है और उसकी विधि के अनुसार उपचार कराने के ही लिए आए हैं। ऐसे ही पुण्यात्मा 'जो कोउ धारैं कान' की शर्त को पूरा करते हैं और इसलिए सन्त वाणी उनकी कोटि तपन हरण करती है। उन्हें परम शान्ति की प्राप्ति होती है।

जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ।
मैं बौरी ढूंढन गई, रही किनारे बैठ।।

(कबीर)

पाप ताप सब सूल नसावै ।
मोह अन्ध रवि बचन बहावै ।।
तुलसी ऐसे सद्गुरु साधू ।
वेद मध्य गुन विदित अगाधू ।। २२ ।।

सन्त जन सभी पाप, ताप व दुःखों को नष्ट करते हैं । सूर्य रूप सन्त वचन रूपी किरणों से मोहान्धकार को दूर करते हैं, ऐसे सद्गुरु रूप सन्तों के अगाध गुण वेद विदित हैं ।

'कोटि तपन हरै' के द्वारा सन्त वाणी का ताप नाशक प्रभाव पूर्व दोहे में दर्शा चुके । अब आगे बढ़कर सन्त वाणी को पाप, ताप तथा सभी शूल का नाशक बताते हैं । ताप विनाश पर तो विचार हो चुका है, अब पाप नाश तथा शूल विचार पर नाश करना है ।

सन्तों के संग से पापराशि का विचार सुविदित है ।

जेहि दरस परस समागमादिक पापराशि नसाइये ।

(वि०प०)

सन्त दरस निमि पातक टरई । (रा०च०मा०) इसी ग्रन्थ में आगे कहा है–मुख देखत पातक हरै (छन्द २४) । दर्शन मात्र से पाप नाश होता है ।

पाप नाश का तीन प्रकार का स्वरूप है–किये हुए पाप का फल न भुगतना पड़े, वह क्षमा हो जाय या रुक जाय तो परिणामत: पापनाश माना जाता हैं। किसी विद्यार्थी के अनुपस्थित रहने का या काम करके न लाने का दण्ड न दिया जाय माफ कर दिया जाय यह भी एक प्रकार से पापनाश, 'अघमर्षण' माना जाता है, परन्तु आर्थिक या शारीरिक दण्ड न मिले तो भी पढ़ाई का नुकसान होता ही है। अत: यह नहीं कहा जा सकता कि बरती हुई लापरवाही का कुछ भी परिणाम नहीं आया, न आ सकता है। दण्ड न मिलने से पाप का मर्षण भले ही हो जाय, क्योंकि क्षमा किया हुआ पाप फिर दण्डनीय नहीं रह जाता, जैसे सज़ा भुगत चुकने पर उसी पाप (अपराध) की पुन: सजा नहीं दी जा सकती। परन्तु अन्य प्रासंगिक परिणाम नहीं मिटते। जैसे किसी डाक्टर ने किसी रोगी को पान खाने से मना किया, अगले दिन जब वह फिर दवा लेने पहुँचा तो पान खाए हुए था। डाक्टर ने उसे भगा दिया, दवा नहीं दी। यदि डांक्टर ऐसा न करता तो अवज्ञा का दण्ड न मिलता, परन्तु बदपरेहजी का प्रभाव तो होता ही। ऐसे दुष्परिणामों से बचने के उदाहरण बहुत से मिलते हैं, जहाँ सन्त कृपा से पापी आसन्न दु:ख रूप परिणाम से बच गया। साधारण जन मानस में यह पाप नाशवत् ही प्रतीत होता है।

यदि आप किसी डाक्टर से कहें कि आप रोग-नाश करके रोगियों को पाप के परिणामों से बचा रहे हैं तो वह क्या कहेगा? उसे यह नहीं मालूम है कि रोगी के प्रारब्ध में कितनी अवधि का कितना कष्ट लिखा है। उसका इन बातों से कोई सम्बन्ध नहीं। वह प्राप्त परिस्थिति में अपना कर्तव्य पालन कर रहा है, कर्त्तव्य न करना या उसमें ढील देना उसका पाप होगा। इसी तरह सन्त करुणावश किसी का दु:ख दूर कर देते हैं तो वे भी अपना सन्तोचित कर्त्तव्य ही पालन करते हैं, कर्म-विपाक

को न प्रवर्तित करते हैं, न खण्डित करते हैं। दुष्परिणाम से बचना यह एक स्तर पर, एक दृष्टि से पाप नाश है।

भगवन्नाम से पाप नाश होना शास्त्रों में सुविदित है, भगवन्नाम का और सन्त का अभिन्न सम्बन्ध है। श्री नारद जी ने तो श्री रामचन्द्र जी से वरदान ही माँगा था—

राम सकल नामन ते अधिका। होहु नाथ अघ खग गन बधिका॥
(रा०च०मा०)

आसन्न परिणाम से बच जाने पर, हर मामले में यह नहीं कहा जा सकता कि अन्य कोई परिणाम भविष्य में न होगा। कोई कोई हत्यारे न्यायालय से बरी हो गए परन्तु बहुत बाद में विरोधियों द्वारा मार डाले गये।

कर्म-विपाक की जटिलताओं के विस्तार करने की यहाँ आवश्यकता नही है।

एक विशेष बात यहाँ विचारणीय है, दण्ड या प्रायश्चित से किये पाप का तो शमन हो जाता है, परन्तु पाप के संस्कार का शमन नहीं होता। उसी संस्कार वश वह फिर वही पाप कर सकता है। अत: एक प्रकार से यह कहा जाता है कि पाप का पेड़ कट जाता है, परन्तु जड़ से नहीं जाता। तो फिर इस दृष्टि से पाप नाश सम्यक या पूर्ण या पर्याप्त नहीं। यदि किसी रोगी को दवा से लाभ हो परन्तु रोग का आक्रमण कुछ कुछ समय बाद फिर होता रहे और बार बार दवा करनी पड़े तो लोग यह नहीं मानते हैं कि रोगी बिल्कुल अच्छा हो गया। इसी प्रकार जब तक किसी पाप के करने की प्रवृत्ति का और उसके दुष्परिणाम भुगतने की आशंका का नाश न हो जाय, पापनाश भी शास्त्रवित् विवेकी सन्तों और दार्शनिकों की दृष्टि में पूरा नहीं है।

श्रीमद्भागवत में श्री शुकदेव जी ने कहा है—

कर्मणा कर्म निर्हारो न ह्यात्यन्तिक इष्यते । अविद्वदधिकारित्वात्
प्रायश्चित्त विमर्शनम् ।।
(६.१.११)

(प्रायश्चित्त) कर्म से ही (पाप) कर्म की आत्यन्तिक (पूर्ण) निवृत्ति नहीं होती । प्रायश्चित कर्म का विधान अज्ञानी जीवों के लिए है, असली प्रायश्चित्त तत्व विचार है ।

नाश्नत: पथ्यमेवान्नं व्याधयोऽभि भवन्ति हि ।
एवं नियमकद्राजनञ्छनै: क्षेमाय कल्पते ।।
(६.१.१२)

यदि केवल पथ्य आहार का ही सेवन किया जाय तो बीमारियां नहीं होतीं । इसी प्रकार हे राजन्, एकदम नियमानुकूल जीवन व्यतीत करने से धीरे धीरे मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

श्री शुकदेव जी ने आगे बताया है कि तप ब्रह्मचर्य, शम, दम, त्याग, सत्य, शौच, यम-नियम आदि के द्वारा धीर, धर्मज्ञ और श्रद्धालु पुरुष देह, वाणी और बुद्धि से किए हुए महान् पापों को भी समाप्त कर देते हैं जैसे आग बाँसों की झाड़ी को जला देती है (६,१,१३/१४) ।

कोई-कोई भगवान् के भक्तगण केवल बोध के ही प्रताप से पापों को समाप्त कर देते हैं जैसे सूर्य कोहरे को दूर कर देता है ।

हे राजन कोई पानी तपस्यादि से वैसा पवित्र नहीं होता जैसा भगवान् के चरणों में प्राण, प्रण से समर्पित होकर भगवान् के प्रिय सन्तों की सेवा से पवित्र होता है । (६/९/१६)

जो पुरुष भगवान् से विमुख हैं उसे प्रायश्चित पवित्र नहीं कर सकते जैसे शराब का घड़ा नदी में डुबो देने पर भी पवित्र नहीं होता (६/१/१८)। परन्तु एक वार भी श्री भगवान् के गुणों से आकृष्ट होकर जो भगवान् के चरण कमलों में अपना मन लगा लेते हैं उनके पापों का पूर्ण प्रायश्चित हो जाता है और वे स्वप्न में भी यमराज या यमपाश लिए हुए उनके दूतों का दर्शन नहीं करते। (६/१/१९)

इन्ही उपदेशों के उदाहरण के रूप में श्री शुकदेव ज़ी ने अजामिल की कथा का वर्णन किया है।

उपर्युक्त उपदेशों से स्पष्ट हो जाता है कि किसी किए हुए पाप का परिणाम नहीं भोगना पड़ेगा यदि उसका प्रायश्चित कर लिया गया है परन्तु इससे वह अशुभ संस्कार नष्ट नहीं होता जिसके कारण वह पाप किया गया था, इसलिए उस संस्कार के वश होकर पुन: पाप करना सम्भव है। अजामिल के प्रसंग में विष्णु दूतों ने कहा है—कि ब्रह्मवादी ऋषियों द्वारा बताए हुए ब्रत आदि प्रायश्चितों से पापी उतना पवित्र नहीं होता जैसा कि भगवान् के गुणों के वाचक भगवन्नामों के उच्चारण से होता है (६/२/११

यदि प्रायश्चित कर लेने के बाद भी मन पुन: अशुभ मार्ग पर दौड़ता है तो वह प्रायश्चित पूर्ण नहीं कहा जा सकता इसलिए जो लोग पाप कर्म को नितान्त समाप्त करना चाहते हैं उनके लिए उत्तम भावना से भगवान् का गुणानुवाद गायन ही श्रेष्ठ है (६/२/१२)।

महर्षियों ने छोटे और बड़े पापों के लिए उन्हीं के अनुरूप प्रायश्चितों का निश्चय करके कहा है (६/२/१६)।

इन प्रायश्चितों से, तप, दान, जप आदि से, सम्बन्धित पाप ही दूर होते हैं परन्तु हृदय का धर्म विरोधी संस्कार दूर नहीं होता। यह

अशुभ संस्कार भी भगवान् के चरण कमलों की भक्ति सेवा से दूर हो जाता है।

इस प्रकार शास्त्र का सुनिश्चित सिद्धान्त स्पष्ट हो जाता है कि विधान के अनुसार प्रायश्चित कर लेने से (या पाप का दण्ड भोग लेने से) उस पाप के परिणाम को भुगतना पड़े इसकी आशंका तो नहीं रहती परन्तु यदि पाप की निवृत्ति का यह अर्थ लगाया जाय कि मन से वह पाप निकल जाय, फिर उस पाप की प्रवृत्ति न रह जाय तो इस प्रकार की पाप निवृत्ति प्रायश्चितों के आचरण से नहीं हो सकती। परन्तु यदि अन्त करण में भगवान् की भक्ति की सरिता बहने लगे तो अशुभ संस्कारों और वासनाओं का सारा कूड़ा करकट बह जाता है और अन्त:करण निष्पाप और पवित्र हो जाता है। श्री विभीषण जी ने भगवान् की शरण ग्रहण करने के बाद घोषित किया था –

उर कछु प्रथम वासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही ॥

सन्त जन अपनी वाणी से भगवद्गुणानुवाद का ही कथन करते हैं, प्रपंच वार्ता नहीं करते।

सत्युत्तमश्लोक गुणानुवादे, जुभुप्सितं न स्तवयन्ति सभ्याः।
(श्रीमद्भागवत ४.१५.२३)

इसी प्रकार—

तम् सत्यमानन्द निधिम् भजेत नान्यत्र सज्जेद्यत आत्मपातः।
(श्रीमद्भागवत २/१/३९)

जब सन्तों की वाणी भगवान् के गुणानुवाद और माहात्म्य से संम्पृक्त (सराबोर) रहती है तो उस वाणी के प्रताप से सुनने वाले श्रद्धालु भक्तों का मन निष्पाप हो जाता है यानी उनके पाप पूरी तरह निवृत्त हो जाते हैं।

यह समझना ठीक न होगा कि प्रायश्चित करने वालों का सम्बन्धित पाप क्षीण हो जाएगा परन्तु पाप का संस्कार शेष रह जायगा, उसी तरह भगवद् भक्ति के द्वारा पाप का संस्कार नष्ट हो जायगा परन्तु किए हुए पाप का फल भोगना पड़ेगा। शास्त्र का सिद्धान्त यही है कि भगवद् भक्ति से दोनों तरह का परिणाम आएगा। कृत पाप का प्रायश्चित हो जायगा, उसका परिणाम नहीं भुगतना पड़ेगा और पाप का संस्कार भी अन्त:करण से समाप्त हो जाएगा जिससे उस पाप के जड़ से मिट जाने का प्रमाण मिलेगा। इसीलिए योगी या ज्ञानी के लिए प्रत्यक्ष प्रायश्चित का विधान न करके ऋषियों ने तत्व विचार और अस्मिता त्याग का ही विधान किया है।

सिद्धान्त विचार करते समय यह न भूलना चाहिए कि भौतिक जगत् में कर्म का जो परिपाक होता है वह अन्त:करण के सस्कार और जागतिक परिस्थिति की क्रिया और प्रतिक्रिया का ही परिणाम है। हमारे संस्कार अन्त:करण में छिपे हुए जन्मान्तरों और अन्य लोकों तक जाते हैं और वहाँ उन संस्कारों के ही विकास से कार्य के फल का परिपाक होता है। यदि अन्त:करण एकदम निर्मल हो जाय और उसमें पाप के संस्कार कुछ भी न रह जायँ तो भविष्य में मरने के बाद कर्म विपाक की सम्भावना नहीं रह जाएगी। यही कर्म बन्धन का क्षीण होनां है। हमारे जो कर्म इस जन्म का प्रारब्ध बनकर फल दे रहे हैं उनके विपाक की स्थिति क्रियमाण कर्मों से अत्यन्त भिन्न है। तथापि यह कहना होगा कि प्रारब्धानुसार जो फल हमें प्राप्त होता है उसमें भी हमारे अन्त:करण के वर्तमान संस्कारों का हाथ रहता है और इसीलिए किसी के प्रारब्ध में जो अनिष्ट होने वाला है उसे बचाने के लिए यदि कोई उसके संस्कार और व्यवहार को बदलना चाहता है तो प्राय: उसे सफलता नहीं मिलती। तथापि प्रारब्ध एकदम अनिवार्य और अपरिवर्तनीय नहीं माना जा सकता—

भाविहु मेटि सकहिं त्रिपुरारी।

(रा०च०मा०)

तथा—

मन्त्र महामणि विषय व्याल के। मेटहिं कठिन कुअंक भाल के।

यह समझ लेना अत्यन्त हितकारी है कि जिन लोंगों को सन्तों की वाणी पर अत्यन्त श्रद्धा होती है उनके जीवन में यह सम्भव है कि उनके अन्तःकरण का कोई प्रबल संस्कार भी बदल जाय और इसलिए प्रारब्ध का अब अनभीष्ट दिशा में परिपाक रुक जाए या अनअभीष्ट परिणाम से बच जाने का कोई प्रसंग सहज ही बन जाय। इस प्रकार सन्त के संग से सब प्रकार के पाप दूर हो सकते हैं--

अघ की रहहिं हरि चरित बखाने।

भगवद् गुणानुवाद का श्रवण भी तमाम अनिष्टों से बचाने वाला है।

अशेष संक्लेष शमम् विद्यत्ते, गुणानुवाद श्रवण मुरारेः।

(श्रीमद्भा०)

श्री भगवान् का गुणानुवाद श्रवण करना समस्त क्लेशों का शमन करने वाला है। इस प्रकार सन्त का संग और सन्त का वचन समस्त पापों और तापों को दूर करने वाला है। समस्त शूल भी उससे दूर हो जाते हैं, यह चौपाई मे कहा हैं।

शूल अर्थात् दुःख या दर्द। सब प्रकार के दुखों या दर्दों को सन्त हरण कर लेते हैं यह कथन 'कोटि तपन हरै' (छन्द २१) के सदृश अर्थ रखता है, परन्तु एकदम समानार्थी नहीं है। शूल का सम्बन्ध दर्द से हैं परन्तु यहाँ 'शूल' शब्द दैहिक दर्दों तक सीमित नहीं माना जा सकता। तीव्र मानसिक कष्ट भी शूल के अन्तर्गत आ जाते हैं।

दैहिक शूलों को सन्त कैसे नष्ट करते हैं। इन शूलों की निवृत्ति का काम डाक्टरों का है। वे भी सारे लोगों को तो जाने दीजिए, अपने समस्त रोगियों के समस्त शूलों को दूर नहीं कर सकते। सन्तों का तो कार्य क्षेत्र भिन्न है, वे सब शूलों का हरण कैसे कर सकते हैं ? वे ऐसा करने लगें तो डाक्टर लोग कहाँ रहेंगे ?

पूर्व के सन्दर्भ में इस चौपाई का वचन है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि सन्तों की दिव्य अलौकिक शक्ति हर एक जीव के समस्त देहिक क्लेशों को मिटाने में डाक्टर की तरह व्यावहारिक जगत् में क्रियमाण है या होगी। परन्तु शरणागत भक्तों के शूल किस प्रकार पूरी तरह निवृत्त हो जाते हैं, इसके दृष्टान्त बहुत से हैं, पौराणिक भी और आधुनिक भी।

बाइबिल में ईसा द्वारा बीमारों को अच्छा करने के बड़े रोचक दृष्टान्त हैं, विशेष ध्यान देने योग्य यह दृष्टान्त है कि एक रोगी जो शय्या पर लोगों के द्वारा उठाकर लाया गया, ईसा के समक्ष आने पर उनसे यह आदेश पा गया कि अपनी चारपाई उठाओ और घर जाओ। उसने वैसा ही किया।

एक सिद्ध सन्त लखनऊ पधारे। उनके प्रमुख शिष्य को समाचार मिला। बहुत बीमार होते हुए भी वे रिक्शे से सन्त के पास किसी तरह पहुँचे। सत्संग में बैठे रहे। उसके बाद वे गुरुजी के साथ सायंकाल टहलने गए। बीमारी लापता हो गई।

प्रसिद्ध सन्त श्री योगानन्द जी (परमहंस) जो अमेरिका में बस गए थे, लड़कपन में बीमार हुए और बचने की आशा न रही। रोगी की शय्या के सामने एक सिद्ध सन्त का चित्र था, उससे एक ज्योति निकल कर उनकी देह में समा गई। वे तुरन्त अच्छे हो गए। कुछ समय

में कमजोरी भी जाती रही। (दृष्ट्व्य एक योगी की आत्म कथा (अंग्रेज़ी में)।

आदि शंकराचार्य जी ने श्री मण्डन मिश्र को शास्त्रार्थ में पराजित किया था और सुरेश्वराचार्य के नाम से अपना सन्यासी शिष्य बना लिया था। एक बार श्री सुरेश्वराचार्य को उन्हीं के एक मीमांसक सम्बन्धी ने विष दे दिया। वे मरे तो नहीं परन्तु मानसिक क्षति पहुँची। कुछ समय बाद वे श्री शंकराचार्य जी के पास पहुँचे। दण्डवत् करते ही और उनके द्वारा सिर पर हाथ फेरे जाते ही, उनकी मानसिक स्थिति और शक्ति पूर्ववत् हो गई।

गोकुल भवन, वसिष्ठ कुण्ड, अयोध्या के परमहंस मंगलदास जी अभी जन० १९८३ में जीवित हैं, आयु ८३ वर्ष से अधिक है। जब वे दुधमुँहे बच्चे थे, उनकी माता उन्हें लेकर मायके गईं। वहाँ गाँव में एक पगली थी। वह इनकी माँ से आकर बोली, अपने लालन को हमें थोड़ी देर खेलाने को दे दो तो हम अच्छी हो जाएँगी। कुछ लोगों ने इसका विरोध किया, परन्तु इनकी माँ ने यह बात मान ली। पगली इन्हें लेकर छत पर चलीं गईं। एक डेढ़ घण्टे बाद आकर कहा—लो अपना लालन, हम अच्छी हो गईं। सचमुच वह ठीक हो गई। (दृष्टव्य जीवनी)।

यहाँ केवल बहुत थोड़े से उदाहरण दिए गए हैं। स्पष्ट है कि प्रपन्न जन के शूलों का समूल नाश सन्तों की दिव्य शक्ति से हुआ ही करता है।

इसके सहस्त्रों दृष्टान्त प्रतिदिन इसलिए नहीं मिलते कि—सन्त विज्ञापन नहीं चाहते, सन्त जान-बूझकर शौक से चमत्कार नही करते, चमत्कार हो जाया करते हैं। भक्तजन जो उच्च सोपानों पर हैं,

निष्कामता में स्थित हुए, शूल-शमन के लिए सन्तों की दिव्य शक्ति का आवाहन नहीं करते। सन्त यह नहीं चाहते कि लौकिक अभिलाषाओं से चमत्कारार्थियों की भीड़ हो, क्योंकि वह विघ्नकारी होती है।

इस विषय में अति विस्मय का कारण नहीं है। आज विज्ञान ने सिद्ध कर दिया हैं कि अनेक भयानक रोग सूक्ष्म शरीर, अन्त:करण या व्यक्तित्व की विकृति से ही होते हैं, उसके बिना नहीं, उस विकृति के न रहने पर वे टिक भी नहीं सकते। सन्त की छाप अन्त:करण पर पड़ती है और फिर उससे शूल नाश होता है।

महर्षि पतञ्जलि का सूत्र है कि सत्य प्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्। (योगदर्शन २.३६) सत्य के सिद्ध होने पर वाणी के अनुसार ही परिणाम होता है। अत: सन्त के आशीर्माद से भी शूल नाश होता है।

मानसिक शूलों का तो अन्त:करण ही अधिष्ठान है, वे तो अन्त:करण को प्रभावित करके दूर किये ही जा सकते हैं, परन्तु इस प्रकार प्रभावित करने की शक्ति सन्तों में ही होती है, सबमें नहीं। जैसे श्री रामचन्द्र जी के बारे में लिखा है कि—

तारा विकल देखि रघुराया। दीन्ह ज्ञान हरि लीन्हीं माया।

उसी प्रकार वसिष्ठ जी की महिमा अंकित है—

सोक निवारेउ सबन कर, निज विज्ञान प्रकास।

यद्यपि पाप ताप और शूल नाश का उपर्युक्त अर्थ सही है परन्तु दु:ख की अत्यन्तिक निवृत्ति ज्ञान से ही सम्भव है। अत: दार्शनिक और तात्विक अर्थ यही है कि सन्त वचन ज्ञान प्राप्ति का कारण है और

ज्ञान से मोक्ष होता है—पापों तापों और शूलों की एकान्तिक निवृत्ति होती है ।

चौपाई के दूसरे चरण में कहा गया है कि सन्त वचन मोह रूप अन्धकार को सूर्य के प्रचण्ड तेज की तरह नष्ट कर देते हैं ।

मोहरूपी अंधकार है, उसी में भ्रम सम्भव है । मोह रूपी रात्रि में जगत् रूप स्वप्न दिखाई देता है । प्रचण्ड सूर्य प्रकाश में रज्जु में भासने वाला सर्प नहीं ठहर सकता, सत्य का ज्ञान हो जाता है । इसी प्रकार ज्ञान रूपी प्रकाश से मोह रूप भ्रम की निवृत्ति होती है । श्री शंकर जी ने पार्वती जी से कहा है—

'भ्रम तम रविकर वचन मम ।'
(रा०च०मा०)

भ्रम रूप अन्धकार की निवृत्ति के लिए सूर्य की किरणों के समान मेरे वचन हैं ।

श्री उद्धव जी ने श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में भगवान् (श्रीकृष्ण) से ज्ञानोपदेश पाकर स्तुति की और कृतज्ञता प्रकट करते हुए कहा-—विद्रावितो मोह महान्धकारो (११.२६.३७) । इस वचन का वही अर्थ है जो 'मोह अन्ध रवि वचन बहावै' का है । श्री उद्धव जी ने यह भी कहा—प्रत्यर्पितो मे भवतानु कम्पिना भृत्याय विज्ञानमय: प्रदीप: । ।११ २९ ३८)

भगवान् का स्वरूप सूर्य के समान ज्योतिर्मय है । सूर्यमण्डल में अन्धकार की कल्पना ही नहीं हो सकती—

राम सच्चिदानन्द दिनेसा । नहिं तहँ मोह निसा लवलेसा ।
सहज प्रकाश रूप भगवाना । नहिं तहँ पुनि विज्ञान विहाना ।।

जहाँ रात्रि है, वहीं उसके बीतने पर सबेरा होता है, 'सहज प्रकाश रूप' सूर्य मण्डल में सबेरे की भी कल्पना नहीं हो सकती।

सन्त वचन ज्ञानाधिकारी के हृदय में भगवान् का अनुभव करा देते हैं, इससे मोह निशा ठहर नहीं सकती, भवभ्रम अलग हो जाता है, भगवान् के ज्ञान से ही मोक्ष हो जाता है, यही सन्त वचन का विशेष गौरव है। यह महिमा अधिकारी के अन्तःकरण में ही प्रगट होती है।

तुम कृपालु सब संशय हरेऊ। राम स्वरूप जानि मोहि परेऊ॥

भगवान् का स्वरूप जान जाने पर भजन के सिवा कुछ अच्छा नहीं लगता—

उमा राम स्वभाव जिन जाना। तिन्हहि भजन तजि भाव न आना।

सन्त के प्रपन्न भक्त सन्त रूप ही हो जाते हैं, उन्हें विषयों में कोई सरसता जान नहीं पड़ती, केवल भगवान् की ही ओर वे सचेत और सावधान रहते हैं।

इसी तत्व को श्री गीता जी में कहा है कि जो सारे संसार के जीवों के लिए रात्रि है (समाधि-चेतना) उसमें संयमी जागता है, जिसमें सव जीव जागते हैं वह सम्यक् दर्शी ज्ञानी के लिए रात्रि है। (गीता २.६९)

सन्त सहज स्वभाव खगराया। पर उपकार वचन मन काया॥

सहज उपकारी होने से सन्त अनन्त प्रकार से परोपकार करते हैं। उसकी कोई थाह नहीं, गणना नहीं, सीमा नहीं। सन्तों की महिमा अनन्त है। उनके पुण्य भी अनन्त हैं। परन्तु उनका सबसे महान् पुण्य यही है कि वे जीव को भव-बन्धन से छुड़ा देते हैं, भव रोग नष्ट करते है, ज्ञान

व मोक्ष प्रदान कर देते हैं, मृत्यु से भी अभय कर देते हैं। वे जब भवसागर से पार करने के लिए केवट बनते हैं—गुरु कर्णधारं (श्रीमद्भागवत ११.२०.१७) 'कर्णधार सद्गुरु' (रा०च०मा०) तब वे सद्गुरु वाले काम करते हैं। इसलिए अज्ञानान्धकार को दूर करने वाले, ज्ञान प्रदान करने वाले सन्त सद्गुरु हैं। 'गुरु' शब्द में भी अन्धकार निवारण का अर्थ छिपा है। सन्त सूर्य हैं, उनके वचन किरणें हैं, उनसे मोह रूप अन्धकार निवृत्त होता है, ज्ञान प्रकट होता है। सन्त जीवन का यह पक्ष परम श्रेष्ठ और उदार है, इस प्रक्रिया में वे सद्गुरु रूप है।

सन्तों के गुणों की कोई थाह नहीं। वे अगाध हैं। उनका देखने में सीधा सादा जीवन परम रहस्यमय है। वे अकिंचन हों तो भी बादशाहों से अच्छे हैं—

वेहतर हूँ मैं शाहों से, तेरे दर का गदा हूँ।

सन्तों के गुण बहुत हैं, इतना ही नहीं, अगाध हैं, अथाह हैं। उनके अगाध गुण वेद मध्य विदित हैं, वेद में कहे गए हैं।

वेद का आध्यात्मिक और धार्मिक विषयों में परम प्रामाण्य है अत: सन्त महिमा के विषय में वेदों की भी दुहाई दी गई है।

अति प्राचीन वैदिक ऋचा में कहा है—एकं सद् विप्रा: बहुधा बदन्ति। सत् वस्तु एक है, प्राज्ञ ऋषिगण उसका बहुत प्रकार से निरूपण करते हैं। अधिकारी भेद से सन्त जन विभिन्न प्रकार से निरूपण करके कल्याण विधान करते हैं।

जैसे पुराणों में गुरु को भगवान् मानने का आदेश है और कहा है कि उनमें मरण शील मनुष्य की असद् भावना रखने वाले का शास्त्र श्रवण गज के स्नान के समान व्यर्थ है। (श्रीमद्भागवत) उसी तरह

बेद की आज्ञा है—आचार्य देवो भव। (आचार्य को देवता की तरह मानो)।

जिस तरह अन्य शास्त्रों में 'मोक्षमूलं गुरोः कृपा' कहा है, उपनिषद् में भी आज्ञा है—

स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः क्षेत्रियं ब्रह्मनिष्ठं।

वह साधक शिष्य हाथ में समिधा लेकर गुरु की ही शरण में जाय।

जैसे श्री गीता जी में आज्ञा है कि—

तद् विद्धि प्रणिपातेन प्ररिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्व दर्शिनः।।
(४.३४)

इसी प्रकार उपनिषद् में कहा है।

यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।।

सन्तो के अन्य गुणों के साथ यह भव-तारन वाला गुण श्रुति प्रतिष्ठित है, यह अन्य शास्त्रों में भी प्रतिष्ठित हुआ है।

लोकोत्तराणाम् चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हसि।

लोकोत्तर महापुरुषों के चित्त को कौन समझ सकता है?

सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम्।
(श्रीमद्भागवत ११.२६.३२)

———

तन करि मन करि बचन करि. काहू दूषत नाहिं ।
तुलसी ऐसे सन्त जन. राम रूप जग माहिं ।।२३।।

श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि जो सन्त मन वचन कर्म से किसी पर दोष नहीं लगाते, वे इस जगत् में रामरूप ही हैं ।

शास्त्रों में परदोष दर्शन को खराब ही बताया गया है, परन्तु साधारण व्यक्ति की समझ में नहीं आता कि परदोष दर्शन, कथन, प्रतिकार आदि से कैसे बचा जा सकता है ?

एक तो निज दोष दर्शन को बुरा नहीं माना गया है, आवश्ययक माना गया है, उसके लिए गुण दोष का विवेक रखना होगा । दूसरे जिसे दोष करके पहिचाना, वह लक्षण दूसरे में मिले तो दोष दर्शन कैसे नहीं होगा । इसी तरह यह कल्पना भी होती है कि व्यक्ति, वर्ग, समाज, जन समुदाय आदि को अनर्थ से बचाने के लिए भी दोषवर्जन ही नहीं, दोष प्रतिकार भी करना आवश्यक है । इसलिए यह मालूम होता है कि मन से दोष दर्शन, वचन से दोष कथन और कर्म से दोष प्रतिकार अत्यावश्यक है । इससे विपरीत शास्त्रोपदेश समझ में नहीं आता और शक्य नहीं जान पड़ता ।

प्रसंगानुकूल यहां सार्वजनिक उपदेश का प्रसंग नहीं है, सन्त लक्षण का निरूपण है । सचमुच इस लक्षण की सिद्धि एक बड़ी ही उत्कृष्ट सन्त दशा है । साधारण लोगों को यह लक्षण सिद्ध नहीं हो सकता । इस लक्षण की प्रतिष्ठा हो जाने पर तो सन्त को भगवन्त रूप ही माना है ।

तथापि दोषदर्शन से प्राप्त अनर्थ को समझना सभी साधकों के लिए हितकर है। सन्तों के लक्षण ऐसे नहीं हैं कि यदि समाज में व्याप्त हो जायँ तो अनर्थ की आशंका हो। साधारण जन के लिए भी यथाशक्य इस लक्षण को अपनाना श्रेयस्कर है। अतः इसके महत्व को समझने का प्रयास करना चाहिए। इसमें व्यावहारिक और पारमार्थिक दोनों पक्षों पर विचार करना होगा।

व्यवहारतः यह पूछा जा सकता है कि दलीय लोकतन्त्र वाले देशों में परदोष-दर्शन से कैसे बचा जा सकता है? विशेषतः चुनावो के समय तो चन्दा और निन्दा की बाढ़ आ जाती है। प्राप्त परिस्थिति परदोष-दर्शन, पर-निन्दा, संघर्ष आदि से संपृक्त (परिपूर्ण) हो तो भी परनिन्दा आदि के अनर्थकारी रूप की उपेक्षा नहीं की जा सकती। उस पर विचार करना ही होगा।

दोष वही है जो अनिष्टकारी लक्षण है, और दुःखदायी विषय से द्वेष उत्पन्न होना स्वाभाविक है, विपरीत लक्षण सुखदायी मान्य होगा, और सुखदायी विषय में राग उत्पन्न होना भी उतना ही स्वाभाविक है। व्यावहारिकता के नाम पर ही सही, परदोष दर्शक जन राग द्वेष को अपने मनों में दृढ़ करते रहेंगे और प्रभावतः समाज की एकता कम होती जायेगी, समाज बँटेगा और उसमें संघर्ष तीव्र होंगे। इससे देश, राष्ट्र या विश्व का हित नहीं सधेगा। चाहे उससे थोड़े से लोगों की स्वार्थ-सिद्धि हो जाय तो भी ऐसे लक्षण को (रागद्वेष युक्त व्यवहार को) प्रशंसनीय नहीं माना जा सकता। विष से भी वैद्य लोग काम लेते हैं, परन्तु इस उपयोग में पूरी सतर्कता रखनी पड़ती है।

दोष दर्शक के द्वारा भयंकर और अनर्थकारी भूलें सम्भव हैं—

आम लोगों में यह व्यापक प्रवृत्ति पाई जाती है कि सुनी सुनाई निन्दात्मक बातों को सहज ही सही मान लेते हैं। उसी तरह महान्

गुणों की चर्चा सुनकर सहसा सही नहीं मानते। यह प्रवृत्ति हमें धोखा दे सकती है और हम असत्य को पकड़कर अन्य लोगों को व्यर्थ ही या अत्यधिक सीमा तक बुरा समझ सकते हैं और अपने को अत्यधिक अच्छा समझ सकते हैं। जो बुराई हममें है, लाखों करोड़ों लोग उससे रहित हैं, यह मानने के लिए हमारा मन सहसा तैयार नहीं होता, अतः उस दोष का मिथ्यारोप अथवा अत्यधिक आरोप दूसरों पर होने लगता है। स्व पर बुद्धि के कारण स्वजनों का दोष स्वीकार करने का जी नहीं चाहता और विपक्षियों के दोष मान्य करने और प्रसारित करने का जी चाहता है। इसलिए भी असत्य धारणाएँ बनने लगती हैं। इन धारणाओं के दृढ़ हो जाने पर विपरीत सत्य धारणाएँ भी बाधित रहती हैं, जमने नहीं पातीं। हमारा प्रयास रहता है कि स्वपक्ष का दोष सिद्ध न होने पाए जबकि प्रतिपक्ष का दोष न हो तो भी सिद्ध हो जाय। इस अर्थ में तो वकील वाला काम व्यापक पैमाने पर लोग करते ही रहते हैं, जितनी योग्यता से वे इसे कर सकें।

अपने लिए या अपने प्रियजन के लिए हम सरलता से मान लेते हैं कि अमुक परिस्थिति में अमुक कार्य दोषवत् था ही नहीं परन्तु प्रतिपक्षी के लिए हम ऐसी बात सोचने को तैयार नहीं होते। शास्त्र का भी कथन है—क्वचिद्गुणोऽपि दोषः स्यात् दोषोऽपि विधिना गुणः।

(श्रीमद्भागवत)

कहीं गुण भी दोष हो जाता है, कहीं दोष भी विधि शास्त्र के विधान से गुण बन जाता है।

अतः कोई कार्य सचमुच किया गया हो तो भी हम उसका गलत मूल्यांकन कर सकते हैं। काकोरी में क्रान्तिकारियों द्वारा ट्रेन से सरकारी खजाना लूटा गया तो वह देश भक्ति का अंग माना गया, श्री जयप्रकाश नारायण का जेल से भाग निकलना निन्दनीय नहीं माना

गया। इसलिए प्रयोजन, परिस्थिति, सन्दर्भ आदि से अलग धारणा बनाना भ्रमपूर्ण हो सकता है।

ऐसी बातों का विचार करके अनेक मनीषी गण इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि जहाँ कर्तव्यवश आवश्यक न हो विविधि विषयों पर निश्चित सम्मति या धारणा बनाते रहना धोखे का कार्य है और शक्ति का अपव्यय है।

अपराध समाचारों को पढ़ते ही प्रायः हम अपनी राय बना लेते हैं, जबकि जजों को प्रकरण निर्णय में बड़ा समय लगता है। प्रकरण निर्णय के बाद भी हम उस निर्णय को नहीं अपनाते अपनी पूर्व सम्मति पर डटे रहते हैं। व्यावहारिकता के नाम पर इसे उचित नहीं ठहराया जा सकता। बाइबिल का उपदेश है कि 'निर्णय न करो, कहीं तुम्हारा ही निर्णय न हो जाय।' (मैथिउ)

जहाँ दोष निर्णय का कर्तव्य प्राप्त न हो, वैसे निर्णय में प्रवृत्त न होना ही अच्छा है। क्योंकि ऐसी प्रवृत्ति से बहुतों के प्रति अन्याय हो जाना सम्भव है।

आचार्य विनोवा भावे ने एक बार कहा था कि सत्याग्रही होने से भी अधिक आवश्यक है, सत्यग्राही होना। इसके लिए बहुत बड़ा साधन चाहिए कि हम अपना अन्तःकरण पक्षमुक्त, अनाग्रही, विवेकयुक्त रख सकें। विवेकालोकित निर्णय ही प्रमाणित होते हैं, और आदृत होते हैं, परन्तु विवेकीजन ऐसे निर्णय अनावश्यक रूप से करते फिरें, इस शक्तिक्षय की उन्हें प्रेरणा नहीं होती। अतः 'निर्णय न करो' वाला उपदेश ही उनके लिए सुविधाजनक है।

पुलिस के लिए, न्यायालय के लिए, गुरु, आचार्य या शिक्षक के लिए, परीक्षक के लिए, माता, पिता, पालक, संरक्षक के लिए एक

कर्तव्य क्षेत्र है जिसके भीतर निर्णय करना होता है और वह उन्हें करना चाहिए। कर्तव्य वश ऐसा निर्णय करने से रागद्वेष का उदय नहीं होता।

सही राय बना कर उस पर डटे रहना भी खतरे से खाली नहीं है। मूर्ख बालक को गुरु मूर्ख समझे और यह धारणा हो जाय तो बालक की मूर्खता दूर न होगी और पक्की हो सकती है। अतः मूर्ख को सम्भावित विवेकी विद्वान् मानना अधिक हितकर है। वर्तमान् पापी सम्भावित सन्त हो सकता है, वह सम्भावना कहीं हमारी ही दृढ़ धारणाओं से मिट न जाय, इसका भी विचार रखना चाहिए।

यह तो व्यावहारिक पक्ष हुआ। ग्रंथकार का विशेष प्रयोजन पारमार्थिक है। तात्विक दृष्टि से यह संसार त्रिगुणात्मिका प्रकृति का खेल है। इसे गुणों का प्रवाह माना गया है। प्रवाह में कुछ भी स्थिर नहीं रहता। क्षण-क्षण परिवर्तन है। जीव के स्वभाव में तीन गुणों का मिश्रण है और उसके कार्यों में इन्हीं तीन गुणों की प्रेरणा है। मिश्रण में तीन गुणों का अनुपात भी क्षण क्षण परिवर्तनीय है। एक भयंकर डाकू की भी चितवृत्ति डकैती डालते समय, गंगा स्नान और दान करते समय, कन्यादान करते समय, किसी की रक्षा करते समय एक सी नहीं रहती। इसी प्रकार सेनाध्यक्ष की वृत्ति युद्ध के समय, परेड के समय, घर में अपने बेटे के साथ, कथा सुनते समय, एक सी नहीं रहती। इसलिए किसी दोष को किसी व्यक्ति का स्वरूप भूत और स्थिर मान लेने का कोई औचित्य नहीं है। जो जिसका दोष है वह भी सबके लिए नहीं है, उनमें भी अनुमत क्षेत्र और वर्जित क्षेत्र है। साधारणतः किसी व्यक्ति के स्वभाव और व्यवहार में सहसा महान् परिवर्तन नहीं देखा जाता, परन्तु ऐसा परिवर्तन भी कभी कभी होता देखा गया है। इसलिए तात्विक दृष्टि से गुण दोषों को स्थिर मानने का कोई औचित्य नहीं है।

फिर किसी दृष्टि लक्षण के सत्य या असत्य होने का भी प्रश्न है। तात्विक दृष्टि से यह संसार एक नाटक है, हर एक जीव अपना अभिनय कर रहा है। जब तक अभिनय है वह अपना पार्ट निर्देशानुसार करेगा, जाने या बे जाने। परन्तु नाटक के बाद वह कुछ और ही है, नाटक का पात्र उसका स्वभाव नहीं। तो फिर जीवों पर पापी, दोषी आदि के लेबेल क्यों लगाए जाएँ ? उनका भी अपना स्वरूप कर्मों से परे है।

त्रिगुण भी मायामूलक है, तत्वत: सत्य नहीं। जब यह जगत् स्वप्नवत् है, मिथ्या है, तो इसमें वास्तविक गुणी व अवगुणी कहाँ हैं, प्रतीतिमान् पापी और पुण्यात्मा हैं, वास्तविक नहीं। किसी को सचमुच दोषी (या) गुणी मान लेना जगत् के मिथ्यात्व को स्वप्नत्व को भूल जाना है।

इसीलिए श्रीमद्भागवत स्कन्ध ११ अध्याय २८ में दूसरों के स्वभाव व कर्मों की प्रशंसा या निन्दा को वर्जित किया है क्योंकि इससे असत्य धारणा बन जाती है कि यह जगत् और इसका व्यवहार सत्य है, और इस तरह साधक ज्ञान से भ्रष्ट हो जाता है। (१-२)

वाचोदितं तदनृतं मनसा ध्यातमेव च।

(११.२८.४)

गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥

वेदान्त में दो पद्धतियाँ हैं—अन्वय और व्यतिरेक। व्यतिरेक पद्धति में जगत् को ब्रह्म से भिन्न मानते हैं, परन्तु स्वप्नवत् मिथ्या निरूपित करते हैं। ब्रह्म सभी दृश्यमान् (अनुभूत) जगत् के परे हैं। 'नेदं' (न इदं, यह नहीं) या नेति, नेति (यह नहीं, यह नहीं) ऐसा कहते हैं। इस व्यतिरेक दृष्टि से जगत् के हानि लाभ, जीवन मरण, यश अपयश, गुणदोष सब स्वप्नवत् हैं, कल्पित हैं, वास्तविक नहीं हैं।

दूसरों के गुण दोष जब सचमुच हैं ही नहीं तो फिर उनका चिन्तन, कथन प्रतिकार आदि कैसा ? सिनेमा के पर्दे पर यदि शेर दिखाई दे तो क्या उस पर गोली चलाएंगे ? यह ठीक है कि यह ज्ञान साधारण जनों की समझ के बाहर है और अनुभूति के भी परे है। परन्तु समझने की बात तो यही है कि सन्त की अनुभूति और सांसारिक मनुष्य की अनुभूति एक दूसरे की उल्टी होती है। इस ज्ञान (दर्शन, को लेकर जो दम्भ करेगा वह चोट खाएगा, जो इस ज्ञान में सचमुच स्थित है, वह भव पार है। अनुभूति और सत्यनिष्ठा का प्रश्न है।

दूसरी पद्धति अन्वय की है। इसमें सभी को ब्रह्म रूप देखते हैं। ब्रह्म सत्य है, व्यापक है, सभी रूपों में वही है। जगत् को भ्रम भले ही मानें, परन्तु भ्रम तो सत्य का अन्यथा ग्रहण मात्र है। हर एक भ्रम के लिए सत्य कां अधिष्ठान चाहिए। सिप्पी में चाँदी प्रतीत होती है, बिना सिप्पी के तो नहीं प्रतीत होती। रस्सी में सर्प का भ्रम होता है, बिना रस्सी के तो नहीं होता। सर्प का भ्रम मिट जाय तो रस्सी प्रतीत होगी। इस विचार धारा से स्पष्ट है कि भ्रम मिट जाय तो भगवान् की ही प्रतीति होगी। अर्थात् भ्रम निवारण के पश्चात् प्रत्येक रूप में भगवान् ही प्रतीत होंगे।

यत्सत्वादमृषैव भाति सकलं, रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः। (रा०च०मा०)

जिसके सत्व से यह सारा जगत् सत्यवत् प्रतीत होता है, जैसे रस्सी में सर्प का भ्रम होता है।

जासु सत्यता ते जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया।।

तथा—

जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे यथा सपन भ्रम जाई।।
(रा०च०मा०)

श्री गीता जी में कहा है --

वासुदेव: सर्वमिति, स महात्मा सुदुर्लभ: । (७:१९)

'सब कुछ वासुदेव ही है, ऐसी अनुभूति वाला महात्मा अति दुर्लभ है ।'

श्री रामचरित मानस किष्किन्धा काण्ड में श्री रामचन्द्र जी ने अनन्य भक्ति को समझाया है—

सो अनन्य जाके असि, मति न टरै हनुमन्त ।
मैं सेवक, सचराचर, रूप स्वामि भगवन्त ।।

'मति न टरै अर्थात् ऐसा ही भाव हर समय बना रहे, कि मैं सेवक हूँ, और सम्पूर्ण सचराचर जगत् के रूप में अपने प्रभु (ईष्टदेव) ही हैं ।

इसी प्रकार उत्तर काण्ड में ऐसे भक्तों के विषय में कहा गया है कि—

उमा जे राम चरन रत, विगत काम मद क्रोध ।
निज प्रभुमय देखहिं जगत, का सन करहिं विरोध ।।

जब तक जगत् में नानात्व (भिन्नत्व, द्वैत) भासता है, तब तक अनन्यता का इतना ही मतलब है कि हम एक मात्र प्रभु के ही उपासक है और किसी का नहीं । 'ला इलाह इल् अल्लाह' 'नहीं है कोई पूज्य सिवाय एक प्रभु के ।' परन्तु जब इलाही (पूज्य प्रभु) के अतिरिक्त कुछ भी न रह जाय, तब तो सब 'इलाही' ही है 'ला इलाह' (अपूज्य) कोई नहीं ।

वो दिल दे तेरी मुहब्बत की जिसमें बू आए ।
वो नज़र दे कि नजर मुझको तू हि तू आए ।

‘अभेद दर्शनं ज्ञानं’ अद्वैत दर्शन ही ज्ञान है, नेह नानास्ति किंचन’ (उपनिषद्) द्वैत कुछ भी नहीं है। ‘एकमद्वितीयं व्रह्म’ व्रह्म एक और अद्वितीय है । इसी एक और अद्वितीय प्रभु को सूफी सन्त ‘वाहिद’ कहते हैं, और अद्वैत दशा (समाधि) को ‘वहदत’ ।

झुका दो सर उसी को सामने आ जाय जो कोई ।
कि जव सिज्दा ही करना है तो अल्लाह सब में रहता है ।।

जहां अपने परम प्रिय. पूज्य, इष्टदेव के सिवा कोई नहीं, कुछ भी नहीं, दोष दर्शन कहां होगा ? किसमें होगा ? अत: आदर्श सन्तों के जीवन से दोष दर्शन गायब हो जाता है, ठहर नहीं सकता । यह भली भांति समझ लेना चाहिए कि ‘वासुदेव: सर्वं’ की दशा और मन, वचन, कर्म से किसी को दोष न देने की दशा, एक ही है, एक ही सिक्के को दोनों ओर के तल के समान है।

जब सर्वत्र एक मात्र वासुदेव का ही दर्शन होता है, और कुछ दृष्टिगोचर ही नहीं होता तो यही व्रह्म ज्ञान की दशा है और व्रह्म ज्ञान होने पर, ‘व्रह्मविद् व्रह्मोब भवति’ ।

जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई ।

इसलिए ऐसे सन्तों को राम रूप कह देने में कोई अत्युक्ति नहीं है, यथार्थं ही है।

इसीलिए सूफी सन्त शम्से तब्रेज के लिए, क़ुम् ब इज्ल् अल्लाह ।’ (उठ अल्लाह के हुक्म से) और क़ुम ब इज़्नी (मेरे हुक्म से उठ), (जिस वाक्य पर सुल्तान का मृत पुत्र जी उठा), में तत्वत: कोई अन्तर नहीं था ।

यहाँ सन्तों के लिए यही कहा है कि वे दोष दर्शन नहीं करते, गुण दर्शन को वर्जित नहीं किया है, इसमें भी मस्लहत है। एक तो 'अवगुण तजि सबके गुण गहहीं।' में गुण दर्शन आ जाता है। दूसरे सन्त जन भक्त जनों के उत्साह वर्धन के लिए गुण प्रशंसा तो करते ही हैं, किसी साधक के अनुकरण के लिए भी किसी महापुरुष का गुण वर्णन कर सकते हैं। फिर सन्त चरित्र, भगवच्चरित्र की तरह कल्याणकारी है, अतः सन्त गुण वर्णन तो होगा ही। श्री गोस्वामी जी स्वयं ही सन्त गुणों का वर्णन कर रहे हैं और कह ही चुके हैं कि--'वेद मध्य गुन विदित अगाधू।' (छन्द २२)

तथापि तत्वतः दोष दर्शन त्याग में गुण दर्शन का भी त्याग है। लौकिक पुरुषों के गुण दोषों के चिन्तन विवेचन से बचना चाहिए ऐसा शास्त्रों का आदेश है।

पर: स्वभाव कर्माणि न प्रशंसेन्न गर्हयेत्।
(श्रीमद्भागवत ११.२८.१)

तथा–

अन्यस्य दोष गुण चिन्तनमाशु त्यक्त्वा।
सेवा कथा रसमहो नितरां पिब त्वं॥
(श्रीमद्भागवत माहात्म्य ४.८०)

'दूसरों के दोष गुण चिन्तन को तुरन्त छोड़कर, आप भगवत्सेवा व कथा के रस का निरन्तर पान करें।'

इसी प्रकार श्री विनय पत्रिका जी में श्री गोस्वामी जी ने एक पद में प्रार्थना की है।

कबहुँक हौं एहि रहनि रहैंगो ।
श्री रघुनाथ कृपालु कृपा तें, सन्त सुभाव गहौंगो ।।१।।

यथा लाभ सन्तोष सदा, काहू सों कछु न चहौंगो ।
परहित निरत निरन्तर मन क्रम वचन नेम निबहौंगो ।।२।।

परुष वचन अति दुसह श्रवण सुनि, तेहि पावक न दहौंगो ।
विगत मान सम शीतल मन, पर गुन नहिं दोष कहौंगो ।।३।।

परिहरि देह जनित चिन्ता, सुख दुख सम बुद्धि सहौंगो ।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि, अविचल हरि भक्ति लहौंगो ।।

इस पद में श्री तुलसीदास जी ने पर गुण व दोष न कहने को सन्त की रहनि का लक्षण माना है और माँगा है। दोष कथन से हम माया के बस में रहते हैं, भगवद्गुणानुवाद से माया के पार जाते हैं ।

मुख देखत पातक हरै, परसत कर्म बिलाहिं ।
बचन सुनत मन मोहगत, पूरब भाग मिलाहिं ।।२४।।

जिनके मुखारविन्द का दर्शन करते ही पाप नष्ट होते हैं, स्पर्श मात्र से ही कर्म-बन्धन कटता है, वचन श्रवण मात्र से मोह नष्ट होता है, ऐसे सन्त पूर्व पुण्य जनित बड़े सद्‌भाग्य से ही प्राप्त होते हैं ।

यहाँ अलौकिक और उच्चतम सन्तों का वर्णन है, साधारण कोटि के सन्तों का नहीं; ऐसे सन्त न मालूम किन महान् पुण्यों से फलित प्रारब्ध वशात् दर्शन देते हैं, 'पूरब भाग मिलाहिं ।' यहाँ स्मरणीय है कि शीर्षस्थ सन्तों के महत्तम प्रभाव का वर्णन किया गया है । यंह भी भूलना नहीं चाहिए ऐसे सन्त का भी ऐसा प्रभाव प्रत्येक देश काल में हर एक व्यक्ति के लिए उपलब्ध नहीं है । यह जादू तभी सामने आता है जबकि भक्त की श्रद्धा और सन्त की कृपा का सुयोग हो । परन्तु पूर्व सन्दर्भ को लिए रहें, और ऐसा शब्दग्राही अर्थ करने का आग्रह न करें जिसमें सर्व साधारण को किसी भी साधन के करने की कोई आवश्यकता न रह जाय । तो फिर हम सद्विचार पूर्वक इस दोहे के अर्थ को समझ सकेंगे और यह स्पष्ट हो जायगा कि इसमें न शास्त्र के मन्तव्य का कोई बिरोध है, न कोई त्रुटि है, न अतिशयोक्ति है । यदि हम इसमें अतिशयोक्ति अलकार देखने लगेंगे तो श्री गोगास्वामी जी का सन्देश हम ग्रहण नहीं कर सकेंगे । हमारा कल्याण इसी में है कि हमें इसमें यथार्थ के दर्शन हों ।

मर्यादा निधान श्री गोस्वामी जी ने यह बात सावधानी से, चतुरता से, कह ही दी है कि उल्लिखित चमत्कार सबके लिए उपलब्ध नहीं। कहीं कहीं बड़े भाग्य से ऐसे सन्तों के दर्शन होते हैं।

पुण्य पुन्ज बिनु मिलहिं न सन्ता। सतसंगति संसृति कर अन्ता ।।
(रा०च०मा०)

यहाँ यह भी स्मरणीय है कि ऐसे अलौकिक सन्त चाहे दिव्य सृष्टि के हों, चाहे मानवी सृष्टि के हों, जब स्वयं कृपा करते हैं, तभी उनके दर्शन होते हैं अन्यथा यह भी बिल्कुल सम्भव है कि वे उपस्थित हों फिर भी आपके दृष्टिगोचर न हों या आप उन्हें पहचान न सकें। आध्यात्मिक शक्ति को कभी यान्त्रिक नहीं बनाया जा सकता।

पूर्व प्रसग में कह चुके है कि 'निज संगी निज सम करत, दुर्जन मन दुख दून।' (छन्द १८) मर्यादा को छोड़कर सन्तों के पास मनमाना आचरण करके दुष्ट अपना दुःख दूना कर लेते हैं। अतः जो प्रभाव यहां कहा गया है वह उच्च से उच्च कोटि के सन्तों का है और उत्कृष्ट भक्त श्रद्धालु, शरणागत जीव ही उससे लाभान्वित होते हैं।

यहां यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि पुण्यात्मा और निष्पाप भक्तों को ही ऐसे सन्तों के दर्शन हो सकते हैं, तो 'मुख देखत पातक हरें' कभी सिद्ध न होगा, क्योंकि पहले से ही निष्पाप व्यक्ति के पापहरण का प्रश्न ही नहीं उठता।

इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि मनुष्य की देह का प्रारब्ध पुण्य पाप के मिश्रित प्रभाव से बनता है। साधारणतः अलौकिक सन्त का सम्पर्क जिसे सधा वह अत्यन्त पुण्यवान् और भाग्यवान् मान्य होना ही चाहिए।

कथाओं के अनुसार ऐसा कई बार हुआ है कि सत्संग से पातकी तुरन्त सुधर गए। आज तो हम यह याद भी नहीं रखना चाहते कि महर्षि बाल्मीकि कभी रत्नाकर डाकू थे अथवा देवर्षि नारद कभी दासी पुत्र थे। इसलिए यह नहीं समझना चाहिए कि पहले पापों का नितान्त क्षय हो चुकेगा, तब उच्च कोटि के सन्त मिलेंगे और इसलिए उनके द्वारा नाश होने के लिए पाप कहाँ रहेंगे ?

समस्त पापों के नाश की जड़ बन जाती है, जब सच्चे सन्त पर श्रद्धा हो जाती है। ऐसी श्रद्धा हो जाना पापियों के लिए सहज या स्वाभाविक नहीं है—

पापतन्त कर सहज सुभाऊ। भजन मोर तेहि भाव न काऊ॥
(रा०च०मा०)

परन्तु पापी के लिए भी विशेष परिस्थितियों में, विशेष कारणों से यह सम्भव रह कि वे सन्त पर श्रद्धालु हो जाय और अनन्य निष्ठा से भजन भी करने लगें। वह सन्त रूप ही मान्य है, शीघ्र ही धर्मात्मा हो जायगा और स्थिर शान्ति को प्राप्त होगा। (गीता ९.३०.३१)

जब पापवन्त का सहज स्वभाव है कि उसे भगवद्भजन रुचता नहीं, तो अनन्य भाव से भजन कैसे कर सकता है ? पापी का पाप तो उसके भजन में बाधक ही रहता है, परन्तु कुछ ऐसे महान् पुण्य भी हो सकते हैं, जिनकी बदौलत वह सन्त की शरण में जाने की प्रेरणा पाता है और श्रद्धालु बनता है। फिर सन्त की कृपा व प्रेरणा से अनन्य भाव से भजन में भी प्रवृत्त होता है।

हर एक मनुष्य पुण्य पाप का एक संयुक्त भण्डार है। परन्तु जिस कर्म से वह सस्कार बना जिसके कारण वह सन्त की शरण में गया, वह पुण्य कर्म ही हो सकता है अत:—

पुण्यपुन्ज बिनु मिलहिं न सन्ता।

वह थोड़ा पुण्य नहीं, पुण्यों का ढेर था, जिसके कारण सन्त मिले। अत: सम्बन्धित व्यक्ति का पुण्यात्मा होना सिद्ध है।

यह एक पक्ष हुआ, दूसरा पक्ष है कि—

बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं सन्ता।

भगवत्कृपा से ही सन्त मिलते है। इन दोनों बातों में विरोधाभास है—'पुण्य पुञ्ज' सन्त मिलन का हेतु है या 'हरि कृपा'।

कर्म की गति रहस्यमय है। गहना कर्मणो गतिः (गीता) कर्म विपाक को पूरा पूरा तर्क शुद्ध भाषा में सबके समझने समझाने लायक बना देना नितान्त अशक्य है। तथापि उस द्वितीय पक्ष का विचार कुछ प्रस्तुत किया जा सकता है—

नास्त्यकृत: कृतेन। (उपनिषद्) जो कर्म का परिणाम नहीं है वह कर्म से प्राप्त नहीं किया जा सकता। ब्रह्म (भगवान्) कर्म का परिणाम नहीं हैं, अत: कर्म से प्राप्त नहीं हो सकते। यह नहीं कि उनकी प्राप्ति के लिए कोई साधन हितकारी नहीं है, बल्कि यह है कि आप अमुक अमुक साधन इतना कर चुके हैं, इसलिए भगवत्प्राप्ति होनी ही चाहिए यह नियम नहीं है। इस प्रकार कर्म का मूल्य देकर भगवान् को खरीद नहीं सकते। यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः। (जिसको यह आत्मा स्वयं पसन्द कर लेता है, उसी को प्राप्त हो सकता है।)

सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई।।
(रा०च०मा०)

इसी तरह वह सत्संग जो साक्षात् भगवत्प्राप्ति का हेतु और सोपान है, मात्र कर्म का परिणाम नहीं हो सकता। नर देह प्राप्ति भी मोक्ष का द्वार होने से मात्र कर्मजन्य नहीं मानी गई। 'कबहुँक करि करुणा नर देहीं। देतु ईस बिनु हेतु सनेही॥ (रा०च०मा०)। श्री आदि शंकराचार्य जी ने भी कहा है—

दुर्लभं त्रयमेवैतद्, दैवाग्रह हेतुकम्।
मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुष संश्रय:॥

तीन वस्तुएँ दुर्लभ हैं, भगवदनुग्रह से मिलती हैं—मनुष्य होना, मोक्ष की इच्छा होना, महापुरुष की शरण।

इसलिए परमार्थ का सब सुपास बन जाना स्वयमेव भगवत्कृपा का उत्तल प्रमाण है।

यह भरतखण्ड समीप सुरसरि थल भलो संगति भली।
(कवितावली)

अच्छे से अच्छे श्रद्धापूरित साधक के लिए भी उच्च से उच्च सन्त का यह चमत्कार कैसे होता है कि 'मुख देखत पातक हरै' दर्शन करते ही सम्पूर्ण पाप नष्ट हो जायँ।

श्री रामचरित मानस में कहा—'सन्त दरस जिसि पातक टरई।' श्रीमद्भागवत में इसी प्रकार कहा है कि—

न ह्यम्मयानि तीर्थानि, न देवा मृच्छिलामया:।
ते पुनन्त्युरु कालेन, दर्शनादेव साधव:॥
(१०.४८.३१)

जब द्रवैं दीन दयालु राघव, साधु संगति पाइये।
जेहि दरस परस समागमादिक पाप राशि नसाइये ।।
(वि०प० १३६)

श्रीमद्भागवत में श्री परीक्षित जी नें श्री शुकदेव जी की स्तुति करते हुए सन्त महिमा बताई है कि—

येषां संस्मरणात् पुसां सद्यः शुद्धयन्ति वै गृहाः।
कि पुनर्दर्शनस्पर्शं, पाद शौचासनादिभिः ।।
(१.१९.३३)

जिनके स्मरण मात्र से लोगों के घर तुरन्त पवित्र हा जाते हैं, फिर दर्शन स्पर्श चरणामृत से व आसीन होने से पवित्रता प्राप्त होने का क्या कहना !

एक अंग्रेज पुण्य पुरुष थे रोनैल्ड निक्सन। उन्होंने इंग्लैंड की बाजार में श्री गौतम बुद्ध जी की मूर्ति देखी। उसके चेहरे पर अद्भुत शान्ति जान पड़ी। श्री निक्सन बौद्ध धर्म का अध्ययन करने के लिए प्रथम विश्व युद्ध के बाद भारत आए। यहाँ उन्होंने लखनऊ तथा बनारस विश्वविद्यालयों में अंग्रेजी का अध्यापन किया। बौद्ध धर्म का तो अच्छा अध्ययन किया ही परन्तु यहाँ भारत में उन पर वैष्णव धर्म की छाप पड़ गई। वे सन्यासी भी हो गए। उनका भारतीय नाम श्रीकृष्ण प्रेम हुआ। वे प्रखर विद्वान् और उत्कृष्ट सन्त थे। स्वराज्य के बाद भी भारत में ही रहे और कालक्रम से यहीं शरीर छोड़ा। मूल प्रेरणा उनको श्री गौतम बुद्ध की मूर्ति के मुखारविन्द दर्शन से मिली।

वालि ने तो श्री रामचन्द्र जी के सन्मुख ही शरीर छोड़ा, और श्री रामचन्द्र जी से प्रश्न भी किया—

प्रभु अजहूँ मैं पातकी, अन्तकाल गति तोरि ?

श्री रामचन्द्र जी ने घोषणा की है कि—

सन्मुख होइ जीव मोंहि जबहीं । जनम कोटि अघ नासउँ तबहीं ।।
(विभीषण प्रसंग)

तब फिर श्री राम रूप सन्तों के ही लिए क्यों आश्चर्यजनक है कि उनके दर्शन मात्र से पाप नष्ट हो जायँ । तथापि पातक हरण के सन्देश में यह निहित अर्थ मानना चाहिए कि दर्शक भक्त सन्त को पहिचाने, उनकी श्रेष्ठता को समझे तथा अत्यन्त श्रद्धावान् हो । केवल आँखों से मुख देखने वालों में तो चील, कौवे और कुत्ते भी हो सकते हैं ।

विनय पत्रिका जी में जो यह कहा है—

जेहि दरस परस समागमादिक, पाप रासि नसाइये ।

इससे यह संकेत मिलता है कि पाप नाश का क्रम दर्शन से प्रारम्भ होगा, परन्तु स्पर्श समागमादि के द्वारा जारी रहेगा, तब सम्पूर्ण पाप राशि नष्ट होगी ।

बाइबिल में एक कथा है । एक स्त्री वर्षों से बीमार थी । खून गिरता था । बन्द नहीं होता था, दवा से लाभ नहीं होता था । ईसा उधर से होकर जाने वाले थे । उसने कहा कि यदि मैं उनका वस्त्र भी छू सकूँ तो मैं ठीक हो जाऊँगी । जब ईसा उधर से निकले, उसने पीछे से उनका वस्त्र छू लिया । ईसा को अपने भीतर से एक शक्ति निकल गई जान पड़ी । उन्होंने पीछे घूम कर देखा और पूछा । तब उस स्त्री का हाल मालूम हुआ । उन्होंने कहा—बेटी! तू अपनी श्रद्धा से ठीक गई । बाइबिल मार्क ५.३४.) यह वस्त्र स्पर्श का प्रभाव था । चरण स्पर्श का इससे अधिक ही होता है ।

श्री चैतन्य महाप्रभु जी का चरित्र सुविदित है कि उन्होंने कोढ़ी का सप्रेम आलिंगन कर लिया, उसका कोढ़ तुरन्त दूर हो गया। इसमें उसके अशुभ कर्म का क्षय मान्य ही है।

आदि शंकराचार्य जी ने सिर पर हाथ फेर दिया तो श्री सुरेश्वराचार्य जी की विषजन्य मानसिक विकृति या क्षति तुरन्त दूर हो गई।

श्री श्री चैतन्य महाप्रभु जी के जीवन के अन्तिम चरण की घटना है कि वे गम्भीरा गुफा (पुरी में) से निकल कर रात्रि को समुद्र तट पर जा पहुँचे। वहाँ उन्हें भगवान् सखियों सहित जल क्रीड़ारत दिखाई दिये। महाप्रभु जी भी जल में कूद पड़े। वे जल में वेहोश हो गये। कुछ देर वाद एक मछुए के जाल में फ़ँस कर बाहर निकले। मछुए ने इन्हें जाल से छुड़ाया। ये तो वेहोश पड़े रहे, परन्तु इनके स्पर्श के प्रभाव से मछुआ नगर की ओर भगवन्नाम का उद्घोष करता हुआ भागा। उससे भेंट होने पर महाप्रभु जी के भक्तों ने समुद्र तट पर जाकर महाप्रभु जी से भेंट की और उन्हें लिवा लाए। यहाँ भी स्पर्श का दिव्य प्रभाव स्पष्ट है।

बालि सुग्रीव युद्ध के प्रसंग में भी श्री गोस्वामी जी ने लिखा है–

कर सरसा सुग्रीव सरीरा। तनु ना कुलिस गई सब पीरा।
(रा०च०मा०)

श्री अहिल्या जी के प्रसंग में तो लिखा ही है–

परसत पद पावन सोक नसावन प्रगट भई तप पुञ्ज सही।
(रा०च०मा०)

सरकार के चरण स्पर्श मात्र से श्री अहिल्या जी के पाप ताप बिलाय गये। वे पवित्र और श्री गौतम जी की प्रियपत्नी पुनः हो गईं।

'गौतम सिधारे गृह गौने सो लिवाइ कै।' (गीतावली) बल्कि श्री जनक जी से व्यंग्य किया गया कि, 'रावरेऊ शतानन्द पूत भए माय के।' (गीतावली)

श्रीमद्भागवत में श्री नारद जी के पूर्व जन्म का हाल लिखा है जब वे दासी पुत्र थे। उस समय वे सन्तों की अनुमति से उनका उच्छिष्ट भोजन एक ही बार पाने से निष्पाप और भगवत्परायण हो गये थे।

उच्छिष्ट लेपाननुमोदितो द्विजैः सकृत् स्म भुञ्जे तदपास्त किल्विषः।
(१.५.२५)

यहाँ भी सन्तों के स्पर्श से पवित्र जो उच्छिष्ट लेपमात्र भोजन वह कल्मष नाश का कारण बन गया।

सन्तो की दी हुई विभूति या सन्तों के चरणामृत का यत्र तत्र जो दिव्य प्रभाव देखा जाता है, उससे रोग या अन्य अनिष्ट का तुरन्त नाश होता देखा गया है, वहाँ भी स्पर्श का प्रभाव ही मान्य है।

इस कारण भी उचित है कि विभूति, चरणामृत या चरण स्पर्श आदि की प्राप्ति में सन्तों की अनुमति के अनुसार मर्यादापूर्वक बरतना चाहिए, कोई अनधिकार चेष्टा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि दिव्य शक्ति या सन्त कृपा की लूट सम्भव नहीं है। विनय और मर्यादापूर्वक प्राप्ति ही प्रभावी और हितकर होती है।

'वचन सुनत मन मोह गत' यह उपदेश वैसा ही है जैसे पूर्व का 'अनुभव सुख उत्पति करत' (छन्द २०)। इधर ज्ञानोपदेश हुआ, उधर मोह मिटा, श्रवण मात्र से ज्ञानोत्पत्ति हुई। जैसे श्री परीक्षित श्रवण भक्ति से ही निर्भय व मुक्त हो गए। यह बात तनिक भी अतिरंजित नहीं है। आदर्श पात्र को श्रवण मात्र से तुरन्त ज्ञान होगा।

ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी । मिटा मोह सरदातप भारी ।

इसी अर्धाली के पहले कवि ने स्वयं कहा है–

सुनि शिव के भ्रम भजन वचना । मिटिगै सब कुतरक कै रचना ।
भइ रघुपति पद प्रीति प्रतीती । दारुण असम्भावना वीती ।

यहाँ भी श्रवण मात्र से भ्रम भंजन हुआ ।

इसी प्रकार रामचरित मानस में श्री गरुड़ जी ने श्री काग्भुशुण्डि जी के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करते हुए कहा कि सर्प भक्षी गरुड़ तो मैं माना जाता हूँ परन्तु मुझे स्वयं संशय रूपी सर्प ने डस लिया था। आप स्वय गरुड़ स्वरूप हो गये और संशय रूपी सर्प से मेरी रक्षा की ।

संशय सर्प ग्रसेउ मोहि ताता । दुखद लहरि कुतर्क बहु व्राता ।
तव सरूप गारुड़ि रघुनायक । मोहिं जियाएउ जन सुख दायक ।

'तथा मोह जलधि वोहित तुम भए ।'

(रा०च०मा०)

श्री पार्वती जी ने बाल काण्ड में प्रार्थना की है—

जो मो पर प्रसन्न सुखरासी । जानिय सत्य मोहि निज दासी ।।
तौ प्रभु हरहु मोहि अज्ञाना । कहि रघुनाथ कथा विधि नाना ।।
जासु भवन सुरतरु तर होई । सह कि दरिद्र जनित दुख सोई ।।
ससि भूषन अस हृदय विचारी । हरहु नाथ मम मति भ्रम भारी ।।

कथा के अन्त में उत्तर काण्ड में पार्वती जी ने घोषित किया—

नाथ कृपा मम गत सन्देहा । राम चरन उपजेउ नव नेहा ।।

श्री गीता जी में अर्जुन का अज्ञान, मोह, विषाद, उपदेश श्रवण मात्र से नष्ट हो गया और वे बोले, 'आषकी कृपा से मेरा मोह नष्ट हो गया।' (१८.७३) इसी प्रकार श्री उद्धव जी ने भगवान् श्रीकृष्ण जी के प्रति कृतज्ञ होकर कहा—विद्रावितो मोह महान्धकारो (श्रीमद्भागवत ११.२९.३७) श्री देवहूति जी ने भगवान् कपिलदेव जी से ज्ञान प्राप्त करके उनकी स्तुतति की है 'स्वतेजसा ध्वस्त गुणप्रवाहं।' (श्रीमद्भागवत ३.३२.८)

श्री रामचरित मानस में स्पष्ट घोषणा कर दी गई है—

राम चरन रति जो चहै, अथवा पद निर्वांन ।
भाव सहित सो यह कथा, करै श्रवण पुट पान ।।

श्रीमद्भागवत में भी कहा—सत्पुरुषों द्वारा प्रदत्त भगवत्कथामृत को जो कान रूपी दोनों में भर भर कर पीते हैं, वे अपने विषया विदूषित चित्त को पवित्र कर लेते हैं और अन्त में भगवच्चरणों को ही प्राप्त होते है। (२.२.३७)

यद्यपि श्रोता वक्ता ज्ञान निधि कथा राम कै गूढ़।' तथापि आदर्श श्रोता वक्ता के सयोग में यह चमत्कार दिखाई देता है। कि श्रवण के साथ ही मोह नाश होता है और तत्वानुभूति होती है।

'पूरब भाग मिलहिं' का यह अर्थ तो है कि पूर्वकाल में कुछ महान् पुण्य किए गए, उनकी बदौलत सद्भाग्य का उदय हुआ तभी ऐसे सन्त किसी को मिले अथवा मिलते हैं। परन्तु भाग्य तो सदैव पूर्व कर्मो का परिपाक होता है तो फिर 'पूरब' भाग कहने का क्या तात्पर्य हो सकता है ? उपर्युक्त अर्थ को तो सही नानना चाहिए परन्तु बिना उस अर्थ को खण्डित या असिद्ध किए यह कहा जा सकता है कि प्रयुक्त शब्दों से

कुछ और अर्थ भी ध्वनित होता है जो पूर्व कथित अर्थ का विरोधी नहीं है।

श्री रामचरित मानस में यद्यपि विवाहेह पूर्व श्री महारानी जी के पूर्वानुराग का प्रकरण है परन्तु कहा है—प्रीति पुरातन लखै न कोऊ ।। (पुरानी प्रीति थी, यह कोई जान नहीं पाया) ऐसी प्रीति को मुहावरे में 'पुर्बिली प्रीति', पहले की प्रीति, कह देते हैं, जिसमें पूर्व जन्म की प्रीति का लक्ष्यार्थ रहता है। अंग्रेजी में कहावत है, 'ब्याह स्वर्ग में ही निश्चित होते हैं, तदनुसार विवाह संस्कार पृथ्वी लोक में होते हैं।' एक और कहावत है, 'फाँसी और ब्याह भाग्यानुसार ही होते हैं।' जितना स्थायी सम्बन्ध इस लोक में पति पत्नी का होता है, (यद्यपि उसका स्थायित्व क्षीण होता जा रहा है), उससे कहीं अधिक स्थायी गुरु शिष्य सम्बन्ध आध्यात्मिक जगत् में देखा जा सकता है। यह कभी कभी अनेक जन्मों तक चलता रहता है। यानी एक न एक रूप में सम्पर्क चलता रहता है और मार्ग दर्शन होता रहता है। दिव्य शक्तियाँ दृष्ट अदृष्ट रूप में साधकों की सहायता करती रहती हैं। हो सकता है कि पहले कोई सन्त अलक्षित रहकर किसी साधक की सहायता करते रहे हों, अब साक्षात् सम्पर्क का समय आ गया हो। अत: पूर्व जन्म (या जन्मों) के भाग्य के सिलसिले से ऐसे सन्त मिलते हैं, ऐसा भावार्थ ग्रहण किया जा सकता है। दिव्य सन्तों का सम्पर्क चाहे जितना आकस्मिक और सांयोगिक जान पड़े, ऐसा आभास हमारी दृष्टि के अति सीमित होने के कारण होता है, दिव्य सृष्टि और दृष्टि में वह आकस्मिक नहीं क्रमागत ही है, और पूर्व जन्मों में उसके सन्दर्भ सूत्र रहते ही हैं। अत: 'पूरब भाग' से ऐसे सन्त मिलते हैं, सबको नहीं मिलते, सब पहिचान नहीं सकते, आकृष्ट नहीं होते, लाभान्वित नहीं हो पाते। श्री रामचन्द्र जी ने बनवास के विषय में कहा—

मुनि गन मिलन विशेष वन, सबइ भाँति हित मोर ।
(रा०च०मा०)

परन्तु हम सब लोगों को 'मुनि गन मिलन' सब प्रकार से हितकारी कहाँ लगता है ? अत: वे बड़भागी हैं उनका भाग्य जागा है, महान् पुण्य परिपाक हुआ है जिन्हें ऐसे आदर्श सन्त का संश्रय (संरक्षण) प्राप्त हो । पहले का न मालूम कौन सा उत्तम भाग्य फलित होकर अब मिला है ।

अति कोमल अरु विमल रुचि, मानस में मल नाहिं ।
तुलसी रत मन होइ रहै, अपने साहिब माहिं ।।२५।।

श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि सन्त अति कोमल स्वभाव और और निर्मल रुचि वाले होते हैं उनके हृदय में कोई मैंल (पाप, दोष आदि) नहीं होंता । वे मन से अपने इष्टदेव में ही मग्न रहते हैं ।

'कोमल बानी सन्त की' (छन्द १९ तथा २१) पहले बता चुके हैं । यहाँ हृदय की कोमलता से मतलब है । यह नहीं कि सन्त का दिल कमजोर रहता है । हृदय की कोमलता कुछ आधारों पर शास्त्रों में कही गयी है । एक आधार पर दुःख कातरता है । सन्त दूसरों के दुःख से द्रवित होते हैं इसलिए कोमल हृदय के माने गये हैं, अपने दुःख को सहने में वे वज्र के समान कठोर हैं, पर्वत के समान अचल हैं ।

सन्त हृदय नवनीत समाना । कहा कविन पर कहै न जाना ।।
निज परिताप द्रवै नवनीता । पर दुःख द्रवैं सन्त सुपुनीता ।।

नीर क्षीर का प्रेम साहित्य और शास्त्र में प्रसिद्ध है । जल दूध से मिलकर दूध के भाव बिकता है, परन्तु दूध जब उबाला जाता है तो पानी पहले क्षय होता है, दूध का नम्बर बाद में आता है । यह परस्पर प्रेम माना गया है । श्री राम लक्ष्मण की प्रीति इससे भी ऊँची मानी गई है । लंका काण्ड में श्री लक्ष्मण घायल और मूर्छित हो गये । संजीवन

बूटी पा जाने के बाद सचेत हुए तो उनसे हाल पूछा गया। वे बोले—

ईशान्मात्रमहं वेद्मि स्फुटम् यो वेत्ति राघवः।
वेदना राघवेन्द्रस्य केवलं वृणिनो वयम्॥

(श्री हनुमन्नाटक)

श्री गीतावली जी में श्री गोस्वामी जी ने इसी भाव का अनुपम चित्रण किया है—

हिरदय घाउ मेरे, पीर रघुवीरै।
पाइ सजीवन जागि कहत यों, प्रेम पुलकि बिसराइ सरीरै।
मोहि कहा बूझत पुनि पुनि, जैसे पाठ अरथ चरचा कीरै।
शोभा सुख छति लाहु भूप कहँ, केवल कांति मोल हीरै।

श्री लक्ष्मण के घाव लगा, दर्द राम जानें यह प्रीति नीर क्षीर से ऊँची रही, वहाँ दोनों तपाए जाते हैं, तो जल अपना बलिदान पहले करता है, यहाँ घाव एक को, दर्द दूसरे को है। इसलिए पद के अन्त में कहा गया है कि—

उपमा राम लषन कि प्रीति की, क्यों दीजै क्षीरै नीरै ?।

दूसरे के दुःख दर्द से व्यथित होना ही पर दुःख कातरता है—

'पर दुख दुख सुख सुख देखे पर।'
आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुखं, स योगी परमोमतः॥

(गीता ६.३२)

जो अपने समान ही दूसरे का सुख दुःख जानता है, वही परम योगी है यही सन्त की कोमलता है।

नारद देखा विकल जयन्ता। लागि दया कोमल चित सन्ता।।

अपने दुःखों से दुःखी होना, मायावश जीव का सहज लक्षण है, परन्तु पर दुःख कातर होना और ममता व अभिमान् रहित मैत्री और करुणा से प्रेरित होना (गीता १२.१३) सन्त का करुणा धर्म है, सन्त का सहज, स्वाभाविक गुण है और यही सन्त की कोमलता है। सन्त रोते बिलखते नहीं, परन्तु पर दुःख निवारण हेतु त्याग करने में वे ही आगे रहते हैं। सिक्खों के गुरु अर्जुनदेव जी और गुरु तेगबहादुर जी का बलिदान इस विषय के प्रबल प्रमाण हैं।

सन्त की एक और कोमलता है, जो इससे सम्बन्धित ही है। प्रेम से जो अत्यन्त प्रभावित होता है, वह कोमल है, अप्रभावित रहता है, वह कठोर है। भगवान् प्रेमवश हैं, यह उनकी कोमलता है, सन्त शुद्ध प्रेम की (मिथ्या मोह की नहीं) कदर करते हैं, यह उनकी कोमलता है। शरणागत प्रेमालु व्यक्ति (चालाक, धोखेबाज नहीं) के प्रति कोमल होना सतोगुणी वृत्ति है। इसलिए सन्त प्रेम का तिरस्कार नहीं करते, यद्यपि नियम, मर्यादा आदि के निर्वाह में वे कठोर रहते है और इसी मे उनकी शोभा है। जहाँ माया उनको ममता के बन्धन में डालकर अधर्म मार्ग में ले जाना चाहती है, वहाँ तो वे प्राय: अत्यन्त कट्टर, दृढ़ निश्चयी बेमुरव्वत और कठोर सिद्ध होते हैं, अन्यथा वे सच्चे प्रेम के प्रति अति आभारी और कोमल पाए जाते हैं।

सन्तों की सबसे विचित्र, दिव्य, चमत्कारिक कोमलता भगवत्प्रेम विषयक है। पूर्व कथित कोमलता एक प्रकार से इस कोमलता का सोपान है। करुणा धर्म के आचरण से जिसका हृदय शुद्ध से शुद्धतर होता जाता है, वही इस सोपान पर कोमलता का अधिकारी है। यह कोमलता भगवद्भाव के अंकुरित होने का सहज लक्षण है।

रामहि सुमिरत रन भिरत देत, परत गुरु पाउ ।
द्रवै स्रवै पुलकै नहीं, सो नर खेहर खाउ ।।
(दोहावली)

जो विषम परिस्थिति में पड़कर भी व्यथित और चिन्तित नहीं होता वह भगवद्गुणानुवाद के कथन या श्रवण के अवसर पर कैसे द्रवित, स्रवित, पुलकित हो जाता है यह लौकिक जनों के लिए आश्चर्य का विषय है । परन्तु यौगिक दृष्टि से इसमें कुछ भी आश्चर्य की बात नहीं है ।

जेहि लागि विरागी अति अनुरागी, विगत मोह मुनि वृन्दा ।

जगत् से वैराग्य भगवत्प्रेम की पात्रता है । अत: भगवत्प्रेम सम्बन्धी कोमलता वैराग्य की नींव पर ही खड़ी होती है । जहाँ विशुद्ध भगवद्भाव अंकुरित नहीं है, वहाँ भी अन्य कारणों से अश्रुपात, पुलकावली आदि लक्षण पाए जाते हैं, परन्तु वे उसी प्रकार प्रशंसनीय नहीं हो सकते ।

निसर्ग पिच्छलस्यान्ते तदभ्यासपरोऽपि च ।
सत्वाभासा विनाऽपि स्युः क्वाप्यश्रु पुलकादयः ।।
(हरि भक्ति रसामृत सिन्धु)

कहीं कहीं भगवद्भाव के उदय के बिना भी नैसर्गिक (प्राकृतिक) रूप से, अन्त:करण के पिच्छिल होने से अथवा तत्सम्बन्धी अभ्यास से भी आँसू बहाना या पुलकित होना–जैसे लक्षण पाए जाते हैं । आजकल तो विलाप विशेषज्ञ भी किराये पर बुलाये जा सकते हैं ।

सन्तों की दृष्टि में–

कुलिश कठोर निठुर सोइ छाती । सुनि हरि चरित न जो हरषाती ।।
(रा०च०मा०)

तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद् गृह्माणैर्हरि नाम धेयैः ।
नि विक्रियेताथ यदा विकारो, नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः ॥
(श्रीमद्भागवत २.३.२४)

साधारण सांसारिक जनों में जो कोमलता दिखाई देती है । वह प्रायः ममता प्रेरित होती है अथवा शिष्टाचार मात्र । कभी कभी दाम्भिक भी होती है । यह कोमलता सन्तों में नहीं होती है । करुणाजनित कोमलता होती है, या फिर भगवत्प्रेम से सम्बन्धित कोमलता होती है,

जग ते रहु छत्तीस ह्वै, राम चरण छत्तीन ।
(दोहावली)

संसार से ३६ की तरह (विमुख) होकर रहो, श्री राम चरणों में ६३ (सन्मुख) होकर रहो ।

तुलसी दो में एक ही, खेल छांड़ि छल खेलु ।
कै ममता करु राम सों, कै ममता परहेलु ॥ (दोहावली)

जे जन रूखे विषय रस, चिकने राम सनेहु ।
तुलसी ते प्रिय राम के, कानन बसैं कि गेहु ॥ (दोहावली)

श्री राम सनेह में चिकने (कोमल) रहना सन्त जीवन का गौरव है ।

बाहरी जीवन में सन्त विचित्र प्रकार से अभावग्रस्त, अकिंचन, रूखे अथवा अशिष्ट भी दिखाई दे सकते हैं, परन्तु वह उनका असली रूप (स्वरूप) नहीं है । अपने आन्तरिक जीवन में उनका मन कोमल ही नहीं, अति कोमल होता है । भगवान् के प्रति व अन्य सन्तों के प्रति उनका भाव अति कोमल रहता है ।

जो जन 'सीय राम मय सब जग जानी' वाले भाव से बरतने लगते हैं, उनकी कोमलता वाह्य जीवन में भी व्याप्त दिखाई देती है, परन्तु यह कोमलता कभी उनकी साधन सम्बन्धी दृढ़ता को नष्ट नहीं करती। ऐसा दिव्य होता है सन्त का जीवन।

सन्तों की अति कोमलता के साथ उनकी रुचि की विमलता का भी कथन किया गया है। मलीन रुचि कैसी होती है और विमल रुचि कैसी होती है ? इस पर विचार करना चाहिए।

जहाँ जिसको सुख मिलता है वहीं उसका प्रेम होता है, रागात्मिका वृत्ति बनती है। सुखदायी विषय में ही व्यक्ति की प्रवृत्ति होती हैं, उसी विषय में उसकी रुचि रहती है।

साधारण व्यक्ति का सुखाभास इन्द्रियार्थों में होता है, विषयों में उसकी स्पृहा रहती है। इस स्पृहा की अनियन्त्रित और अमर्याजित बाढ़ से साधारण लौकिक जीवन में भी अनर्थ और विनाश की परिस्थितियाँ बनती हैं। नितान्त अविवेकी पुरुष अपनी विषय की अभिलाषा को पूरा करने के लिए कुछ भी अनर्थ कर सकता है और झेल सकता है। ऐसी जो विषय रुचि है, जो पशुवत् विवेक शून्य है, निज पर सम्बन्धी अनिष्ट परिणामों के विषय में पूर्णतः प्रमत्त (गाफिल) है, लापरवाह है, वह मलीनतम है।

ज्यों ज्यों विवेक का दखल होता है, रुचि परमार्जित होने लगती है। बहुत सी लौकिक जीवन की मर्यादाएँ अनर्थ निवारण के ही लिए हैं। उनका प्रयोजन यही है कि अधिक से अधिक मनुष्यों को एक मान्य स्तर तक अपनी अभिलाषाओं की पूर्ति का क्षेत्र मिले, संघर्ष और विनाश का ताण्डव नृत्य न प्रारम्भ हो जाय। इन मर्यादाओं का मन से स्वीकार कर लेना और दृढ़ता से पालन करना रुचि का प्राथमिक परिमार्जन है।

धर्म भाव से इससे आगे भी रुचि का परिमार्जन होता है। जहाँ हमें विशेष सुविधाएँ प्राप्त हैं, जो दूसरों को नहीं प्राप्त हैं, वहाँ यदि हम अपनी सुविधाओं को निःसंकोच नहीं भोग सकते, दूसरे से सहानुभूति होती है, दान और सेवा में प्रवृत्ति होती है, वहाँ रुचि और निर्मल होती है।

फिर एक सोपान आता है जब यह प्रतीत होता है कि इन्द्रियों के विषयों के भोग का परिणाम कभी अनर्थ शून्य हो ही नहीं सकता।

> ये हि संस्पर्शजा भोगा, दुःख योनय एव ते,
> आद्यन्तवन्तः कौन्तेय, न तेषु रमते बुधः ॥
> (गीता ५.२२)

दूसरे विश्वयुद्ध के प्रारम्भ से कुछ वर्ष पूर्व प्रोफेसर हैरोल्ड लास्की ने लिखा था कि यदि विश्व युद्धों से बचना है तो कम से कम मनुष्यों को इन्द्रियों के सुखों से उठकर बौद्धिक सुखों में प्रवृत्त होना चाहिए, क्योंकि नए व्यक्ति को जमीन तभी मिल सकती है, जब किसी और की जमीन कम हो जाय, परन्तु ज्ञान के क्षेत्र में ऐसा प्रतिबन्ध नहीं है। शेक्सपियर का पूर्ण ज्ञान कोई अर्जित कर ले तो भी अन्य लोगों के लिए पूरा ज्ञान प्राप्त करने का क्षेत्र कम नहीं होता। इस दृष्टि से अध्ययन और शोध में लगे हुए लोग विश्व शान्ति के लिए सहायक हैं। निःसन्देह बौद्धिक सुखार्थी साधारण विषयार्थियों से अच्छे हैं। उनकी रुचि की मलीनता कम हो चुकी है।

भोज प्रबन्ध नामक एक ग्रन्थ में एक कथा है। राजा भोज रास्ते में जा रहे थे। उन्हें एक लकड़हारा मिला, जो सिर पर लकड़ी का भारी बोझ लिये जा रहा था। राजा ने पूछा—अपि भारो बाधति? (क्या बोझ कष्ट देता है?) उसने उत्तर दिया—'भारो न बाधते राजन् यथा

बाधति बाधते। (हे राजा साहब ! बोझ इतना कष्ट नहीं देता जितना कि (आपके द्वारा गलत प्रयोग किया हुआ शब्द) 'बाधति' कष्ट देता है। बौद्धिक जगत् में विशेष रुचि रखने वाले लोग, प्रायः बहुत से भौतिक अभाव की परवाह नहीं करते।

विद्या व्यसनी कुछ मामलों में श्रेष्ठ अवश्य हैं, परन्तु विद्या-व्यसन भी एकदम निरापद नहीं हैं। पाण्डित्य के क्षेत्र में भी अभिमान् मद, मत्सर आदि का प्रभाव रहता ही है। इसलिए कवियों, लेखकों, शास्त्रियों आदि में परस्पर प्रतिस्पर्धा, संघर्ष, विरोध, प्रतिरोध आदि देखा जाता है।

संस्कृत व्याकरण के क्षेत्र में एक प्रबल उदाहरण मिलता है। पाणिनि के सूत्रों पर प्रसिद्ध विद्वान् पण्डित भट्टोजी दीक्षित ने अपनी विशद पुस्तक सिद्धान्त कौमुदी लिखी। मुग़ल राज्य कालीन पण्डितराज जगन्नाथ ने इसका खण्डन करते हुए अपना ग्रन्थ लिखा। भट्टो जी दीक्षित को मरने के बाद भी यह खण्डन सहन नहीं हुआ। अतः उन्होंने अपने वंशज को आज्ञा दी कि वह उसका प्रतिवाद लिखे। उसने कहा, भला मैं पण्डितराज जगन्नाथ के ग्रन्थ का खण्डन कैसे कर सकता हूँ? वे बोले, 'यह कुछ नहीं। तुम रोज रात को अमुक पेड़ के नीचे आ जाया करो। मैं स्वयं तुम्हें प्रतिवाद ग्रन्थ लिखा दूंगा।' इस प्रकार एक नया ग्रन्थ 'चन्द्रोदय टीका' तैयार हुआ और भट्टो जी दीक्षित ने अपने पक्ष का मण्डन (मरने के बाद भी) किया।

शास्त्र वासना भी एक वासना है, और बहुत बार तो एक लौकिक वासना है, इसलिए एकदम निरापद कभी नहीं हो सकती। बहुधा विद्वान् इसलिए उपहासास्पद हो जाते हैं, कि अपनी बौद्धिक उड़ानों में वे जो कुछ प्रतिपादित करते हैं, तदनुसार ढला हुआ उनका जीवन नहीं दिखाई देता।

प्रसिद्ध अंग्रेजी विद्वान् समालोचक और कवि सैमुएल् जॉन्सन् ने एक विशद कविता लिखी 'मानव अभिलाषाओं की व्यर्थता।' अन्य वासनाओं की तरह शास्त्र वासना की भी व्यर्थता किसी सोपान पर जाकर सिद्ध होती है। वह अपवाद रूप नहीं है। जो विद्वान् अपने विचारों पर स्वय ही आचरण नहीं कर पाता, वह यह आशा कैसे कर सकता है कि उसके विचार पाठकों के जीवन को प्रभावित करेंगे।

इसीलिए श्री शंकराचार्य जी ने 'शास्त्र व्याख्यान कौशल' को भी कहा है कि वह भोग के लिए है, मोक्ष के लिए नहीं, 'भुक्तए न तु मुक्तए।' (विवेक चूड़ामणि)

इसलिए शास्त्र प्रवृत्ति भी अपेक्षाकृत अच्छी भले ठहरेगी, एकदम निर्दोष या निर्मल नहीं।

जहाँ विशुद्ध परोपकार (व निःस्वार्थ) भाव से कोई सेवा की जाती है, मन से, वचन से या कर्म से, वहाँ रुचि विमलतर है। परन्तु मान बड़ाई ईर्ष्यादि विकारों से रहित विशुद्ध सर्वभूत हित की दृष्टि से की हुई सेवा विरल ही देखी जाती है। वह मुक्त पुरुष का ही क्षेत्र है। साधारण परोपकार कार्य के साथ कुछ न कुछ मलिन वासनाएं जुड़ी रहती हैं या जुड़ जाती हैं।

श्री स्वामी रामतीर्थ एक बार अमैरिका के एक पार्क में विश्राम कर रहे थे। किसी ने उनसे कहा, 'क्या काहिल (आलसी) पड़े हो? जाओ कुछ अच्छा काम करो।' वे बोले, 'जहाँ तक अच्छा काम करने का सवाल है क्या उस पेशे में अभी भी बहुत भीड़ नहीं है?' तो वासना कैसा भी वेश बनाकर आए वह विशुद्ध कभी नहीं होती। सन्तों की रुचि निर्मल इसलिए होती है कि वह निर्वासनिक होती है।

वासना और उससे प्रेरित कार्यों की एकान्तिक निन्दा व्यावहारिक दृष्टि से ठीक न होगी, समाज में बहुत सा आवश्यक कार्य वासनाओं के वश होकर ही किया जा रहा है, बहुत से उपयोगी कार्य भी ऐसे ही हैं, अत: प्रेरणा का नाश नहीं शुद्धि चाहिए। प्रेरक रुचि जितनी निर्मल हो जाय उतना ही अच्छा, क्योंकि रुचि की मलीनता से अनर्थ परिपाक होगा।

एक महान् मनोवैज्ञानिक मैक्डूगल ने लिखा था—'यदि मानव की सहज प्रवृत्तियाँ और तत्सम्बन्धी संवेग हटा लिए जायँ तो शरीर उसी प्रकार निश्चेष्ट पड़ा रहेगा, जैसे वह घड़ी जिसकी बालकमानी निकाल ली गई हो।' परन्तु साधारण मनोवैज्ञानिक की अनुभूत सृष्टि के परे एक और दुनिया है, जहां वासना की प्रेरणा है ही नहीं। उस दुनियाँ वाले प्राय: दिव्य शरीरधारी हैं, परन्तु मानव शरीर धारी कुछ व्यक्ति भी उस दुनियाँ के सदस्य हैं। इन्हें वासना की प्रेरणा बिल्कुल नहीं है।

ऐसा नहीं है कि ये कर्म नहीं करते। इनका जीवन बालकमानी रहित घड़ी की तरह बिल्कुल निश्चेष्ट नहीं होता। कभी कभी तो इनकी सक्रियता आश्चर्यजनक होती है–उदाहरणार्थ आदि शकराचार्य का जीवन, स्वामी विवेकानन्द व स्वामी रामतीर्थ का जीवन, श्री महर्षि अरविन्द का जीवन। ऐसे सन्त अति विमल रुचि वाले होते हैं।

श्री महर्षि अरविन्द के दर्शन में समझाया गया है कि विशुद्ध लोकोपकार या लोकोद्धार कार्य अभिमान् सहित नहीं होता। अभिमान विसर्जन के बाद भगवत्प्रेरणा से ही होता है। श्री अरविन्द दर्शन में कहा गया है कि भागवत सत्ता (भगवान् की शक्ति) तो जगत् के उद्धार में प्रवृत्त है ही, यदि हम अस्मिता (अभिमान्) विसर्जित करके अपने को

उसके समर्पित कर दें तो वह शक्ति हमारे अन्त:करण के माध्यम से भी कार्य करेगी। अति विमल रुचि तो वही है जो उस समय प्रकट होगी। सारांश यह है कि जो भगवत्प्रेरित रुचि है वह अति निर्मल है, शैतान प्रेरित रुचि मलीन है, मायाकृत वासना से प्रेरित रुचि मलीन है। कुरान के आदि में प्रार्थना है—इहदि नस् सिरातुल मुस्तक़ीम। (हे ईश्वर मुझे सीधी राह ले चल।' और कुरान् के लगभग अन्त में प्रार्थना है कि 'मुझे शैतान के वसवसे (दुष्प्रेरणा) से बचा।' बाइबिल में भी प्रार्थना की गई है कि 'हे प्रभु ! मुझे प्रलोभनों से बचाकर शुभ मार्ग में ले चल।'

वेद में भी कहा है—

अग्ने नय सुपथा राये। हे अग्निदेव मुझे सत्पथ पर ले चलिए।

मन: सूक्त के ६ मन्त्रों में से हर एक के अन्त में कहा है—

'तन्मे मन: शिव संकल्पमस्तु' वह मेरा मन शुभ संकल्पों वाला हो।

इस प्रकार भगवत्सत्ता प्रदत्त रुचि ही निर्मल रुचि है।

श्रीमद्भागवत के वेणुगीत नामक दशम स्कन्ध के एक्कीसवें अध्याय में गोपियों ने वंशी माधुरी का अपूर्व वर्णन किया है, इसमें वे यह प्रश्न उठाती हैं कि—

गोप्य: किमाचरदयं कुशलं स्म वेणुर्दामोदराधर सुधरमपि कोपिकानां
भुंक्ते स्वयं यदवशिष्टरसं हृदिन्यो हृष्यत्त्वचोऽश्रु मुमुचुस्तरवो यथाऽऽर्या:।
(१०.२१ ६)

अरी गोपियों ! इस वंशी ने कौन सा पुण्य किया है कि यह बराबर भगवान् के ओठों से लगी रहती हैं। गोपियों के लिए जो

श्रीकृष्ण का अधरामृत है उसे यह स्वयं पी लेती हैं ? बचा खुचा रस हम लोगों को मिलता है।

रसिक जनों ने इसका उत्तर दिया है। वंशी ने अपने अन्तःकरण को विल्कुल खाली कर दिया है, अपने को भगवान् के हाथो में समर्पित कर दिया है, अब उसमें से अपना कोई स्वर नहीं निकलता। जो स्वर लहरी भगवान् भरते हैं, वही उसमें से निकलती है। अतः वंशी को यह सौभाग्य प्राप्त है।

यदि हम लोग भी इस तरह भगवान् को अन्तःकरण समर्पित कर दें और भगवान् की प्रेरणा ही उसमें काम करे तो हम भी भगवान् से अभिन्न हो सकते हैं। फिर भगवान् की ही इच्छा और लीला से जो रुचि प्रगट होगी, वह अति विमल होगी ही।

मानस का मल क्षीण हो जाने पर विमल रुचि देखी जाती है, परन्तु मल के एकदम नष्ट हो जाने पर तो अति विमल रुचि होगी ही इसमें कोई सन्देह नहीं।

श्री गोस्वामी जी कहते हैं—

नयन मलिन पर नारि निरखि, मन मलिन विषय संग लागे।
हृदय मलिन वासना मान मद, जीव सहज सुख त्यागे॥
पर निन्दा सुनि श्रवन मलिन भए, वचन दोष पर गाए।
बहु प्रकार मल भार लाग, निज नाथ चरण विसराए॥
(वि०प०)

विषयासक्ति ही मन का मैल है, वासनाएँ ही हृदय का मैल हैं, मान मद ही वह मैल है, जिसके कारण हम भगवान् से अलग रहते हैं और भजन का वास्तविक सुख नहीं पाते।

काम विकार के प्रताप से स्त्री शरीर में अत्यन्त रमणीयता और सुख का आभास होता है, उससे हमारी रुचि बिगड़ जाती है—

ज्यों चितई परनारि सुने चातक प्रपंच घर घर के।
त्यों न साधु सुरसरि तरंग, निरमल गुरगन रघुवर के।।
चन्दनि चन्द्र वदनि पट भूषन, ज्यों चह पाँवर परस्यो।
त्यों रघुपति पद कमल परस को तनु पातकी न तरस्यो।।
(वि०प०)

यह मन का बिगाड़ है जो हमें अल्प (सीमित, क्षुद्र, अनित्य) में आसक्त कर देता है और भूमा (अनन्त, व्याप्त, चिरन्तन) से अलग रखता है, उसकी क़दर करने लायक नहीं रहने देता। अतः यह मन की मलीनता है। श्री विल्व मंगल जी ने तो नारी रूप के आकर्षण से अलग रहने के लिए अपनी आंखें ही फोड़ ली थीं, परन्तु भगवान् के अपार सौन्दर्य का दर्शन करते हुए मस्त रहने का अधिकार और अवसर प्राप्त किया था। श्री विल्वमंगल जी माधुर्य के सागर भगवान् श्रीकृष्ण के रूप के ही प्रेमी हो गए थे—

बालं नीलममी वयं मधुरिम स्वाराज्य माराध्नुमः।
(श्रीकृष्ण कर्णामृत)

श्री सूरदास जी महाराज भी बाहरी शोभा व नारी सौन्दर्य नहीं देख पाते थे, लेकिन जो दिव्य दर्शन उनको होता था, उसके कारण उनके पदों में जो अलौकिकता, सजीवता, विशदता प्राप्त है, उसे देखकर लौकिक दृष्टि रखने वालों को आश्चर्य होता है कि कोई अन्धा व्यक्ति ऐसा सजीव व सचित्र वर्णन कैसे कर सकता है! इसलिए सूर पंचशती के अवसर पर एक कवि ने (जो कि स्नातक कक्षाओं में अंग्रेजी पढ़ाते हैं) अत्यन्त प्रेम से एक पद श्री सूरदास जी को श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए लिखा है, जिसमें कहा है—

सूर तुम्हारी दृष्टि मिले तो, दोनों नयन निछावर कर दूं।
('सुकवि विनोद' मासिक सितम्बर ८०)

श्री गोस्वामी जी स्वयं पत्नी के व्यंग्य से प्रभावित होकर, नारी आकर्षण से विरत हो गए और भगवद्रूप रसिक हो गए—

कटती है रघुनाथ संग, बाँधि जटा सिर केस।
हम तो चाखा प्रेम रस, पत्नी के उपदेश।।

इस दोहे से गोस्वामी जी अपनी पत्नी के प्रति कृतज्ञ सिद्ध होते हैं और यह कल्पना ध्वस्त हो जाती है कि राम चरित मानस में कुछ (प्रतीतित: स्त्री विरोधी) वचन इसलिए पाये जाते हैं कि श्री गोस्वामी जी पत्नी से व्यथित थे और उन्हें नारी वर्ग से वितृष्णा हो गई थी। अन्य सन्त भी जो घटना क्रम से नारी सौन्दर्य को छोड़कर भगवान् के रूपामृत सागर में मग्न हो वए, सम्बन्धित नारी से व्यथित नहीं हुए। श्री विल्वमंगल जी का 'श्रीकृष्ण कर्णामृत चिन्तामणिर्जयति' (चिन्तामणि की जय हो) से प्रारम्भ होता है, और श्री जयदेव जी ने श्री गीत गोविन्द के आरम्भ में ही 'पद्मावती चरण चारण चक्रवर्ती' लिखा है। यहाँ ग्रहणीय विचार यह है कि हाड़ मांस के देह में आसक्ति होना मन का मैल है, इसके धुल जाने पर ही भगवद्रस की बहार आती है। कार्य रूप (परिणाम रूप) जो शरीर है, ऐसे एक शरीर में पूर्ण (भगवान्) की तरह बुद्धि रखकर आसक्त हो जाना, यह तामसिक ज्ञान है। (गीता १८.२२)

इसी तरह लोभ भी मन का विकार (मैल) है। तमाम गुण किसी में हों, परन्तु थोड़ा लोभ भी हो तो वह उन गुणों को विगाड़ देता है—

लोभ: स्वल्पोऽपि तान् हन्ति श्वित्रो रूपमिवेप्सितम्।
(श्रीमद्भागवत)

थोड़ा सा लोभ उन गुणों का घात कर देता है, जैसे श्वेत कुष्ठ का एक दाग किसी रूपसी के सौन्दर्यं का व्यर्थ कर देता है। कोई वकील या डाक्टर अपने काम में अत्यन्त निपुण क्यों न हो, परन्तु यदि वह लालची समझा जाता है तो लोग उससे वचना ही चाहते हैं।

गुण सागर नागर नर जोऊ। अल्प लोभ भल कहै न कोऊ ॥

(रा०च०मा०)

क्रोध पित्त के समान दाहकारी है।

मानस रोग के प्रसंग में श्री राम चरित मानस में विकारों का वर्णन है ही। रोग रूप मनोविकार मन को स्वच्छ और स्वस्थ नहीं रहने देते।

जैसे दैहिक प्रणय के लिए स्वस्थ और स्वच्छ निर्मल शरीर अभीष्ट है, वैसे भगवदीय प्रेम के लिए निर्मल मन की आवश्यकता है, अत: जिन लोगों को उस प्रेम का चस्का लग जाता है, वे मन की निर्मलता की रक्षा सावधानी से करते हैं।

निरमल मन जन सो मोहि पावा।

(रा०च०मा०)

इसलिए जिनके मन में मल बिल्कुल नहीं रहा वही श्रेष्ठ सन्त हैं, और उन्हीं का मन अपने मालिक (स्वामी) में अनुरक्त और मग्न रह सकता है।

आई ज़ो उनकी याद तो आती चली गई।
हर नक्शे पा को दिल से मिटाती चली गई ॥

शास्त्र का उपदेश है—

देहेस्थि मांस रुधिरेऽभिमतिं त्यज त्वं ।
जाया सुतादिषु सदा ममतां विमुञ्च ।।
पश्यानिशं जगदिदं क्षणभंगनिष्ठं ।
वैराग्य राग रसिको भव भक्तिनिष्ठः ।।
[श्रीमद्भागवत माहात्म्य ४.७९]

तथा—

तं सत्यमानन्द निधिं भजेत, नान्यत्र सञ्जेद् यत आत्म पातः ।
[श्रीमद्भागवत २.१.३९)

अन्यत्र आसक्त न हो, क्योंकि उससे पतन होता है ,

दोहे की प्रथम पंक्ति का एकदम राजयोग परक ।ध्यान प्रधान] अर्थ किया जा सकता है, और उच्च कोटि के सन्तों की दृष्टि में और संभवतः श्री गोस्वामी जी की दृष्टि में (बिना उपर्युक्त अर्थ का त्याग या खण्डन किये) वही अधिक ग्राह्य होगा । श्री गोस्वामी जी ने अत्यन्त वैराग्य पूर्ण वृत्ति से इस ग्रंथ का प्रणयन किया है और वैराग्य का उद्दीप्त करना इसका प्रयोजन जो ग्रन्थ के नाम से ही स्पष्ट है । अतः वही अर्थ ग्राह्य है जो सरल होते हुए भी प्रखर वैराग्य पूर्ण चित्त को ग्राह्य लगे ।

अपने इष्टदेव में मन सदा लगा रहे, यही दशा श्रेष्ठ है, इससे बढ़कर कुछ नही, परन्तु ऐसी दशा बिरले बिरले सन्तों में पाई जाती है ।

पहली बात तो यही है कि माया मोह में फँसा हुआ मन भजन में कठोर सिद्ध होता है, वह भजन में लगता नहीं, भजन का विशेष रस उसे मिलता नहीं, अतः हठ पूर्वक या अभ्यास पूर्वक पूजा पाठ भले करे विशेष शौक से नहीं कर पाता । अन्तःकरण ज्यों ज्यों शुद्ध होता जाता

है, विषयों में रुचि नहीं रहती, भजन में रुचि बढ़ती जाती है। रुचि पूर्वक भजन करने वाले भी अति निर्मल रुचि नहीं रख पाते, वह अति दुर्लभ है। अति निर्मल रुचि में भजन की परमानन्द की दशा है, भजन का कुछ भी अन्य प्रयोजन नहीं। जब जगत् की कोई भी आवश्यकता उसके किसी सुख का कोई महत्व नहीं रह जाता, वासनाएँ नितान्त क्षय को प्राप्त हो जाती हैं, तब भजन की अति निर्मल रुचि अहर्निशि बनी रहती है, तभी अपने स्वामी के प्रेम में मन लगा रहता है, (उसे लगाना नहीं पड़ता)। इस प्रकार जो अति कोमल है, अति अमल रुचि है, और जिसके मन में वासनाओं का मल बिल्कुल नहीं है, उसी का मन दिन रात अपने साहिब में रत रहता है, दूसरे का नहीं।

सिय राम सरूप अगाध अनूप, विमोचन मीनन को जलु है।
श्रुति राम कथा मुख राम को नाम, हिये पुनि रामहि को थलु है।।
मति रामहि सों गति रामहि सों, रति राम सों, रामहि को थलु है।
सबकी न कहैं, तुलसी के मते, इतनों जग जीवन को फलु है।
(कवितावली उत्तरकांड)

जगत् से वैराग्य और भगवान् से अनुराग एक ही सिक्के के दो पहलू की तरह हैं। पक्के और सच्चे वैराग्य के बिना प्रेमा (या परा) भक्ति की बहार नहीं आती।

जेहि लागि विरागी अति अनुरागी विगम मोह मुनि वृन्दा।
(रा०च०मा०)

श्री रूप गोस्वामी जी की दृष्टि में ऐसे सन्त ही हरि भक्ति रसामृत सिन्धु की गहराई में रहने वाली मछलियाँ हैं, जिनको उन्होंने नमस्कार किया है।

राम सुप्रेम पियूष हृद, तिनहु किए मन मीन।

यह है वह दशा जिसमें—

तुलसी रत मन होइ रहै, अपने साहिब माँहि।

———

जाके मन ते उठि गई, तिल तिल तृस्ना चाहि ।
मनसा वाचा कर्मना, तुलसी बंदति ताहि ॥२६॥

जिसके मन से तृष्णा बिल्कुल मिट गई है, तिलभर, जो भर या लवलेश मात्र भी नहीं रह गई है, श्री तुलसीदास जी मन वचन कर्म से (तीनों प्रकार से) उस सन्त की वन्दना करते हैं ।

श्री गोस्वामी जी सन्तों के वैराग्य और प्रभु अनुराग की दशा के वर्णन में उच्चतर सोपानों की ओर अग्रसर होते जाते हैं । । पक्का वैराग्य ही दिव्य प्रभु प्रेम की आधार शिला है । बिना वैराग्य के न ज्ञान प्राप्ति है न प्रभु प्रेम की प्राप्ति है ।

प्रारम्भिक सोपान पर जो भक्त होता है, वह न संसार के तमाम कामों से अलग है, न वासनाओं से । जैसे और सब काम हैं, वैसे ही पूजा पाठ भी उसका एक काम है । कभी कभी तो किसी नए साधक के लिए यह बहुत कम जरूरी काम भी रहता है । इस काम में एक दो दिन नागा हो जाय, काम न किया जा सके तो कोई हानि नहीं जान पड़ती । फिर इस काम के आदी (अभ्यस्थ) हो जाने पर इसकी खटक हो जाती है, उसमें रुकावट पड़ना अच्छा नहीं लगता । धीरे धीरे सन्तों की कृपा से भजन बहुत जरूरी काम बन जाता है । तब उसे शौक से किया जाता है ।

वे बड़भागी हैं जिनके लिए भगवत्स्मरण अत्यन्त प्रिय तथा महत्वपूर्ण कार्य हो गया है, उन्हें भजन की उत्कृष्ट दशाओं के प्राप्त

करने का शौक हो जाता है और उसके लिए अधिकाधिक वैराग्य धारण करते हैं।

प्रारम्भ में तो लौकिक वासनाओं के पूरा करने की साध रहती है। भजन की भी सार्थकता इसी में जान पड़ती है कि वह लौकिक दुःख निवारण और सुख प्राप्ति में सहायक हो। परन्तु भजन के मार्ग में आगे बढ़ने पर यह समझ में आता है कि भगवान् व्यवहार के लिए नहीं हैं, व्यवहार भगवान् के लिए है। भजन इसलिए नहीं करना है कि व्यावहारिक सुविधाएँ बनें, बल्कि व्यावहारिक परिस्थितियों का भगवान् के लिए उपयोग होना चाहिए। सुख की स्थिति है, तो साधनों का भगवत्सेवार्थ प्रयोग करें, दुःख की स्थिति है तो आर्त भाव से भजन कर सकते हैं, परन्तु आदर्श सन्त रहनि तो वही है कि—

परिहरि देह जनित चिन्ता सुख दुःख सम बुद्धि सहौंगो।
(वि०प०)

'समत्वमाराधनमच्युतस्य' प्रह्लाद।

श्री रामप्रसाद शरण जी 'दीन', उच्च कोटि के सन्त, भगवत्प्रेमी कवि व कथावाचक थे। उनका एक छन्द निम्नवत है—

चाहे कुवेर की सम्पत्ति होय, चहै विधि द्वार ही द्वार फिरावै।
'दीन' इव मूख होय चहै, बहु शास्त्रन को पढ़ि लोक रिझावै।।
चाहे अरोग रहैं नित ही, चहै रोगी ह्वै सारी ही वैस बितावै।
देह धरे को यही फल है, जो विदेहजा के पति को यश गावै।।

सात टूक कोपीन में अरु भाजी बिनु लौन।
तुलसी रघुवर हिय बसैं, तो इन्द्र बापुरो कौन।।
(दोहावली)

जो त्रिभुवन के वैभव को प्राप्त करने के लिए लव या अर्ध निमेष के लिए भी भगवच्चरणाविन्द से चित्त को चलायमान नहीं करता, वही अग्रगण्य वैष्णव है। (श्रीमद्भागवत ११.३.५३)

हम लोग जब तक अपनी वासनाओं को पूरा करने कीं हसरत रखते हैं, हमारी चित्तवृत्ति भगवच्चरणारविन्दों में अचल कैसे हो सकती हैं ? श्री रूप गोस्वामी जी का प्रश्न है कि जब तक भोग व मोक्ष की स्पृहा रूप पिशाची हृदय में नाच रही है, तब तक हरि भक्ति का अभ्युदय कैसे होगा ? [श्री हरि भक्ति रसामृत सिन्धु] जैसे चिराग की लौ हवा से चंचल होती है, निवात स्थान पर रक्खे हुए दीपक की लौ हिलती नहीं, उसी प्रकार योगी की चित्तवृत्ति 'विषय बयार' के अभाव में नहीं डिगती [गीता ६ १९] जब तक कोई न कोई वासना है, तत्सम्बन्धी संकल्प उठते रहेंगे, वृत्ति डिगेगी, 'अलोलचित' [वि०प०] होकर अर्थात् निश्चल चित्त से भगवान् का स्मरण न हो सकेगा। जिसे ध्यान का मजा आ गया वह कोई भी विक्षेप सहन नहीं करना चाहता, परन्तु विषयासक्ति के रहते हुए निर्विक्षेप दशा तो चलेगी नहीं, अत: भजन का शौक रखने वाले निर्वासनिक दशा के इच्छुक हो जाते हैं।

जीव की वासनाएँ बहुत सी होती हैं, परस्पर विरोधी भी होती हैं, इनको पूरा करके शान्त नहीं किया जा सकता। इनके कारण सामाजिक और नैतिक क्षेत्र में बहुत सी जटिलताएँ उत्पन्न होती हैं। उनके अतिरिक्त ध्यान प्रधान सन्त के लिए वासनाएँ विक्षेप प्रस्तुत करती हैं। इसलिए अपने इष्ट में मग्न रहने की सुविधा नहीं बनती।

वासनाएँ जागृत, स्वप्न, प्रसुप्त भेद से तीन प्रकार की मानी गई हैं। जो वासना चेतन मन में बलशाली होकर क्रियमाण है वह जागृत

वासना है, यह स्पष्ट प्रमुख और प्रबल है। जो वासना अर्धचेतन मन में क्षीण जान पड़ती है प्रबल होकर क्रियमाण नहीं है, वह स्वप्न वासना है। परिस्थिति बदलने पर वह जागृत हो सकती है। ऐसी भी वासनाएँ हैं, जिनका चेतना मन में कोई अस्तित्व नहीं है, परन्तु बीज रूप से अन्त:करण में दबी पड़ी हैं। विविधि प्रकार के बीज पृथ्वी में दबे पड़े हैं, अनुकूल ऋतु व परिस्थिति पाकर अंकुरित होते हैं, इसी प्रकार बीज रूप में विद्यमान् वासनाएँ अज्ञात रहती हैं, प्रसुप्त हैं, परन्तु अनुकूल परिस्थिति में वे जागृत हो जाती हैं।

जिसके मन में जागृत लौकिक वासनाएँ बहुत हैं, उसका मन भगवान् के ध्यान में नहीं लगता। वृत्ति रूपी दीप शिखा चंचल रहती है, विषय वासना की हवा से लौ हिलती रहती है, ध्यान में ठहरती नहीं। देशबन्धश्चित्तस्य धारणा (योग सूत्र३/१) तत्रप्रयैकतानता ध्यानम्। (योग सूत्र ३/२) वृत्ति इधर उधर जाय तो उसे बार-बार लौटाकर अभीष्ट वस्तु में लगाना यह प्रत्याहार है। एक ही विषय में उसे ठहराए रहना धारणा है। और उसमें अखण्डता आ जाय, वृत्ति बराबर अभिलषित वस्तु में लगी रहे यह ध्यान हैं।

जहाँ जागृत वासनाएँ नहीं होती, वहाँ अर्ध चेतन की वासनाएँ विघ्न करती हैं, इसलिए कम सही परन्तु विक्षेप रहता है। सुसुप्त वासना तुरन्त विघ्नकारी नहीं परन्तु वह सम्भावित विघ्न है, आगे विक्षेप उपस्थित कर सकती है।

उपासना विक्षेप की निवारक मानी गई है। ईश्वर की भक्ति वासना को दूर करती है और समाधि को सुलभ बनाती है। समाधि सिद्धिरीश्वर प्रणिधानात् (योग सूत्र २.४५)।

जीव साधना के जिस स्तर पर होता है तदनरूप वासनाएँ जाग्रत होती हैं। इसको यों भी कह सकते हैं कि वासनाएँ प्रकृति के तीन गुणों

के अनुसार जागृत होती है। तमो गुणी को निन्द्रा आलस्य और प्रमाद की वृत्तियाँ होती हैं, रजो गुणी को भोग, ऐश्वर्य, धन, बल, मद' मात्सर्य, दर्प, अभिमान् आदि की वृत्तियाँ होती हैं। सतो गुणी को प्रेम, मैत्री, मुदिता, उपेक्षा आदि की वृत्तियाँ होती हैं, तद्नुकूल वासनाएँ भी उठती हैं प्रत्येक व्यक्ति में प्रकृति के तीनों गुण विद्यमान हैं परन्तु प्राय: एक की प्रमुखता रहती है। यह गुणों का समिश्रण सदैव एक सा नहीं रहता, यह बदलता रहता है। उसी हिसाब से वासनाओं में भी परिवर्तन होता है।

तमोगुणी व्यक्ति निद्रा, आलस्य, प्रमाद, क्रोध आदि के वश में होने से निश्चल चित्त नहीं रख पाता है और इसलिए भगवान् के ध्यान के लिए बहुत अंशों में अयोग्य ठहरता है। निद्रा और तन्द्रा समाधि के सुविदित विघ्न हैं। रजो गुणी का चित्त अशान्त रहता है। रजोगुण में क्रिया है चंचलता है अस्थिरता है। इसलिए रजोगुण के वश हुआ चित्त चिन्ता से व्याकुल रहता है ध्यान में स्थिर नहीं रह पाता है। सतो गुणी चित्त में ही सच्ची भगवान् की भक्ति या ज्ञान का उदय हो सकता है। सतो गुण चित्त की स्थिरता के अनुकूल है। सतो गुणी निश्चिन्तता और शान्ति का सुख चाहता है इसीलिए कबीर ने गाया—

मनलागो मेरो यार फकीरी में,
जो सुख पाया राम भजन में, सो सुख नहीं अमीरी में।

सतो गुणी व्यक्ति का चित्त विषयों के सुख से हटने लगता है और शान्त रस में डूबा रहना चहता है।

दम्भिकों की बात छोड़ दें तो यह देखा जायगा कि भगवान् के भक्त और ध्यानी सन्त सब सतो गुणी होते हैं। इसीलिए भगवान् को

भक्ति का रस और आध्यात्मिक आनन्द उनसे सधता है और उन्हें अनुकूल पड़ता है। सब लोग जिनमें सतो गुण प्रमुख होता है भगवान् के ध्यान में मग्न नहीं दिखाई देते। सतो गुण के अनुरूप भी कुछ वासनाएँ होती हैं और बड़े बड़े प्रतिभाशाली सतोगुणी व्यक्ति इन वासनाओं के पूरा करने में संलग्न दिखाई पड़ते हैं। इतता हो है कि सतोगुण से सम्बन्धित वासनाएँ प्रायः समाज हितकारिणी दिखाई देती हैं और इसीलिए वे प्रशस्त मानी गई हैं। ऐसे लोग मिलेंगे जो इन वासनाओं का रहना और प्रमुख रहकर सक्रिय होना ही कल्याणकर मानते हैं। वे ऐसी वासनाओं का होना निर्वासनिक दशा से श्रेष्ठ मानते हैं। देश का उद्धार करना, परतन्त्र देश को स्वतन्त्र करना, धर्म या राष्ट्र के हित के लिए बलिदान करना, दीन दुखियों की सेवा करना, यज्ञादि करना, शास्त्राध्ययन करना, शास्त्र विवेचन, व्याख्यान, प्रवचन, कथा, पूजा पाठ आदि में लगे रहना, या अपने मित्रों सम्बन्धियों, अनुयायियों से इस प्रकार के अच्छे काम कराना, सम्पन्न होने पर अत्यन्त दानशील होना अथवा अपने प्रभाव से दान कराना, रोगियों, वृद्धजनों, फकीरों आदि की सेवा करना, यह सब सतो गुणी कार्यक्रम हैं। इनमें जो व्यक्ति अत्यन्त सक्रिय रहते हैं वे महान् पुण्य अर्जित करते हैं। कभी कभी तो ऐसे लोगों के पुण्य अपरिमित दिखाई देते हैं, उनका हिसाब नहीं लगाया जा सकता, वे अपार मालूम होते हैं। तथापि यह मानना पड़ेगा कि ऐसे सक्रिय लोगों को भी प्रायः भगवान् के ध्यान में मग्न रहने की सुविधा नहीं रहती या कम रहती है।

यद्यपि ऐसे पुण्यवान् लोग समाज को बहुत पसन्द आते हैं परन्तु योगियों की सूक्ष्म दृष्टि से यह सक्रिय दशा एकदम निरापद नहीं है। इसमें भी कुछ आशंकाएँ हैं जो साधारण मनुष्य के विचार में नहीं आतीं और यह सम्भव है कि सक्रिय पुण्यवान व्यक्ति भी इन सूक्ष्म बातों की उपेक्षा कर दें।

एक तो जो व्यक्ति सतोगुण में स्थित है और उसमें आसक्त भी है उसके कार्यक्रम में यदि विरोधी तत्वों द्वारा रुकावट पड़ी तो विरोध, प्रतिरोध, संघर्ष, प्रतिशोध आदि के आने की सम्भावना रहती है। यह सम्भव हैं कि कोई व्यक्ति सतोगुणी कार्यक्रम की रक्षा के लिए ही रजो गुणी वृत्तियों को अपना ले। इस प्रकार सतो गुण से रजोगुण के स्तर पर उतर आना सम्भव है।

सतो गुण की भी एक उच्च दशा होती है जिसमें अपने कार्यक्रम में विघ्न पड़ने पर या अपने सतोगुणी साधन में विघ्न डाले जाने पर भी प्रतिरोध, विरोध या संघर्ष नहीं होता। इसीलिए सतो गुणी वृत्तियों में उपेक्षा पाई गई है विरोध नहीं। जिस सतो गुण में स्थित हुआ व्यक्ति सतो गुण की रक्षा के लिए भी रजो गुणी तमो गुणी वृत्तियों को नहीं धारण करता, बल्कि विरोधी तत्वों की उपेक्षा ही करता है उसी व्यक्ति का सतो गुण अधिक सुरक्षित है। शुद्ध सतो गुणी कभी व्यवहार में प्रवृत्त भी देखा जा सकता है, परन्तु वह क्रोध आदि विकारों के वश में नहीं होता। उसका चित्त शान्त रहता है। उसका मन भगवान् के ध्यान के लिए अधिक अनुकूल होता है ऐसे उच्च कोटि के सन्त कहीं कहीं मिलते हैं कि जो सतोगुणी कार्यों प्रवर्तक, संरक्षक, प्रेरक या संचालक भी हैं और पर्याप्त समय तक भगवान् के ध्यान में लीन भी रहते हैं। इन लोगों में इनका कार्यक्रम या उससे सम्बन्धित चिन्ताएँ इनके ध्यान के लिए प्रायः विघ्नकारी नहीं सिद्ध होतीं। इसका कारण यह है कि इनके सतोगुणी कार्य निर्वासनिक होते हैं और ध्यान के लिए विक्षेपकारी वासना होती है न कि किया हुआ या कराया हुआ कार्य। इसलिए जिनकी वासनाएँ शान्त हो गई हैं वे निर्विघ्न भजन कर सकते हैं। उनके ध्यान में विक्षेप नहीं होता। इससे स्पष्ट है कि ध्यान के उच्चतर सोपानों पर वासना का क्षय अत्यन्त आवश्यक है ज्यों-ज्यों

वासना समाप्त होती जाती है अपने इष्ट के ध्यान में मग्न रहने की भूमिका बनती जाती है ।

सतो गुणी संकल्पों की पूर्ति में भी समय और शक्ति लगती है, सम्बन्धित विषय का चिन्तन करना पड़ता है, भगवान् से प्रार्थना करने का भी नम्बर आ सकता है । यह सब कुछ अनर्थकारी तो नहीं है, परन्तु इसकी प्रशस्ति केवल सामाजिक दृष्टि से है । शुद्ध, ऊँचे, हितकारी प्रयोजनों के लिए सिद्धि या प्रतिभा के भरपूर उपयोग की भी लालच होती है । उच्च सोपानों पर योगी सत्य-संकल्प होता जाता है, उसके संकल्प सफल होकर रहते हैं, परन्तु शक्ति का व्यय तो होता ही है । यह आशंका भी रहती है कि व्यक्ति अपने वर्तमान् सोपान पर अटका रहेगा और प्राप्त शक्ति का उपयोग करता रहेगा । इस प्रकार शक्ति या सिद्ध भी अन्तराय (विघ्न, बिक्षेप) का काम कर सकती है ।

साधक जिस स्तर पर रहकर परोपकारादि के कार्यों में लगता है, उस स्तर की शक्तियों के प्रयोग में उच्चतर सोपान का साधन प्राय: रुका रहता है । इसके अतिरिक्त संसार को सत्य मानकर ही परोपकार आदि कार्यों की सार्थकता है, स्वप्नवत् जानकर नहीं । दृश्य में सत्य बुद्धि या पदार्थ बुद्धि होने से वह अज्ञान की भूमिका में टिका ही रहेगा ।

आत्म निवेदन भक्ति की दृष्टि से भी अपना निजी संकल्प और कार्यक्रम अनन्य शरणागति और आत्म निवेदन के विरुद्ध पड़ता है ।

सन्तों का यह भी कहना है कि बद्ध जीवों को आराम देने का कार्य एक प्रकार से जेल सुधार कार्यक्रम की ही तरह है । आराम देना

तो अच्छा है, परन्तु असली हित तो कारागृह से मुक्ति है, न कि कारागृह के भीतर की सुविधाएँ। इसलिए जीवों का असली उपकार उनको मुक्त करना है। मुक्त पुरुष ही उन्हें मोक्ष में सहायता दे सकते हैं, बद्ध पुरुष नहीं।

उपर्युक्त तर्क तो अपनी जगह पर ठीक हैं परन्तु वे सब उस दशा में लागू नहीं होते जहाँ कार्य प्रभु प्रेरणा से या गुरु या सन्त की प्रेरणा से किया जाता है अपने संकल्प और अभिमान पूर्वक नहीं। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार योग में सभी वृत्तियों का निरोध है, शरणागति में निज संकल्पों का पुरा त्याग, ज्ञान में जगत् को स्वप्नवत् देखने पर, जागा हुआ व्यक्ति स्वप्न की किसी वस्तु का सेवन नहीं करता है। इसलिए कहा है—

सकल्पाद् विरमेत् कवि:।
सर्वं सकल्प सन्यासी योगारुढ़स्तदुच्यते। (गीता)
न ह्यसंनस्त संकल्पो योगी भवति कश्चन। (गीता)

एक बहुत बड़े सन्त स्वामी आत्मानन्द जी तहसील जलालाबाद जिला मुरादाबाद में रहते थे। उन्होंने एक दूसरे सन्त से कहा, 'तुम दूसरे के उद्धार के फेर में न पड़ना नहीं तो मशालची हो जाओगे, मशालची।' (यानी दूसरे को प्रकाश देने के लिए सिर पर मशाल लिए हैं, स्वयं अँधेरे में हैं। उन्होंने यह भी कहा, 'जिस भगवान् ने तुम्हारा उद्धार किया है, वह दूसरों के वास्ते क्या मर गया है?'

यह तो स्पष्ट है कि इस संसार में (और अपने देश में) साधक और सिद्ध कर्म योगियों की अतीव आवश्यकता है। उनके बिना समाज का हित सध नहीं सकता, परन्तु सिद्धावस्था के व्यवहार में पड़कर

कर्म की प्रवृत्ति भगवत्प्रेरणा से ही होगी, वह निजी संकल्प और कामना से रहित होगी। अत: वासना त्याग में परोपकार आदि की वासना का अपवाद लगाने की आवश्यकता नहीं है।

यह भी समझ लेना चाहिए कि साधारण, आधुनिक पढ़े लिखे लोगों का यह विचार ठीक नहीं है कि एकदम निवृत्ति परायण ध्यान प्रधान सन्त मात्र परोपजीवी हैं, या समाज पर बोझ हैं, अथवा अपने लिए चाहे जितने ऊँचे और अच्छे हों, समाज के लिए व्यर्थ हैं। ऐसा कुछ भी नहीं है। यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि आज का पढ़ा लिखा समाज न कर्म-योग पर आरुढ़ हो सके, न कर्म सन्यास मार्ग की कदर कर सके। श्री वैराग्य संदीपनी जैसे 'पूरन शास्त्र विचार' 'वेदन पुरान मत' युक्त तथा 'अखिल ज्ञान को सार', सूत्र ग्रन्थ के श्रवण, मनन, अध्ययन का यह परिणाम आना चाहिए कि हमारी वासनाएँ शान्त हों और यदि हम कर्मयोग के साधक हों (न कि केवल उसके वाचिक ज्ञानी) तो भी कर्म सन्यासी, राजयोगी, ध्यान प्रधान सन्तों के गौरव को भी हम समझ सकें।

प्रस्तुत दोहे में तृष्णा का नितान्त निरसन प्रतिपादित किया गया, आंशिक नहीं, और उसी को मन, वचन, कर्म से वन्दनीय माना गया है। अत: निवृत्ति मार्ग का गौरव इसमें प्रतिष्ठित है। वासना के एकान्तिक शमन के निरूपण पर गोस्वामी जी पहुँच गए हैं। विषयासक्त पुरुष के लिए इस गौरव की कल्पना भी कठिन है, तथापि पाठकों के लिए हितकर होगा कि दिए हुए सूत्र का अध्ययन मनन करके निर्वासनिक जीवन के महत्व को समझ लें। तभी वे श्री गोस्वामी जी के वास्तविक सन्देश को हृदयंगम कर सकेंगे। इसके लिए पहले आवश्यक होगा कि विपरीत कल्पनाओं, पूर्वाग्रहों, विरोधी पक्षपात के भावों का त्याग हो। यदि असदागृहों का त्याग न हुआ तो यह उत्कृष्ट वैराग्य का सन्देश आत्मसात् न हो सकेगा।

वासना की बास नाहि आवै लवलेस जहाँ।
ऐसो नेह नन्दन में सानँद निबहि ले।
('भक्त भावनी' राजेश कवि कृत)

निवृत्ति परायण, भगवन्निष्ठ, ध्यान परायण, वैराग्यपूर्ण सन्तों को परोपजीवी या समाज पर बोझ या संसार के लिए व्यर्थ मानना महान् अविवेक है।

सच्चे भगवद्भक्त सन्त के लिए शास्त्र का मत तो कुछ और ही हैं।

कुल पवित्रं जननी कृतार्था, वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
पुत्रवती युवती जग सोई, रघुवर भगत जासु सुत होई।
(रा०च०मा०)

तीर्थी कुर्वन्ति तीर्थानि, स्वान्तस्थेन गदाभृता।
(श्रीमद्भागवत)

सातवँ सब मोहिमय जग देखै। मोत सन्त अधिक करि लेखें।।
(रा०च०मा०)

सुनहु राम कर सहज सुभाऊ। निज अपराध रिसाहि न काऊ।।
जो अपराध भगत कर करई। राम रोष पावक सों जरई।।
(रा०च०मा०)

साधवो हृदयं मह्यं, साधूनाम हृदयं त्वहम।
मदन्यत्ते न जानन्ति, नाहं तेम्यो मनागपि।।
[श्रीमद्भागवत]

साधु जन मेरा हृदय हैं, मैं साधुजनों का हृदय हूँ। मेरे सिवा वे कुछ नहीं जानते, और मैं उनके सिवा कुछ नहीं जानता।

अत: अत्यन्त सावधानी से विचार करना चाहिए, जिससे हम सन्त निन्दा के पाप से बचें और उनका महत्व समझ सकें, उन पर श्रद्धा कर सकें।

परोपजीवी कौन है ? आचार्य बिनोवा भावे ने कहा है कि जो समाज से, की हुई सेवा से अधिक लेता है, वह एक सीमा तक [अधिक अश का] चोर है, जो समाज से अपनी सेवा का उचित पारिश्रमिक मात्र लेता है वह मजदूर है, और जो अपनी सेवा के हिसाब से उचित से भी कम लेता है, वह अपनी कुछ सेवा दान कर रहा है, वह दानी है। इस मापदण्ड से यह बिल्कुल नहीं कहा जा सकता कि अपने पेशे या व्यवसाय में सामाजिक परिस्थिति का फायदा उठाकर मनमाना धन असूल करने वाले अर्जक हैं, और समाज के लिए वरदान रूप सन्त आकाश वृत्ति से रहने पर भी परोपजीवी हैं। कोई किसी विश्वविद्यालय में धर्म और आचार शास्त्र का प्रोफेसर हो तो वह अपनी १६००) रु० की तनखाह अर्जित कर रहा है, यदि वह उस पद को त्याग कर नि:शुल्क ज्ञान प्रदान करता है, तो क्या वह अपने योग क्षेम के साधन मात्र के मामले में भी परोपजीवी माना जायगा। पण्डित, प्रचारक, तान्त्रिक, आदि मुँहमाँगी दक्षिणा लेते हुए अर्जक माने जायँ और वीतराग, अकिंचन, सन्यासी या गुरु परोपजीवी समझे जायँ, तो ऐसी बुद्धि की वलिहारी है। यदि कोई साधु या सन्यासी पर्याप्त दक्षिणा लेने लगे तो क्या वह परजीवी न रहकर अर्जक बन जावगा ? वेतन या फीस लेने वाले अधिकार व आग्रह पूर्वक लेते हैं, जबकि सन्त भिक्षा पर निर्बाह करते हैं जो प्राय: टैक्स की तरह नहीं श्रद्धापूर्वक दी जाती है। सच्ची शिकायत यह नहीं हो सकती कि सच्चे सन्त शोषक (या परोपजीवी) हैं, बल्कि यह वात है कि वे शोषक नहीं हैं और एक सीमा तक शोषकों का बाजार विगाड़ते हैं। अत: सम्बन्धित आपत्ति भ्रम और अविवेक का परिणाम है।

यद्यपि आज लोग पृथ्वी की मानव जन संख्या की वृद्धि से परेशान हैं, परन्तु धर्म की दृष्टि से पृथ्वी पर पाप का भार है, जनसंख्या का नहीं।

गिरि सर सिन्धु भार नहिं मोहीं। जस मोहि गुरुअ एक पर द्रोही ॥
(रा०च०मा)

सर्वं सोढुमलं मन्ये ऋतेऽलीक परं नरं।
(श्रीमद्भागवत)

(सब कुछ मैं, पृथ्वी, सहने में समर्थ हूँ, एक मात्र झूठे आदमी को छोड़कर)।

जिस समाज में विविधि अशुभ उपायों से धन कमाने और बचाने वाले इज्जतदार हार स्वरूप (गले की माला की तरह) माने जायँ और पुण्याचरण और पुण्य प्रोत्साहन करने वाले सन्त भार रूप समझे जायँ वह समाज पतनोन्मुख है, इस दृष्टि के बदले बिना उसका उद्धार नहीं हो सकता।

वृत्ते नृपालाद्भयं (भर्तृहरि), धनी को राजा का भय है, जबकि कोपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः। (श्री शंकराचार्य)। धनाधीश को सत्ताधीश से भय है, सत्ताधीश को सच्चरित्र त्यागी से भय है। प्रसिद्ध नीति विशारद चाणक्य ने कहा है—धर्मस्य मूलमर्थं, अर्थस्य मूलं राज्यम् राज्यमूलमिन्द्रियजयः। शक्ति का असली अधिष्ठान तप है, राज्य सत्ता नहीं। सच्चे सन्त अभीष्ट क्रान्ति के उत्तम प्रेरक हो सकते हैं यथा समर्थ स्वामी रामदास जी, श्री शिवा जी महाराज के प्रेरक थे। श्री गुरु गोविन्द सिंह जी सिक्ख क्रान्ति के प्रेरक थे। अतः व्यावहारिक दृष्टि से भी सन्त समाज के लिए वरदान रूप हैं। हार रूप है, भार रूप नहीं।

आग लगी आकाश में, झरि झरि परत अंगार।
सन्त न होते जगत् में, तो बरि जातो संसार ।।

सन्तो महान्तो विचरन्ति सन्त: वसन्तवल्लोक हितं चरन्त: ।

महान् लक्ष्य लेकर सन्त जगत् में विचरण करते हैं, वसन्त ऋतु की तरह वे लोक हितकारी आचरण करते हैं। वे सब कुछ सेवा करते हुए अपने प्रभु की चाकरी करते हैं, किसी पर एहसान नहीं करते। किसी और के अधीन नहीं रहते, त्याग का आदर्श उपस्थित करते हैं।

श्याम म्हने चाकर राखो जी। (श्री मीरा जी)

हौं तो परम पुरुष को दाषा। अएउँ देखन जगत तमासा ।।
(श्री गुरुगोविन्द सिंह जी)

सन्त उद्यम करते हैं या नहीं, नौकरी करते हैं या नहीं, धनार्जन करते हैं या नहीं, यह प्रश्न नहीं उठते, गृहस्थाश्रमी सन्त उद्यम कर सकते हैं, साधुवेश वाले नहीं करते। साधु उद्यम करे तो भी निन्दा, भिक्षा से निर्वाह करे तो भी आलोचना, सम्पन्न जीवन दिखाई पड़े तो भी निन्दा, अभावग्रस्त हो तो भी तिरस्कार, यह सब विकृत बुद्धि की उपज है, सम्यक् विचार की नहीं।

निर्वासनिक जीवन का आदर्श रखना यह सन्तों का बहुत बड़ा उपकार है—जानि लेहु जौ जाननि हारा।

प्रकृति के गुणों से उत्पन्न वासेनाएँ ही संसार की तमाम समस्याओं की जन्म दातृ हैं, इन्हीं से प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से सब रोग, दोष,

संघर्ष विनाश आदि उत्पन्न होते हैं। वासनाओं की टक्कर एकता की घातक है—परिवार में, समाज में, राष्ट्र में, विश्व में। इसलिए वासनाओं का कम होना ही असली जन कल्याण है और समस्त होना परम कल्याण है। इस कल्याण की प्रेरणा सन्तों की रहनि से मिलती है। यह उनकी अमूल्य सेवा है।

अशेष संक्लेश शमं विधत्ते, गुणानुवाद श्रवणं मुरारेः।
(श्रीमद्भागवत)

जग मंगल गुण ग्राम राम के। दानि मुक्ति धन धरम धाम के।।
(रा०च०मा०)

श्री भगवन्नाम व भगवद्‌गुणानुवाद का वातावरण सन्त के दरबार में रहता है, जिससे अपरिमित लोक कल्याण होता है। सन्त जीवन से स्वतः परोपकार होता ही रहता है—

सन्त सहज स्वभाव खगराया। पर उपकार वचन मन काया।।

सन्तों के सम्बन्ध में भ्रान्त धारणाओं के त्याग के बाद हम उनके वैराग्यपूर्ण, अकिंचन, ध्यान-प्रधान जीवन और आध्यात्मिक मस्ती को समझने की कुछ पात्रता प्राप्त करते हैं।

जिन्हें प्रभु के ध्यान का आनन्द मिलता है, उनके लिए वासना (तृष्णा) वैरिणी है, क्योंकि विक्षेप रूप है, प्रभु से अलग करने वाली है। अतः वे किसी प्रकार की भी वासना नहीं रखना चाहते। जागृत वासना वर्तमान महान् विक्षेप है, स्वप्न वासना हल्का विक्षेप है, प्रसुप्त वासना भावी विक्षेप है। सम्भावित [भावी] विक्षेप भी निर्मूल हो जाने चाहिए जिसमें प्रभु का अखन्ड प्रेम स्मरण होता रहे।

इस अखण्ड प्रेम स्मरण का आनन्द अनुपम और अकथनीय है, कहा नहीं जा सकता। मूकास्वादनवत् (नारद भक्ति सूत्र)। कहना भी नहीं चाहिए। अंग्रेजी की एक लोकोक्ति में अप्रकाशित प्रेम को पवित्र माना है। यह है राम प्रेमामृत के सागर की मछली बनजाना। इसलिए इसकी महिमा अपार है। यह दशा सब प्रकार से वन्दनीय है।

मन से वन्दनीय है, यानी स्पृहणीय है। ऐसी दशा जिसे प्राप्त नहीं है, वह इसकी कल्पना करे, मानसिक सराहना करे, इस दशा की प्राप्ति की इच्छा करे, तो यह इसकी (इस दशा के सन्तों की) मानसिक वन्दना है। वाणी से ऐसी दशा की चर्चा करना, प्रतिपादन करना, प्रशस्ति करना, वर्णन करना, इसके साधन आदि का निरूपण करना यह वाचा वन्दना है। इस दशा में रहने वाले सन्तों की सेवा करना, इस दशा में बाधक न होना साधक होना, समाज में इसकी प्रतिष्ठा बढ़ाना और स्वयं इसमें स्थित होने का साधन करना यह सब कर्मणा वन्दना है।

जिसके मन में यह दशा नित्य और सहज रूप से बनी रहती है और जिसने (विक्षेपकारी) वासनाओं को एकदम मिटा दिया है, तिल के बराबर भी बाकी नहीं छोड़ा, उस सन्त की श्री गोस्वामी जी महाराज मनसा, वाचा, कर्मणा तीनों प्रकार से वन्दना करते हैं।

कंचन काँचहि सम गनत, कामिनि काष्ठ पषान ।
तुलसी ऐसे सन्त जन, पृथ्वी ब्रह्म समान ।।२७।।

कांचन (सोना) और कांच (शीशे का टुकड़ा), दोनों को जो समान समझते हैं और तरुणी में और लकड़ी या पत्थर में भी समान दृष्टि रखते हैं, ऐसे सन्तजन, श्री गोस्वामी तुलसीदास जी की सम्मति में, इस पृथ्वी तल पर साक्षात् ब्रह्म के समान हैं।

कांचन और काँच को समान समझना यानी निर्लोभ होना, कामिनी को काष्ठ (काठ, लकड़ी) या पाषाण के समान समझना यानी काम विकार से ऊपर उठ जाना। जो कामिनी और कांचन के आकर्षण से एकदम ऊपर उठ गया, वह साक्षात् साकार ब्रह्म के समान हो गया।

नारि नयन सर जाहि न लागा। महा क्रोध तम निसि जो जागा।।
लोभ फांस जेहि गर न बँधाया। सो नर तुम समान रघुराया।।
(रा०च०मा०)

कान्ता कटाक्ष विशिखाः न लुनन्ति यस्य,
चित्तं न निर्दहति कोप कृशानु तापः।
कर्षन्ति भूरिविषयाश्च न लोभपाशैः,
लोक त्रयं जयति कृत्स्नमिदं स धीरः।।
भर्तृहरि (नीतिशतक १०६)

शक्नोतीहैव यः सोढुम् प्राक् शरीर विमोक्षणात् ।
काम क्रोधोद्भवं वेग स युक्तः स सुखी नरः ।।
(गीता ५/२३)

कांचन और कामिनी के प्रति आकर्षण मानव का स्वाभाविक लक्षण है । जहाँ तक मानवता की भूमिका रहेगी, यह प्राकृतिक लक्षण पूर्णतः अस्त नहीं होंगे । यदि यह लक्षण बिल्कुल अस्त हो गए तो यह समझ लीजिए कि सन्त मानवता से ही ऊपर उठ गया दिव्य हो गया, अलौकिक हो गया, मुक्त हो गया, जीव नहीं रहा, शिव हो गया, ब्रह्म हो गया ।

कितने ही मनोवैज्ञानिक कह देंगे कि कांचन कामिनी का आकर्षण न मिट सकता है, न मिटना चाहिए । यह मानव स्वभाव का अभिन्न अंग है तथा सभ्य सामाजिक जीवन का आधार है । ऐसे मनोवैज्ञानिक क्रोध को भी आत्म रक्षा, धर्म रक्षा, व्यवस्था रक्षा के लिए आवश्यक मानते हैं । देखने में यहां एकदम विपरीत भाव है । मनोवैज्ञानिक मत और शास्त्र मत दोनो कैसे ठीक हो सकते हैं ? परन्तु विरोध सच्चा नही है । मानव इन विकारों के वश है यह तो शांस्त्र का भी मत है । तो मतभेद कहाँ रहा ? शास्त्र तो यह कहता है कि जो इन विकारों से ऊपर उठा वह मानव नहीं रहा । मानव देह धारी होने पर भी ब्रह्म हो गया । मानव मनोविज्ञान इन आकर्षणों का अतिक्रमण भले हो असम्भव मानता हो, वह ब्रह्म मनोविज्ञान तो नहीं है । भली भाँति समझ लेना चाहिए कि सिद्ध सन्तों का मनोविज्ञान मानव का मनोविज्ञान नहीं है, ब्रह्म का मनोविज्ञान है । मानव मनोविज्ञान की वहाँ पहुँच नहीं है, उसका वह कार्य क्षेत्र नहीं है । वह शास्त्र का ही क्षेत्र है । मानवता की सीमाओं में रहते हुए वह असम्भव दिखाई देता है, लेकिन इन सीमाओं से ऊपर उठाने के लिए ही शास्त्र का प्रवर्तन है । जो इन सीमाओं

में बंधा ही रहा, वह बद्ध रहा मुक्त नहीं हुआ, मोक्ष ही तो शास्त्र का प्रयोजन है।

कैदियों की दशा देखिए। जेल के भीतर वे अनेक बन्धनों में रखे जाते हैं। अत: क्या हो सकता है क्या नहीं हो सकता इस सम्बन्ध में उनकी कल्पना उन्हीं प्रतिबन्धों के अनुरूप बनती है। परन्तु कारागार से मुक्त होने पर सम्भावनाएं बदल जाती हैं और बढ़ जाती हैं। योगी की दृष्टि में अपने संस्कारों और अपनी वासनाओं से बँधा हुआ जीव कैदी की ही तरह है। अत: सम्भावना सम्बन्धी उसकी कल्पना भी प्रतिबन्धित रहती है। माया का जो बन्धन है वह वासना का ही बन्धन है। विषयों से वैराग्य होना ही मोक्ष है—का वा विमुक्तिर्विषयेविरक्ति: (शंकराचार्य प्रश्नोत्तरी) किसी जीव की जितनी वासनाएं हैं उतनी डोरियों से वह बँधा है। जो जो वासना समाप्त होती जाय वह उस उस बन्धन के कटने के बराबर है।

यतो यतो विरज्येत, मिमुच्येत ततस्तत:।
(श्रीमद्भागवत)

जहाँ जहाँ से वैराग्य होता जाय वहाँ वहाँ से वह मुक्त होता जायगा। सभी वासनाओं के अन्त होने पर जीव पूरी तरह मुक्त हो जायगा। जिस किसी चिन्तक की कल्पना हों कि सब वासनाएं शान्त नहीं हो सकतीं उसके विचार में मोक्ष सम्भव नहीं है क्योंकि वह कुछ वन्धनों को अनिवार्य मानता है।

कभी कभी यह कहा जाता है कि अस्थि और मांस से बने इस शरीर में एकदम निर्वासनिक दशा प्राप्त नहीं की जा सकती परन्तु यह याद रखना चाहिए कि यदि देह के सम्बन्ध से कभी विकार का उदय भी हो

जाय तो भी योगी विकार के वेग को सहन करने में समर्थ होता है वह विकार के वश में नहीं होता है। (गीता ५/२३)

एक दूसरी बात यह है कि भगवान् के अनन्य शरणागत भक्तों का जो भगवान् की दिव्य लीला में प्रवेश कर चुके हैं रहस्यमय दिव्य शक्ति से कायाकल्प हो जाता है जिससे वह एक दिव्य शरीर में विराजमान रह कर अपनी लीला करते हैं।

वैज्ञानिक दृष्टि से यह महत्व पूर्ण है कि हमारी सहज प्रवृत्तियाँ सबकी सब आत्म रक्षा और जाति रक्षा पर केन्द्रित हैं यदि हम देहाभिमान रखते रहें तो मानव जीवन की रक्षा ही आत्म रक्षा बनी रहेगी और मानव जाति सम्बन्धी अस्मिता रहने तक ही जाति रक्षा का अर्थ मानव जाति की रक्षा का रहेगा जिसके लिए प्रजनन आदि प्रवृत्तियों की आवश्यकता सिद्ध होगी। जब हमारी अस्मिता देह में न रहकर आत्म स्वरूप में होगी तो सहज प्रवृत्तियों की स्वाभाविकता और अनिवार्यता समाप्त होने लगेगी। दधीचि ऋषि ने देव रक्षा के लिए अपनी हड्डियाँ दे दीं और देह त्याग स्वीकार किया। इसी तरह क्रान्तिकारियों का गीत था—

सर फरोशी की तमन्ना अब हमारे दिल में है।
देखना है ज़ोर कितना बाज़ुए क़ातिल में है॥

अथवा—

सूख जाए न कहीं पौधा ये आजादी का।
खून से अपने इसे, इसलिए तर करते हैं।
खुश रहो अहले वतन हम तो सफ़र करते हैं।

किसी भी बलिदानी के लिए देह रक्षा का महत्व नहीं रह जाता। इसलिए यह समझ लेना चाहिए कि मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विकारों की

अनिवार्यता का जो प्रतिपादन किया जाता है वह देहाध्यासी व्यक्ति के लिए ही लागू है, तत्वानुभव के बाद यह अनिवार्यता कायम नहीं रहती है। अतः यह सन्देह समाप्त हो जाना चाहिए कि काम क्रोधादि विकारों की समाप्ति कभी हो नहीं सकती। यह विपरीत विचार दृढ़ हो जाना चाहिए कि इन विकारों के निर्मूल हुए बिना उस शान्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती जिसका वर्णन श्री गोस्वामी जी ने आगे आने वाले छन्दों में किया है। इस ग्रन्थ का नाम 'वैराग्य सदीपनी' है अर्थात् वैराग्य को जगाने वाली। ग्रन्थकार का प्रयोजन सभी वासनाओं को निर्मूल करना है न कि वासनाओं की अनिवार्यता को स्वीकार करना।

प्रस्तुत दोहे में लोभ और काम यह दो प्रमुख वासनाएँ प्रतीक रूप में ले ली गई हैं और इनके शमन का जिक्र किया गया है। ग्रन्थकार का तात्पर्य सभी वासनाओं के उपशम से है न कि केवल दो ही वासनाओं के। दो प्रमुख वासनाएँ प्रतीक रूप में इसलिए कही गयी हैं कि इन्हें पूर्णतः निवृत्त करने के साधन से अन्य वासनाओं का भी त्याग और शमन हो जायगा।

अब यह सोचना चाहिए कि 'कंचन काँचहि सम गनत' वाली दशा क्या कहीं मिलती है और कैसे प्राप्त की जा सकती है? निर्लोभावस्था की पूर्णता जहाँ पहुँचकर कांचन और कांच एक समान जान पड़ें, साधारण व्यक्ति की कल्पना से परे है और असम्भव जान पड़ती है। परन्तु यह प्रतीति उस जीव को होती है जो वैराग्य से उल्टी दशा में विद्यमान है।

कांचन सम्पत्ति का प्रतीक है। मूल्य वाली अर्थ व्यवस्था में कचन या युद्रा का संचय सम्पत्ति के संग्रह का एक सुविधाजनक उपाय रहता है। आधुनिक समय में काले धन का संग्रह बड़े वड़े नोटों की गड्डियों

के रूप में किया जाता है। यहाँ तक सम्भव है कि यदि धन या सम्पत्ति के छिपाने की मजबूरी न हो तो आजकल धन को डाकघर या बैंक में भी जमा किया जा सकता है और उस दशा में बचत प्रमाण पत्र या पास बुक की प्रविष्ट ही सम्पत्ति का प्रमाण होगी। घर में प्रत्यक्ष संग्रह नहीं करना पड़ेगा। इसलिए छन्द में प्रयुक्त कांचन शब्द का भावार्थ अर्थ या सम्पत्ति के रूप में लेना पड़ेगा।

कांचन और काँच दोनों ही चमकदार हैं परन्तु कांच के टुकड़े बाजार में मूल्यहीन हैं जबकि सोने का बाजार भाव आजकल (सन् १९८४ में) प्रति तोले १६०० रु० तोले से अधिक है। इसलिए विनियम मूल्य के विचार से स्वर्ण बहुमूल्य है और काँच मूल्यहीन है। दोनों की कोई तुलना नहीं हो सकती इसलिए सच तो यह है कि कांचन और कांच की समानता उसी की दृष्टि में हो सकती है जिसके लिए सम्पत्ति व्यर्थ है। जिस तरह का जीवन हम लोग बिता रहे हैं उसमें सम्पत्ति व्यर्थं नहीं, परम आवश्यक है। इसलिए ऐसा जीवन बिताते हुए और तत् सम्बन्धी दृष्टिकोण को अपनाए हुए हम लोग कांचन और काँच को समान मानने वाली दशा की न कल्पना कर सकते हैं न उसे प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु यह समझना भारी भूल होगी कि हमारी अर्थ व्यवस्था के अतिरिक्त कोई व्यवस्था सम्भव नहीं है अथवा यह कि हमारे संस्कारों के विपरीत संस्कारों पर आधारित जीवन सम्भव नहीं है या वैसा जीवन सुखी और शान्त नहीं रह सकता।

पहले तो यह देखिए कि यदि मुद्रा की अर्थ व्यवस्था समाप्त कर दी जाय या किसी समाज में उसका चलन न हो तो स्वर्ण का आकर्षण कम हो जाएगा। क्योंकि वह अतिरिक्त सम्पत्ति के संग्रह का सुविधाजनक उपाय नहीं रह जाएगा। जिस समाज में केवल वस्तु विनिमय ही से काम चलाया जाय उसमें किसी भी वस्तु का आवश्यकता से अधिक बिपुल

संग्रह करने की प्रेरणा नहीं रहेगी, क्योंकि यदि उसके बदले में अपनी आवश्यकता की वस्तुओं की प्राप्ति मे उसकी आवश्यकता या सुविधा न हो तो उस वस्तु का भण्डारण की सुविधा करने का दायित्व आ पड़ेगा जो लाभ दायक नहीं जान पड़ेगा। इसलिए मुद्रा का चलन यदि बन्द कर दिया जाय तो परिग्रह की अर्थव्यवस्था का एक प्रधान स्तम्भ हट जायगा इसलिए कांचन का आकर्षण बहुत कुछ हमारी अर्थ व्यवस्था के आश्रित है। भिन्न व्यवस्था में वह कम हो जायगा।

अब प्रचलित अर्थ व्यवस्था का एक दूसरा पहलू देखिए। सम्पत्ति संग्रह का सम्पन्न व्यक्ति के लिए बहुत बड़ा लाभ यह है कि वह धन से दूसरों के श्रम को खरीद लेता है। यदि किसी के पास लाखों रुपया भरा हो परन्तु चारों ओर कुछ मील तक ऐसा कोई आदमी न हो जो अपनी मेहनत उसके हाथ बेचकर अपना काम चलाने की आवश्यकता समझता हो तो उस सम्पन्न व्यक्ति को विल्कुल साधारण व्यक्ति की तरह जीवन बिताना पड़ेगा। एक दो कमरों में गुजर करना पड़ेगा, स्वयं उनकी सफाई करनी होगी, अपनी खेती करनी होगी, अपना खाना बनाना होगा पानी भरना होगा, बरतन माँजने होंगे। इस तरह उसका संचय उसे कोई आराम न पहुँचा सकेगा। अपने जीवन में अतिरिक्त रुपए से लोगों की मेहनत खरीद कर उनकी मेहनत से आराम उठाना और स्वय मेहनत मे बचना, और रुपए से रुपए पैदा करते रहना जिससे यह प्रक्रिया और भी आगे चलाई जा सके, इसी का नाम शोषण है। केवल कांचन किसी को आराम नहीं दे सकता। समाज में बहुत से निर्धन होने चाहिए जिनकी मेहनत खरीद कर अमीर आदमी चैन से रह सकें। इसलिए भी शास्त्र में कहा गया है कि—

नानुपहत्य भूतानि भोगाः सम्भवन्ति हि।

बिना जीवों को पीड़ित किए हुए भोग सम्भव नहीं। स्पष्ट है कि स्वर्ण का आकर्षण मुद्रा प्रसार की स्थिति में हैं। मुद्रा की धाक इसलिए जमी है कि वह परिग्रह मूलक अर्थ व्यवस्था का मूल स्तंभ हैं और परिग्रह का आकर्षण यह है कि आपको उसमें अपने भविष्य की सुरक्षा दिखाई देती है और वर्तमान् में शोषक बन जाने की प्रेरणा मिलती है। कल्पना कीजिए कि किसी समाज में राष्ट्र की ओर से सामाजिक सुरक्षा का पूरा प्रबन्ध है, मुफ्त दवा का इन्तजाम है शिक्षा का सरकार की ओर से मुफ्त प्रबन्ध है, शिक्षा के बाद रोजगार का निश्चित प्रबन्ध है और बुढ़ापे में गुजर के लिए पेंशन भी मिलती है तो भविष्य की सुरक्षा के लिए सम्पत्ति संग्रह की प्रेरणा लगभग समाप्त हो जायगी। यदि ऐसा समाज स्थापित हो जाय तो सम्भवत: किसी को किसी अमीर के हाथ अपनी मेहनत बेंचने की आवश्यकता नहीं रहेगी। यदि वर्तमान में शोषण की सुविधा भी न हो तो संग्रह की हुई सम्पत्ति आराम न दे सकेगी। इस प्रकार यदि किसी सम्पन्न व्यक्ति का धन वर्तमान् में और भविष्य में उसे दूसरों से अधिक सुखी नहीं बना पाया तो वह संग्रह लगभग व्यर्थ साबित होगा। तब कांचन का आकर्षण कहाँ रहेगा ?

उपर्युक्त बातों के होते हुए भी आज की सभ्यता मे धन सम्पत्ति का कुछ उपयोग रहेगा क्योंकि धन से आवश्यकतानुसार वस्तुओं को खरीदा जा सकता है। परन्तु यदि मूल्य वाली अर्थ व्यवस्था भी बदल जाय तब तो स्वर्ण बेकार होने लगेगा।

हम लोग मूल्य वाली अर्थ व्यवस्था के इतने आदी हो गये हैं कि हमें रामचरित मानस में यह पढ़कर आश्चर्य होता है कि रामराज्य में 'वस्तु बिनु गय पाइए' अर्थात् वस्तुएं बिना मूल्य के ही मिल जाती थीं। परन्तु हम इसको क्या कहेंगे कि रूस की समाजवादी सरकार इस फेर में है कि मूल्य रहित अर्थ व्यवस्था कैसे प्रचलित की जाय। यह असम्भव नहीं है बल्कि साम्यवादी आदर्श के लिए आवश्यक है।

हम चाहे साम्यवादी सरकार का नाम लें या कल्याण कारी सरकार का, यदि हम प्रजा को सुखी करना चाहते हैं तो हमें यह प्रबन्ध करना ही पड़ेगा कि साधारण प्रजा जन की आवश्यकता की वस्तुएँ विपुल मात्रा में उत्पादित हों और सबके पास पहुँचें। जब तक मूल्य की अर्थ व्यवस्था रहेगी तब तक यदि हम देश की पूरी आवश्यकता के अनुसार कपड़ा या शकर पैदा भी कर सकेंगे तो भी वह सबको नहीं मिलेगी पडी रह जायगी या विदेशों को भेजी जाएगी। इसलिए यदि गरीबी को मिटाना है तो शोषण को भी मिटाना है, मूल्य वाली अर्थ व्यवस्था को बदलना है और वह व्यवस्था लानी है जिसमें देश की जनसंख्या की आवश्यकताओं के उत्पादन में सबको वृत्ति मिले। और सबके लिए समस्त आवश्यक सामान का उत्पादन हो और वितरण व्यवस्था ऐसी हो कि वह सब तक पहुँचे। ऐसी अर्थ व्यवस्था चाहे साम्यवाद के नाम पर हो चाहे कल्याण कारी राज्य के नाम पर हो चाहे राम राज्य के नाम पर हो, सच्ची शोषण विहीन व्यवस्था होगी। और ऐसी व्यवस्था में सम्पत्ति के संग्रह की कोई प्रेरणा नहीं रह जायगी और र . । के आकर्षण का अस्त होगा।

इस पर यह तो कहा जा सकता है कि उपर्युक्त विचार धारा एक काल्पनिक, सम्भावित व्यवस्था के ऊपर आधारित है और वर्तमान दशा के कठोर सत्य के साथ उसका मेल नहीं बैठ सकता परन्तु यह समझ लेना कुछ कम नहीं है कि वर्तमान् समाज में लोभ की प्रमुखता (और उसकी अनिवार्यता की प्रतीति) प्रकृति, वंशानुक्रम या सहज प्रवृत्ति की देन नहीं है, वह हमारे पूंजीवादी विकृत समाज की उपज है। यदि स्वर्ण का का आकर्षण हमारी सभ्यता और समाज का रोग हो न कि हमारा अनिवार्य स्वाभाविक लक्षण, तो फिर यह स्पष्ट है कि इस रोग का इलाज करना चाहिए, अनुसरण और परिवर्धन नहीं।

जिसे आज कोरा आदर्शवाद, कल्पना की उड़ान कहा जा सकता है, वही हमारी बीमार सभ्यता की स्वस्थ दशा है, अर्थात् संपत्ति प्रधान, स्वार्थ प्रधान, संग्रह प्रधान, लोभ प्रधान, मुद्रा प्रधान, अर्थ व्यवस्था के बदले कर्तव्य प्रधान, धर्म प्रधान, श्रम प्रधान, सेवा प्रधान सामाजिक व्यवस्था। उक्त व्यवस्था के बिना, समाधान कभी नहीं हो सकता, पर हम विकृत व्यवस्था के उपासक होकर उसे अनिवार्य मान रहे हैं।

श्रीमद्भागवत में अर्थ के पन्द्रह दोष गिनाए गए हैं, और उसे अनर्थ माना है।

> स्तेयो हिंसाऽनृतं दम्भः, कामः क्रोधः स्मयो मदः।
> भेदो वैरमविश्वासः, संस्पर्धा व्यसनानि च।

(१) चोरी, (२) हिंसा, (३) झूठ, (४) दम्भ, (५) काम, (६) क्रोध, (७) स्मय, (घमण्ड) (८) मद (प्रमाद), (९) फूट (१०) वैर, (११) अविश्वास, (१२) प्रतियोगिता तथा तीनों व्यसन, (१३) विलास, (१४) जुआ, (१५) आसव (शराब)।

सच तो यही है कि सम्पत्ति के विपुल संग्रह से यह सब दोष पैदा होने लगते हैं। उसका केन्द्रीयकरण अनर्थों की जड़ है। स्वर्ण इस संग्रह का सुविधाजनक माध्यम है।

सरिता प्रवाह से शुद्ध होती है, द्रव्य प्रवाहमान् है, वैसा ही द्रव्य (धन, सम्पत्ति) को भी होना चाहिए।

स्वामी रामतीर्थ ने कहा था कि जिन चीजों पर आप अपना कब्जा मानते हैं, वे आप पर कब्जा जमाए हैं और आपको दबाए हैं।

एक और पहलू देखिए। एकदम व्यक्तिगत स्वार्थ की दृष्टि से व्यक्तिगत कल्याण के लिए परिग्रह होना चाहिए परन्तु अमीर आदमी का लड़का बाप के परिग्रह पर ही चैन करना चाहता है। इज्राएल में ऐसे सैकड़ों गाँव हैं जिनमें सम्पत्ति गाँव की है, गाँव के लोग सामूहिक भोजनालय में भोजन करते हैं, गाँव के दिए हुए कमरे में रहते हैं और गाँव का बताया हुआ काम करते हैं। साम्यवादी आदर्श के अनुसार पूंजी सब राष्ट्र की होगी, आवश्यकतानुसार उत्पादन होगा, जिसमें योग्यतानुसार सब भाग लेंगे, सबकी आवश्यकताएँ राज्य पूरी करेगा। इसमें राज्य परिग्रह करेगा, व्यक्ति बहुत सीमा तक परिग्रह से मुक्त होगा। स्वर्ण का आकर्षण अस्त प्राय होगा।

साम्यवादी व्यवस्था तभी चल सकेगी जब राज्य की ओर से प्राप्त पदार्थों में नागरिकों को सन्तोष होगा और हर एक पूरा कर्तव्य निष्ठ होगा। साम्यवादी आदर्श समाज में राज्य नहीं रहेगा। यह तभी होगा जब समाज से प्राप्त में सन्तोष हो और स्वधर्म (कर्तव्य) पालन में निष्ठा हो। सर्वोदय व्यवस्था का भी ऐसा ही आदर्श है।

तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्य स्विद्धनम्
(ईशोपनिषद् १)

इसके भाष्य में श्री शंकराचार्य जी ने कहा है कि किसी के धन की लालच नहीं करनी चाहिए, न अपने धन की, न पराए धन की।

देवाल्लब्धेन सन्तोषः आत्मविच्चारणार्चनन्।
(श्रीमद्भागवत)

"यथा लाभ सन्तोष सदाई।"
(रा०च०मा०)

आज की पूंजीवादी उद्योगवादी व्यवस्था में लोभ की प्रतिष्ठा है और वही अनर्थो की जड़ है। लोभ का नितान्त त्याग, सेवा की अत्यन्त निष्ठा ही इसकी दवा है। दोहे में लोभ का नितान्त त्याग ही प्रतिष्ठित हुआ है।

बाइबिल में भी श्री ईसा जी का प्रसिद्ध वाक्य है, आप लोग भगवान् और धन-कुबेर दोनों की उपासना नहीं कर सकते।" मैथिउ ६,२४) कोई भी दो मालिकों की सेवा नहीं कर सकता। (६.२४) यह सवाल बराबर उठता रहता है कि यदि धन की ओर से लापरवाह होकर भगवान् की उपासना करेंगे तो खाएंगे क्या? पहनेंगे क्या? श्री ईसा जी ने इसका ओजस्वी उत्तर दिया ही है। 'मैं आप से कहता हूँ कि आप अपने जीवन की चिन्ता न करें, क्या खाएगे, क्या पहनेंगे। (६.२५) हवा में उड़ती चिड़ियों को देखिए, वे न बोती हैं, न काटती हैं, न खलिहान बनाती हैं, परन्तु दिव्य परम पिता उनको खाने को देता है। क्या आपका मूल्य उन चिड़ियों से अधिक नहीं है। (६.२६) और आप में से कौन ऐसा है जो चिन्ता करके अपने जीवन के विस्तार को एक बित्ता भी बढ़ा सकें? (६.२७) और आप वस्त्रों के लिए क्यों चिन्तित हैं? मैदान में लगे कोकाबेली के फूलों पर विचार कीजिए। वे कैसे विकसित होते हैं? वे न मेहनत करते हैं न सूत कातते हैं (६ २८) तथापि मैं कहता हूँ कि बादशाह सॉलोमन (सुलेमान) अपने गौरव के शिखर पर रहते हुए भी इनकी तरह नहीं सजे थे। (६.२९) यदि भगवान् इस प्रकार वनस्पति को सजाता हैं, जो आज जीवित है, कल सूख जायगी और अँगेठी में जला दी जायगी, तो क्या वह तुम्हारे लिए इससे अच्छा वस्त्र-प्रबन्ध नहीं करेगा? अरे अल्प श्रद्धालु मनुष्यों?" (६.३०) पहले तुम भगवदीय राज्य की खोज करो, और भगवदीय पुण्यमय जीवन, और यह सब चीजें तुम्हें अपने आप मिल जायेंगी। (६.३३)

माँगो और मिलेगा, खटखटाओ खुलेगा (७.७) आप में से कौन है जो अपने बेटे को रोटी माँगने पर पत्थर दे (७.९) या मछली माँगने पर साँप दे ? (७.१०) तो जब आप पापयुक्त होकर भी अपने बच्चों को अच्छे उपहार देना जानते है तो आपका उच्चतम लोकाधिपति परम पिता आपको अच्छे उपहार देने में कितना अधिक आगे होगा ? (७.११)

श्री ईसा जी के यह उपदेश वैसे ही हैं, जैसा संस्कृत में कहा है कि—

भोजनाच्छादने चिन्ता वृथा कुर्वन्ति वैष्णवा: ।
योऽसौ विश्वम्भरो देव: स भक्तान् किमुपेक्ष्यति ।।

'वैष्णव लोग भोजन और वस्त्र की चिन्ता व्यर्थ ही करते हैं । जो भगवान् विश्व का भरण पोषण करता है ।' वह अपने भक्तों की उपेक्षा कैसे कर देगा ?'

अजगर करै न चाकरी, पंछी करैं न काम ।
दास मलूका कहि गए, सबके दाता राम ।।

दो हजार बरस में भी ईसाई दुनिया प्राय: श्री ईसा जी के उपर्युक्त शब्दों को नहीं समझ पाई । बहुत से लोग यही समझते और कहते रहे कि श्री ईसा जी के उपदेश बहुत अच्छे ऊँचे हैं, परन्तु उन पर चलकर व्यवहार सिद्ध नहीं होगा । टॉलस्टाय ने कहा है कि जिन उपदेशों पर चलने से व्यवहार बिगड़ जाय, उन्हें गलत न कहकर अच्छे और ऊँचे क्यों कहा जाता हैं ?

श्री मलूकदास जी के दोहे को भी व्यापक रूप से निरुद्यमी जीवन की पैरवी माना जाता है, परन्तु उस रूप में उसे लेकर अग्रसर हों तो

ऐसी ठोकरें लगेंगी कि फिर सीधी (मेहनत की) राह पर आ जाना पड़ेगा। श्री ईसा जी के तथा श्री मलूकदास जी के वचन सच्ची शरणागति के जीवन को समझाने के लिए हैं, आलस्य प्रचार के लिए बिल्कुल नहीं। उनका अर्थ विकृत नहीं करना चाहिए, दुरुपयोग नहीं करना चाहिए। उक्त वचन वैसे ही हैं, जैसे गीता का वचन—योगक्षेमं वहाम्यहम् (९.२२)।

क़ुरान शरीफ में भी सूरे बकर में पहले ही कहा है कि यह रोशन किताब उसी को रास्ता दिखाती है, जो ग़ैब (अदृश्य दिव्य शक्ति) के भरोसे जीवन बिताता है। 'साबिर' नहीं है जो सब्र के साथ, 'यथा लाभ सन्तोष सदाई' रखते हुए, सुख दुःख को समान बुद्धि से सहते हुए भगवान् की याद में लगे रहते हैं। योग क्षेम वहन का विशेष प्रबन्ध केवल अनन्य चिन्तन करने वालों के लिए है, सबके लिए नहीं। साधारण प्रारब्ध परिपाक सबके लिए है।

श्री ईसा जी ने पहाड़ी पर के उपदेश में यह भी कहा हैं कि, अपने लिए इस पृथ्वी पर खजाना इकट्ठा न करो जहाँ कीड़े खाते हैं, मोर्चा लगता है और चोर सेंध लगाते हैं। (मैथिड ६१९) क्योंकि जहाँ तुम्हारा खजाना रहेगा वहीं तुम्हारा मन रहेगा। (६.२१) राजयोग की दृष्टि से धन चित्त को विक्षिप्त रक्खेगा, अतः उसका त्याग ध्यान की निर्विघ्नता के लिए आवश्यक है। जिसके लिए हरि स्मरण ही धन है, सम्पदा ही विक्षेपकारी होने से आपदा है, उसके लिए स्वर्ण का आकर्षण कैसे सम्भव है?

तावद्भयं द्रविण गेह सुहृन्निमित्तं, शोक स्पृहा परिभवो विपुलश्च च लोभः।
तावन् ममेत्यसदवग्रहआर्त्तिमूल, यावन्न तेंघ्रिमभयं प्रवृणीत लोकः॥
(श्रीमद्भागवत ३.९.६)

तब तक धन, घर, मित्र आदि की चिन्ता या तद्विषयक भय रहता है, और शोक, स्पृहा, लोभ आदि विकार भी रहते हैं, तब तक असद् वस्तु में अध्यास बना रहता है जब तक कि आपके चरणों की अभयप्रद शरण का वरण नहीं किया जाता।'

सुखी मीन जहँ नीर अगाधा। जिमि हरि शरण न एकौ बाधा।।
(रा०च०मा०)

एक बार एक धनी व्यक्ति श्री ईसा जी के पास आया। उसने शान्ति का उपाय पूछा। ईसा ने अपने पाँच मुख्य आदेश बताए, उसने कहा, 'मैं तो अपनी युवावस्था से इन पर चल रहा हूँ, पर शान्ति नहीं मिली। ईसा ने कहा, एक काम करो शान्ति मिल जायगी। अपनी सब सम्पत्ति गरीबों में बाँटकर हमारे पास आ जाओ'। अफसोस से उसका चेहरा उतर गया और वह चुपचाप चला गया। तव ईसा ने कहा, ऊँट का सुई के छेद में से निकल जाना चाहे सम्भव हो, धनी व्यक्ति का दिव्य लोक में प्रवेश उससे अधिक कठिन है।' इस दृष्टान्त से भी अपरिग्रह का महत्व सिद्ध होता है। बिना अपरिग्रह के अनन्य चिन्तन वाली भगवदुपासना सम्भव नहीं। बाहर से धनी व्यक्ति हो तो भी इस दशा के लिए वह भीतर से अकिंचन ही रहेगा। लोभी मनुष्य तो धन का ध्यान करेगा।

ध्यातुम् वित्तम् अहर्निशं नियमितं ध्यानं नं शंभो: पदे।
भर्तृहरि (नीति शतक)

'हित ज्यों धन लोभ लीन को' (वि०प०) अत: भगवान् के अनन्य चिन्तन के लिए लोभ का नितान्त निरसन आवश्यक है।

साधारण जीव जब बड़े बड़े ऊँचे और अनन्य चिन्तन रत सन्तों को बाहरी जीवन में अभावग्रस्त देखता है तो उसे उपर्युक्त शास्त्रीय वचनों

पर संशय होने लगता है, परन्तु उँचे सन्तों की, ब हरी जीवन की गरोबी बहुत बार उनके लिए कवच का कम करती है और उन्हें अनधिकारी तार्किकों को दूर रखकर सुरक्षित रखती हैं। परम अंकिचन प्रिय हरि केरे। (रामचरित मानस) भगवान् के अत्यन्त प्रिय भक्त कई बार बाहरी जीवन में अत्यन्त निर्धन होते हैं परन्तु अपने आन्तरिक दिव्य जीवन में उनकी अलौकिक सम्पन्नता रहती है, जिसमें सम्राट भी उनका मुकाबला नहीं कर सकते। कथायें हैं कि मीरा जी तथा स्वामी हरीदास जी (तानसेन के गुरु) के सामने अकबर का वैभव भी फीका पड़ गया। श्री स्वामी हरिदास जी का शैर है—

अहले दुनिया, तू क्या है, तेरा असर क्या है ?
हम खुदा से नाज़ करते हैं, बसर क्या है ?

इसी प्रकार कणाद ऋषि की कथा है कि वे खेतों से सीला बटोर कर गुजर करते थे और तपस्या करते थे, तत्कालीन राजा को किसी ने प्रेरणा दी कि वह उनके कष्ट को दूर करें। राजा ने कणाद के पास जाकर योग्य सेवा पूछी। कणादि ने कहा हम कुछ नहीं चाहते राजा ने प्रार्थना की कि आप खाने की तकलीफ उठाते हैं। हमें आज्ञा दें तो हम सब सुविधाजनक प्रबन्ध कर दें। कणाद ने कहा आप जाएँ, आपसे किसने कहा कि हमें कोई अभाव या तंगी है। हमें कोई कमी नहीं। फिर कणाद ने राजा से कहा सामने का पहाड़ देख रहे हैं ? अगर हम चाहें तो यह सारा पहाड़ सोने का हो सकता है। हमें कोई कमी नहीं है।'' राजा साहब चले गए। परन्तु वे सोचने लगे कि 'जब कणाद पूरे पहाड़ को सोना बना सकते हैं तो फिर यह अगर एक चट्टान भी सोने की बना दें तो राज्य की सब आर्थिक समस्या ही हल हो जाय।'' अतः कुछ समय के पश्चात् राजा फिर कणाद के पास गया। और उनसे प्रार्थना की कि कम से कम एक चट्टान ही सोने की बना दें तो राज्य की आर्थिक

समस्या हीं हल हो जाय। कणाद ने कहा—"देख ! तू अभाव ग्रस्त है कि मैं। मेरा प्रबन्ध ठीक करने आया था, अब मुझसे भीख माँगने आया है।" अन्त में कणाद ने राजा को आशीर्वाद दिया कि उसके राज्य का काम ठीक तरह से चलता रहे। इस प्रकार जो भगवान् का फकीर है, अमीर उसका मुकाबला नहीं कर सकता—

बेहतर हूँ मैं शाहों से, तेरे दर का गदा हूँ।

मैं आपके द्वार का भिखारी हूँ इसलिए मेरी हैसियत महाराजाओं से बढ़कर है। इसी प्रकार—

कुशादा दस्ते करम जब वो बेनियाज़ करे।
नियाज़मन्द न क्यों आशिकी पे नाज़ करे॥

जब वह पूर्णकाम भगवान् अपने कृपा भरे हाथों को खोल कर दान करने लगता है तो उसका भिखारी प्रेमी अपने प्रेम पर क्यों न गौरवान्वित हो।

सत्य यह है कि हम मामूली आदमियों को दुनियाँ का बहुत भरोसा है, भगवान् का नहीं जबकि ऊँचे सन्तों को भगवान् का पूरा भरोसा है। दुनियाँ का कुछ भी नहीं अत: वे निर्लोभ रह सकते हैं और जिस तरह लोभी व्यक्ति दिन रात धन का ध्यान करता है उस तरह वे भगवान् के ध्यान में लीन रह सकते हैं। हमारे लिए यह आश्चर्य जनक है, उनके लिए स्वाभाविक है।

श्री गोस्वामी जी महाराज कवितावली जी में कहते हैं कि—

झूठो है, झूठो है झूठो सदा है जग, वेद पुरान सुसंत कहा है।
ताको सहै सठ, संकट कोटिक, काढ़त दंत करंत हहा है।

ग्यान पनी को गुमान बड़ो, तुलसी के विचार गँवार महा हैं।
जानकी जीवन जान न जान्यो, तो ज्ञानी कहावत ज्ञान्यो कहा है।

सन्तों की यह महिमा तो कही कि 'सम लोष्ठाश्म कांचनः' गीता परन्तु यह भी कहा कि कामिनी को कठपुतली या प्रस्तर मूर्ति की तरह पहचानते हैं। नारी का आकर्षण भी बिल्कुल नहीं रह गया है। यह सम्पूर्ण काम विजय है। यहाँ भी तमाम लोग इसे असम्भव मानने वाले मिल जायेंगे। वे आसानी से दृष्टान्त भी दे सकते हैं कि विश्वामित्र, नारद, सौभरि आदि महान् ऋषि गण भी काम विकार ग्रस्त हुए। कोई नहीं कहता कि काम विकार का अतिक्रमण सहज है। यह भी माना जा सकता है कि अधिकांश मनुष्यों के लिए इसका पूर्ण शमन सम्भव नहीं है। यहाँ जिस शमन का उल्लेख है, वह वहुत ही उच्च कोटि के सन्तों के सम्बन्ध में है, न कि साधारण जनों के सम्बन्ध में है, शोध के आचार्यों की बिभूति प्राथमिक कक्षा के विद्यार्थी में कहाँ मिलेगी ?

परन्तु यदि हम पर्वत शिखर तक नहीं जा सक्ते तो भी यह सिद्ध नहीं होता कि हमें टीले पर भी नहीं चढ़ना चाहिए। बहुत से लोग हिमालय के ऊँचे शिखरों पर नहीं चढ़ सकते परन्तु शिमला, मंसूरी, रानीखेत, नैनीताल की सैर तो करते हें न ? लाखों विद्यार्थी एम०ए० तक नहीं पहुँच पाते, परन्तु कक्षा १० या १२ तक तो पढ़ते हैं। किसी कला या विद्या में पारंगत न हो सकें तो उसमें हाथ ही न लगाएँ ऐसा सिद्ध नहीं होता।

काम विकार सम्बन्धी कुछ भी संयम न बरता जाय तो सभ्य समाज चल नहीं सकता; परन्तु देश, काल, अवसर, संस्कृति आदि के भेद से भिन्न भिन्न सीमाओं तक मर्यादाएँ निश्चित की गई हैं। विभिन्न

धर्मों, संस्कृतियों, देशों आदि में मर्यादाएँ बिल्कुल एक सी नहीं हैं। मर्यादा भंग के दण्ड भी सब जगह एक से नहीं हैं। परन्तु मर्यादा की आवश्यकता सर्वत्र मान्य है।

यह कल्पना बहूत जनों की है कि कामाचार को थोड़ा बहुत संयमित कर सकते हैं, परन्तु एकदम वर्जन शक्य नहीं। परन्तु सदाचार और सत्यनिष्ठा के नाते ही लाखों करोड़ो लोगों को विभिन्न कालावधियों तक पूर्णं संयम बरतना ही पड़ता है। इसके बिना सभ्य परिवार और समाज भली भाँति चल नहीं सकता। धैर्य और अभ्यास भेद से विभिन्न लोगों की इस विषय में क्षमता अलग अलग है।

आजकल यह विचार भी फैलता जा रहा है, विषयभोग का नितान्त अभाव पागलपन या अन्य रोगों का कारण बनता है। यहाँ उस विषय विषय की चर्चा प्रासंगिक न होगी। इतना कहना पर्याप्त है कि विवशता का संयम और मिथ्याचार रोग का कारण हो सकता है, विधिपूर्वक, निष्ठा पूर्वक, पालन किया हुआ ब्रह्मचर्य रोगों का प्रतिषेधक है।

तपसा ब्रह्मचर्येण देवा मृत्युमुपाघ्नत।
(तपस्या और ब्रह्मचर्य से देवताओं ने मृत्यु को जीत लिया)

सभ्य समाज के विकास व उसकी रक्षा के लिए गृस्थाश्रम आवश्यक है, अतः पूर्ण नैष्ठिक ब्रह्मचर्यं सबका और जीवन भर का व्रत नहीं हो सकता। मर्यादित गृहस्थाश्रम की कद्र होनी चाहिए और ऋषियों ने की भी है। गृहस्थ को ज्येष्ठ श्रेष्ठ माना है। मनु कहते हैं—

यथा वायुं समाश्रित्य वर्तन्ते सर्वं जन्तवः।
तथा गृहस्थमाश्रित्य वर्तन्ते सर्वे आश्रमाः॥

(जैसे हवा के सहारे सब जीव जीवित हैं, वैसे ही गृहस्थाश्रमी के सहारे सब आश्रम चल रहे हैं।)

पूर्ण नैष्ठिक ब्रह्मचर्य को असम्भव मानना मूर्खता है, भले ही वह सर्व साधारण के लिए साध्य न हो। यह गलत भी है, अनर्थकारी भी है, कि हम पूर्ण ब्रह्मचर्य का आदर्श ऐसी महान् विभूतियों के लिए भी असम्भव मानें जैसे—

श्री हनुमान जी, भीष्म, शुकदेव, स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, ईसा, सन्त पाल, टेरेसा, सूफ़ी सन्त रबिया आदि।

प्रेम की महिमा लोक में भी प्रतिष्ठित है, शास्त्र में भी परन्तु प्रेम शब्द कितने ही अर्थों में विभिन्न प्रकार की भावना स्थितियों के लिए प्रयुक्त हुआ है। किसी विशुद्ध अर्थ में प्रेम ही परमेश्वर है, किसी निकृष्ट अर्थ में वह निन्दनीय और दडण्नीय है। अंग्रेज कवि बाइरन ने कहा था–

एक शब्द बहुत बार अपवित्र किया जा चुका है, अब मैं उसे क्या दूषित करूँ।

अत: प्रेम शब्द निश्चित अर्थ वाला नहीं रह गया है। तथापि यह माना जा सकता है कि प्रेम के विभिन्न स्तर या सोपान हैं, उच्चतर स्तरों पर प्रेम शुद्धतर होता जाता है। स्वार्थ जितना निकलता जाय (दूर होता जाय), अपने सुख के स्थान पर प्रेमास्पद का सुख और हित साधन हो और उसी में अपना सुख और सन्तोष हो, उतना ही शुद्ध प्रेम मान्य है।

प्रकृति के तीन गुणों की दृष्टि से भी दाम्पत्य प्रणय तीन प्रकार का है। जहां हिंसा, प्रतिशोध, बदला लेना, दण्डित या अपमानित करना, ऐसे भाव प्रबल होते हैं, तमोगुणी भाव हैं।

उन्नति करना, शान बढ़ाना, सुखोपभोग, आराम उठाना और देना, धाक जमाना, अभिमान करना आदि भाव प्रबल हों तो रजोगुणी प्रेम है ।

जहाँ मर्यादा का सहर्ष पूर्ण पालन है, जहाँ गृहास्थाश्रम को भी तप का स्थान माना गया है, विलास मात्र का नहीं, जहाँ पत्नी सहधर्मचारिणी गृहमेधि धेनुम् (गृह यज्ञ की गाय की तरह) मान्य है, जहाँ धर्माचरण, पुण्य कार्य, मोक्ष साधन में परस्पर सहयोग ही एकत्व का मुख्य आधार है, वहाँ सतोगुणी प्रेम है ।

जहाँ प्रेमास्पद भगवद्रूप ही जान पड़ता है, लौकिक भावों का अस्त है, विशुद्ध परमार्थी प्रीति है, वह गुणातीत स्तर है । (यथा श्री रामकृष्ण परमहंस जी का दाम्पत्य) ।

अपनी पहुँच के परे, लगभग कल्पना के भी परे, उँची स्थितियों को अमान्य करना अपने ही विकास के द्वार को बन्द करना है ।

दाम्पत्य प्रणय या आकर्षण से रहित दशा को असम्भव मानना तो भूल है ही, जरूरत यह है कि हम पहचानें कि आदर्श दाम्पत्य में भी विकार से उठी हुई दशा आ जाती है ।

श्री पार्वती जी ने शिव जी को पति रूप में प्राप्त करने के लिए तप किया था ।

श्री कालिदास जी कुमार सम्भव' में लिखते हैं–

तथा समक्ष दहता मनोभवं, पिनाकिना भग्न मनोरथा सती ।
निनिन्द रूपं हृदयन पार्वती, प्रियेषु सौभाग्य फला हि चारुता ॥

(उस प्रकार अपनी नजरों के सामने शिव जी के द्वारा कामदेव का भस्म किया जाना देखकर, श्री पार्वती जी भग्न मनोरथा हो गईं । वे

अपने सौन्दर्य की मन ही मन निन्दा करने लगीं, क्योंकि सौन्दर्य का शुभ फल यही है अपने प्यारे पतिदेव का प्रेम (सौभाग्य) मिले।

इयेष सा कर्तुमवन्घ्य रूपतां, समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः।
अवाप्यते वा कथमन्यथा द्वयं तथा विधिं प्रेम पतिश्च तादृशाः॥

(तब उन पार्वती जी ने समाधि और तप के द्वारा अपने सौन्दर्य को सार्थक करने की इच्छा की, क्योंकि उनके विना उस प्रकार का (दाम्पत्य) प्रेम और वैसा (शिव जी की तरह का) पति कैसे मिल सकता था ?

पार्वती जीं के दीर्घ काल तक तप कर चुकने के बाद शिव जी वहाँ परीक्षा लेने पहुँचे और उनका प्रेम सच्चा पाकर बोले, 'हे देवि ! इस समय से मैं आपका दास हूँ। ऐसा भाव श्री गोस्वामी जी ने 'पार्वती मंगल' में भी व्यक्त किया है–

हमहि आजु लगि कनउड़ काहु न कीन्हेउ।
पारवती तप प्रेम, मोल मोहि लीन्हेउ॥

श्री रामचरित मानस में पार्वती जीं के प्रेम की परीक्षा लेने के लिए सप्तर्षियों के भेजे जाने का वर्णन है। उन्होंने कहा है—

अब भा झूठ तुम्हार पन, जारेउ काम महेस। (बालकाण्ड)

श्री पार्वती जी ने उत्तर दिया—

तुम्हरे जान काम अब जारा। अब लगे संभु रहे सविकारा॥
हमरे जान सदा शिव जोगी। अज अनवद्य अकाम अभोगी॥
जो मै शिव सेए अस जानी। प्रीति समेत करम मन बानी॥
तौ हमार पन सुनहु मुनीसा। करिहहिं सत्य कृपानिधि ईसा॥

यहाँ भी अति कुशलता से और मर्यादा पूर्ण ढँग से विकार मुक्त दाम्पत्य प्रणय का चित्रण किया गया है। गोपी भाव, राधा भाव आदि को भी ऐसा ही विकार मुक्त, दिव्य समझना चाहिए। परा (या प्रेमा) भक्ति, विशेषत: मधुर भाव का ठीक ठीक समझना ही सम्भव नहीं, जब तक कि हम विकार मुक्त परन्तु तड़प (अगाध भाव) युक्त प्रेम को न समझ लें।

इस तरह कामिनी कांचन के आकर्षण से एकदम परे हो जाने पर ही अपने प्रभु के प्रेम में मग्न रहने की दशा मिल सकतो है।

राम कबहुँ प्रिय लागिहो जैसे नीर मीन को।
सुख जीवन ज्यों जीव को, मणि ज्यों फणि को।
हित ज्यों धन लोभ लीन को॥
ज्यों सुभाय प्रिय लगति नागरी, नागर नवीन को।
त्यों मेरे मन लालसा करिये करुणाकर,
पावन प्रेम पीन को॥
मनसा को दाता कहैं श्रुति प्रभु प्रवीन को।
तुलसिदास को भावतो, बलिजाउँ दयानिधि॥
दीजै दान दीन को। (वि०प०)

जहां नारी में सत् (सत्य) बुद्धि, चित (चैतन्य स्वतन्त्र प्राणी) बुद्धि और आनन्द (सुख) बुद्धि नहीं रह जाती, वहां रूप, कोमलता भोग आदि का लोप हो जाता है, तब फिर नारी कठपुतली से या प्रस्तर मूर्ति से अधिक महत्व नहीं रखती।

साधारण मर्यादापालन और संयम की आवश्यकता तो सबको है, क्योंकि वह भी न हो तो परमार्थ पथ में गति नहीं। परन्तु एक उँचे सोपान पर पहुँच कर पता चलता है कि काम और राम दोनों की सेवा नहीं हो सकती।

जहाँ काम तहँ राम नहि, जहाँ राम नहि काम।
तुलसी कबहुँक रहि सकैं, रवि रजनी एक ठाम ।। (दोहावली)

तुलसी दो में एक ही, खेल छांड़ि छल खेलु।
कै ममता करु राम सो, कै ममता परहेलु ।। (दोहावली)

जिन सन्तों ने यह दशा प्राप्त कर ली है कि कांचन कामिनी का आकर्षण रह ही नहीं गया वे ही भगवान् में मग्न रह सकते हैं। वे सच्चे ज्ञानी हैं, उनके लिए जगत् स्वप्नवत् हो चुका है, वे मोह निशा में नहीं हैं, जाग चुके हैं। जागने वाले को स्वप्न की वस्तुओं से कोई राग द्वेष नहीं रहता। ज्ञान के आलोक में भी सब प्रकार के विषय भोगों से वैराग्य हो जाता है।

ज्ञान अर्थात् ब्रह्म की अनुभूति। इस अनुभूति के बाद ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति ।। जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई। (रा०च०मा०) तस्मात् ऐसे सन्तजन ब्रह्म के समान हैं, ऐसा वचन यथार्थ है, इसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

कंचन को मृतिका करि मानत ।
कामिनि काष्ठ शिला पहिचानत ।।
तुलसी भूलि गए रस ऐहा ।
ते जन प्रकट राम की देहा ।।२८।।

श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि जो सोने को मिट्टी की तरह मानते हैं, कामिनी को कठपुतली की तरह पहचानते हैं, जो कांचन कामिनी का रस छोड़ तो चुके हैं, भूल भी चुके हैं, वे साक्षात् साकार ब्रह्म श्री राम जी का स्वरूप हैं, उनकी देह भी प्रभु के श्री विग्रह की तरह है ।

श्री गीता जी में कहा है—

विषया विनिवर्तन्ते, निराहारस्य देहिन: ।
रसवर्ज्यं रसोप्यस्य, परं दृष्ट्वा निवर्तते ।। (५.५६)

जो भोगों का सेवन (ग्रहण, आहरण, परिग्रह, स्वीकार) बन्द कर देता है उसके भोग (इन्द्रिय भोग के पदार्थ) तो दूर हो जाते हैं, परन्तु रस (उन भोगों में सुख का आभास) बना रहता है, परं तत्व की अनुभूति से वह 'रस' भी मिट जाता है ।

सर्व परिग्रह भोग त्याग: । कस्य सुखं न करोति विराग: ।।
(श्री शंकराचार्य)

कोई यह कल्पना न करे कि घर बार छोड़कर भाग जाने से वैराग्य हो जायगा या सरलता से हो सकता है । मर्यादानुकूल भोग भोगता हुआ

सम्पन्न मनुष्य, उस व्यक्ति से कहीं अच्छा है (और साधन करने में समर्थ है) जो भोगों का त्याग कर उनके अभाव में दुःखी है या उनकी प्राप्ति की कामना करता है, अतः भोगी जीवन पुनः स्वीकार करता है। यदि कोई एक बार भोगों को दुःख मूलक जानकर त्याग देता है तो फिर—

यदि सेवेत तान् भिक्षुः, स वै वान्ताश्यपत्रपः। (श्रीमद्भा०)

यदि भिक्षु उन भोगों का पुनः सेवन करता है, तो वह कै किए किए पदार्थ को खाने वाले कुत्ते की तरह है।

रमा विलास राम अनुरागी। तजहिं वमन जिमि नर वड़भागी॥

वमन किए हुए भोज्य पदार्थों पर निर्धन और भूखे व्यक्ति का भी मन नहीं चलता, इसी प्रकार सच्चे भगवत् प्रेमियों का मन विषय भोगों की ओर नहीं जाता। यह सुविदित है कि भ्रमर पुष्प पराग का प्रेमी होता है। वह पुष्पों का रस चूसने विभिन्न पुष्पों पर जाया करता है परन्तु वह चम्पा के फूल पर नहीं जाता है। उसकी तीव्र गन्ध भ्रमर के लिए अनुकूल नहीं है। यदि चम्पा का कोई बाग लगा हो तो भ्रमर उस बाग से भी दूर रहेगा। अर्थात् भ्रमर का अन्य पुष्पों के प्रति आकर्षण है परन्तु चम्पा के प्रति सहज विकर्षण है श्री भगवान् के प्रेमी भक्त भगवान् के चरण कमलों के भ्रमर माने गए हैं। श्री रामचरित मानस में श्री भरत की प्रशंसा में कहा गया है कि—

राम चरन पंकज मन जासू। लुब्ध मधुप इव तजै न पासू॥

जिस समय श्री रामचन्द्र जी वन को चले गये थे और श्री भरत जी उन्हें वापस लाने के लिए चित्रकूट जा रहे थे उस समय मार्ग में, भरद्वाज जी के आश्रम में उनका साथ के सभी लोगों के सहित अतिथि

सत्कार हुआ। उस समय श्री भरद्वाज जी की सिद्धि के प्रताप से इस सत्कार का अलौकिक प्रबन्ध हुआ। श्री बाल्मीकि रामायण के वर्णन के अनुसार अयोध्यावासी इस सत्कार से इतने सुखी हुए कि वे वहीं निवास करने की इच्छा करने लगे। चित्रकूट जाने या अयोध्या लौटने की इच्छा उन्होंने छोड़ दी। श्री भरत जी को भी वही अलौकिक सत्कार मिला। साधारण लोगों पर उस सत्कार का जो प्रभाव पड़ा उसे श्री गोस्वामी जी ने अपने मर्यादित ढंग से कहा है–

सृक चन्दन बनितादिक भोगा। देखि हरष विस्मय बश लोगा ।।

परन्तु भरत जी ने उस सत्कार को श्री भरद्वाज जी की आज्ञा से विवश होकर अत्यन्त संकोच पूर्वक स्वीकार किया। उन्हें किसी सुख, आकर्षण हर्ष या वैभव का अनुभव नहीं हुआ। श्री गोस्वामी जी कहते हैं—

सम्पति चकई भरत चक, मुनि आयसु खेलवार।
तेहि निशि आश्रम पींजरा, राखे भा भिनुसार ।।

यहाँ यह प्रदर्शित किया गया है कि जैसे रात्रि में चकवा और चकई एक साथ नहीं रहते, दिन में ही उनका समोद मिलन होता है उसी प्रकार श्री राम जी के विरह में भरत जी किसी दिव्य सम्पत्ति का भी अभिनन्दन नहीं कर करते। यहाँ यह बात अत्यन्त कुशलता पूर्वक प्रदर्शित कर दी गई है कि राम प्रेम की मूर्तिवत् श्री भरत जी को सभी सम्पत्ति और वैभव से सहज विकर्षण है। श्री विनय पत्रिका जी में कहा है कि–

जिन रघुवीर चरन अनुरागे। तिन सब भोग रोग सम त्यागे ।।

इसका प्रबल प्रत्यक्ष उदाहरण श्री गोस्वामी जी ने श्री भरत जी के चरित्र में प्रस्तुत किया जब राज दरबार में सभी लोगों ने, यहाँ तक कि श्री कौशल्या जी ने और श्री वशिष्ठ जी ने भी उनसे राज्य करने का आग्रह किया तो उन्होंने कहा–

ग्रह गृहीत पुनि वात बस, तेहि पुनि बीछी मार ।
ताहि पियाइय वारुनी, कहहु कवन उपचार ।।

इस प्रकार श्री अयोध्या के विशाल साम्राज्य को श्री भरत जी ने रोग के समान अशुभ जाना और परित्याग कर दिया। चित्रकूट से लौट कर श्री भरत जी ने श्री राम जी की आज्ञानुसार समस्त शासन प्रबन्ध सम्हाला और श्री नन्दिग्राम में पर्ण कुटी में निवास करते हुए ऐसा तप भी किया जिसे 'मुनि मन अगम' माना गया। सारे राज्य का प्रबन्ध करते हुए श्री भरत जी श्री रामचन्द्र जी से भी अधिक तीव्र तपस्या में लगे रहते थे। श्री अयोध्या का विशाल वैभव सब उनके ही प्रबन्धाधिकार में था। परन्तु उनको उसके प्रति कोई आकर्षण नहीं था।

अवध राज सुर राज, सिहाहीं। दशरथ धन लखि धनद लजाहीं ।।
तेहि पुर बसत भरत बिनु रागा। चंपरीक जिमि चम्पक बागा ।।

जिस प्रकार भ्रमर को चम्पा के पुष्प के प्रति कोई आकर्षण नहीं होता, उसी प्रकार श्री भरत जी श्री अयोध्या में वास करते हुए भी और सारी सम्पत्ति के अधिकारी होते हुए भी थोड़े से भी आकर्षण का अनुभव नहीं करते थे।

श्री रामानुजाचार्य के गुरु श्री यामुनाचार्य थे। श्री यामुनाचार्य जी ने श्री विष्णु भगवान् की प्रशंसा में आलवन्दार स्तोत्र लिखा है। इस स्तोत्र के एक सुललित श्लोक में वे कहते हैं—

तवामृत स्यंदिनि पाद पंकजे, निवेशितातिमा न हि चान्यदिच्छति ।
स्थितेऽरविन्दे मकरन्द निर्भरे, मधुव्रतो नेक्षुरकं हि वीक्षत्ति ।।

"जैसे मधुका प्रेमी भौंरा मकरंद से परिपूर्ण कमल के विद्यमान रहते गन्ने में लगे हुए कीड़े की ओर नहीं देखता है, उसी तरह आपके अमृत स्रावी चरण कमलों में जिसका मन प्रवेश कर गया है वह किसी और वस्तु की इच्छा नहीं करता है।" इस तरह इन प्रमाणों और उदाहरणों से स्पष्ट हो जाता है कि शास्त्र वचन व सन्तों के अनुभव से यह भली भांति प्रमाणित हो जाता है कि सच्चे भगवद् भक्त को विषयों का आकर्षण बिल्कुल नहीं होता। श्री गोस्वामी जी का तो यहाँ तक मत है कि विषय कटु लगने चाहिए परन्तु उनका मधुर लगना एक भयानक लक्षण है—

काम भुजंग डसत जब जाही । विषय निम्ब कटु लगत न ताही ।।
(वि०प०)

जिसे कामना रूपी सर्प काट लेता है, उसे विषय भोग रूपी नीम कड़वी नहीं लगती। इस प्रकार श्री गोस्वामी जी के अपने मत के अनुसार यिषयों में सहज कटुता है न कि रमणीयता।

इस दृष्टि से देखने और मनन करने से शास्त्र का यह सिद्धान्त समझ में आयेगा कि जो सन्त विषयों के आकर्षण से नितान्त ऊपर उठ जाते हैं वे अपने सच्चे स्वभाव का अतिक्रमण नहीं करते। बल्कि मोहवश प्राप्त हुए अपलक्षण को दूर करके अपने शुद्ध स्वरूप को प्राप्त होते हैं।

कांचन और कामिनी के बारे में जो विचार पिछले छन्द (दोहे) में प्रकट किया गया उसे ही इस चौपाई में पुष्ट किया गया है। तथापि कुछ उक्ति वैचित्र्य रखा गया है।

बहुत थोड़े लोग हैं जो विषय भोगों का स्वरूप से नितान्त त्याग करते हैं। ऐसे लोगों में भी इस प्रकार के लोग पाए जाएँगे जो उस त्याग का गौरव या अभिमान रखते हैं। प्रातः काल घर की सफाई करके कूड़ा फेंकते समय किसी को यह अनुभव नहीं होता कि वह कुछ त्याग कर रहा है। रोग के त्याग का अभिमान नहीं होता, धन सम्पत्ति के त्याग का अभिमान होता है। जहाँ यह भाव बना रहे कि मैंने बड़ा भारी त्याग किया है, वहाँ वस्तु का त्याग भले ही हुआ हो, उसके महत्व का भाव त्याग के बाद भी बना हुआ है। जहाँ विषयों का त्याग किया जाता है परन्तु उनके महत्व को अन्तःकरण स्वीकार किए रहता है और उसी महत्व के आधार पर त्याग का अभिमान हो जाता है, वहाँ सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर त्याग हुआ ही नहीं, क्योंकि चित्त में अब भी विषय भोग रमणीय और संग्रहणीय मान्य हैं। इसलिए अभिमान से किया हुआ त्याग, क्रोध या आघात या उच्चाट से किया हुआ त्याग उत्तम वैराग्य का प्रमाण नहीं माना गया है। घमण्ड से किया हुआ त्याग किसी अवसर पर धाक जमाने के लिए होता है, जैसे किसी नौकरी से आवेश में आकर त्याग-पत्र दे देना। तात्कालिक भावना का वेग शान्त हो जाने पर आसक्ति फिर जोर कर सकती है। जो बच्चा क्रोध में आकर किसी गुब्बारे को फोड़ देता है वह थोड़ी देर में फिर गुब्बारे के लिए रो सकता है। इसी तरह कभी कभी किसी आवेश में आकर घर छोड़ कर भागे हुए लोग, साधु हो जाने के बाद भी घर वालों की याद करके रोते पाए गए हैं। बड़ी आयु के लोग जिन्हें गुब्बारे के खेल में कोई सुखाभास नहीं रह गया, गुब्बारे के लिए कभी तृष्णा नहीं रख सकते। जिस किसी विषय में जिसका सुखाभास नष्ट हो गया है, उस विषय में उसे स्पृहा नहीं होती। जब तक विषयों में सुखाभास रहता हैं तब तक विषयों के ध्यान से संग संग से काम, काम से क्रोध, क्रोध से मोह, मोह से (स्वरूप की) विस्मृति और उससे बुद्धिनाश और अन्त में सर्वनाश होता है। (गीता २.६२.६३) यदि विवेक के प्रताप से मोह नाश हो गया और सुखाभास

नष्ट हो गया, तब यह भय नहीं रहता कि कुछ दिनों बाद वैराग्य ठण्ढ़ा पड़ जायगा, विषयासक्ति पुन: प्रकट होगी। अत: श्री योग वासिष्ठ में कहा है--

सतामुत्तम वैराग्यं विवेकादेव जायते।
'सत् पुरुषों का उत्तम वैराग्य विवेक से ही उत्पन्न होता है।'

स्वर्गीय परम पूज्य श्री हनुमान् प्रसाद पोद्दार जी (सम्पादक, कल्याण) ने 'साधन पथ' में भी विषयों में रमणीयता के बाध को आवश्यक बताया है। असली वैराग्य वही है जिसे प्राप्त करने पर संसार का कोई विषय रमणीय न लगे। जगत् का सुखाभास एकदम समाप्त हो जाय।

इस प्रकार त्याग की भी विभिन्न भूमिकाए हैं---

निषिद्ध विषयों व पाप कर्मों का त्याग, काम्य कर्मों व कामनाओं का त्याग। जगत् के विषयों में रमणीय भावना का त्याग, महत्वपूर्ण विषयों के त्याग के अभिमान् का त्याग, विषयों में सुखाभास का अस्त, विषयों में कभी सुख मिला था उसकी स्मृति का भी त्याग, जगत् में सत्य बुद्धि का भी नितान्त त्याग, 'वासुदेव: सर्वं' भाव, द्वैत का त्याग। इन सब त्याग की भूमिकाओं से होते हुए भगवान् से एकत्व की प्राप्ति, मायाकृत बन्धन की समाप्ति।

'तुलसी भूलि गयो रस एहा।' इस तृतीय चरण में यह स्पष्ट संकेत है, कि कामिनी कांचन का रस जिन्हें भूल गया है, अर्थात् जगत् के विषयों का सुख अब नहीं भासता, पहले भोगा हुआ सुख भी अब सुखवत् मान्य नहीं रह गया, पहले के भोग की सुखद यादगार भी अब दिल में नहीं रही। जैसे स्वप्न में भोगे हुए सुख अवास्तविक मान्य हो

जाते हैं और स्वप्न के सुखों की स्मृति भी शीघ्र ही क्षीण हो जाती है, यदि स्वप्न की कुछ स्मृति रह भी जाय तो भी वह सुखपूर्वक व्यतीत किए हुए समय की स्मृति की तरह नहीं रहती। जो त्याग की जितनी ऊँची भूमिका में प्रतिष्ठित हुए हैं, वे उतने ही धन्य हैं।

पिछले दोहे की पुनरुक्ति द्वारा पुष्टि तो इस चौपाई में की गई है परन्तु कुछ विलक्षणता भी है, पहले कहा—

'कंचन कांचहि सम गनत', अब कहा कंचन को मृतिका करि मानत। वहाँ तो सोना भला कांच के चमकदार टुकड़े की तरह था भी, यहाँ तो वह निरा मिट्टी ही हो गया, पहले भी स्वर्ण की आर्थिक महिमा अमान्य थी, परन्तु यहाँ तो वह पृथ्वी तत्व के एक रूप की तरह ही रह गया, उसकी चमक दमक की भी कोई विशेषता मान्य नहीं रही। मनुष्य कृत आधुनिक अर्थ व्यवस्था में स्वर्ण बहुमूल्य है। अन्य प्राणियों के लिए जो प्राकृतिक व्यवस्था है, उसमें स्वर्ण का कोई विशेष मूल्य नहीं, वह एक चमकदार पदार्थ है जैसे कांच का टुकड़ा। किसी वानर या भालू को स्वर्ण की चमक का तात्कालिक आकर्षण हो सकता है, उसके लिए वह स्थिर महत्व की वस्तु नहीं।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार सभी पदार्थ विद्युन्मय हैं। परमाणु की पुनर्रचना से एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का रूप ले सकता है। प्रसिद्ध सिद्ध सन्त स्वामी विशुद्धानन्द जी कहते थे कि सूर्य विद्या से परमाणु पुनर्रचना करके एक पदार्थ से दूसरा बनाया जा सकता है और वे बना भी देते थे। भूगर्भ वेत्ता कहते हैं कि कोयला और हीरा दोनों ही कार्बन हैं। तत्वतः भिन्न नहीं। लाखों वरस की गर्मी और दबाव से कोयले से ही हीरा बन गया। अब तो यह सिद्ध हो गया है कि प्रयोग शाला में भी कोयले से हीरा बनाना सम्भव है, परन्तु वह प्रयोग इतना

खर्चीला है कि उस तरह से हीरा बनाना सस्ता नही पड़ता है। तो फिर हीरा भी चमकदार कोयला है, स्वर्ण भी चमकीली मिट्टी है।

घोंघा, सिप्पी या शंख के ऊपरी कठोर आवरण को खोल कहते हैं, वृक्ष के ऊपरी कठोर आवरण को छाल कहते हैं, पशु या मनुष्य देह के ऊपरी आवरण को खाल या चर्म कहते हैं, उर्दू में इसे जिल्द कहते हैं, पुस्तकों के भी ऊपरी कठोर आवरण को जिल्द कहते हैं। मनुष्य देह में चर्म या खाल ऊपरी आवरण मात्र है। पेड़ों में ऊपरी आवरण का अत्यन्त कठोर होना आवश्यक है; नरम टहनियों, पत्तियों और कोपलों में जहां कोमलता की आवश्यकता है यह छाल नही होती। पेड़ों में छाल के भीतर लकड़ी भी कठोर होती है क्योंकि तने को स्थिर रहना है, झुकना नहीं है, परन्तु मनुष्य देह में कार्य क्षमता के लिए खाल का नरम होना आवश्यक है। जहाँ जहाँ कठोरता की आवश्यकता है, कठोर हड्डी रखी गयी है, परन्तु वह मांस और खाल से ढकी रहती है। पशु और मानव देह में सौन्दर्य चर्म में ही भासता है, और सौन्दर्य का ही आकर्षण होता है। यह माना जा सकता है कि गृहासक्त पुरुष के लिए देह की कोमलता और सौन्दर्य का महत्व है परन्तु जो व्यक्ति इन सुखों से ऊपर उठ चुका है उसके लिए इसका कोई महत्व नहीं जैसे—अबोध बालक यदि कोई वस्तु खरीदने के लिए बाजार जाय तो वह 'पैकिंग' से आकर्षित होकर वस्तु को खरीद सकता है। असली वस्तु की पहचान उसे नहीं है। परन्तु जानकार व्यक्ति वस्तु की पहचान करेगा, आवरण से आकर्षित नहीं होगा। इसी तरह मानव जीवन में भी चर्म सौन्दर्य से आकर्षित होना और उसे अति महत्व देना विवेक का लक्षण नहीं है। यह पुराने लोगों की बुद्धिमानी थी कि वह विवाह के लिए लड़की पसन्द करने में केवल चर्म सौन्दर्य को अति महत्व नहीं देते थे जिन देशों में युवक अपना साथी स्वयं चुनते हैं वहाँ बहुत मामलों में विवाह इसीलिए टूट जाते हैं कि जहाँ दैहिक आकर्षण को अति महत्व

प्राप्त हो गया और गृह संचालन के लिए आवश्यक गुणों की समीक्षा नहीं की गयी वहाँ बाद में असन्तोष आदि का उदय होना सहज और स्वाभाविक है। गृह संचालनादि कार्यों के लिए आवश्यक गुणों का सामाजिक और पारिवारिक जीवन में जो महत्व है वह चर्म सौन्दर्य से कहीं अधिक है। परन्तु जिन्हें केवल साधारण परिवार चलाना ही अभीष्ट नहीं है उनके लिए दूसरे दूसरे गुणों का अति महत्व होगा। उच्च कोटि के पुण्यात्मा, धार्मिकों साधकों के लिए नारी, कामिनी है ही नहीं। वह सहधर्म चारिणी है, पति के धर्म को सम्हालने और सुलभ बनाने वाली धर्म पत्नी है। अत: धर्माचरण, तपस्या, भजन निष्ठ जीवन में साथ देने की क्षमता होना उसके लिए अभीष्ट है जो किसी सन्त की धर्म पत्नी है। ऋषियों और दार्शनिकों की धर्म पत्नियों में विचित्र और अलौकिक गुण पाए गए हैं। उनके आत्मिक गुण महत्व पूर्ण हो जाते हैं। एक प्रबल उदाहरण श्री वाचस्पति मिश्र की धर्म पत्नी भामती का मिलता है। पचास वर्ष तक वे पति के साथ घर में निवास करती रहीं, उनकी सार सम्हाल भी करती रहीं उनके अध्ययन अध्यापन कार्य में भी सहायक रहीं, परन्तु पति को गृह सुखों की ओर बिल्कुल आकृष्ट नहीं किया। दोनों की जान पहचान तक नहीं हुई। तब दो घटनाएँ हुईं जिनका बहुत प्रभाव पड़ा। एक दिन श्री मिश्र जी अपने अध्ययन के कार्य में लगे हुए थे कि हवा के झोंके से चिराग बुझ गया। भामती ने यह देख लिया और उन्होंने सहसा जाकर चिराग जला दिया। श्री मिश्र जी बोले—"तुम कौन ?', उसने जबाब दिया—'आपकी दासी, उन्होंने कहा—'तुमको हमारी दासी किसने बनाया ?' उसने उत्तर दिया—'धर्म को छोड़कर हमारे आपके बीच ऐसा सम्बन्ध कौन स्थापित कर सकता है ?" मिश्र जी ने पूछा, "तो तुम हमारी धर्म पत्नी हो ?" उसने कहा—'जी हाँ।' ५० वर्ष हुए जब आपने विवाह मण्डप के नीचे मेरा पाणिग्रहण किया था, परन्तु उस समय भी आप दूसरे हाथ में

पुस्तक लिए हुए थे। श्री वाचस्पति मिश्र को श्री भामती जी की इस तपस्या का लोहा मानना पड़ा। दूसरी घटना यह हुई कि श्री वाचस्पति मिश्र ने श्री शंकराचार्य जी के अद्वैत वेदान्तों को और अधिक स्पष्ट करने के लिए वेदान्त सूत्रों पर जो शांकर भाष्य था उस पर अपनी विस्तृत टीका लिखी जिससे वे अध्यापन में भी सहायता लेते थे। एक बार उनको यह देखने को मिला कि किसी ने उनकी पोथी में संशोधन किया है। संशोधन ठीक था। सचमुच गलती हो गई थी जो ठीक कर दी गई थी। श्री मिश्र जी को यह आश्चर्य हुआ कि हमारी अपनी पोथी में किसने संशोधन कर दिया? उन्होंने शिष्यों से पूछा परन्तु किसी शिष्य ने संशोधन करने की बात स्वीकार नहीं की। गुरू की पोथी में संशोधन करने की हिम्मत कोई शिष्य करता ही कैसे? तब उन्होंगे भामती जी से भी पूछा। वे बोलीं, "क्षमा कीजिएगा यह मेरी ढीठता है। मैंने यह सोचा कि आपकी यह पोथी दूसरे दूसरे विद्वानों के पास जायगी कहीं दूसरी जगह जाकर आपकी गलती न पकड़ी जाए इसलिए मैंने ठीक कर दिया।" श्री वाचस्पति मिश्र ने कहा कि मुझे पता नहीं था कि तुम इस कोटि की विदुषी हो। अब यह मेरी टीका तुम्हारे नाम से ही विख्यात होगी। इसलिए श्री वाचस्पति मिश्र की टीका आज तक भामती की टीका ही कहलाती है।

वसिष्ठ और अरुन्धती, अत्रि-अनुसूया, सत्यवान्-सावित्री, राम-सीता, के जीवन में भी आत्मिक गुणों की प्रधानता मिलती है। सन्त जीवन में कामिनी का आकर्षण एकदम अस्त हो जाता है, परन्तु यह सम्भव है उनकी धर्म सहचरियाँ उनके तप की भी संगिनी हों यथा--मनु-शतरूपा, कर्दम-देवहूति, च्यवन-सुकन्या, म० गाँधी और कस्तूरवा, श्री रामकृष्ण परमहंस और श्री शारदामणि आदि। अहिल्या जी का सौन्दर्य ऐसा विलक्षण था कि देवादि भी आकर्षित होते थे। वे महर्षि गौतम के आश्रम पर रक्खी गई परन्तु श्री गौतम ऋषि दीर्घ काल तक

साथ रहने पर भी नितान्त अनाकृष्ट रहे। तब दैवी विधान से (आज्ञा से) वे श्री गौतम की ही धर्म पत्नी हुईं। श्री श्रीरामकृष्ण परमहंस जी ने श्री शारदामणि जी से कह दिया था, वह रामकृष्ण जिसके साथ तुम्हारा विवाह हुआ था, मर गया। यह दूसरा ही रामकृष्ण है, जो समस्त स्त्रियों को देवी जी का स्वरूप ही देखता है।

ते धीर अछत विकार हेतु जे रहहिं मनसिज बस किये।

जो नारी देहाभिमान रखती है और सौन्दर्य से आकृष्ट करना चाहती है वह कामिनी है, सच्चे सन्त के लिए वह काठ की पुतली है, उसका आकर्षण निष्प्रभाव है।

जिस प्रकार भारतीय दण्ड संहिता में बार बार पुरुष का ही उल्लेख अपराध परिभाषाओं में आता है। परन्तु स्त्रियाँ भी उसमें सम्मिलित मानी गई हैं, ऐसा नहीं है कि अपराध परिभाषाएँ या दण्ड प्राविधान उन पर लागू न हों। इसी प्रकार शास्त्र में भी पुरुष वाचक शब्द हैं, या पुरुष को सम्बोधित उपदेश हैं शास्त्रों के संवादों में प्राय: पुरुष श्रोता हैं। परन्तु उपदेश स्त्रियों के लिए भी हैं। सन्तो के लक्षण जो वर्णित हुए हैं, महिला सन्तों पर भी बराबर लागू हैं। इसलिए अपने आप समझ लेना चाहिए कि आदर्श महिला सन्त के लिए पुरुष का आकर्षण भी अस्त होगा। वह भी काष्ठ शिला रह जायगा।

तथापि जो विकार मुक्त दिव्य भगवदीय प्रेम पंथ का सम्पर्क है, उसका यहाँ वर्जन नहीं है।

अन्त:करण से विषयासक्ति को निर्मूल और निर्बीज कर देने का चमत्कार भगवत् स्मृति में है। भगवान् की याद में डूबा रहने वाला

व्यक्ति ही विषयासक्ति से इतना रहित हो सकता है कि स्मृति भी शेष न रहे। रघुपति भगति सजीवन मूरी। अनोपान श्रद्धा मति पूरी।।

एहि विधि भलेहि सो रोग नसाहीं। नाहि तो जतन कोटि महि जाहीं।।
(रा०च०मा०, उत्तर काण्ड)

जिस सन्त के अन्तःकरण से विषयासक्ति इस प्रकार निर्मुल हो चुकी है, वह भगवान् से एक और अभिन्न हो चुका है। अतः ऐसे सन्त को इस जगत् में साक्षात् राम रूप घोषित किया है।

———

आकिंचन इंद्री दमन, रमन राम इक तार ।
तुलसी ऐसे सन्त जन, बिरले या संसार ॥२९॥

जो अकिंचन हैं, इन्द्रियों का दमन किए हुए हैं, और जो निरन्तर राम के ध्यान में ही लगे हैं, तुलसीदास जी कहते हैं कि ऐसे सन्त इस संसार में बिरले ही मिलते हैं ।

शुद्ध संस्कृत रूप अकिंचन है, आकिंचन उससे निकला हुआ (तद्भव) रूप है । दोहे के प्रथम चरण में १३ मात्रा होनी चाहिए, दूसरे में ११, तीसरे में १३, और चौथे में ग्यारह । यहाँ प्रथम चरण में यदि 'अकिंचन' पाठ होता तो १२ ही मात्रा रह जातीं, इसलिए 'आकिंचन' पाठ रखा गया जिससे १३ मात्रा पूरी हो गईं, छन्द नहीं बिगड़ा ।

अकिंचन—जिसके पास कुछ नहीं है । श्री रामचरित मानस में कहा है—परम अकिंचन प्रिय हरि केरे । शब्दार्थ ग्रहण करने से तो यह प्रतीत होगा कि जिसके पास कोई सामान न हो, घर, द्वार, भूमि, अन्न, वस्त्र, वर्तन आदि कुछ न हो वह अकिंचन । परन्तु गरीब से गरीब के पास भी प्राय: भिक्षा पात्र मिलेगा । त्यागी सन्तों के पास भी प्राय: दण्ड, कमण्डल, लँगोटी, अचला रहता है । कौपीन भी हो तो भी उतना वस्त्र तो है ही ।

विचार करने से यह प्रतीत होगा कि शब्दार्थ ग्रहण से काम नही चलेगा । भाव ग्रहण करना पड़ेगा ।

एक तो 'पास' का मतलब निकट नहीं स्वामित्व में', ऐसा करना होगा। कोई अवधूत भी थोड़ी देर किसी सेठ के बैठके में बैठ जाय, तो उसके पास सोफा, बिजली का पखा आदि सब रहेगा, परन्तु यह सब उसका नहीं है, सेठ का ही है। इसलिए वह अकिंचन ही है। बैंक या डाकघर में जमा रुपया आपके निकट नहीं रहता परन्तु वह रुपया आपका है इसलिए आपके पास ही मान्य है। सेठ जी का रुपया मुनीम के पास रहे तो भी सेठ जी का ही रुपया है, मुनीम का नहीं। सरकार का रुपया सरकारी है, चाहे किसी के पास हो। अकिंचन वह है जो अपरिग्रही है। परिग्रहण का भी अर्थ भौतिक रूप से हाथ से पकड़ना नहीं है। मन से अपनाना है। क़ैदी के हाथ पैरों में हथकड़ी बेड़ी हो तो भी वह उनका परिग्रही नहीं है। किसी को दस रुपए का नोट देकर बाज़ार भेजिये और सामान मँगाइये तो नोट उसके हाथ में जाने पर भी आपका है, उसके परिग्रही आप ही हैं।

हवा सब जगह पाई जाती है, उसके बिना काम नहीं चलता, परन्तु उस पर स्वामित्व स्थापित न हो तब तक वायु सेवन होते हुए भी वायु परिग्रहण नहीं है। परन्तु यदि आपने कूलर लगा रक्खा है और उसका लाभ वहीं ले सकता है, जिसे आप अनुमति दें, तो वायु परिग्रहण हुआ है।

जो लोग इन्द्रिय सुखों के नितान्त त्यागी हैं, उन्हें भी कभी कभी परिस्थिति वशात् सुख स्वीकार करने पड़े। आप यदि गर्मी में किसी को पंखा हाँकने की सेवा करने की अनुमति नहीं देते, तो आप तब क्या करेंगे जब प्रकृति द्वारा ही हवा का झोंका भेज दिया जाय, अथवा विद्युत चालित पंखा चल रहा हो? यदि आप दुर्घटनाग्रस्त हो जायँ और बहुत अच्छे अस्पताल में पहुँचा दिए जायँ तो अपने नियम, व्रत, के विरुद्ध भी वहाँ सुख, सुविधा व व्यवस्था को सहन करना पड़ेगा न?

यदि किसी पुरुष व किसी स्त्री के हाथ हथकड़ी से संयुक्त कर दिए जायँ तो भी पाणिग्रहण (या प्रमदा परिग्रह) मान्य न होगा। नाटक में विविधि सम्बन्धों का अभिनय होने पर भी वे सम्बन्ध स्थापित नहीं होते, अमान्य ही रहते हैं। अत: दार्शनिक, यौगिक या आध्यात्मिक दृष्टि से आप उन्हीं वस्तुओं के परिग्रही हैं, जिन्हें आपने मन से अपने स्वामित्व में स्वीकार किया है। यही आपके बन्धन (चिन्ता, व्यग्रता, आशा, निराशा, भग्नाशा आदि) का कारण बनती हैं, अन्य नहीं।

परिग्रहो हि दु:खाय, यद्यत्प्रियतमं नृणाम् ।
अनन्त सुखमाप्नोति, तद्विद्वान् यह्त्वकिंचन: ।। (श्रीमद्भा०)

'प्यारी से प्यारी वस्तुओं का परिग्रह ही दु:ख का कारण है जो विद्वान् (ज्ञानी) अकिंचन है, वह अनन्त सुख प्राप्त करता है।' साधारण दृष्टि से परिग्रह बढ़ने से सुख सुविधा की वृद्धि होती है, इसीलिए प्राय: सब श्रीमान्, लक्ष्मीवान् होना और रहना चाहते हैं। परन्तु धन के साथ चिन्ता, लोभ, अभिमान् आदि बढ़ते हैं, और सच्ची भगवत्प्रीति बाधित होती है।

अपरिग्रह सिद्ध होने से आवश्यक वस्तुएँ सहज प्राप्त होती रहती हैं। (योग सूत्र)। भगवत्प्रपन्न सन्त के लिए योग क्षेम वहन हेतु भगवान् की दिव्य विशेष व्यवस्था भी काम करती है। इसलिए कहा है कि परिग्रह दु:ख मूलक हैं, अकिंचन को अनन्त सुख प्राप्त है।

न सुख देवराजस्य, न सुखं चक्रवर्तिन: ।
सुखमेव विरक्तस्य, मुनेरेकान्त वासिन: ।।

प्रसिद्ध सिद्ध सन्त श्री शाहन्शाह जी एक बार लखनऊ से दिल्ली जा रहे थे। जो सज्जन उन्हें स्टेशन तक भेजने गए वे घर से पूड़ी,

तरकारी बनवा कर पोटली ले गए। उसे रखने लगे तो शाहन्शाह जी ने कहा, 'इसमें क्या है ?'' वे बोले, 'महाराज ! दिल्ली के रास्ते मे खाने का समय हो जायगा, इसलिए आप के लिए पूड़ी तरकारी बनवा लाया हूँ ।' शाहन्शाह जी ने कहा, आपका खाने का मन होगा, इसलिए बनवाया। हमारे साथ तो हमारा खानसामा रहता है, वह हमें सही समय पर खाना देगा।' जब गाड़ी अलीगढ़ पहुँची, खाने का समय हुआ। अलीगढ़ स्टेशन पर शाहन्शाह जी के एक भक्त अपने किसी अतिथि को लेने आये थे। वे अतिथि उसी गाड़ी से उतरने वाले थे। अतिथि तो आए नहीं पर उन भक्त को गाड़ी में शाहन्शाह जी मिल गए। वे उन्हें सप्रेम आग्रह पूर्वक अपने घर ले गए और भोजन कराया। दो चार दिन बाद दिल्ली से एक पत्र लखनऊ आया, जिसमें इन बातों का उल्लेख था।

पीछे पीछे हरि फिरैं कि भूखे ना रहि जायँ।

अकिंचन और इन्द्रिय दमन इन दोनों गुणों का सम्बन्ध है। इन्द्रिय दमन करने वाला ही अकिंचन रह सकता है, कोई और तो भोग सामग्री का परिग्रह करने को विवश हो जायगा। वासनाएँ हैं और भोग प्राप्त नहीं, तो ऐसी परिस्थिति में समाधान या शान्ति नहीं हो सकती।

महर्षि पतञ्जलि ने अहिंसा, सत्य, अस्तेय और ब्रह्मचर्य के बाद अपरिग्रह गिनाया है, क्योंकि पूर्वोक्त चार के दृढ़ होने पर ही अपरिग्रह साध्य, सहज और स्वाभाविक बनता है।

जहाँ भोग वासना है, सम्पत्ति की आवश्यकता रहेगी, अपरिग्रह नहीं सधेगा। परन्तु जहाँ शरीर को भी अपना नहीं मानते, आवश्यकता

मिट गई, प्रभु को कोई मांग पत्र नहीं देना है, वहां प्रभु स्वयं व्यवहार संचालित करते हैं।

पेड़ पानी के बिना नहीं रह सकते, परन्तु वड़ पेड़ों की गहरी जड़ें भूमिगत नमी से पानी खींचकर ऊपर फेंकती रहती हैं। पेड़ पानी की खोज में कहीं जा नहीं सकते, परन्तु ऋतु विज्ञान वेत्ता बताते हैं कि पेड़ वर्षा को भी आकृष्ट करते हैं। जिस भूभाग के जंगल कट जाते हैं वहाँ वर्षा का वार्षिक औसत घट जाता है। इसी प्रकार अपरिग्रही की आवश्वकताएँ, स्वयं पूरी होती रहती हैं, परिग्रही की अपूर्ण आवश्यकताएँ बढ़ती ही जाती हैं। स्वामी रामतीर्थ जी ने एक प्रवचन में समझाया कि वासना स्वयं पूर्ति में बाधक है।

चाह गई चिन्ता गई, मनुवाँ वेपरवाह।
जाके मन कुछ चाह नहिं, सो शाहन प्रति शाह।।
तो लौं जोगी जगत् गुरु, जौ लौं रहै निरास।
जो मन में आसा भई, जग गुरु जोगी दास।।

'अकिंचन' के बाद 'इन्द्री दमन' कहने में एक और मन्तव्य है। योगियों का कथन है कि भगवत्प्राप्ति के ठीक पहले तक माया का फ़साद सम्भव है और पतन की आशंका है।

योग सिद्धि फल समय जिमि, जतिहि अविद्या नास। (रा०च०मा०)

परमार्थ पथ में अन्तराय (विघ्न) आते ही हैं, परीक्षा होती ही है। ऊँची श्रेणी की परीक्षा भी कठिनतर होती है। अपरिग्रह सिद्ध होने के पूर्व बहुत सा तितिक्षा रूप तप करना पड़ता है। फिर यह सोपान प्रायः आता है कि बिना बुलाए ही लक्ष्मी आने लगती है। उसके

आगमन का अवरोध दुःसाध्य है। अबाध आगमन से तप-शैथिल्य, विलास या संचय का प्रसंग आता है। कितने ही मठ, आश्रम आदि सम्पत्ति की बाढ़ में निष्प्रभ हो गए।

इस संसार मे यह देखा जाता है कि लक्ष्मी प्राय: भोगियों के पास से भागती हैं योगियों के पास जाना चाहती हैं।

तुलसी अद्भुत देवता, आसा देवी नाम।
सेवत सोक समर्पई, विमुख भए अभिराम।। (दोहावली)

भागती फिरती थी दुनियाँ, जब तलब करते थे हम।
तर्क हमने कर दिया, वह बेक़रार आने को है।।

त्यागी महात्माओं से ही लोग आग्रह करते हैं, (संसार वाले भी और भक्त लोग भी) कि विविधि प्रकार के सुख, सुविधाएं आदि स्वीकार कर लें। यदि आग्रह को स्वीकार करते जायँ तो महात्मा जन के बाहरी जीवन से त्याग बिल्कुल विदा हो जाय। फिर अन्य लोगों को त्याग की प्रेरणा देना कैसे सम्भव होगा?

शरीर यदि सुविधा का अभ्यस्त हो गया तो वह तितिक्षा के अयोग्य होता जायगा। फिर यदि सभी सुख सुविधाओं का प्रबन्ध आग्रहपूर्वक सदैव रखा गया तो लोगों को सन्देह और अश्रद्धा की प्राप्ति होने लगेगी। यदि थोड़ी भी विषयोन्मुख वृत्ति हुई तो परिस्थितियां शीघ्र ही लहर का बहर (समुद्र) बना सकती हैं। पुण्य का फल भोग है। भोग यदि पसन्द आने लगा तो अपने सम्पूर्ण तप की हुण्डी भुना डालने की लालच पैदा होगी।

इस तरह यह खतरे की बात है कि मन पर अति विश्वास करके उसे छूट दी जाय। जैसे पुंश्चली स्त्री जार से मिलकर पति को मरवा सकती है, वैसे ही विषय संगी मन योगी के तप का हनन कर सकता है। अतः इन्द्रियों का दुलार करना सन्तों के लिए भी खतरनाक हो सकता है।

यदि मान भी लिया गया हो कि आप लोभ और काम से ऊपर उठ चुके हैं, तो भी जीवन को त्यागमय रखना अच्छा है। श्री नारद जी को जब काम विजय का गर्व हुआ इसी के बाद वे विश्व मोहनी पर आसक्त हुए। अत: अभिमान न करके अकिंचन होकर रहना और विषयासक्ति को सर न उठाने देना आवश्यक है। श्री गोस्वामी जीं बार बार इस त्याग की बात को कहते हैं और तरह तरह से समझाते हैं, क्योंकि यह त्याग वैराग्य ही सच्चे आध्यात्मिक जीवन की नींव है, और सब विडम्बना है। इस विषय में अखण्ड जागरूकता (सावधानी) की आवश्यकता इसलिए है कि इस विषय में शिथिलता बरतने के लिए आधार और बहाने हर समय उपलब्ध रहते हैं जैसे–

कौमल बाल शरीर तपस्या के योग्य नहीं, खेलने खाने की आयु है। जवानी सुख भोग के लिए है, त्याग वैराग्य बूढ़ों के लिए है। कलियुग में वृद्धावस्था में तप नहीं किया जा सकता।

बूढ़ा सुआ राम नाम नहीं रट सकता।

उम्र तो सारी कटी इश्के बुतां में मोमिन।
आख़िरी वक्त में क्या ख़ाक मुसल्मां होंगे ॥

विषयों का त्याग आवश्यक ही नहीं है, आराम के साथ रहते हुए भजन करना चाहिए।

त्याग वैराग्य आदि नये साधकों के लिए है, प्रौढ़ साधक तो दीन दुनियाँ दोनों का आराम उठा सकते हैं। जब वैभव पूर्ण जीवन में भी वैराग्य न टिका तब तक साधन पक्का कहाँ हुआ ? सिद्ध सन्तों के लिए त्याग वैराग्य कुछ नहीं—को विधिः, को निषेधः।

इस तरह के विचार और आधार सदैव प्रस्तुत किये जाते हैं। इनमें पड़ कर पतन होगा कि नहीं और कितना पतन होगा, यह तो पृथक प्रश्न है, परन्तु जिसकी भगवान् से सच्ची लौ लग गई है वह इन बातों में पड़ेगा नहीं।

जिसे शौक हो गया कि परम प्रेमास्पद के ध्यान में ही मग्न रहे—

बैठे रहें तमुव्वरे जानाँ किए हुए।

उसे कब अनुकूल हो सकता है कि अन्यान्य विषय उठ खड़े हों जिन पर उसे ध्यान देना पड़े।

ग़ालिब साहब ने एक शैर में कहा है—

नुक्साँ बहीं वला से, जुनूँ में हो घर खराब।
सौ गज़ जमीं के बदले बियाबाँ गरां नहीं।

यदि प्रेमोन्माद में घर विलट जाय तो कोई हानि नहीं। घर की सौ गज़ ज़मीन चली जाय पर उसके बदले पूरा जंगल मिल जाय तो यह मंहगा सौदा नहीं है। श्री पार्वती जी ने भी तो कहा था—

नारद वचन न मैं परिहरऊँ। बसौ भवन उजरौ नहिं डरऊँ।।

त्याग वैराग्य की कमी होने से निर्विघ्न निरन्तर प्रभु स्मरण न हो सकेगा। इसलिए प्रभु का सच्चा प्रेमी वैराग्य निष्ठ होगा।

वैराग्य राग रसिको, भव भक्ति निष्ठ: ।

अकिंचन और इन्द्रिय दमन युक्त जीवन की सफलता यही है कि सप्रेम निरन्तर प्रभु स्मरण होता रहे ।

जे जन रूखे विषय रस, चिकने राम सनेह ।

तुलसी ते प्रिय राम के, कानन बसैं कि गेह ।। (दोहावली)

वैराग्य यह जीवन का एक पक्ष हुआ, सफल जीवन के लिए दूसरा पक्ष भी लेना चाहिए–सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर (गीता) हर समय प्रभु स्मरण ।

बिना हरि भजन के वैराग्य की दृढ़ता, सफलता व शोभा नहीं है । विषयों में सुख नहीं है, इसका अनुभव होने से, वहां सुखाभास नष्ट होने से वैराग्य हुआ. यह एक नकारात्मक उपलब्धि हुई. सकारात्मक उपलब्धि नहीं हुई । जहाँ सचमुच सुख हो वहीं उसकी प्रतीति हो और वहीं प्रीति हो तो यह सकारात्मक उपलब्धि होगी । सच्चे सुख के निधान अमृत स्रावी भगवत् पदारविन्द हैं, वहाँ प्रेम होना चाहिए । गलत जगह सुख ढूंढ़ा और नहीं पाया, इतना अज्ञान तो दूर हुआ, परन्तु सही जगह भगवद्भजन में आनन्द है, वहाँ मिलना भी चाहिए और फिर तं सत्यमानन्दनिधिं भजेत (श्रीमद्भागवत) उस आनन्द विधान परम सत्य का भजन होना चाहिए, ओर मिथ्याभास सचमुच मिट गया हो तो चित्त उधर जाना ही नहीं चाहिए । अर्थात् सप्रेम निरन्तर (अखण्ड) भजन होना चाहिए । 'रमन राम एकतार' का यही अर्थ है ।

नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी । कोइ एक होइ धर्म ब्रत धारी ।।
धर्म शील कोटिक मँह कोई । विषय विमुख बिराग रत होई ।।
कोटि विरक्त मध्य श्रुति कहई । सम्यक ज्ञान सकृत कोउ लहई ।।

ग्यानवंत कोटिक महँ कोऊ । जीवन मुक्त सकृत जग सोऊ ।।
जिन सहस्र महुँ सब सुख खानी । दुर्लभ ब्रह्मलीन विज्ञानी ।।
धर्म शील विरक्त अरु ज्ञानी । जीवन मुक्त ब्रह्म पर प्रानी ।।
सबते सो दुर्लभ सुरराया । राम भगति रत गत मद माया ।।

इसी प्रकार श्री गीता जी में कहा है–

मनुष्याणां सहस्त्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्वत: ।। (७.३)

बहूनां जन्मनामन्ते, ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेव: सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ: ।। (७,१९)

दृढ़ वैराग्य वाला विवेकी सुलभ है, उनमें भी सम्यक् ज्ञानी दुर्लभ हैं, जीवन मुक्त और ब्रह्मलीन विज्ञानी और भी दुर्लभ हैं । परन्तु श्री भगवान् में निष्कपट अहैतुकी प्रीति रखने वाले सबसे दुर्लभ हैं । किसी भी भूमिका के सन्त सुलभ नहीं हैं

सत्संगति दुर्लभ संसारा । निमिष दण्ड भरि एकउ बारा ।।

परन्तु सन्तों में भी पूर्ण विरक्त, जिनके लौकिक संकल्प विकल्प भी अस्त हो चुके हैं, भगवान् की अहैतुकी भक्ति ही एक मात्र प्रयोजन रह गया है, 'सकल प्रकार विकार विहाई' तथा मन वचन कर्म से निरन्तर भगवद्भजन करते हैं, ऐसे सन्त बहुत ही दुर्लभ हैं, बिरले बिरले ही पाए जाते हैं । वे बहुत ही उच्च श्रेणी में पहुँच गए हैं ।

सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू । कर्ण धार बिनु जिमि जलजानू ।।

अहंवाद मैं तैं नहीं, दुष्ट संग नहिं कोइ ।
दुख ते दुख नहिं ऊषजै, सुख ते सुख नहिं होइ ।।३०।।

अहंभाव तथा मैं तू व मेरा तेरा भाव जिनमें नहीं, दुष्टों का संग जिनके जीवन में बिल्कुल नहीं है, दु:ख पड़ने से दु:खी नहीं होते, सुख मिलने से सुखी नहीं होते ।

इस दोहे में और अगले दोहे में मिलाकर सन्त लक्षण संक्षेप से कहे गय हैं, जिनमें एक प्रकार से समत्व के गुण का ही विस्तार है । पहले अभिमान का अभाव बताया गया है ।

सन्तों में अभिमान नहीं होता है ।

अहं=मैं, अस्मि=हूँ । 'अहंभाव' मैं पना । अहंवाद में केवल होने का अर्थ नहीं है, श्रेष्ठता का भाव भी समाया हुआ है । अपने को श्रेष्ठतर समझना और उसी तरह व्यवहार करना यह अहंवाद है । यह अहवाद परमार्थ का घातक है ।

कबीर ने कहा है–

यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं ।
सीस उतारे भुइँ धरै, तब पैठै घर माहिं ।।

खाला=मौसी । शब्दश: सिर काट कर ज़मीन पर रख नहीं सकता, न तब प्रेम के घर में प्रवेश कर सकता है । परन्तु यह भावार्थ

लिया जा सकता है कि अभिमान को नष्ट करके धूल में मिला दे तब प्रेम का अधिकारी हो सकता है।

योग वासिष्ठ का वचन है–

प्रतिष्ठा शूकरी विष्ठा, गौरवं घोर रौरवं।
अभिमानं सुरा पानं, त्रयस्त्यक्त्वा सुखी भवेत्।

श्री काष्ठ जिह्वा स्वामी जी ने कहा है–

मान बड़ाई जा दिन भाई, ता दिन किस्मत फूटी।
पूरी विपति मँहती आई, प्रीति राम से टूटी। (वैराग्य प्रदीप)

अहंकार निरसन एक ऐसा तत्व है जिसकी प्रायः उपेक्षा हो जाती है, परन्तु यह कदापि उपेक्षणीय नहीं है, साधन के लिए अनिवार्य है। अहंकार का त्याग कठिन है, उसके गुप्त और प्रकट कई रूप हैं, एक रूप में छूट जाय तो भी अन्य रूप में बना रहता है। सभी रूपों इसे पहचानना और त्याग देना दुष्कर है। परन्तु मान और ज्ञान का विरोध है। आप दोनों को एक साथ धारण नहीं कर सकते।

ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥
(रा०च०मा०)

ज्ञान की दृष्टि से भाषणों व पुस्तकों में अद्वैत सिद्ध करना पर्याप्त नहीं है, अद्वैत दृष्टि होनी चाहिए। यदि एक ही चैतन्य सत्ता चराचर में सब रूपों में विराजमान है, दूसरी कोई सत्ता है ही नहीं (अद्वितीयं), तो फिर मैं ब्रह्म हुँ, अन्य लोग ब्रह्म नहीं हैं, मैं पूज्य हूँ, अन्य पूजक हैं, ऐसा भेद कैसे टिकेगा?

एक बार स्वामी राम तीर्थ जी से अमरीका में कहा गया कि 'आप वेदान्त प्रतिपादित करते हैं, अपने को ब्रह्म बताते हैं, हम कैसे मानें ? आप कोई चमत्कार दिखाइये तो मानें । स्वामी राम तीर्थ ने कहा—'यह जो सारा संसार प्रकट हुआ है, उससे बढ़कर और चमत्कार क्या होगा ? यदि आप ब्रह्म के इस चमत्कार मे प्रभावित नहीं हुए तो अन्य किसी छोटे से चमत्कार से क्या होगा ? दूसरे, चमत्कार से हमारा वेदान्त सिद्ध नहीं होगा, असिद्ध होगा । चमत्कार से तो आप मुझे ब्रह्म मान लें तो भी अपने को नहीं मानेंगे । मैं यह कहाँ कहता हूँ कि मैं ब्रह्म हूँ, आप नहीं हैं ।' जरा सी असावधानी से या प्रमाद से यह प्रभाव पड़ता है कि अद्वैत सिद्धि बिगड़ जाती है, निज महत्व सिद्धि होने लगती है । अपने विशेष महत्व को मिटाकर ही अद्वैत स्थिति में ठहरा जा सकता है । उसका आग्रह करके नहीं । इस तरह मान और ज्ञान का विरोध है । जिसको मान बड़ाई न मिले वह बड़भागी है, एक महान विघ्न से बचा। यदि वह ज्ञान में स्थित रहना चाहे तो मान से बचे । गुणी और ज्ञानी जनों को मान मिलना चाहिए, मिलेगा और व्यवहार में उसे स्वीकार भी करना पड़ेगा, परन्तु गुण कृत इन भेदों को वास्तविक समझना और अपने लिए मान का आग्रह करना ज्ञान दृष्टि के विपरीत है । इस विषय में प्रमाद होने से यह विडम्बना पैदा हो जाती है कि—

बहुत प्रीति पुजाइबे पर पूजिबे पर थोरि ।
देत सिख सिखयो न मानत मूढ़ता असि मोरि । (बि०प०)

उस उपदेश से क्या होगा जो अपनी ही समझ में नहीं आया ? उस दर्शन का क्या उपयोग जिस पर अपना ही विश्वास नहीं जमा ।

संसृति मूल शूल पद नाना । सकल शोक दायक अभिमाना ।।
ताते करहिं कृपा निधि दूरी । सेवक पर ममता अति भूरी ।।

खुद को इतना मिटा कि तू न रहे।
और तुझमें दुई की बू न रहे।

प्रभु की माया के प्रताप से जिस विषय में जो अनाड़ी है, उस विषय के विशेषज्ञ होने का अभिमान उसके मन में उत्पन्न हो सकता है। जिस विषय में जो जानकार है, प्रशिक्षित है कुशल है, या उपाधि धारी है उस विषय में तो अभिमान सहज और स्वाभाविक रूप से पैदा हो जाता है। यदि किसी में प्रमाणित योग्यता का अभाव हो तो भी उपाधि या प्रमाण पत्र के अनुसार अभिमान के उदय होने में कोई खास रुकावट नहीं पडती। फिर उपाधि के अतिरिक्त व्यक्तिगत योग्यता या दक्षता का अभिमान होता है। अपने ही आप प्रमाणित करना है तो बुद्धि बहुत जल्दी प्रमाणित कर देती है कि हम बहुतों से अच्छे हैं या सबसे अच्छे हैं। इन चीजों की ठीक ठीक निष्पक्ष और विस्तुनिष्ठ माप नहीं हो सकती। अतः विपुल अवकाश मिलता है कि हम जितना चाहें अभिमान से फूल जायँ। वारांगनाओं, दस्युओं, नेताओं आदि की ही नहीं विद्वानों, लेखकों, कवियों, विचारकों आदि की गर्वोक्तियां विज्ञजनों को विदित है ही। अपनी गर्वोक्ति ठीक जान पड़ती है, दूसरे की गर्वोक्ति पर प्रायः हँसी आती है। यह सब माया का जाल है। मोक्ष के निकट वाले सोपानों पर अभिमान के आक्रमण की आशका कम नहीं प्रायः अधिक ही रहती है। विद्या का अहंकार, सर्वोत्तम अधिवक्ता, शास्त्रार्थी भाषण कर्ता, कथावाचक, कीर्तनकार आदि होने का अहकार, कवि, लेखक, भाष्यकार, आदि किसी रूप में अप्रतिम होने का अहंकार, यहाँ तक कि अति उत्कृष्ट सन्त, योगी, विरक्त, सिद्ध या चमत्कारी होने का अहंकार सम्भव है। एक बार एक बहुत ही चोटी पर के सन्त ने श्रोताओं से पूछा कि क्या आप में से कोई है जिसे अभिमान न हो? बताया जाता है कि एक श्रोता ने इस पर कहा, 'मेरा तो ऐसा विचार है कि आपको भी इस बात का अभिमान है कि आपको अभिमान नहीं है।'

इस चतुर उक्ति पर वे सन्त कुछ भी नाराज नहीं हुए, बल्कि श्रोता का आदर किया और पास बिठाया। अहंकार के बड़े सूक्ष्म रूप हैं और प्रछन्न (छिपे हुए) रूप हैं। इन सब रूपों में अभिमान को पहचानना और निर्मूल करना, भगवत्कृपा साध्य है।

विद्या, रूप, बल, धन आदि अधिक होने पर भी अभिमान न हो तो यह भगवदनुग्रह ही मानना चाहिए। उत्पन्न अभिमान का भगवान् नाश कर दें तो यह भी उनकी महती कृपा है। भले ही उसमें अपमान आदि का दुःख सहना पड़े।

मामूली आदमी के मन में यह प्रश्न उठ सकता है कि अपने में कोई विशेष विभूति हो तो उसका बोध होगा ही तो अभिमान कैसे नहीं होगा? अहंकार रहित विभूतिमता व्यक्ति कम ही मिलते हैं, परन्तु उनका एकदम अभाव नहीं है। अमानी विशेषज्ञ का मनोविज्ञान अध्ययन का एक रुचिकर व हितकर विषय है। गुण हो अभिमान न हो यह एकदम असम्भव नहीं है। दो एक उदाहरण पर्याप्त होंगे।

उत्तर प्रदेश के एक पश्चिमी जिले में एक ब्रह्मचारी जी (सन् १९८४ में जीवित) हैं जो शृंगी ऋषि के अवतार की तरह माने जाते हैं। कहा जाता है कि किसी कारण शृंगी ऋषि को शाप मिल गया, जिससे कुछ काल के लिए साधारण मानव देह से साधारण मानव समाज में रह रहे हैं। उनकी स्कूली विद्या कुछ नहीं है। साधारण समय में वे बिल्कुल मामूली व्यक्ति की तरह ही रहते हैं, पूज्य सन्त की तरह नहीं। पर उनमें एक विलक्षणता है कि प्रायः दिन में एक बार उन्हें लेटे लेटे समाधि लग जाती है और उसी अवस्था में वे मँजी हुई हिन्दी में भाषण देते हैं, जो अध्यात्म से आलोकित और मर्म से भरा होता है। भाषण प्रायः ४५ मिनट का होता है। वह विद्वानों के लिए भी श्रवणीय,

मननीय व हितकर होता है। उस समय यही जान पड़ता है कि कोई वैदिक ऋषि वैदिक सभ्यता के वातावरण में ही बोल रहे हैं। बाद में ब्रह्मचारी जी कुछ नहीं बता सकते कि उन्होंने भाषण में क्या कहा था। वे किसी शंका का समाधान भी नहीं कर सकते। अब यह व्यवस्था हो गई हैं कि उनके भाषण टेप कर लिए जायँ। छप भी गए हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि प्रवचन ब्रह्मचारी जी के हैं भी या नही। वे उनका श्रेय ले सकते हैं या नहीं।

'एक योगी की आत्म कथा' नामक परमहंस योगानन्द प्रणीत अंग्रेजी पुस्तक में एक महिला का उल्लेख है, जो खाती कुछ नहीं थीं, परन्तु ५० वर्ष से भी अधिक समय इसी तरह व्यतीत करने पर भी वे साधारण गृहिणी बनी रहीं, पूज्य सन्त या चमत्कारिणी योगिनी के रूप में कभी नहीं आईं। राजस्थान में एक ऐसी ही महिला सम्भव है कि अभी (१९८४ में) जीवित हों, देहात में अपने घर में साधारण स्त्री की तरह वैधव्य व्यतीत करती हुई, पूज्यता, मान बड़ाई से एकदम दूर। पूर्णतः निराहार।

एक पण्डित जी एक सन्त के पास जाकर बोले, 'महाराज! पढ़ा लिखा तो कुछ है नहीं, परन्तु आपके नाम पर आचार्य परीक्षा का आवेदन पत्र भर दिया है।' महात्मा ने कहा, मेरे नाम पर भर दिया है तो अब पाठ्यक्रम बिल्कुल न पढ़ना।' पण्डित जी ने बिना पढ़े परीक्षा दी। महात्मा जी अपने आसन पर ही कुछ क्रिया करते रहते थे। आश्चर्य जनक रीति से पण्डित जी को सब उत्तर आते गए और वे लिखते रहे। वे प्रथम श्रेणी में सर्वोच्च स्थान पा गए। परीक्षकों ने लिखा, 'वर्षों से ऐसा प्रतिभाशाली परीक्षार्थी नहीं मिला।' इस परीक्षा फल के बाद सन्त ने आज्ञा दी, 'अब उपाधि के अनुरूप जानकारी के लिए आपको अध्ययन करना चाहिए। अब बताइये पण्डित जी को गर्व करने का अवसर था या नहीं।

पशु नाचत शुक पाठ प्रवीना। गुन गति नट पाठक अधीना ।।
(रा०च०मा०)

मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहाँ जेहि पाई ।।
सो जानब सत्संग प्रभाऊ। लोकहु वेद न आन उपजाऊ ।।
(रा०च०मा०)

अत: विवेकालोकित चित्त अहंकार को क्यों धारण करे? श्री गीता जी के अट्ठारहवें अध्याय में कर्ममात्र के पाँच कारण बताए गए हैं—

अधिष्ठानं तथा कर्ता करणं च प्रथग्विधम्।
विविधाश्च प्रथक् चेष्टा दैवं चैवात्र पंचमम् ।।(१४)

फिर कहा है कि पांच कारणों के होते हुए भी जो केवल अपने को (कर्ता रूप से) कारण मानता है, उस दुर्बुद्धि की दृष्टि ग़लत है। (१६) पांचवें अध्याय में भगवान् ने कहा है कि–

नेव किंचित् करोमीति, युक्तो मन्येत तत्ववित्। (८)

तत्ववित् योगी यही मानता है कि, मै कुछ नहीं करता।'

अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते। (गीता ३.२७)

अहंकार से अपहत मूर्ख मन वाला यह मानता है कि, "मैं कर्ता हूँ।" साख्य दर्शन के अनुसार सारा कर्तृत्व प्रकृति का है, पुरुष का कुछ नहीं, कर्तृत्व का आभास ही मोह है, बन्धन का हेतु है।

विवेक की दृष्टि से एक और विडम्बना है जिससे सावधान रहकर बचना चाहिए। हम अच्छी बातों का श्रेय लेना चाहते हैं, अशुभ का

दायित्व नहीं लेना चाहते–वहाँ हम "काल करम विधि सिर धरि खोरी" की बात चलाते हैं ।

काल करमहिं ईश्वरहिं, मिथ्या दोष लगाय ।

लड़का प्रथम स्थान पर पास हुआ तो पिता जी श्रेय लेना चाहते हैं, कैसी अच्छी पढ़ने की व्यवस्था की ! फेल हो गया तो अन्य कारणों से, पिता जी का कोई दोष नहीं । गम्भीर रोगी अच्छा हो गया, डाक्टर साहब गौरवान्वित हैं, मर गया तो उसकी मौत आ गई डाक्टर साहब क्या करें ? आदि । विवेक दृष्टि से यह सब उपहासास्पद है ।

यदि आप अहंकार रखते हैं तो आप सचमुच एक छोटा सा क्षेत्र बनाए हुए हैं, जहाँ आपका ही अधिकार चलता है, भगवान् का नहीं । जब आपका अधिकार चल नहीं पाता तो आप दुखी होते हैं । यदि आप अपने कोने में अपना राज्य न चलाएँ, सर्वत्र भगवान् का राज्य चलने दें तो आप भी प्रकृति के अन्य निरीह प्राणियों की तरह जीवन निर्वाह कर सकेंगे । भगवान् सृष्टि के संचालक होते हुए निश्चिन्त हैं आप एक कोने के उत्तरदायित्व से दबे हैं, चिन्तामग्न हैं, इसलिए चिन्तनमग्न आप कैसे हो सकते हैं ?

एक बार एक महान् सन्त ने एक गीता जयन्ती महोत्सव में निम्न मार्मिक दोहा कहा–

ऐ पारथ के सारथी, तुझको कोटि प्रणाम ।
मेरे मन की थाम तू, छूटी हुई लगाम ।।

जीवन का हमने सौंप दिया सब भार तुम्हारे हाथों में ।

इसमें अहंकार का त्याग है, तभी शरणागति की सम्भावना है, हरि शरण में ही निर्विघ्नता है, उसी में निश्चिन्तता है और तभी निरन्तर चिन्तन हो सकता है।

महाकवि रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने श्री गीताञ्जलि में कहा है–सदैव तुम भरते हो, सदैव भरने के लिए जगह रहती है।"

जहाँ नीचा होगा वहीं ऊँचे से बहकर पानी आएगा। जहां व्याकुलता होगी, उधर ही करुणा जायगी। जिसके हृदय में दीनता होगी उस पर भगवान् की कृपा बरसेगी।

एहि दरबार दीन को आदर (वि०प०), अत: दीन व्यक्ति ही भजन का अधिकारी है।

राम ग़रीब नेवाज हैं, हौं लही न ग़रीबी। (वि०प०)

जब हम थे तब हरि नहीं, अब हरि है हम नाहिं।
प्रेम गली अति साँकरी, तामें दो न समाहिं।। (कबीर)

अत्यन्त उच्च कोटि के विरक्त विद्वान् सन्त श्री १००८ स्वामी एकरसानन्द जी ने अपने शरीर का त्याग करने के कुछ ही पहले एक बार श्री रामचरित मानस सम्मेलन लखनऊ के वार्षिक अधिवेशन में अध्यक्ष पद (अत्यन्त विशेष परिस्थितियों में) स्वीकार किया, और बड़ा ही अनोखा भाषण दिया। उसमें उन्होंने एक दृष्टान्त का ज़िक्र किया। एक राजा के सिपाही एक चोर का पीछा कर रहे थे। चोर नदी की ओर भागा। नदी के पास पहुँच कर वह अदृष्ट हो गया। नदी के पास छिपने की कोई जगह नहीं थी। चोर नदी में कूदता हुआ, गोता लगाकर निकलता हुआ या तैरता हुआ तभी नहीं देखा गया। सिपाहियों को आश्चर्य हुआ कि चोर कहाँ गया। नदी के किनारे कुछ

मुर्दे पड़े हुए थे। यह शक हुआ कि चोर कफ़न ओढ़कर मुर्दे की तरह लेट गया होगा, क्योंकि छिपने की कोई जगह वहाँ नहीं थी। हुक्म हुआ कि हर एक मुर्दे में बल्लम कोंचो। कोई जीवित होगा तो बल्लम के साथ खून आएगा। बल्लम कोंचा गया। जहाँ खून आया, समझ लिया गया कि यहीं चोर लुका है। कफ़न खींचकर अलग कर दिया गया। घायल चोर पकड़ गया। सिपाहियों ने चोर से पूछा, 'बल्लम कोंच कर निकाल लिया गया और तुमने आह न की?' वह बोला, 'जब मुर्दे का स्वाँग, तो फिर आह का क्या काम?'' स्वामी जी ने बताया कि सन्यासियों के अचले को कफनी भी कहते हैं। जीते जी मरना ही सन्यास है। जब कफ़न ओढ़ लिया, मुर्दा बन गए तो फिर किसी भी चाह की आह क्या?'

कबीर की शिकायत थी–

माया मरी न मन मरा, मर मर मर जात सरीर।

सन्यास या पूर्ण अनन्य शरणागति इससे उल्टी है, उसमें शरीर जिन्दा रहता है, माया मर जाती है, वासनात्मक मन मर जाता है और तभी निरन्तर भगवच्चिन्तन की बहार आती है।

जहाँ अहंभाव शेष है, धर्म का, पुण्य का, साधन का या भजनानन्दी होने का भी अभिमान सम्भव है, परन्तु जहाँ मेरा मुझ में कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर (कबीर) वहाँ यह सम्भावना नहीं। खुदी को छोड देना ही, खुदा का हाथ आना है। इस बेखुदी में तो इस दशा के पा लेने का भी श्रेय नहीं ले सकते, क्योंकि यह तो उनका ही करिश्मा है कि बेखुद कर दिया।

श्याम गौर वदनारबिन्द पर, जिसको बीर मचलते देखा।
नैन बान मुस्कान संग फँसि, फिर नहि नेक सँभलते देखा।।

ललित किशोरी युगुल इश्क़ में, बहुतों का घर घलते देखा।
डूबा प्रेम सिन्धु का कोई, हमने नहीं उछलते देखा।।

जब तक अहंकार है, योगसिद्धि या भजन के प्रताप से कोई सिद्धि हो तो वह अपनी शक्ति प्रतीत हो सकती है और उसका स्वतन्त्र प्रयोग सम्भव है। इतने से ही हम भगवान् से अलग पड़ सकते हैं, क्योंकि उनकी दी गई शक्ति अपनी मानी और अपने हिसाब से प्रयुक्त कीं। यह ज्ञान के भी विरुद्ध है, शरणागति के भी विरुद्ध है। यह विपर्यय असम्भव हो जायगा जब अहं लय हो जायगा और हम भगवान् के हाथ के खिलौने मात्र रह जायेंगे।

खेलिवे को खग मृग तरु, किंकर ह्वै रावरो राम हौं रहिहौं।
एहि नाते नरकहु सचु पैहौं, या बिनु परम पदहु दुख दहिहौं।।
(वि॰प॰)

जहाँ अहं है, वहाँ इदम् है, अहं=मैं, इदम्=यह दृश्यमान् जगत्। अहं इदम् को वश में करना चाहता है, परन्तु अहं सीमित है, इदं अपरिमित जान पड़ता है। अतः इस संघर्ष में आघात आवश्यक हैं। परन्तु जहाँ अहं और इदं दानों का नियन्त्रक ही सब कुछ है, वहां संघर्ष कहाँ! जो नियन्त्रण करे, ईशित्व करे वही ईश्वर है।

अन्तः पुरुष रूपेण काल रूपेण यो बहिः।
समन्वेत्येष सत्वानां भगवानिति शब्द्यते।। (श्रीमद्भागवत)

भीतर नुरुष रूप से, बाहर काल रूप से, जो सभी का नियन्त्रण और समन्वय करते हैं, उन्हीं को भगवान् कहते हैं।

ऐसे भगवान् के प्रेम सिन्धु में डूबना हो तो अहंकार का कवच उतार कर ग़ोता लगाना होगा। अहंभाव के रहते उसकी गहराई न मिलेगी न उसमें स्थिति हो सकेगी।

मानव समाज में जहाँ मैं है वहाँ तैं भी है। मैं और अन्य, फिर अपना और पराया। यह सब भाव उठते हैं। यह व्यावहारिक द्वैत है, जिसमें दृढ़ अध्यास होने से परमार्थ का लोप होता है, राग द्वेष वढ़ता है। फिर साम्यावस्था नहीं रह सकती।

विभिन्न व्यक्तियों के अहंभाव की टकराहट से भी चित्त विक्षिप्त होता है और भजन निष्ठ नहीं रह सकता। साधारण मनुष्यों में कांचन कामिनी सम्बन्धी विवाद उठते हैं, परन्तु इनके त्यागी लोगों में मान बड़ाई के विवाद उठते हैं, जिसका स्पष्ट सम्बन्ध अहं भाव से रहता है।

कंचन तजना सहज है, सहज त्रिया का नेह।
मान बड़ाई ईरषा, तुलसी दुर्लभ एह।।

काँचन कामिनी का त्याग करके व्यक्ति प्रायः इस त्याग की मान बड़ाई चाहता है। इसलिए अहंभाव इसमें काम करता है कि हम कितनी प्रतिष्ठा के योग्य हैं। सन्तों महन्तों की प्रतिष्ठा सम्बन्धी तुलनात्मक (सापेक्ष) स्थिति पर विवाद उठ खड़े होते हैं। इनके मूल में भी अहंभाव रहता है। कभी कभी गुरुओं से अधिक या उनके स्थान पर, शिष्यों में विवाद उठ खड़े होते हैं। मान बड़ाई का विवाद कभी भी उठे तो जो हार मान लेता है, अपनी अल्प प्रतिष्ठा मान लेता है' दूसरे को सम्मानित करता है, वस्तुतः उसी की प्रतिष्ठा अधिक हो जाती है। प्रतिष्ठा अपने चाहने वालों से दूर भागती हैं, त्यागियों का पल्ला पकड़ती है। अहंभाव से प्रतिष्ठा या दूसरे से अधिक प्रतिष्ठा का आग्रह करना, प्रतिष्ठा खोने की तैयारी है, पाने की नहीं।

मैं=अहं, तैं=तुम, आप, तू। स्व पर का भेद। 'मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हें जीव निकाया।। (रा०च०मा) मैं और तैं के भेद से ही मोर, तोर (मेरा, तेरा) का भेद उदय होता है, वैसा विभिन्न परिवारों में स्व पर (अपना, पराया) भेद होता है, वैसा ही साधुओं के अखाड़ों, संगतों, मठों, गद्दियों आदि में भी हो जाता है। यदि मैं या मेरा स्थान, मठ या गद्दी महत्वपूर्ण है तो मेरा व्यक्ति भी उसी तरह महत्वपूर्ण माना जाना चाहिए। यह आग्रह रहता है। मेरा यानी मेरा पुत्र, शिष्य, अनुयायी, मुझमें श्रद्धा रखने वाला, मेरे स्थान का साधु या मेरा सन्देशवाहक, या सेवक भी मेरा होने के नाते सम्मानित व आदृत होना चाहिए। यदि कोई मेरा विरोधी, प्रत्यर्थी, प्रतिस्पधीं है, या विरोधी सम्प्रदाय का है तो उसे समादृत न होना चाहिए। इस प्रकार व्यावहारिक राग द्वेष को महत्व मिलता जाता है। परिस्थिति जन्य विषमताओं और विवशताओं के कारण यह सब प्राय: अनिवार्य जान पड़ता है। जहाँ कहीं अपने पराए का भाव विकसित होगा, ऐसे परिणामों की आशा है ही। अच्छे अच्छे साधक भी इस दुष्चक्र में फँसते देखे गए हैं। परन्तु स्व पर बुद्धि से ऊपर उठना असम्भव नहीं समझना चाहिए। श्री गीता जी के अनुसार स्व पर बुद्धि से ऊपर उठा हुआ, दूसरों के दु:ख सुख को अपने समान ही देखने वाला ही परम योगी है। (गीता ६.३२) जो आत्म निवेदन कर चुका उसका कुछ नहीं, कोई नहीं। कोई उसका बन गया तो वह भगवान् का ही बन गया। भगवान् ही उसका योग क्षेम चलाएँगे। ऐसे परम योगियों को विघ्न नहीं व्यापते। उनके लिए अपना पराया कुछ नहीं, सब भगवान् का है। ऐसे योगियों के साथ (देखने में) पराए लोग भी अपनापन बरतने लगते हैं। व्यवहार रुकने के बजाय निर्विघ्न चलता है। वह स्वत: चलता है, उन्हें चलाना नहीं पड़ता। ऐसी दशा में इस प्रकार के सन्त आन्दोलन, प्रचार, या मठ चलाते हुए भी निश्चिन्त भजन कर सकते हैं। अहंवाद के लीन होने से देह जनित चिन्ता से मुक्ति है, मैं तैं न होने से सामाजिक

जीवन में चिन्ता से मुक्ति है, इसलिए निश्चिन्त चिन्तन चल सकता है।

ऐसे सन्तों का यह भी लक्षण बतलाया गया है, कि उनका दुष्ट संग बिल्कुल नहीं होता। शब्द 'संग' में लगाव का अर्थ है, केवल भौतिक सम्पर्क का नहीं। दुष्ट व्यक्ति भी दफ्तर, डाकघर, रेलयात्रा पर या मठ मन्दिर आदि में जा सकता है, सयोग से उसे सन्त दर्शन भी हो सकता हैं। वह जान बूझकर सन्त दर्शनार्थ भी जा सकता है, परन्तु उसका सन्त से लगाव नहीं होगा, न सन्त का उससे लगाव होगा।

दुष्ट और सन्त परस्पर विपरीत स्वभाव वाले हैं, इसलिए इनमें परस्पराकर्षण नहीं होता विकर्षण होता है। इसलिए सन्तों का दुष्ट संग नहीं होता। अपने विरोधी स्वभाव वाले से किसी का भी मेल कैसे बैठ सकता है? इसलिए दुष्ट को सन्त सग अनुकूल नहीं, सन्त को दुष्ट संग अनुकूल नहीं।

भक्ति की दृष्टि से भी कुसंग त्याज्य है। श्री सूरदास जी ने गाया है—

तजो रे मन हरि विमुखन को संग।

जिनके संग कुमति मति उपजत, परत भजन महँ भंग।

श्री नारद भक्ति सूत्र में भी कहा—

महत् संगस्तु दुर्लभोऽगम्योऽमोघश्च।

परन्तु दुस्संग के लिए कहा कि वह बिल्कुल त्याज्य है—

दुस्संगः सर्वथैव त्याज्यः।

शरणागति के ६ लक्षण बताए गए हैं, उनमें अनुकूल का संकल्प करना, प्रतिकूल का त्याग करना पहले ही गिनाया गया है। सत्सग भगवान् के अनुकूल है, दुष्ट संग प्रतिकूल है। अतः शरणागति के धर्म के अनुसार कुसग या दुष्ट संग सर्वथा वर्जनीय है। सन्त दुष्टसंग में बिल्कुल नहीं पड़ेगा।

कहा जा सकता है कि सन्त को दुष्टों के संग से क्या भय है, क्योंकि—

विधिबस सुजन कुसंगति परहीं। फणि मणि सम निज गुन अनुसरहीं।।

भाग्यवशात् दुष्ट का साथ पड़ जाय, तो भी सन्त प्रकृति का ही व्यवहार करना एक बात है, परन्तु दुष्ट संग से परहेज़ ही न करना दूसरी बात है। यदि कोई सिद्ध सन्त है, जो दुष्ट संग से बिल्कुल नहीं बिगड़ सकते, तो भी ऐसा प्रतिकूल संग वे क्यों करें। यदि कोई सोचे कि हम दुष्ट संग से बिगड़ नहीं सकते, इसलिए हमें दुष्ट संग से परहेज नहीं करना है, तो ऐसा विचार अहंभाव से दूषित तो है ही, साथ ही साथ इसमें प्रतिकूल वर्जन नहीं है। सन्तों का आदर्श व्यवहार वही है, जिसमें यह लक्षित हो कि दुष्ट संग उनकी अपनी रक्षा के लिए ही त्याज्य है, परन्तु यदि सन्त सिद्ध और पूर्णतः सुरक्षित हों तो भी दूसरों के हित में उन्हें दुष्ट संग दूर रखना चाहिए। यदि विशुद्ध ज्ञान और पराभक्ति का प्रयोजन है तो वातावरण को दुष्ट संग से दूषित नहीं होने देना चाहिए। सन्त यदि सिद्ध है तो यह कहा जा सकता है कि अपने लिए उनके जीवन का कुछ प्रयोजन नहीं रहा, अब वे 'पर काजै परमारथी, प्रीति लिए निबहन्त। (छन्द १०)। यदि दुष्ट संग सन्त के अपने लिए घातक न भी हो तो भी दूसरे साधकों के लिए अनर्थकारी होगा, अतः उसकी छूट देना 'परकाजे परमारथी प्रीति' के विरुद्ध होगा। दुष्ट संग और सत्संग दोनों साथ साथ आराम से नहीं चल सकते। इसलिए यदि

सत्संग चलना है तो दुष्ट संग को दूर रखना है। सत्संग में हरि कथा है जो 'ग्राम्य कथा' की घातक है हैं, दुष्ट संग में विषय रस है, जिसके रसिक हरि रस के अयोग्य हैं। तीर्थ, उत्तम मठ' देवस्थान आदि में केवल सत्संग ही होता रहे तो वहाँ का वातावरण पवित्र व उत्थानकारी बनता जाता है, उससे हरि भक्ति की छाप लोगों पर पड़ती है। इस प्रभाव को दूषित नहीं होने देना चाहिए।

सत्संग का प्रयोजन और उसका चाव जीवनमुक्तों को भी होता है—

जीवन्मुक्त ब्रह्म पर, चरित सुनहिं तजि ध्यान।
ते हरि कथा न करहिं रति, तिनके हिय पाषान ।। (रा०च०मा०)

इसलिए सत्संग की सुचारु व्यवस्था व दुष्ट संग का वर्जन, सन्त के लिए आवश्वक है।

सत्संगति दुर्लभ संसारा निमिष दण्ड भरि एकहु बारा ।। रा०च०मा०)

सात स्वर्ग अपवर्ग सुख, धरिय तुला इक अंग।
तूल न ताहि सकल मिलि, जो सुख लव सत्संग ।।
(रा०च०मा०)

सत्संगति: किं न करोति पुंसाम्।

परिस्थिति निरपेक्ष होना सन्त का बहुत ही ऊँचा लक्षण है, लोकप्रियता या लोक निन्दा सम्पन्नता या विपन्नता, आदर या निरादर, स्वास्थ्य या रोग आदि द्वन्द्वों के बीच में जो समत्व में रहता हैं,वही सच्चा और ऊँचा सन्त है। श्री प्रह्लाद जी का भी वचन है कि—समत्वमाराधनमच्युस्य। (श्रीमद्भागवत)। यह समता की स्थिति तितिक्षा, शरणागति

और ज्ञान की अन्तिम परिणति है। जब तक जगत् सत्य और रमणीय भाषित होता रहेगा, यह दशा नहीं आ सकती। जब यह हो जायगा कि—

उमा दारु योषित की नाईं। सबहिं नचावत राम गोसाईं ॥

तब सारा दुख सुख कठपुतली का तमाशा बन जायगा। एक सन्त एक बार एक जिज्ञासु को उपदेश कर रहे थे। उन्होंने कहा, 'यदि सपने में आपको शेर मिल जाय और पैर से शुरू करके आपको खाने लगे, और उसी समय (किसी तरह) आपको यह बोध हो जाय कि यह सपने का शेर है और सपने के शरीर को ही खा रहा है, तो फिर यदि वह पूरा शरीर खा जाय तो भी क्या हानि है?' होता यह है कि स्वप्नत्व का बोध जागृत में ही होता है और जागृत में स्वप्न शरीर दृश्यमान् नहीं होता।

दुःख प्राप्त होने से दुख नहीं होता, सुख प्राप्त होने से सुख नहीं होता; यह एक अत्यन्त अनोखा अलौकिक सा लक्षण सन्तों का बताया गया है। यह तो ठीक है स्वप्न के समाप्त होने पर उसकी घटनाएँ और उनके प्रभाव रूप हर्ष शोकादि सब विकार एक साथ लुप्त हो जाते हैं। परन्तु स्वप्न में पेट का दर्द हो तो उसका दुःख तो होगा। सन्त शरीर धारी होकर दुःख से कैसे बचेंगे?

आदि शंकराचार्य की एक घटना बताई जाती जाती है। वे वाराणसी में थे। रास्ते में जा रहे थे। तत्कालीन काशी नरेश द्वैतवादी थे, अद्वैत मत को नहीं मानते थे। वे भी हाथी पर चढ़े हुए उधर से निकले। श्री शंकराचार्य को परेशान करने के लिए उन्होंने हाथी उनकी ओर चला दिया। श्री शंकराचार्य भागे। राजा ने कहा, 'हस्ती मृषा तर्हि किं पलायसे?' (हाथी तो मिथ्या है, फिर क्यो भाग रहे हैं?'

श्री शंकराचार्य बोले, 'तर्हि पलायनमपि मिथ्या।' (तो फिर भागना भी मिथ्या है।' स्वप्न के काल में व्यवहार चलेगा। बीमारी भी होगी इलाज भी। जागने पर न वह बीमारी सत्य सिद्ध होगी न इलाज। दोनों अविद्यमान् सिद्ध होंगे। इसलिए जगत् के व्यवहार में हाथी भी दौड़ा, श्री शंकराचार्य भी भागे। प्रबोध दृष्टि से न हाथी दौड़ा, न श्री शंकराचार्य भागे।

बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में, प्राच्य विभाग में एक आचार्य थे जो (लगभग ५५ वर्ष हुए) वहाँ वेदान्त पढ़ाते थे। वे प्रवचनों में अद्वैत मत की स्थापना करते थे, संसार का मिथ्यात्व सिद्ध करते थे। एक बार उनकी पत्नी का निधन हो गया तो वे बहुत दुःखी हुए और रोये। उनका एक विद्यार्थी बोला, 'मैं अभी जाकर उनसे पूछता हूँ कि जब जगत् मिथ्या है तो आप पत्नी के निधन पर क्यों रोये?' दूसरे विद्यार्थियों ने किसी तरह उसे ऐसी धृष्टता करने से रोका। परन्तु कुछ समय के बाद जब आचार्य जी के प्रवचन पुनः चलने लगे, तो उसने कक्षा मै उक्त प्रश्न पूंछ ही दिया। आचार्य जी ने कहा, 'जगत् मिथ्या है, पत्नी मरी यह मिथ्या है, मैं रोया यह भी मिथ्या है।' इस प्रकार कुशलता से उत्तर देकर आचार्य जी ने अपनी स्थिति सँभाली।

साधारण दृष्टि से आचार्य जी का उत्तर वैसा ही है जैसे श्री शंकराचार्य जी का, परन्तु विचार करने से इनका अन्तर लक्षित होता है। हाथी दौड़ा यह एक क्रिया हुई, श्री शंकराचार्य जी भागे यह एक प्रतिक्रिया हुई। स्वप्न में, नाटक में, सिनेमा में, टेलीविज़न (दूरदर्शन) में ऐसी क्रिया और प्रतिक्रिया चलती ही है। जहाँ नाटक है, घटनाक्रम भी है। परन्तु आचार्य जी का रोना और शंकराचार्य जी का भागना एक सी बात नहीं है। रोना तब होता है जब अन्तःकरण तीव्र दुःख की अनुभूति करे। आचार्य जी रोये इससे लक्षित हुआ कि उनके

अन्त:करण (मन) ने तीव्र दुःख की अनुभूति की। यदि निधन की घटना असत्य (मिथ्या) प्रतीत होती तो न तीव्र दुख की अनुभूति होती न रुलाई आती। कहने को यह भी कह सकते हैं कि आचार्य जी का अन्त:करण भी मिथ्या ही था। परन्तु विचारणीय तथ्य यह है कि किसी अन्य ज्ञानी की दृष्टि में भले ही सब मिथ्या हो, आचार्य जी की दृष्टि में जगत् सच्चा था, पत्नी भी सच्ची थी, निधन की घटना भी सच्ची थी, इसी से उन्हें तीव्र दु:ख की अनुभूति हुई और वे रोए। जो अन्त:करण ज्ञान से आलोकित है उसे सुख दुख हर्ष विषाद नहीं व्यापते। जिसे यह सुख दुख व्यापते हैं, वह ज्ञान की भूमिका में स्थित नहीं है, ऐसा सिद्ध होता है। आचार्य जी के रोने से अद्वैत वेदान्त तो असिद्ध नहीं होता, परन्तु आचार्य जी के अन्त:करण में यह प्रतिष्ठित नहीं था यह लक्षित होता है।

जिसके अन्त:करण में ज्ञान प्रतिष्ठित है वह व्यावहारिक जगत् की दुख:द परिस्थितियों में भी शान्त रह सकता है, दूसरा नहीं—

यस्मिन् स्थितो न दु:खेन गुरुणापि विचाल्यते। (गीता ६.२२)

बड़े से बड़े दु:ख से कुछ भी चलायमान न होना, धीरज न खोना, व्यथित न होना, घबरा न जाना, विलाप न करना, मुख मलीन न होना, स्वयमेव ज्ञान का लक्षण है। महान् विपत्ति में अखण्ड धैर्य जहाँ पाया जाता है, वहाँ उसके कारण की जिज्ञासा होती ही है। यदि कोई और तात्कालिक कारण, व्याधि या दम्भ न हो, कारण यही निकलेगा कि अन्त:करण ज्ञान से आलोकित है। यह बात चाहे सबकी तुरन्त समझ में न आए पर सच है कि जो महान् दु:ख से चलायमान नहीं होता वह सुख से उद्वेलित भी नहीं होता। जो जिस सुख से अति सुखी होगा, उस सुख के अभाव में उसे अति दुख भी होगा। इसलिए वासना या तृष्णा अतृप्त रहने पर वर्तमान् दुख का कारण है, क्वचित्

तृप्त होने पर भावी दुःख की सूचक है। तस्मात् त्याज्य ही है। जब सन्त के जीवन में 'दुःख ते दुःख नहिं ऊपजै' वाली दशा आ जाती है तो उसी का दूसरा रूप है, 'सुख ते सुख नहिं होइ।'

साधारण जीवन सापेक्षता से भरा है, हमारा सुख दुःख, हानि लाभ, यश अपयश, मान अपमान, गर्व दीनता सभी कुछ परिस्थिति सापेक्ष रहता है। परन्तु ज्यों ज्यों हम निरपेक्ष, पूर्ण सत्य स्वरूप प्रभु के निकट होते जाते हैं, परिस्थिति सापेक्षता कम होती जाती है। आदर्श भक्त के लक्षण हैं—वह हर्ष आमर्ष भय आदि उद्वेगों से मुक्त रहता है। (गीता १२.१५) वह न हर्ष करता है, न शोक करता है, न द्वेष करता है, न इच्छा करता है (१२.१७), शत्रु भित्र मान अपमान में समान है, सर्दी गर्मी सुख दुख मे भी समान है, आसक्ति रहित है (१२.१८) निन्दा स्तुति में भी समान है, जो कुछ मिल जाय उसमें सन्तुष्ट है (१२.१९)। यथा लाभ सन्तोष सदाई। (रा०च०मा०) अनिकेत और स्थिर बुद्धि वाला है (१२.१६)। इन लक्षणों से युक्त जो सन्त है, वही सन्त मान्य है, वही निरन्तर भजन करने की पात्रता रखता है। अखण्ड भजन, निरन्तर भगवच्चिन्तन कोई ऐसी वस्तु नहीं है कि जिसके जी में आए कर चले। जब तक पात्रता नहीं होगी भगवान् में चित्त स्थिर न रह सकेगा, क्योंकि चित्त अभ्यास के अनुसार अभीष्ट (सुखद) वस्तु में ही टिक सकता है. सहसा उसे उसके प्रतिकूल किसी वस्तु में स्थिर नहीं किया जा सकता है।

इस विचार में अविवेक है, मनोवैज्ञानिक त्रुटि है कि हम दिन भर चाहे जिस तरह के काम करते रहें, चाहे जिस तरह का ध्यान करते रहें, परन्तु जब चाहें, जितना चाहें भगवान् का स्मरण, ध्यान कर सकते हैं। दीर्घकाल तक निरन्तर सत्कार पूर्वक जिस विषय का ध्यान किया जाता है, उसके ध्यान की हीं दृढ़ भूमिका बनती हैं। इसलिए परमार्थ पथ पर चलने वालों को अन्तःकरण का कल्प (पूर्ण परिवर्तन) करना पड़ता है। भक्ति से ऐसा करने में सुविधा मिलती है।

———

सम कंचन काँचै गिनत, शत्रु मित्र सम दोइ ।
तुलसी या संसार में, कहत सन्त जन सोइ ॥३१॥

श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि इस संसार में वही सन्त कहलाते हैं, जो सोना और कांच को बराबर गिनते हैं, शत्रु मित्र में भी समान हैं।

पूर्व दोहे में जो लक्षण कहे गए हैं, उनमें इस दोहे में कहे हुए लक्षण मिला लेने चाहिए। यह सब लक्षण जिसमें पाए जायें वह इस संसार में सन्त मान्य होगा (कहा जायगा)।

'सम कंचन कांचे गिनत' से यह संकेत दिया गया कि सन्त के लिए वहुमूल्य तथा बिना मूल्य दोनों तरह की वस्तुएँ बराबर हैं, भौतिक पदार्थों में से जो बहुत उपयोगी और कीमती है उसमें और अनुपयोगी वस्तु में सन्त भेद नहीं करते। कांचन और कांच में समता का गुण पहले ही कहा जा चुका है और उस पर विशद विवेचन भी हो चुका है। व्यवहार में जिस वस्तु का जहाँ जो उपयोग है, वहीं वहां प्रयुक्त की जायगी, सन्त भी ऐसा ही समुचित उपयोग करेंगे। मठों आदि में रुपए आदि सुरक्षित भी रक्खे जायेंगे, मिट्टी, पत्थर या काँच की तरह लापरवाही से पड़े हुए नहीं मिलेंगे। परन्तु श्री गोस्वामी जी का तात्पर्य यह है कि सन्त सोने में मन से इतने ही अनासक्त रहेंगे जितने मिट्टी में। अर्थात् किसी को दे देने में संकोच नहीं, चोरी हो जाने में व्यथा नहीं, खर्च हो जाने में दुःख नहीं, कहीं से प्राप्त नियमित आय बन्द हो जाय तो शोक नहीं।

एक सन्त अयोध्या में (सन् १९८४ में जीवित) हैं। उनकी नियमित आय थी, एक जगह से प्रतिमाह मनी आर्डर आता था। वह बन्द हो गया। कुछ अन्य सन्त संवेदना प्रकट करने गए और कहा, "महाराज! आपकी वृत्ति बन्द हो गई है।" वे बोले, "हियाँ से (व्यावहारिक जगत् में) बन्द होइ गई है कि हुआँ से (भगवान् के यहाँ से बन्द होइ गई है?" इस प्रकार सन्त भगवान् के भरोसे प्रायः सम्पत्ति निरपेक्ष जीवन व्यतीत करते हैं। भगवान् की ओर से उनका योग क्षेम वहन होता है। यदा कदा इससे सम्बन्धित चमत्कार भी घटित होते हैं। सम्पत्ति में आसक्त मनुष्य के जीवन में प्रारब्धवश हानि लाभ तो होगा, पर इस प्रकार के भगवदीय चमत्कार नहीं होंगे।

सामाजिक जीवन में अन्य मनुष्यों के साथ सम्बन्ध रखने में तीन प्रकार के सम्बन्ध बनते हैं—शत्रुता, मित्रता, उदासीनता। 'शत्रु, मित्र अरु उदासीन, ये मन कीन्हें बरियाई।' (वि०प०) अपने स्वार्थों, संस्कारों, रुचियों के अनुरूप शत्रु मित्र आदि भाव बनते हैं। यदि अपना कोई स्वार्थ बचा नहीं, आत्म निवेदन के कारण अपने संस्कारों या रुचियों के अनुकुल होने का भी कोई आधार नहीं रहा, तो ये शत्रु मित्र उदासीन भाव कैसे बनेंगे? इसलिए समः शत्रौ च मित्रे च (गीता १२.१८) वाली स्थिति बनेगी और चलेगी। जहाँ किसी तरह का अपना पराया भाव रहेगा, वहाँ अपने आदमी का अहित करने वाला विरोधी या शत्रु की भूमिका में आ सकता है, उससे शत्रुभाव हो सकता है। परन्तु जहाँ अतिशय निज पर त्यागी' (वि०प०) भाव है, वहाँ शत्रु भाव नहीं बन सकता। ममता युक्त मैत्री भाव भी नहीं हो सकता, यद्यपि ममता रहित, करुणा प्रेरित, सर्वत्र समान मैत्री (गीता १२.१३) सम्भव है। ऐसी मैत्री में तो सभी मित्र हैं, न कि कुछ मित्र और कुछ शत्रु। पदार्थों में और व्यक्तियों (दोनों में) समता का अभाव इस दोहे में निरूपित है।

कुछ सन्तों को मठ, मन्दिर या गद्दी का प्रबन्ध करना पड़ सकता है, कुछ गृहस्थाश्रमी सन्तों को परिवार का या उद्योग व्यवसाय का व्यवहार चलाना पड़ सकता है और यह प्रश्न उठ सकता है कि इस प्रकार की समता की वृत्ति से व्यवहार कैसे चलेगा ? बाइब्रिल में श्री ईसा जी का पहाड़ी पर का उपदेश भी शत्रुओं को भी प्यार करना सिखाता है। उसके बारे में भी ऐसे सन्देह उठाए गए हैं। परन्तु यदि कोई सन्त इस समता में निष्ठ और प्रतिष्ठित हैं तो उनके प्रति समाज की बड़ी ही श्रद्धामय भावना बन जाती है। चोरों के लिए भी उनका रक्षक व हित चिन्तक बन जाना सहज है। अत: समता निष्ठ सन्त बरबाद के बजाय आबाद ही अधिक होता है। यह नहीं कि इस नीति से गद्दियाँ उजड़ जाती हैं, उल्टे यह आशंका है कि रोकथाम न की गई तो इतनी लक्ष्मी घसिट कर आ जायगी कि भावी उत्तराधिकारियों का सत्पथ पर चलते रहना दुष्कर हो जायगा। अपनी भावना या कर्म के आधार पर सामाजिक प्रतिक्रिया भी हो जाती है।

समता में प्रतिष्ठित सन्त के दरबार में परस्पर विरोधी विचार व भाव रखने वाले लोग पहुँच सकते हैं, और वहाँ अपने विरोध को भूलकर सहयोग कर सकते हैं। समता सहयोग वर्धक शक्ति है। सन्त व्यवहार को त्रिगुणमयी माया से प्रेरित और गुणों को मायामूलक मानकर भेदों, मतभेदों को अति महत्व नहीं देते। अत: उनके यहाँ अहिंसा, प्रेम व सहयोग का पोषक एक स्वस्थ वातावरण बन जाता है। जो सन्त सबको भगवान् का ही रूप देखते हैं, वे किसी से विरोध नहीं कर सकते—

निज प्रभु मय देखहिं जगत, का सन करहिं विरोध।

यदि कोई उनसे वैर विरोध करता है तो सन्त उसे भी प्रभु की लीला ही समझते हैं, सतो गुण के प्रभाव से भी विरोधी के प्रति वे

उदासीन भाव रखते हैं, वैर विरोध कदापि नहीं रखते। यदि राजनीति में, चुनाव आदि में कर्तव्यवश कोई विरोध करना ही पड़े, तो भी सन्त उससे अपने मन में कोई वैर या विरोध का भाव उत्पन्न नहीं होने देते।

न्यायालयों में देखा जाता है कि महान् वकील जो आपस में मित्र होते हैं एक दूसरे के विरुद्ध पक्ष प्रस्तुत करते हैं। उनका विरोध उस प्रकरण तक, तर्क प्रस्तुत करने व बाद में जीतने तक ही सीमित रहता है। वे परस्पर अपमान नहीं करते। सुनवाई के बाद उनकी मित्रता में कोई फरक नहीं पड़ता। विरोधी वकील किसी और वाद प्रकरण में सहयोगी भी रह सकता है। यानी कर्तव्यगत विरोध है हार्दिक नहीं। इसी प्रकार डा० राजेन्द्र प्रसाद, आचार्य नरेन्द्र देव जैसे महापुरुष चुनाव विरोध या दलगत भेदों से सौहार्द और मैत्री में फर्क नहीं पड़ने देते थे। अर्थात् उनके लिए भी कर्तव्यगत विरोध था, हार्दिक विरोध नहीं था। बहुत से सन्त तो ऐसा जीवन बिताते हैं जिसमें कर्तव्यगत विरोध का भी प्रसंग नहीं आता; परन्तु जो व्यवहार से अलग नहीं हैं, वे कर्तव्यगत विरोध का प्रसंग आने पर भी, हार्दिक विरोध का भाव नहीं बनने देते यानी शत्रु भाव किसी से नहीं बनता। यही अहिंसा का सार है। इससे दूसरे लोगों के मन में यदि वैर भाव हो तो वह भी घटने या मिटने लगता है।

ऐसा हो सकता है कि शुद्ध सच्चे और समता निष्ठ सन्त का बरताव सबके साथ एक सा न हो, अनुगत शिष्य व विरोधी के प्रति समान व्यवहार नहीं होगा, क्योंकि पात्रता अलग अलग है परन्तु पात्रानुसार यथायोग्य व्यवहार होते हुए भी स्वपक्ष परपक्ष भाव नहीं होगा। शीशे के सामने जो भी आएगा उसका मुख प्रतिबिम्बित होगा। प्रतिबिम्ब भेद बिम्ब भेद जनित है, शीशे का कोई स्व पर भेदभाव नहीं कहा जा सकता।

अविवेकी की दृष्टि में सच्चा सन्त भी पक्षपाती ठहर सकता है, परन्तु यह भ्रम है।

निज भ्रम नहिं समझहिं अज्ञानी। प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी॥
यथा गगन घन पटल निहारी। झंपेउ भानु कहहिं कुविचारी॥
बालक भ्रमहिं न भ्रमहिं गृहादी। कहहिं परस्पर मिथ्यावादी॥

सन्त चरित्र व भाव के रहस्य को अश्रद्धालु, अविवेकी व कुतर्की लोग नहीं समझ सकते। शुद्ध अन्तःकरण के लोग ही सन्त महिमा को कुछ समझ सकते हैं। मठ, मन्दिर या गद्दी की उन्नति भी वस्तुतः चाटुकारी चातुर्य आदि से वैसी सम्भव नहीं है जितनी कि सन्तोष, धैर्य, सेवा आदि से।

बहुत बार पाठकों के चित्त में यह बात उठ सकती है कि व्यवहार निवृत्त सन्यासी के लिए यह सब सम्भव है, परन्तु गृहस्थ या मठाधीश के लिए नहीं। यह नहीं भूलना चाहिए कि बड़े बड़े मठों या बड़ी गद्दियों का प्रारम्भ प्रायः उन सन्तों के द्वारा हुआ था जो नितान्त तपस्वी थे और सन्तों के गुणों से युक्त थे। व्यवहार की मजबूरियाँ तो प्रायः तब उठ खड़ी होती हैं जब मठों मन्दिरों आदि में सम्पन्नता आ जाती है, लौकिक वृत्तियाँ प्रबल हो जाती हैं और तपस्या क्षीण हो जाती है। एक बहुत बड़े राजयोगी सन्त श्री अयोध्या में वास करते थे। वे अपने अत्यन्त योग्य उत्तराधिकारी सन्त को आदेश दे गए हैं कि— आश्रम के लिए कोई जमीन दे तो नहीं लेना, कोई मारपीट करे तो नहीं लड़ना' अयोध्या में ही कहीं वास करते रहना यदि कोई पैसा दे जाय तो दिनान्त तक अपने पास रह न जाय और मरते समय कफन के लिए पैसा पास न निकले। ४८ वर्ष से ऊपर हो चुके हैं, उत्तराधिकारी सन्त अब १९८४ में अति वृद्ध हैं परन्तु उन आज्ञाओं का पालन करते हुए सफलता पूर्वक आश्रम चला रहे हैं। इसलिए इस नितान्त भ्रमात्मक

विचार को छोड़ देना चाहिए कि सन्त वृत्ति से व्यवहार नहीं चलता। निर्मल व्यवहार उसी से चलता है। यह ठीक है कि कलुषित व्यवहार से उसका मेल नहीं बैठता।

श्री गोस्वामी जी महाराज ने बड़ी चतुरता से यह लिखा है कि इन लक्षणों से युक्त व्यक्ति इस संसार में सन्त कहा जाता है। ध्यान देने योग्य तथ्य है कि हम लोग चाहे जितनी आपत्तियाँ उठाएँ और मोहवश संदेहग्रस्त रहें परन्तु जब साधारण सांसारिक मनुष्य के लिए भी इस बात का निर्णय करने का अवसर आता है कि अमुक व्यक्ति सन्त है या नहीं तो वह भी उसी कसौटी का प्रयोग करता है जो पिछले और इस दोहे में अंकित है। सांसारिक लोग चाहे जितने तर्क मिलाते हों कि सन्तों के अंकित लक्षण असम्भव हैं परन्तु यह भी एक अनुभूत सत्य है कि इन लक्षणों से रहित किसी व्यक्ति को वे सन्त मानने को तैयार नहीं। यह एक विडम्बना है। आज प्रायः कहा जाता है कि चुनावों में भले आदमियों का काम नहीं। कोई सन्त स्वभाव व्यक्ति चुनावों में खड़ा हो जाय तो लोग यह समझते हैं कि यह उसकी गलती है। परन्तु वे इस बात के लिए तैयार नहीं कि जो लोग चुनकर आएँ वह सब चालाक, धूर्त और दुष्ट निकलें। चुने हुए लोगों से वह देशभक्ति और सज्जनता की ही आशा करते हैं। जो लोग लौकिक सम्पन्नता को अत्यन्त महत्व देते हैं और उसके लिए नैतिक मूल्यों के बलिदान की आवश्यकता भी मानते हैं, इनमें से कोई भी श्रीं राणा प्रताप, श्री गुरु गोविन्द सिंह, श्री शिवाजी, चन्द्रशेखर आजाद, भगतसिंह आदि को मूर्ख नहीं मानते मन में और वचन से इन महापुरुषों का आदर करते हैं।

एक बार प्रसिद्ध सन्त श्री स्वामी शरणानन्द जी का प्रवचन था। उसके बाद एक श्रोता सज्जन ने प्रश्न किया कि महाराज आजकल

सच्चाई ईमानदारी निभती नहीं, कैसे बरती जाय ? श्री स्वामी जी अनोखी सूझ बूझ के थे और उनमें अद्भुत हाजिर जवाबी थी । वे बोले यह मत कहो कि सच नहीं बोला जा सकता, यह मत कहो कि ईमानदारी नहीं हो सकती, यह कहो कि हम झूंठ बोलेंगे । हम वेईमानी करेंगे । यदि सच्चाई और ईमानदारी हो ही नहीं सकती तो यह बताओ कि चोर नौकर, बेवफा दोस्त, झूठा साथी मंजूर करोगे ? यदि नौकर के लिए ईमानदारी सम्भव है, दोस्त के लिए वफादारी सम्भव है. साथी के लिए सच सम्भव है तो आपके लिए कैसे असम्भव है ? प्रश्न कर्ता आगे कुछ नहीं बोल सके ।

सच यह है कि भगवान् के और शास्त्र के वचनों में हमारे बहुत से सन्देह इसीलिए उठते हैं कि हमारी श्रद्धा कच्ची है और हमारे सम्कार विपरीत हैं परन्तु किसी अन्य दृष्टिकोण से देखने पर हम स्वयं ही उन्हीं सिद्धान्तों में निष्ठ दिखाई पड़ते हैं जिन पर हम सन्देह उटाते हैं और जिन पर हम चल नहीं पाते हैं ।

हमें भली भाँति समझ लेना चाहिए कि गृहस्थ या वनस्थ के भेद के बिना सन्त मात्र के लक्षण वही हैं जो यहाँ अकित किए गए हैं । यदि किसी सन्त का वाह्य व्यवहार या आचार साधारण अविवेकी मनुष्य की दृष्टि में अंकित लक्षणों से भिन्न हो तो भी यह पाया जायगा कि उनके अन्त:करण में सन्त लक्षण ही व्याप्त हैं । बाह्याचार. देश, काल, अवसर, परिस्थिति, गुरु आज्ञा, लोक संग्रह आदि किसी कारण से भिन्न होना सम्भव है । अविवेकियों की दृष्टि में न्यायालय में खड़े हुए पक्ष और विपक्ष के अधिवक्ता सचमुच वाग युद्ध में रत हैं परन्तु सही यह है कि वे केवल अपने तात्कालिक कर्तव्यों में संलग्न हैं । अन्त: करण गत उनकी भावना में लेश मात्र भी पारस्परिक संघर्ष नहीं । यह तो प्रसिद्ध

ही है कि भीष्माचार्य पाण्डव दल से युद्ध करते थे और महाभारत के युद्ध में दसदिन तक वे कौरव सेना के प्रधानसेनानायक रहे। परन्तु उनके मन में पाण्डवों के प्रति कोई भी वैर विरोध या संघर्ष नहीं था और श्रीकृष्ण के प्रति तो उनके मन में अत्यन्त अनुराग था। अतः हमें कोई सन्देह नहीं करना चाहिए कि सच्चे सन्तों में उपर्युक्त लक्षण पाए ही जायँगे। बाह्याचरण के भेदों से इन लक्षणों का अभाव मान लेना त्रुटि पूर्ण होगा।

बिरले बिरलें पाइए, माया त्यागी संत ।
तुलसी कामी कुटिलकलि, केकी काक अनंत ॥३२॥

श्री गोस्वामी जी महाराज कहते हैं कि संसार में ऐसे सन्त बहुत ही कम मिलते हैं जो माया के त्यागी हों। ऐसे अनन्त लोग भरे पड़े हैं कि जो देखने में चाहे अच्छे ही हों परन्तु कामी, कपटी या दुष्ट होते हैं। इनका आचरण मोर या कौए की तरह होता है।

शैले शैले न माणिक्यं, मौक्तिकम् न गजे गजे ।
साधवो नहिं सर्वत्र, चैन्दनं न वने वने ।।

हर एक पहाड़ पर माणिक्य नहीं मिलता, हर एक हाथी के मस्तक में मोती नहीं होता, सन्त सब जगह नहीं पाए जाते, चन्दन के पेड़ हर एक जंगल में नहीं मिलते।

यद्यपि श्री गोस्वामी जी ने सन्तों की दुर्लभता और विरलता के बारे में पहले से ही कह रखा है, तथापि यह दोहा विशेषत: इस बात पर बल देने के लिए अंकित किया गया है कि सच्चे सन्त इस संसार में बहुत ही कम पाए जाते हैं, यद्यपि ऐसे लोगों की कमी नहीं है जिनमें साधारण व्यक्ति को प्रथम दर्शन में साधुपने का आभास मिले।

यह दोहा एक प्रकार से विवेक का उद्बोधन है। साधकों को सचेत किया गया है कि साधु वेश में घूमने वाले या अन्य ऐसे लाखों लोग मिल जायेंगे जों सन्त पने का दिखावा रखते हैं। बहुत से लोग

तो केवल दम्भ के लिए ही साधु वेश बनाते हैं या अन्य प्रकार से साधुओं का आचार विचार प्रदर्शित करते हैं। धोखे में आकर साधक के ठगे जाने या हानि उठाने का खतरा रहता है। यद्यपि शास्त्र और सन्त यह उपदेश नहीं देते कि दूसरे की निन्दा की जाय, परन्तु उन्हें यह भी स्वीकार नहीं हैं कि भोले भाले लोग सन्तों की शरणागति को खोजते हुए दाम्भिकों और ठगों के शिकार हो जायँ। अतः शास्त्र दृष्टि से यही अच्छा है कि हममें इतना विवेक हो कि हम सच्चे सन्तों की पहचान कर सकें।

किसी किसो को यह खटकता है कि श्री रामचरित मानस में श्री राम जी के जन्म की कथा बाद में है कपट मुनि की कथा पहले परन्तु वहाँ भी विवेक का उद्बोधन है। उस कथा में यह दिखाया गया है कि किस प्रकार एक धार्मिक और विवेकशील राजा भी कपट मुनि के फेर में पड़कर श्रापित हुआ और उसे रावण के रूप में जन्म लेना पड़ा। इसी से तो श्री गोस्वामी जी कह गए हैं कि सन्तों में दुष्ट संग जरा भी नहीं होता। साधकों को इस धोखे से बचना चाहिए कि सत्संग के धोखे कुसंग या दुष्ट संग न हो जाय। दुष्ट संग सर्वथा त्याज्य है।

प्रश्न यह उठता हैं कि पहले से कैसे जाना जाय कि जो हमें सन्त संग मालूम होता है वह सचमुच सत्संग है या उसका मिथ्याभास है। श्री गोस्वामी जी ने श्री रामचरित मानस में कहा—

तुलसी देखि सुवेष, भूलहिं मूढ़ न चतुर नर।
सुन्दर केकिहि पेष, वचन सुधा राम असन अहि ॥

इस प्रकार श्री तुलसीदास जी की सम्मति यह है कि केवल वेश देखकर धोखे में आ जाने वाले मूर्ख व्यक्ति होते हैं, चतुर लोग केवल वेश देख कर धोखे में नहीं आते। इसके लिए श्री गोस्वामी जी ने कृपा

करके केकी अर्थात् मोर का उदाहरण दिया है। मोर का स्वरूप अति सुन्दर है। जिसे भी मोर का एक पंख भी मिल जाता है वह सौन्दर्य के कारण उसे सुरक्षित रखना चाहता है। मोर इतना सुन्दर है। जब वह पख फैलाकर नाचता है तब ऐसा सुन्दर दृश्य उपस्थित होता है कि देखने वाले का मन आश्चर्य और प्रसन्नता से खिल उठता है। इतना ही नहीं, जब मोर बोलता है तब उसकी वाणी मानवों को भी अत्यन्त मधुर, अमृतमयी, जान पड़ती है। इस प्रकार वेश, नृत्य और वाणी से प्रभावित होने वाले लोग अवश्य ही मोर के प्रति अत्यन्त आकर्षित हों जायँगे। परन्तु श्री गोस्वामी जी ने यह बताया है कि मोर का वचन तो सुधा के समान है परन्तु असन अर्थात् आहार (भोजन) अहि है यानी वह सांप को खाता है। इस प्रकार यह सकेत कर दिया गया है कि विवेकी लोगों को चाहिए कि वह केवल वेश और वाणी पर न जायें आहार की भी परीक्षा करें। असन या आहार प्रतीक रूप में कहा गया है। वह इस बात का संकेत है कि अभीष्ट वस्तु, अभिलषित पदार्थ अथवा मनोगत प्रयोजन क्या है ?

सच्चे सन्त मन वचन कर्म में एक ही होते हैं परन्तु दाम्भिकों को मन के उल्टे वचन और कर्म बनाने पड़ते हैं। दाम्भिकों को भी अभिलाषा की पूर्ति के लिए प्रयत्न करना पड़ता है, विपरीत आभास प्रदर्शित करना अभिलाषापूर्ति का साधन बन सकता है जैसे—रावण ने सन्यासी का वेश बनाकर महारानी जी का हरण किया और अर्जुन ने भी सुभद्रा की प्राप्ति की लिप्सा से सन्यासी का रूप रखकर द्वारका में प्रवेश किया और सुभद्रा हरण किया। बुरे कामों के लिए दाम्भिकों को अच्छे वेशों के दुरुपयोग की आवश्यकता पड़ती है। यह सही न होगा कि ऐसे दुरुपयोग के आधार पर समाज में अच्छे वेशों का आदर ही समाप्त कर दिया जाय। अच्छे वेशों का आदर होना चाहिए परन्तु हमारी नजर उस लक्ष्य पर होनी चाहिए जिसको लेकर वह वेश बनाया गया। जब

कभी किसी भी दुष्ट व्यक्ति को किसी पाप कर्म के करने में या पाप करने के बाद निकल भागने में उसे कोई वेश बनाना होता है तो साधु वेश प्राय: बहुत उपयोगी सिद्ध होता है। कितने ही ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जिनमें लोगों ने भयंकर अपराध करने के बाद बच निकलने के लिए साधु वेश बनाया और बच निकले। यह भी देखा गया है कि कभी-कभी साधु वेश सी०आई०डी० के अफसरों को भी अपराधों का पता लगाने में बहुत अनुकूल पड़ता है। भारत वर्ष जैसे देश में लाखों लोग गरीबी और भुखमरी का शिकार होकर भिक्षा वृत्ति अपना लेते हैं। उनके लिए भी सन्त का वेश अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होता है। ऐसे सब लोग सच्चे सन्त मानकर पूजे जायँ और लोग उनके उपदेशानुसार चलने लगें तो समाज का बहुत बड़ा अनिष्ट होता है।

यह ठीक है कि सरल सन्त हृदय को ही सच्चे सन्त की ठीक पहचान होती है परन्तु बहुत से साधकों के लिए यह बहुत उपयोगी होगा कि उन्हें यह बता दिया जाय कि किस बात का खास विचार करके वे कपटी और दम्भी लोगों को पहचान सकते हैं और उनके जाल से बच सकते हैं कसौटी यह है कि किसी के लिए भी अच्छा वेश बनाने और अमृत के समान वचन बोलने का प्रयोजन क्या है ? वह उतना अच्छा वेश क्यों बनाए रहना चाहता है अथवा वाणी का उतना अच्छा, मधुर या कुशल प्रयोग क्यों करना चाहता है ? एक अभिनेत्री भी मीरा का वेश बनाकर मंच पर आ सकती है और मीरा का भजन गाने में अपना कमाल दिखा सकती है वह मीरा से भी अच्छा मीरा का पार्ट करके दिखा सकती है। परन्तु अगर वह ऐसा करती है तो उसका प्रयोजन क्या होता है ? मीरा विशुद्ध कृष्ण प्रेम से प्रेरित थीं, 'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरा न कोई।'' परन्तु जब मंच पर अभिनय में यह भजन गाया जायगा तब यह नहीं कहा जा सकता कि अभिनय करने वाले के लिए गिरधर गोपाल को छोड़ कर कोई नहीं है। वहां लक्ष्य भगवान् को

प्रसन्न करना नहीं है, दर्शकों को प्रसन्न करना है। साथ ही अभिनय के निर्देशकों को प्रसन्न करने का भी प्रयोजन रहता है। इस तरह किसी अभिनेत्री और मीरा में वेश और वाणी का बहुत सा साम्य मिल सकता है परन्तु दोनों के प्रयोजन में नितान्त भिन्नता है। कहते हैं कि एक बार तानसेन ने दीपक राग गाया तो दीपक नहीं जला परन्तु उनके गुरु स्वामी हरीदास जी के द्वारा दीपक राग गाया गया तो दीपक जल उठा। तानसेन ने श्री स्वामी हरीदास जी से विनय पूर्वक पूछा, महाराज मेरे गाने में क्या त्रुटि थी जो दीपक न जला जबकि आपके गाने से दीपक जल उठा ? श्री स्वामी हरीदास जी बोले, "कि गाने मे कोई ग़लती नहीं थी। राग ठीक गाया गया था। भेद केवल इतना ही है कि तुम बादशाह के लिए गाते हो मैं भगवाम् के लिए गाता हूँ।' मन्तव्य या प्रयोजन का भेद तुरन्त अपना असर नहीं दिखाता परन्तु जीवन पर इसका दूरगामी प्रभाव पड़ता है।

साधकों की बचत दो प्रकार से हो सकती है यदि कोई सन्त का वेश बना ले या सन्तों के समान शास्त्र के उपदेशों को समझा दे तो इतने में कोई हर्ज नहीं कि हम उसके अच्छे वेश को देखकर उसका औपचारिक सन्मान कर दें अथवा उसका भाषण या उसकी कथा सुनकर उसके पाण्डित्य की तारीफ कर दें या उसकी व्याख्या का लाभ उठाकर कुछ शास्त्र वचनों के सही अर्थों को ज्यादा अच्छी तरह समझ लें। परन्तु किसी ऐसे व्यक्ति के प्रति अत्यन्त श्रद्धा का उमड़ पड़ना, उसके निकट सम्पर्क में आ जाना और उसके वचनों को आज्ञा की तरह मानने लगना सहसा नहीं होना चाहिए। ऐसी स्थिति बनने के पूर्व हमें यह स्पष्ट रूप से लक्षित हो जाना चाहिए कि उसके जीवन का असली लक्ष्य या प्रयोजन क्या है ?

वकालत या पांडित्य की अधिकता से व्यक्ति योग्यता के लिए पूज्य हो सकता है, सन्त नहीं माना जा सकता। वाक् चातुर्य और सन्त रूपता

एक ही चीज़ नहीं है। शास्त्र की बात भी न्यायालय में रखना हो तो बड़ा वकील सक्षम होगा, परन्तु उसकी धाक् वकील के रूप में ही जमेगी, शास्त्र पण्डित के रूप में नहीं। कोई महान् पण्डित या प्रोफेसर वैराग्य को ऐसा अच्छा समझा सकता है, जैसा कि सन्त भी न समझा पाएँ। परन्तु ऐसा वह पैसे के लिए कर सकता है। तो फिर, जब उसे स्वयं वैराग्य नहीं है और उसके द्वारा प्रतिपादित वैराग्य से उसे ही समाधान नहीं है, तो लोगों में उसके प्रतिपादन से वैराग्य कैसे प्रतिष्ठित होगा?

यदि कोई साधु, वेष और वचन से बहुत त्यागी सिद्ध होता है परन्तु उसका प्रयोजन यह है कि वह बहुत बड़ा महात्मा माना जाय, या किसी स्थान की गद्दी उसे ही मिले, या गुरु उसे ही उत्तराधिकारी बना दें या उसके बहुत से शिष्य हो जायँ, ताकि उसे प्रतिष्ठा और वैभव खूब मिले, तो वेश और वचन में वैराग्य होते हुए भी प्रयोजन में वैराग्य नहीं। वैराग्य का आचार भी मान और धन की प्राप्ति के लिए किया जा सकता है। ऐसा आचरण करने वाला सन्त नहीं मान्य है। इसी से तो प्रह्लाद ने कहा कि भगवान् निर्मूल प्रेम से प्रसन्न होते हैं, बाकी सब ढोंग हैं। (श्रीमद्भागवत)।

चाहे कांचन कामिनी हो या मान बड़ाई आदि हो किसी भी लौकिक प्रयोजन को लेकर जो त्याग किया जाता है, वह परिणामतः माया त्यागी सन्त की पदवी नहीं दे सकता। श्री गोस्वामी जी ने विनय पत्रिका में सन्त स्वभाव माँगा है। उसमें सुख, दुःख मानापमान को समान मानकर, देह जनित चिन्ता छोड़कर अविचल हरि भक्ति करने की बात है। इसी तरह निष्काम भक्ति की प्रार्थना की है—

चहौं न सुगति सुमति सम्पति कुछ रिधि सिधि विपुल बड़ाई।
हेतु रहित अनुराग राम पद बढ़ौ अनुदिन अधिकाई॥

यदि कोई भी लौकिक प्रयोजन बना रहा तो माया त्याग नहीं हुआ या अपूर्ण रहा ।

प्रारम्भ में अहेतुकी भक्ति नहीं होती परन्तु आदर्श तो यही होना चाहिए । जहाँ किसी लौकिक प्रयोजन से भक्ति की जाती है वहाँ प्रयोजन साध्य है, भक्ति साधन है । साध्य का महत्व साधन से अधिक रहता है । दार्शनिक दृष्टि से जो व्यक्ति मायिक प्रयोजन के लिए भगवान् का स्मरण भजन करता है या त्याग करता है, वह व्यक्ति भगवान् से माया को अधिक मानता है, कम नहीं । उसका मन भगवान् से कैसे लगा रह सकता है ? जिसके मन में इस प्रकार के विचार हैं, उसको माया त्यागी कैसे माना जाय ?

माया त्याग की भी भूमिकाएँ हैं, विभिन्न सीमाओं तक माया त्याग होता है । दोहे में संकेत यह है कि माया को पूर्ण त्यागी बिरले ही है । माया के आकर्षक पदार्थ बहुत हैं और आसक्ति की प्रगाढ़ता अलग अलग है । यह भेद भी है कि केवल बाह्य त्याग है या उसका जिक्र भी त्याग दिया गया है, मन से भी त्याग है या नहीं, सुखाभास पूर्वक स्मरण होता है कि समाप्त है, विषयों का रस बचा है या निवृत्त है ? इन बातों पर विचार करके माया त्याग की भूमिका या पूर्णता का निश्चय हो सकेगा । माया में अत्यन्तासक्त प्राणी मायिक आकर्षण का कुछ भी प्रतिरोध नहीं कर पाता । आकर्षण के सामने वह विवश है, अभीष्ट विषय मिलने पर अस्वीकार कर ही नहीं पाता । यहाँ माया त्याग शून्य है ।

धन माया का एक सुप्रसिद्ध आकर्षण है । उसका त्याग कठिन है । तथापि मनुष्य को कहीं तो मर्यादा बाँधनी ही पड़ती है । अपने पुत्र का वध करने के लिए एक हजार रुपए मिलते हों तो निर्धन और भुखमरा व्यक्ति भी उसे प्रायः स्वीकार नहीं करेगा । लाखों लोग भूखे रहते हुए

भी और अवसर मिलने पर भी चोरी करके धन नहीं लेते, बहुत से लोग चोरी का माल सस्ता मिलने पर भी नहीं लेते, यद्यपि यह सही है कि तस्करी का माल ख़रीदने में लोगों का संकोच समाप्त हुआ जा रहा है। ग्राह्य और त्याज्य धन का भेद करना ही पड़ता है।

इसी प्रकार से अन्य विषयों में भी विधि निषेध, ग्राह्य त्याज्य का विचार करना पड़ता है। विषयों में एकदम अविचार पूर्वक आकर्षण का अनुसरण करने वाला मनुष्य दुर्लभ है, परन्तु जहाँ आकर्षण प्रबल है और निषिद्ध आचरण करने का अनिष्ट बहुत बड़ा नहीं प्रतीत होता, अथवा निकट भविष्य में उसकी प्राप्ति की आशंका नहीं है, अथवा स्पष्ट समझ में नहीं आता कि क्या अनिष्ट हो सकता है अथवा अनिष्ट परिपाक संदिग्ध है, हो या न हो, वहाँ बहुसख्यक आसक्त जन आकर्षण का अनुसरण करते हैं। इसमें बहुत बड़ा धोखा यह है कि विधि निषेध का निश्चय करने वालों का अनुभव, ज्ञान व विवेक साधारण आसक्त जीवों को प्राप्त नहीं है, अत: उन्हें सम्भावित अनिष्ट का उतना उत्तम दर्शन नहीं हो सकता। अत: जन साधारण अनिष्टों से बच नहीं सकते यदि दूसरे विवेकी जनों की निष्पक्ष सुविचारित सम्मति को मानकर उस पर नहीं चलते। योरप और अमरीका में विवाह रुचि अनुरूप होते हैं परन्तु इससे विवेक के स्थान पर आकर्षण प्रधान हो जाता है, इसीसे विवाह विच्छेद भी वहीं अधिक हैं। प्रत्येक प्रकार के विधि निषेध का रहस्य हर एक की समझ में नहीं आ सकता, परन्तु जो इसका पालन करता है वह लाभान्वित होता है। डाक्टर का बताया हुआ परहेज़ समझ में न आवे तो भी किया जाता है, और लाभदायक होता है। यह त्याग की प्रारम्भिक भूमिका है, और प्राय: इतना ही त्याग करके कोई त्यागी नहीं माना जाता। तथापि विधि निषेध का सावधानी से पूरा पूरा पालन करने वाला प्रशंसनीय है। विवेक का लक्षण है दूरदृष्टि। भावी अनर्थ से बचने के लिए वर्तमान् आकर्षण से बचना प्रशंसनीय है। प्रथम भूमिका

में विषयों का सुख मान्य है, परन्तु स्वच्छन्द सेवन से अनिष्ट आशंकित है, उससे बचने के लिए विधि निषेध का पालन है, निषिद्ध का त्याग है।

जब साधक और आगे बढ़ता है तब विषयों का भयावह स्वरूप सामने आने लगता है और रमणीयता का बाध होने लगता है। 'अनविचार रमणीय सदा, संसार भयंकर भारी। (वि०प०) तब यह बात सामने आती है कि विधि निषेध का उपयोग तो इसलिए है कि अविवेकवश विषमताएं न पैदा हों, परन्तु कुछ अनिष्ट, विषयों के सेवन में अनिवार्य ही हैं, वे इस तरह से निवृत्त नहीं हो सकते यथा—अपरिग्रही की सी निश्चिन्तता करोड़पति को नसीब नहीं हो सकती, सम्पत्ति की व्यवस्था चाहे जैसी की जाय। अधिक अमीरों को अधिक चिन्ता स्वाभाविक है। श्रीमद्भागवत के स्कन्ध ११ में अर्थ के जो पन्द्रह दोष लिखे हैं, वे भी आने लगते हैं। इसी प्रकार पन्द्रह वीस वर्ष विवाहित जीवन व्यतीत करने के बाद प्राय: कोई भी नहीं कहता कि उसे आशा के अनुरूप सुख मिला, परन्तु आसक्ति, निर्भरता, विवशता, बन्धन, अनिवार्यता आदि की दृढ़ता होती जाती है। विषयों से सन्तोष व तृप्तिदायक सुख तो किसी को नहीं मिला, परन्तु बन्धन और दुःख हर एक को मिला। इसलिए मर्यादानुकूल विषय सेवन एक सीमा तक लाभ दायक है, वह विषयों के डंक को बिल्कुल तोड़ नहीं सकता। इस भूमिका में पहुंच कर यह वृत्ति बनने लगती हैं कि विषय अभीष्ट नहीं है। अष्टावक्र गीता का उपदेश है—विषयान् विषवत् त्यज। (विषयों को विष की तरह छोड़ो)। धीरे धीरे विषय भोगों की प्राप्ति के लिए साधन करने की प्रेरणा क्षीण हो जाती है। इसलिए निषिद्ध कर्मों के बाद, काम्य कर्मों के त्याग का नम्बर आता है। कामना छूटने पर काम्य कर्म छूटेंगे, कामना बनी रहते नहीं। विषयों की कामना (सुख

वैभव विलास मान आदि की इच्छा) छूटने पर काम्य कर्मों की प्रेरणा क्षीण होगी ।

कर्तव्य कर्म तो रहेंगे परन्तु इनके करने में भी वृत्ति भेद सम्भव है, इन्हें सकाम भाव से भी किया जा सकता है, निष्काम भाव से भी । विषयों की कामना क्षीण होने पर कर्तव्य के निष्काम सम्पादन की प्रेरणा बनेगी । यदि शास्त्र कथित फल प्राप्ति के लिए कर्म किया जाय तो भी उसमें लोक परलोक में सुगति प्राप्ति की अभिलाषा निहित (छिपी) है । परन्तु भगवद्भक्ति के हेतु या भगवत्प्रीति हेतु कर्तव्य कर्म करना, संग और फल की आसक्ति न रखना ही निष्कामता है । सुखादि की इच्छा न रहने पर भी कर्म क्यों करते हैं ? उसका उत्तर है—

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादय: । (गीता ३.२०)

योगिन: कर्म कुर्वन्ति संगम् त्यक्त्वाऽत्मशुद्धये । (३.२०)

लोक संग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ।
नियतं कुरु कर्म त्वं (३.८), कर्म ज्यायो ह्यकर्मण: (३.८) ।

कर्तव्य कर्म में भी माया का त्याग, माया त्याग की एक महत्वपूर्ण भूमिका है । परलोक के वैभवों को भी क्षण भंगुर और व्यर्थ समझने लगना माया त्याग का उत्कृष्ट सोपान है । देहाध्यास का त्याग उत्कृष्ट भूमिका है देह में अहंभाव न होना ।

जब आत्म निवेदन हो जायगा तो कर्तव्य की भी समाप्ति होगी । शरणागति में सब धर्म लीन होंगे ।

जाहि न चाहिय कबहुँ कछु, तुम सन सहज सनेह ।
बसहु निरन्तर तासु उर, सो राउर निज गेह ।।

या रहें इसमें आप घर की तरह। या मेरे दिल में आप घर न करें॥
(ग़ालिब)

खुद को इतना मिटा कि तू न रहे। और तुझ में दुई की बू न रहे॥

केवल वाह्य जीवन में त्याग हो, मन से विषयों को सुखद जानकर स्मरण हो तो यह मिथ्याचार है। मन ही इन्द्रियों का निग्रह करे यह श्रेष्ठ है। आजकल ऐसे बहुत से लोग मिलते हैं कि वाह्य जीवन में जिन भोगों से अलग हैं, उनका वाणी से कथन करते रहते हैं। कथनत: यह मनोरंजन मात्र है, परन्तु इसी कथन से लक्षित होता है कि मन को उन विषयों में सुखाभास मिलता है। इसलिए मन से त्याग नहीं हुआ।

श्रेष्ठ और पूर्ण माया त्याग होने पर भवगत्सत्ता से बराबर सम्पर्क बना रहता है। भगवदाज्ञानुसार ही कर्म होते हैं, पूरी निश्चिन्तता और निर्भयता रहती है। तब सन्त भगवच्चिन्तन में लीन रह सकते हैं, कोई विघ्न बाधा भजन में नहीं होती। हानि लाभ आदि में समभाव रहता है। यही सन्त रहनि का असली गौरव है। ग़ैव के सहारे जिन्दगी बसर करने का रहस्य यही है। यही क़ुरान का अध्यात्म है।

साधन विभिन्न स्तरों पर पाए जाते हैं, उनके माया त्याग का सोपान अलग अलग है। जिस माया त्याग का ज़िक्र दोहे में है, वह पूर्ण त्याग है। माया का इस प्रकार पूर्ण त्याग जिन्होंने किया हो, ऐसे सन्त बहुत ही बिरले हैं।

जो सदाशय पूर्वक साधन रत है, माया का त्याग करना चाहता है, वह जिस भूमिका तक पहुँचा हो सम्माननीय है, निन्दनीय नहीं है। किसी भी साधक की उच्चतर भूमिका वालों से तुलना करके उसकी

कभी बताई जा सकती है परन्तु यह उसके मार्ग दर्शक का काम है। शास्त्र को या सन्तों को उसकी निन्दा स्वीकार नहीं।

परन्तु सन्त मत में और शास्त्रानुसार विवेक का भी त्याग नहीं करना चाहिए। इसलिए जो सच्चे साधु नहीं हैं धोखा देने वाले दम्भी, कपटी, धूर्त हैं, उन्हें सच्चे सन्त की मान्यता नहीं मिलनी चाहिए। इससिए यह भी सूत्र दे दिया गया है कि सन्त पने का आभास देने वाले अनन्त हैं। सच्चे सन्त का लक्षण तो कहा, बने हुए लोगों का भी लक्षण सूत्र रूप में अंकित कर दिया गया है।

मोर और कौए के समान कामी, कुटिल व खल व्यक्ति अनन्त (बहुसंख्यक) है। जो सच्चे सन्त नहीं हैं, माया त्यागी नहीं हैं, परन्तु सन्त की तरह का बाह्याचार रखते हैं और चाहते हैं कि सन्त माने जायँ, वे सन्त नहीं हैं, असन्त हैं, उनसे आशंका हो सकती है कि वे अपनी स्वार्थ सिद्धि करेंगे अत: उनकी मन: स्थिति के अनुसार वर्गीकृत करके उन्हें रख दिया गया है कि विवेकी साधक जन उनकी मन:स्थिति (प्रयोजन) को जानकर सावधान हो जायँ।

विशेषत: काम वासना से प्रेरित और व्यापक अर्थ में किसी भी कामना से उद्वेलित व्यक्ति कामी कहा भाया है ऐसी कामना की पूर्ति के प्रयोजन से ही जिसने सन्त का बाना अपनाया है, वह मायाकांक्षी है, माया त्यागी नहीं है, सुन्दर वेष बनाकर और वाणी का कुशलता से प्रयोग करके जो दूसरों को प्रभावित करना चाहता है और फिर युक्ति पूर्वक अपनी कामना पूर्ति करना चाहता है वह मोर की तरह है, मोर का स्वरूप अति सुन्दर है, बाणी भी अति मधुर है परन्तु—

सविष उरग आहार निठुर उर, यह करनी वह बानी। (वि०प०)

विषय पष सविष मांस को खाने के लिए आतुर चित्त है, परन्तु वेष और वाणी अत्यन्त प्रभाव शाली है, यह मोर की सी वृत्ति है। अशुभ प्रयोजनों को सिद्ध करने के लिए दाम्भिकों को शुभ वेष आदि का दुरुपयोग करना ही पड़ता है, क्योंकि अशुभ आचरण, प्रयोजन का आवरण शुभ हो, तभी तो सिद्ध किया जायगा। सन्त वृत्ति न होते हुए भी सन्त का उत्तम अभिनय हो तो कामिनी काँचन (कोई भी अभीष्ट विषय भोग पदार्थ) आकर्षित किये जा सकते हैं। जहाँ विषयों को प्राप्त करने का प्रयोजन है, माया त्याग कहाँ है? ऐसे लोग केकी (मोर) के समान माने गए हैं। मोर इतनी बड़ी संख्या में नहीं पाए जाते, जितनीं बड़ी संख्या में ऐसे नकली सन्त पाए जाते हैं।

दूसरा बिन्दु सरलता कुटिलता का है। सन्त सरल होते हैं। कुटिलता सन्न स्वभाव के विपरीत है। कूट नीति और सन्त स्वभाव का परस्पर मेल नहीं बैठता। वैराग्य होने पर कुटिलता की आवश्यकता व प्रेरणा समाप्त हो जाती है। कुटिल व्यक्ति चालाकी से अपना काम बनाना चाहता है। वह सबके प्रति सरल नहीं रह सकता। सन्त सावधान रहते हैं कि उनसे कभी कोई धोखा न हो, कुटिल व्यक्ति चाहता ही है कि दूसरे को धोखा हो, वह धोखे में रहे, धोखा देकर वह अपना काम बनाना चाहता है। इसी का यह परिणाम भी होता है कि कुटिल व्यक्ति दूसरों से भी कुटिलता की आशंका रखता है, सतर्क रहना चाहता है। जिनकी सरलता में सन्देह करने का कोई कारण नहीं और व्यापक रूप से सरल माने जाते हैं, कुटिल व्यक्ति उनसे भी सतर्क रहना चाहता है। वैसे कहा जा सकता है कि सावधान रहने में हानि ही क्या है? परन्तु जब यह विदित हो जाता है कि उसे विश्वसनीय, आदरणीय, व्यक्तियों पर भी विश्वास नहीं है, तो वह स्वयं अविश्वसनीय सिद्ध हो जाता है। इससे उसे सच्चे मित्र और सज्जन नहीं मिलते या उनका सम्पर्क निबह नहीं पाता। फिर उसका साथ स्वभाव साम्य के आधार

पर दूसरे कुटिल जनों से होता है अथवा वह ऐसे मूर्ख जनों को खोजता है जिन्हें वह ठग सके। भगवान् के मार्ग में यह सब चालाकी एकदम अयोग्य बना देती है—

इहां को सयानप अयानप सहस सम,
सूधे सतिभाव कहे मिटति मलीनता। (वि०प०)

निरमल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा।।
जे कामी लोलुप जग माहीं। कुटिल काक इव सबहि डेराहीं।।

कौआ अपनी अत्यन्त सतर्कता के लिए प्रसिद्ध है और सयाना माना गया है।

असली सयानापन तो श्री कागभुशुण्डि जी का था कि अन्य सभी वरदानों का तिरस्कार करके भगवान् की अविरल विशुद्ध भक्ति माँगी। श्री राम जी को भी कहना पड़ा—

सनु वायस तैं परम सयाना। काहे न माँगसि अस वरदाना।।
(रा०च०मा०)

मल और आमिष का आहार करने वाला कौआ, यदि अपनी शरीर रक्षा में अत्यन्त सतर्क है तो उस सयानेपन का क्या मूल्य है? असली सयानापन वही है जहां इच्छा मृत्यु है, देह सत्ताइस कल्प से अधिक हो गए कायम है, उसकी रक्षा की कोई चिन्ता नहीं, परन्तु अहर्निशि भगवच्चिन्तन में समय जाता है। दूसरों को ठगने वाली चालाकी की सन्तों की दृष्टि में कुछ कीमत नहीं। उससे पाप अर्जित होता है और दुर्गति प्राप्त होती है। ऐसा परिणाम होने से वह चातुर्य माना जाय या मूर्खता? लेकिन जिस स्तर पर जिसका चिन्तन है, उसी के अनुरूप उसका सयाना पन भी होता है।

तुलसी चतुराई सोई, वृत्ति राम पद लीन।
परधन पर मन हरन कहँ, वेश्या परम प्रवीन ।। (दोहावली)

सन्त के एकदम विपरीत लक्षणों वाला खल है। श्री रामचरित मानस में खलों की भी वन्दना की गई है—सन्त अहैतुकी कृपा करते हैं, खल अकारण अहित करते हैं।' 'सन्त सहज सुभाव खगराया। पर उपकार वचन मन काया।।' परन्तु 'खल बिनु कारण पर अपकारी। अहि मूषक इव सुनु उरगारी ।।' सन्त अहिंसामय हैं, खल हिंसा प्रिय हैं—'हिंसा पर अति, प्रीति तिनके पापहि कवनि मिति।' खलन हृदय परिताप विशेषी। जरहिं सदा पर सम्पति देखी ।। श्री रामचन्द्र जी ने स्वयं कहा है।

बरु भल वास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ विधाता ।।

विवेक अत्यन्त आवश्यक है दुष्ट बहुत बड़ी संख्या में सन्त होने का दम्भ करते हैं, बहुत से अपराधी तो दण्ड से बचने के लिए ही भाग खड़े होते हैं और साधु वेश बना लेते हैं। स्वभाव की पहचान होनी चाहिए, क्योंकि—

खलहु करहिं भल पाइ सुसंगू। मिटइ न मलिन सुभाव अभंगू ।।

अतः सावधान रहना चाहिए कि सन्त संग के स्थान पर दुष्ट संग न हो जाय।

* * *

मैं तो मेट्यो मोह तम, उगो आतमा भानु ।
संतराज सो जानिए, तुलसी या सहि दानु ।।३३।।

जिसके आत्मा रूपी सूर्य का उदय हो गया और मै-तू रूप अज्ञानांधकार का नाश हो गया, तुलसी दास जी कहते हैं कि उसको सन्त राज (सन्त शिरोमणि) जानना चाहिए, क्योंकि यही उसकी पहिचान है।

श्री गोस्वामी जी कहते हैं कि मोह जनित स्व पर, मैं और तू का भेद जिसने मिटा दिया है और जिसका आत्म रूपी सूर्य उदय हो गया है, वही सन्त राज है, यही उसकी पहचान है। श्री गोस्वामी जी महाराज ज्ञान को ही सन्त का उत्तम लक्षण मानते हैं। जिसे ज्ञान हो गया वही सन्त राज या सन्त शिरोमणि है।

ऊपर कह आए हैं कि माया त्यागी सन्त बिरले बिरले मिलते हैं। माया के त्याग दिए जाने पर द्वैत नहीं रहता, अपना बिरानी नहीं रह सकती। महर्षि पतञ्जलि ने योग सूत्रों में पंच क्लेश गिनाए हैं—

अविद्या, अस्मिता, राग द्वेषाभिनिवेशाः पंच क्लेशाः।

महर्षि ने अविद्या की परिभाषा बनाई है, अनित्य, अशुचि, असुख और अनात्म पदार्थ में नित्य, शुचि, सुख, आत्म भावना हो जाना, अनुभूति हो जाना, यही अविद्या है। देह अनित्य है, देह अपवित्र है, देह रोग शोक का कारण है, देह आत्मा नहीं है, परन्तु देह नित्य लगने लगती है, पवित्र मालूम होने लगती है, सुख दायक प्रतीत होती है और देह में

अहम् बुद्धि हो जाती है अर्थात देह को ही अपना स्वरूप माना जाता है। इस प्रकार विपरीताभास होना अविद्या है। जैसा का तैसा मालूम होना विद्या है, ज्ञान है। जो है उससे उल्टा मालूम होना अविद्या है, अज्ञान है। ठीक ठीक अनुभूति होना ही ज्ञान का लक्षण है, विपरीत आभास होना अज्ञान हैं। सम्यक् ज्ञान ही ज्ञान माना गया है, विपरीताभास को ज्ञान नहीं माना गया है वह मोह है। धुँधले प्रकाश में मार्ग में रस्सी पड़ी हो तो उसमें सर्प का आभास हो सकता है। सर्प के भय से, देखने वाला भाग सकता है। यहाँ यह नहीं कह सकते कि भागने वाले को मार्ग में पड़े हुए पदार्थ का ज्ञान हुआ। ज्ञान नहीं हुआ ऐसा कहना ही ठीक है। मार्ग में तो रस्सी पड़ी थी और रस्सी का ज्ञान हुआ नहीं तो मार्ग में पड़े हुए पदार्थ का ज्ञान हुआ, ऐसा कहना किस तरह ठीक हो सकता है? यदि कोई कहे कि ज्ञान तो हुआ रस्सी का न सही, सर्प का सही, तो यह प्रश्न उठ सकता है कि सर्प तो वहाँ था नहीं, अविद्यमान् वस्तु का ज्ञान कैसे हो सकता है। अतः सर्प का ज्ञान नहीं हुआ इस प्रकार न सर्प का ज्ञान हुआ न रस्सी का। एक विपरीताभास मात्र हुआ। जिसे अज्ञान मानना चाहिए। यह मोह है ज्ञान नहीं। यह सही है कि मोहवश जो विपरीताभास होता है उसके असत्य होने का तुरन्त निश्चय नहीं हो सकता। विपरीताभास के नष्ट होने पर इस असत्य की पहचान होती है। जीव के बन्धन के जो सोपान हैं उनमें से पहला मोह या अविद्या ही है अविद्या से ही देहाभिमान सम्भव होता है। जीव आत्मा को न जानकर अपने को देह समझने लगता है। तब देह की तकलीफ को अपनी तकलीफ मानता है और देह के आराम को अपना आराम मानता है। फिर देह के लिए सुखदाई विषय में राग उत्पन्न हो जाता है और देह के लिए दुखदाई विषय में द्वेष उत्पन्न हो जाता है। इस प्रकार जगत् में दृढ़ आसक्ति हो जाती है। यही अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश यह पाँच क्लेश माने गए हैं। अविद्या से ही बाद के चारों क्लेश उत्पन्न होते हैं।

विपरीताभास ही अविद्या या मोह है और यही अस्मिता (अभिमान) का कारण है। रामचरित मानस में लिखा है–

संसृति मूल शूल प्रदनाना। सकल शोक दायक अभिमाना।।

इस प्रकार अस्मिता ही संसृति का कारण है। जब अहम् भाव (अस्मिता) का उदय हो जाता है तो सृष्टि में द्वैत भाव की व्याप्ति हो जाती है—मैं और यह सब सृष्टि इस प्रकार दो भागों में विभाजन हो जाता है, अहम् के साथ इदम् भाव का भी उदय होता है। अहम् और इदम् के सत्यवत् प्रतीत होने से माया का बन्धन पड़ जाता है। मोह का अन्धकार छा जाता है अपने को देह रूप मानते ही अन्य देहों के सन्दर्भ में त्वम् भाव (तू) भी उदय हो जाता है। अब इस द्वैत में इदम् और त्वम् से संघर्ष करते हुए अहम् का पोषण करना पड़ता है और जीव अपरिमित काल तक इसी दुष्ट चक्र में पड़ा रहता है। इसी माया के बन्धन को दूसरे रूप में श्री रामचरित मानस में कहा है—

मोह निशा सब सोवनि हारा। देखहिं सपन अनेक प्रकारा।।
एहि जग जामिनि जागहिं योगी। परमारथी प्रपंच वियोगी।।

इस प्रकार प्रपंचात्मक विश्व में सत्य बुद्धि रखने वाले आसक्त जीव बन्धन में पड़े हैं और प्रपंच से विरक्त सन्त मुक्त हैं।

जानिय तबहिं जीव जब जागा। जब सब विषय विलास विरागा।।

मोह निशा के बीत जाने पर, ज्ञान रूपी सूर्य के उदय हो जाने पर जगत् के पदार्थों में कोई आसक्ति नहीं रह सकती जैसे—

स्वाप्नम् पुनर्न भजते प्रतिबुद्ध वस्तुः (श्रीमद्भागवत)

(जागता हुआ व्यक्ति स्वप्न की वस्तुओं कीं स्पृहा नहीं करता)।

श्री रामचरित मानस में कहा है—

मैं अरु मोर तोर तैं माया। जेहि बस कीन्हें जीव निकाया ।।

मैं, मेरा, तू और तेरा का भाव यही माया है जिसने तमाम जीव समूह को वश में कर रखा हैं। इस से छूटने दर ही मुक्ति है।

कल्पना कीजिए कि एक देह रहित सर्व व्यापी चैतन्य है, वह सभी देहों को देख रहा है। उसके लिए किसी देह में मैं पना नही है, किसी भी देह में तैं पना भी नहीं है, उसके लिए विभिन्न देहों में 'स्व' पर बुद्धि नहीं है, अपना पराया भाव नहीं हैं। ऐसा जो चेतन है वही मुक्त है। जिस सन्त का देह में अहम् भाव नष्ट हो गया वह सभी देहों का तटस्थ साक्षी है। उसके लिए 'स्व' 'पर' भेद या प्रिय अप्रिय भेद नहीं है। परम उच्च दशा प्राप्त होने पर सन्त को देह के उठने वैठने, चलने गिरने आदि की सुध बुध नहीं रहती जैसे शराव के नशे में चूर व्यक्ति को अपने चादरे आदि का होश नहीं रहता कि वह शरीर पर है या कहीं गिर गया। (श्रीमद्भा०)

पहले भी कह आए हैं—अहंवाद मैं तैं नहीं, दुष्ट सग नहिं कोइ। (छन्द ३०) तुलसिदास मैं मोर गए बिनु, जिय सुख कबहुँ कि पावै। (वि०प०) जहाँ अहं त्वं भावना अस्त हुई वहाँ 'निज प्रभु मय देखहि जगत्' (रा०च०मा०) की भावना आई। मोह रूप अन्धकार नष्ट हुआ।

मोहान्धकार को नष्ट करने के लिए प्रकाश चाहिए। ज्ञान को प्रकाश रूप माना है।

जासु ज्ञान रवि भव निसि नासा। वचन किरन मुनि कमल विकासा।।
सोक निवारेउ सबनि कर, निज विज्ञान प्रकास। (रा०च०मा०)

तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् । (गीता ५.१६)

सहज प्रकाश रूप भगवाना । नहिं तहँ पुनि विज्ञान विहाना ।।
(रा०च०मा०)

भ्रम तम रविकर वचन मम । (रा०च०मा०)

रात में काम चलाने के लिए दीपक आदि से काम लिया जाता है उनसे अन्धकार की निवृत्ति होती है, परन्तु रात्रि ही चली जाय, यह सूर्योदय से ही होता है ।

राकाससि षोडश उअहिं, तारागन समुदाइ ।
सकल गिरिन्ह दव लाइये, बिनु रवि राति न जाइ ।। (रा०च०मा०)

अन्य अन्य साधनों से मोहान्धकार में कुछ प्रकाश मिलता है, परन्तु मोह रात्रि निवृत्त नहीं होती, आत्म साक्षात्कार होना ही आत्मा रूपी सूर्य का उदय होना है । इससे मोह रूप रात्रि पूर्णतः निवृत्त हो जाती है । आत्मा रूप सूर्य के उदय होने पर अन्धकार ठहर नहीं सकता, मोह रूप रात्रि विगत हो जाती है, जीवन दिव्य हो जाता है ।

इस बात को सांख्य और वेदान्त के प्रकाश में और भी अच्छी तरह समझा जा सकता है । योग और साँख्य की दार्शनिक पृष्ठ भूमिका एक सी है । साँख्य के अनुसार प्रकृति ही कर्म करती है, पुरुष प्रकृति से अपने को एक करता हुआ कर्ता बन बैठता है । यही बन्धन हैं । अपने से भिन्न प्रकृति को पहचान लेने से प्रकृति का लोप और पुरुष का अकेलापन कैवल्य अर्थात् मोक्ष है । योग के अनुसार वृत्ति निरोध ही स्वरूप की प्राप्ति का कारण है, अन्यथा जैसी वृत्ति उदय होती है, वैसा ही अपना स्वरूप जान पड़ता है । तमोगुणी और रजोगुणी वृत्तियों के निरुद्ध हो जाने (रुक जाने) पर सतो गुणी बुद्धि में आत्मा का रूप प्रतिबिम्बित दिखाई देता है, वही निज स्वरूप जान पड़ता है । उससे ऊपर उठ जाने

पर प्रतिबिम्ब को आत्मा नहीं माना जाता, बुद्धि के भी साक्षी असली आत्म तत्व की प्राप्ति हो जाती है। यही कैवल्य है।' 'अति दुर्लभ कैवल्य परम पद।' (रा॰च॰मा॰)

वेदान्त के अनुसार जगत् का दृश्यमान् स्वरूप भ्रमात्मक है। स्वप्नवत् है, मिथ्याभास है, छाया, प्रतिबिम्ब, प्रतिध्वनि, सिनेमा, नाटक या नट के तमाशे की तरह का आभास है। ब्रह्मज्ञान से ही मिथ्याभास समाप्त होगा। ब्रह्मज्ञान के लिए साधन चतुष्ट्य (विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षुत्व) से सम्पन्न अधिकारी (पात्र) चाहिए। नित्यानित्य वस्तु का भेद दर्शन विवेक है, इस लोक और परलोक के भोगों से अनासक्ति वैराग्य है। शम (मानसिक शान्ति), दम (इन्द्रिय निग्रह), उपरति (जगत् के पदार्थों से मन का हट जाना), तितिक्षा (हानि, लाभ, जीवन, मरण यश अपयश में उदासीन या तटस्थ भाव से साक्षी वत् स्थित रहना, सहते जाना, अव्यथित रहना तितिक्षा है। यह दृढ़ निश्चय हो जाना कि—

जो मारग श्रुति साधु बतावैं। तेहि मग चलत सबहि सुख पावैं।
जो तेहि पंथ चलहु मन लाई। तौ हरि काहे न होहिं सहाई।।
(वि॰प॰)

श्रुति शास्त्र प्रतिपादित मार्ग पर दृढ़ आस्था हो जाना श्रद्धा है। चित्त में यह गुण दृढ़ हो जाय और उपदिष्ट मार्ग व ध्येयआदि पर चित्त आरुढ़ हो जाय, शास्त्र के सही होने का भी विश्वास उत्पन्न होना और स्थिर रहना समाधान है। यह ६ गुण मिलकर षट् सम्पत्ति कहलाते हैं। इन गुणों से युक्त व्यक्ति षट् सम्पत्ति युक्त माना जाता है। फिर वह मोक्षार्थी (मुमुक्षु) होकर वेदान्त (ज्ञान) का उपदेश प्राप्त करे। तब उसे तत्काल अनुभूति हो जायगी।

यह प्रश्न उठता है कि जब उक्त सारे गुण आ गए, जिनमें समाधान भी है तो फिर मुमुक्षुत्व तथा उपदेश की आवश्यकता क्यों ? इसका उत्तर यही है कि उक्त गुणों से चित्त आदर्श (शीशे) की तरह स्वच्छ हो जाता है, तब वह विकृति के बिना परम सत्य को ग्रहण कर सकता है और स्थिर रख सकता है। परन्तु निर्मल अनुभूति को ठीक ठीक समझने के लिए और स्फुरित ज्ञान के पुष्ट करने के लिए तत्वोपदेश की सार्थकता है।

पहले ज्ञान दृढ़ नहीं होता—

उपजै बिनिसै ज्ञान जिमि पाय कुसंग सुसंग। (रा०च०मा०)

परन्तु आत्म साक्षात्कार, अपरोक्षानुभूति, ब्रह्मज्ञान की उपलब्धि के बाद वह दृढ़ हो जाता है, आत्मा रूप सूर्य के उदय के बाद अन्धकार का आत्यन्तिक लय हो जाता है। ऐसे सन्त के लिए मोह रूप रात्रि फिर कभी नहीं आती।

इस प्रकार जिसे ज्ञान प्राप्त है, माया छूट गयी है, जो विमुक्त है, देह रूप से जगत् में स्थित दिखायी देता है, परन्तु दिव्य जगत् में ही है, जो ब्रह्म (भगवान्) से अखण्ड सम्पर्क में है, उसे सन्तराज (सन्त शिरोमणि) जानना चाहिए।

सन्त की शोभा ज्ञान वैराग्य है, ज्ञान से वैराग्य दृढ़ और पूर्ण हो जाता है। वैराग्य के बिना सन्त की शोभा नहीं। धनुष न तोड़ पाने पर जैसे जनकपुर के धनुषयज्ञ में राजे उपहास के योग्य हो गए, वैसे ही वैराग्य के बिना साधु उपहास योग्य हो जाता है।

सब नृप भए योग्य उपहाँसी। जैसे बिनु विराग सन्यासी।।

वैराग्य केवल रहन सहन की सादगी या गरीबी नहीं है। दारिद्रय अभाव पूर्ण है, वैराग्य अभाव मुक्त हैं, दोनों एक नहीं हैं। आघात, दु:ख, शोक, विवशता आदि से किया हुआ त्याग, उत्कृष्ट नहीं कहा जा सकता। विवेक से सुखाभास के अस्त हो जाने पर उत्तम वैराग्य होता है। ज्ञान प्राप्ति से विषयों का सुखाभास नष्ट होता है और वैराग्य पुष्ट होता है।

'सचिव विराग विवेक नरेसू', सज्जन या सन्त के अन्य गुणों से ऊपर विवेक (ज्ञान) राजा के स्थान पर है, वैराग्य प्रधानमन्त्री के स्थान पर है। जहाँ यह दोनों ठीक दृढ़ हों, साम्राज्य पक्का है। जिस सन्त में 'मै, तैं' की माया समाप्त है, आत्म ज्ञान का सूर्य उदित है, उसके अन्त:करण में गुणों का सुव्यवस्थित सुन्दर राज्य है, राजा और मन्त्री भी प्रभावी हैं, अत: ऐसे सन्त को सन्तराज कह सकते हैं। भौतिक जगत् में सिंहासन, ताज (मुकुट), मुरछल, छत्र आदि राजा की शोभा हैं, सन्तराज की शोभा ज्ञान, वैराग्य, अखण्ड, भगवच्चिन्तन, कारुण्य आदि से है। राजा का वैभव भौतिक है, सन्तराज का वैभव आध्यात्मिक है।

राजा यदि आखेट आदि में हो, या छद्म वेष में हो, राज चिन्हों से रहित हो तो भी विज्ञ लोग उसकी चाल, ढाल, बातचीत, वृत्ति आदि से उसके राजा होने का अनुमान कर लेते हैं। इसी प्रकार साधु वेष न हो, वैराग्य चिन्ह न हो परन्तु विज्ञ जन विवेक बल से उच्च सन्त की पहचान कर लेते हैं। बिना किसी विज्ञापन या निमन्त्रण के विकसित कमल के पास भ्रमरगण पहुँच ही जाते हैं। उसी प्रकार महान् सन्त वाह्य लक्षणों के अभाव में भी पहिचाने जाते हैं।

कियेहु कुवेश साधु सन्मान्। जिमि जग जाम्बवन्त हनुमान्॥

कब लिबासे दुनयवी में छिपते हैं रोशन ज़मीर।
जामए फ़ानूस में भी शोला उरियाँ ही रहा ॥

लिब्रासे दुनयवी = लौकिक वेश, रोशन ज़मीर = प्रबुद्ध आत्मा, जामए फ़ानूस = फानूस के आवरण, शोला = लौ, उरियाँ = प्रगेट ।

इसलिए श्री गोस्वामी जी ने मोहान्धकार विनाश और प्रबोध प्रकाश के आदित्य के उदय को सन्त राज की पहिचान के रूप में उल्लिखित किया है।

को वरणै मुख एक, तुलसी महिमा सन्त की ।
जिनके विमल विवेक, सेस महेस न कहि सकत ।।३४।।

तुलसीदास जी कहते हैं कि एक मुख से सन्त की महिमा कौन वर्णन कर सकता है ? विमल विवेक सम्पन्न श्री शेषनाग जी और श्री शंकर जी भी नहीं कह सकते ।

श्री गोस्वामी जी सूत्र रूप में सन्त महिमा का वर्णन कर चुके हैं, सन्तों के प्रमुख गुण और उनका गौरव बता चुके हैं । अब यह स्पष्ट करते हैं कि उस वर्णन के पूर्ण होने का दावा नहीं किया जा सकता । जो विषय वर्णन से परे है, उसका सम्यक् वर्णन कैसे हो ? अनन्त विषय कुछ थोड़े से शब्दों में कैसे भरा जाय । प्रतिभाशाली ऋषियों ने ऐसे ग्रन्थ भी लिखे हैं, जिनके विषय में कहा जाता है कि 'गागर में सागर भरा है । श्रीमद्भगवद् गीता एक ऐसा ही ग्रन्थ है । संस्कृत में अनेक सूत्र ग्रन्थ हैं, जिनकी इसी तरह की प्रशंसा है । प्रस्तुत ग्रन्थ को भी छन्द ७ में अखिल ज्ञान का सार बताया है । अत: यह भी सूत्र ग्रन्थ की तरह है । सूत्रों की तो प्रशंसा ही यह है कि अपार अर्थ थोड़े से शब्दों में भरा रहता है ।

वैदिक ऋषियों ने जिन मन्त्रों का साक्षात् किया उनमें सहस्रों वर्षों में नए नए भाव और अर्थ सूझते गए । श्रीमद्भगवद् गीता पर भी पचास से अधिक प्रसिद्ध और प्रामाणिक भाष्य और प्रवचन हैं । सभी आचार्यों ने अपने अपने ढंग पर गीता तत्व की व्याख्या की है । अगाध

गीता ज्ञान में सामर्थ्यानुसार आचार्यों ने गोता लगाया और रत्न बटोरे।

आसमान में सभी चिड़ियाँ शक्ति भर उड़ती हैं—

नभः पतन्त्यात्म समं पतत्रिणः। (श्रीमद्भागवत)
तुमहि आदि खग मशक प्रयन्ता। नभ उड़हिं नहिं पावहिं अन्ता॥

स्वयं श्री भगवान् की महिमा अनन्त हैं। वह किसी के कहने में नहीं आती, पूरी पूरी कही नहीं जा सकती। वर्णन से परे है। भगवान् के नाम अनन्त हैं, शक्तियाँ अनन्त हैं, व्याप्ति अनन्त है, गुणगण भी अनन्त हैं।

यो वै अनन्तस्य गुणाननतान्,
अनुक्रमियष्न् स तु वाल बुद्धिः।
रजांसि भूमेर्गणयेत् कथंचित्,
कालैन नेवाखिल शक्ति धाम्नः॥ (श्रीमद्भा०)

जल सीकर मन रज गनि जाहीं। रघुपति चरित न बरणि सिराहीं॥
हरि अवतार हेतु जेहि होई। इदमित्थं कहि जाय न तोई॥

इदं = यह, इत्थं = इतना। भगवान् के अवतार के कारण बताते हुए श्री शंकर जी ने कहा कि इन कारणों में यह नहीं कहा जा सकता कि इदं [यह] ही है या इत्थं [इतना] ही है।

चरित राम के सगुन भवानी। तरकि न जाइँ करम मन बानी॥

तथा—

राम अतर्क्य बुद्धि मन वानी। मत हमार अस सुनहु भवानी॥

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह । [उपनिषद्]
मन समेत जेहि जान न बानी । तरकि न सकहिं सकल अनुमानी ।।

यद्यपि भगवान् के गुण अनन्त हैं, अकथ हैं, 'तदपि कहे बिनु रहा न कोई, क्योंकि—

तहाँ वेद अस कारण राखा । भजन प्रभाव भाँति बहु भाषा ।।

भगवान् के यश को पूरा कहने के लिए नहीं, अपने मन वाणी को पवित्र करने के लिए भगवच्चरित्र कथन होता है ।

श्री कालिदास जी ने रघुवंश के प्रारम्भ में कहा है—

क्व सूर्य प्रभवो वंश: क्व विषय मलिना मति: ।
[कहाँ सूर्य वंश और कहाँ विषय मलिन बुद्धि ?] ।

मन्द: कवि यश: प्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम् ।
प्रांशु लेभे फले लभ्यादुद्बाहुरिव वामन: ।।

मैं मन्द बुद्धि हूँ और सूर्यवंश का गुणानुवाद गाकर सुकवि के यश को प्राप्त करना चाहता हूँ, इससे मेरी उसी तरह हँसी हो जायगी जैसे ऊँचाई पर लगे फल को तोड़ने के लिए बौना हाथ फैलाए हो ।

श्रीधर स्वामी [श्रीमद्भागवत के प्रसिद्ध टीकाकार] ने भी कहा कि कहाँ भवागन् के निर्मल अपार गुण, कहाँ मेरी तुच्छ हस्ती—क्व तत्र परमाणुर्वै यत्र मज्जति'मन्दर: ।

[वहाँ परमाणु की क्या हस्ती जहां [सागर में] मन्दराचल पर्वत भी डूब जाता है ।]

जयन्त [इन्द्र पुत्र] ने श्री राम जी की परीक्षा ली। उस प्रसंग में श्री गोस्वामी जी कहते हैं—

जिमि पिपीलिका सागर थाहा। महा मन्द मति पावन चाहा ।।

स्वयं राम चरित्र का वर्णन कैसे कर सकेंगे, इस पर श्रीं गोस्वामी जी कहते हैं—

मुनिन्ह प्रथम हरि कीरति गाई। तेहि मग चलत सुगम मोहि भाई ।।

अति अपार जे सरितवर, जौ नृप सेतु कराहिं।
चढ़ि पिपीलिका परम लघु बिनु श्रम पारहिं जाहिं ।।

जिस प्रकार भगवद्‌गुण अनन्त हैं, महिमा अनन्त है, वही हाल सन्तों का भी है। एक तो, सन्त भगवन्त अन्तर निरन्तर नहीं, दोनों एक ही हैं, दूसरे सन्त प्रत्यक्ष हैं, अधिक सुलभ हैं, सेवनीय सरकार की करुणा शक्ति, उद्धार शक्ति के स्वरूप हैं; सन्त में भगवन्त का चमत्कार पहचानना उतना कठिन नहीं। सन्त भगवद्विभूति हैं। वे उस रूप में उपास्य हैं।

श्री राम ने कहा—मोते सन्त अधिक करि लेखा।
[सन्त को मुझसे से भी अधिक माने]।

इसलिए सन्त महिमा उतनी ही गूढ़ है, अकथनीय है, अनन्त है जितनी कि भगवान् की।

श्री गोस्वामी जी रामचरित मानस में कहते हैं--

बिधि हरि हर कवि कोविद बानी। कहत साधु महिमा सकुचानी ।।
सो मो सन कहि जात न कैसे। शाक बणिक मनि गुन गन जैसे ।।

श्री राम चरित मानस में अरण्य काण्ड में श्री रामचन्द्र जी ने संक्षेप में सन्त महिमा कही है । फिर कहा—

सुनु मुनि सन्तन के गुन जेते । कहि न सकहिं शारद श्रुति तेते ।।

(सन्तों के जितने गुण हैं, उन्हें शारदा और वेद भी नहीं कह सकते) ।

सन्त महिमा के कहने में द्विविधि कठिनाई है । एक तो महिमा अपार है, अनन्त हैं, इसलिए कहते कहते अन्त नहीं मिलेगा, दूसरे सन्त उस ऊँचे स्तर पर हैं कि मामूली लोग उसे समझ ही नहीं सकते । समझ में आना भी कठिन, वर्णन करके पार पाना भी कठिन । शाक वणिक वाली उपमा में समझ में आने की कठिनाई का संकेत है । निर्धन तरकारी बेचने वाला लोहे पत्थर के बाँटों से काम करता है, थोड़े थोड़े पैसों की तरकारी बेचता है, वह सोना, चाँदी, हीरा, मोती, नीलम आदि का हाल क्या जाने ? न वह उन्हें पहिचान सकता है, न उनका मूल्य बता सकता है । वह महिमा उसकी समझ के बाहर है । इसी प्रकार क्षुद्र विषयों की प्राप्ति और उपभोग को ही सर्वोच्च महत्व देने वाले जीव उन सन्तों का महत्व नहीं जान सकते जो एक मात्र भगवान् में ही लगे हुए हैं । अबोध शाक विक्रेता के लिए महान् रत्न, चमकदार पत्थर मात्र हैं, उसी प्रकार वह दिव्य भगवदीय आनन्द जिसमें सन्त मग्न रहते हैं, साधारण विषयासक्त पुरुष की दृष्टि में कुछ भी मूल्य नहीं रखता । इसलिए सन्त महिमा के वर्णन में एक कठिनाई यह है कि वह दिव्य है, अलौकिक है, साधारण लौकिक व्यक्ति की समझ में ही नहीं आती । लौकिक और आध्यात्मिक पुरुष में रात और दिन का सा अन्तर माना गया है, इसलिए लौकिक कल्पना आध्यात्म को ठीक ठीक समझ नहीं सकती ।

या निशा सर्वं भूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।। (गीता २.६९)

दूसरी कठिनाई है कि महिमा अपार है, जितना समझते जाइये कहते जाइये, पर उसका अन्त नहीं मिल सकता । विधि हरि हर भी जब सक्षम नहीं हैं, तो दूसरे लोग कैसे वर्णन कर सकते हैं ? साधारण कल्पनानुसार कई मुख वाले अधिक कह सकते हैं । ब्रह्मा चतुरानन हैं, चार मुख वाले हैं, शिव पंचमुखी हैं, श्री कार्तिकेय जी षण्मुख (६ मुख वाले) हैं । शेष जी सहस्रानन (१००० फन या मुख वाले) हैं । इन लोगों के कहने में भी न आ सके ऐसी अपार महिमा है । तो फिर मानव कोटि का एक मुख वाला कोई व्यक्ति उस महिमा का सम्यक् वर्णन कैसे कर सकता है ?

शेष, महेश दोनों देव कोटि के हैं । शेष जी पृथ्वी को धारण किए हैं । प्रलय काल के ध्वंस के बाद भी वे बचे रहते हैं, इसलिए शेष हैं । उधर भगवान् विष्णु भी शेष शायी हैं । वे शेष शय्या पर आसीन रहते हैं । (इस सबके वैज्ञानिक, दार्शनिक व आध्यात्मिक रहस्य के स्पष्टीकरण का यहां प्रसंग प्राप्त नहीं है ।) ऐसी दशा में शेष जी को न केवल दिव्य शक्ति सम्पन्न मानना होगा, वरन् दिव्य दृष्टि और ज्ञान सम्पन्न भी स्वीकार करना होगा । रामानुज श्री लक्ष्मण जी शेषावतार थे ।

'जो सहस सीस अहीस महिधर लषन सचराचर धनी । (रा०च०मा०)

इसलिए शेष जी को तो निर्मल, विवेक सम्पन्न मानना ही होगा ।

उधर महेश जी ज्ञान निधान हैं ही ।
तुम त्रिभुवन गुरु वेद बखाना । आन जीव पामर का जाना ।।
जेहि पर कृपा न करहिं पुरारी । सो न पाव मुनि भगति हमारी ।।
(रा०च०मा०)

अगणित ग्रन्थों, पुराणों, तन्त्रों आदि में वक्ता श्री शंकर जी (महेश जी) हैं। मानस में श्री शंकर जी को विग्रहवान् शान्त रस माना गया है। 'धरे शरीर शान्त रस जैसे।' [रा०च०मा०[

वे भगवत्कथा सुनाकर अज्ञान हरण करने में समर्थ हैं। अतः सन्त महिमा के वर्णन की भी उनमें अत्यन्त उत्कृष्ट शक्ति है। पूर्ण ज्ञानी, विशुद्ध विवेक सम्पन्न होने के साथ साथ कथा कहने, प्रवचन करने, तत्व समझाने की शक्ति भी सर्वोच्च कोटि की रखते हैं। जब निर्मल विवेक वाले शेष, महेश नहीं कह सकते तो एक मुल्ली मानव उसका पार कैसे पा सकता है ?

सन्त भगवन्त की एकता तो है, परन्तु यह देखा गया है कि भगवान् स्वयं अपने से अधिक महत्व सन्त को देते हैं और दिलाते हैं। अपनीं बात पूरी करने से अधिक महत्व भक्त की बात पूरी करने को देते हैं। श्री भरत जी ने कहा—

निज पन तजि राखेउ प्रन मोरा। छोह सनेह कीन्ह नहिं थोरा।।

महाभारत की बात प्रसिद्ध है कि भगवान् ने अपनी बात से अधिक महत्व भीष्म की प्रतिज्ञा पूर्ति को दिया। प्रसिद्ध सूफी सन्त शम्स तब्रेज ने सुल्तान के मृत पुत्र की दो बार आज्ञा दी– क़ुम बइज़्ल् अल्लाह (खड़ा हो जा, अल्लाह के हुक्म से) परन्तु नहीं उठा। तीसरी बार कहा –क़ुम ब इज़्नी (उठ मेरे हुक्म से), तो वह जी उठा। यहाँ भी सन्त वचन को भगवान् ने अधिक प्रतिष्ठित किया।

ज्योतिषादि के द्वारा भाग्य विधान का जो अनुमान होता है, और जिसके परिपाक के लक्षण प्रकट होने लगते हैं, उसके विरुद्ध भी सन्त का प्रताप अशुभ को मेटने में प्रभावी पाया गया है और इसके बड़े प्रबल उदाहरण पाये जाते हैं।

लगभग पचास वर्ष हुए मेरठ से 'संकीर्तन' मासिक पत्र निकलता था। उसमें एक घटना छपी थी। एक भक्त थे। उनके पुत्र के विषय में ज्योतिषियों ने बताया कि अमुक रात्रि उसके मर जाने की आशंका है। उन्हीं दिनों मैनपुरी में श्री एकरसानन्द आश्रम में एक महोत्सव होना था। भक्त जी ने सोचा—मौत की दवा क्या है? क्यों न इस बालक को लेकर उस महोत्सव मे ही चला जाय। यदि सन्त के प्रताप से बच गया तो भला, नहीं बचा तो उत्तम स्थान, महोत्सव के बीच, शुभ गति को प्राप्त होगा।' वे बालक को लेकर मैनपुरी चले गए। निर्दिष्ट रात्रि को एक कमरे में लोग सो रहे थे। भक्त जी और उनका पुत्र भी वहीं सो रहे थे। सहसा किसी ने साँप देखा और शोर मचाया। लोग जागे, परन्तु खोज करने पर भी साँप नहीं दिखाई दिया। तब लोग पुनः सो गए। ज़मीन पर पयाल और दरी बिछी थी। प्रातः काल उठने पर लागों को दरी के नीचे, ठीक उस बालक के सिर के नीचे, दबकर मरा हुआ सांप मिला।

सन्त चमत्कार करते नहीं, चमत्कार हो जाते हैं। सन्त शक्ति कभी भगवत् शक्ति से संघर्ष नहीं करती, भगवदीय शक्ति ही सन्त की श्रेष्ठता प्रमाणित करती रहती है। यह सारा विषय रहस्य से भरा है। परन्तु हमें प्रमाण मिलता है कि सन्त महिमा अपार है। अकथनीय है।

सारतः श्री गोस्वामी जी ने सन्तों के प्रमुख लक्षण बता दिये, सन्त शक्ति का रहस्य और गौरव स्पष्ट कर दिया, विवरण और विस्तार में जाने लगें तो सन्त महिमा अपार, अगाध, अनन्त, अकथनीय, अलौकिक सिद्ध होगी, उसका पार न मिलेगा। वैसे ग्रंथ में सन्तों का गौरव गान समाप्त नहीं हे, सन्त महिमा की अनन्तता अगले दोहे (छन्द ३५) में भी कही गई है और उसके बाद भी सन्तों का गौरव गान जारी है।

———

महि पत्री करि सिंधु मसि, तरु लेखनी बनाइ ।
तुलसी गनपति सों तदपि, महिमा लिखी न जाइ ॥३५॥

श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि [सन्त की] महिमा इतनी अपार है कि सारी पृथ्वी को काग़ज बनाया जाय, समुद्र में [कज्जल गिरि को घोलकर] स्याही बनाई जाय, और (कल्प) वृक्ष को कलम बनाकर यदि श्री गणेश जी स्वयं लिखें तो भी अन्त नहीं मिलेगा ।

पूर्व दोहे के सन्दर्भ से यहाँ महिमा का अर्थ सन्त महिमा ही है । सन्त महिमा अपार है, उसका अन्त न मिलेगा, इसका यहाँ प्रबल शब्दों में पुन: निरूपण किया गया है । यह दिखाया गया हैं कि दिव्य [अलौकिक] प्रबन्ध से भी महिमा लिखी नहीं जा सकती ।

यह उक्ति एकदम नवीन नहीं है, पहले भी शास्त्रों में महिमा की अनन्तता के लिए प्रयुक्त हो चुकी है । शिव महिम्न स्तोत्र में एक श्लोक है—

असित गिरि समस्तं कज्जलं सिंधु पात्रे,
सुरतरु वर शाखा लेखनी पत्रमुर्वी ।
लिखति यदि गहीत्वा शारदा सर्वकालं,
तदपि तव गुणानामीश पारं न याति ॥

कागज का काला पहाड़ हो, वह समुद्र रूपी मसिपात्र [दावात] में घोर दिया जाय, कल्पवृक्ष की शाखा से कलम बनाई जाय, उस कलम

को लेकर स्वयं शारदा देवी पृथ्वी तल रूपी कागज [पत्र] पर सदैव लिखती रहें, तो भी हे ईश (शंकर जी) आपके गुणों का पार न मिलेगा।

कुरान शरीफ में भी भगवद् गुणों की व उपदेशों की अपारता के लिए ऐसी ही शब्दावली प्रयुक्त हुई है।

क़ुल् लौ कानल् बहरु मिदादल् लिकलिमाति रब्बी लनफ़िदल् बहरु क़ब्ल अन् तन्फ़द कलिमातु रब्बी व लौ जिअना बिमिस्लिही मददन्। (१८.१०९) [ऐ पैग़म्बर ! इन लोगों से] कहो कि अगर मेरे परवरदिगार की बातों के लिखने के लिए समुद्र स्याही हो, तो वह लिखते लिखते मेरे रब की बातें खत्म होने से पहले निबट जाय, चाहे वैसा समुद्र और भी मदद में हम लाएं।

श्री रसखान जी ने भी कहा है–

सेस गनेस महेस दिनेस सुरेसहु जाहि निरन्तर गावैं।
जाहि अनादि अनन्त अखण्ड अछेद अभेद सुवेद बतावैं।।
नारद से सुक व्यास रटैं पचि हारे तऊ मुनि पार न पावैं।
ताहि अहीर की छोहरिया छछिया भरि छाछ पे नाच नचावैं।।

पूर्व दोहे में श्री शेष और श्री महेश की सन्त महिमा के कहने में असमर्थता बता चुके हैं। वहां श्री गणेश जी का उल्लेख नहीं हुआ। पूर्व दोहे को प्रस्तुत दोहे के साथ मिला कर पढ़ना चाहिए, यह दोनों परस्पर पूरक हैं। वहां कथन का उल्लेख है, यहां लेखन का। श्री शेष जी का विशेष उल्लेख सहसानन होने के कारण किया गया, श्री महेश (शिव) का उल्लेख तमाम कथाओं के स्रोत व प्रधान वक्ता होने से किया गया। श्री गणेश जी प्रथम पूज्य हैं, 'विद्या वारिधि, बुद्धि विधाता।' (वि०प०)

हैं, परन्तु कथा वाचन के लिए विशेष प्रसिद्ध नहीं, उस विषय में श्री महेश जी सबसे अधिक हैं। परन्तु श्री गणेश जी अपनी त्वरित लेखन शक्ति के लिए प्रसिद्ध हैं। महर्षि व्यास कृत महाभारत के भी लिपिबद्ध कर्ता श्री कणेश जी माने गए हैं। यह भी प्रसिद्ध है कि श्री व्यास जी की श्लोकों को बनाकर बोलते जाने की जो प्रतिभा जी उससे अधिक शीघ्र लिखने की श्री गणेश जी की शक्ति थी। अत: अथक और तीव्रतम गति से लिखने में श्री गणेश जी अप्रतिम हैं। यदि वे भी लिखते हुए पार नहीं पा सकते तो फिर कोई और लेखक कैसे समर्थ हो सकता है ?

तेरी ज़ात ही है कि बस तेरी, तेरा वस्फ़ कोई कहेगा क्या ?
जो क़लम मिली तो लिखेगा क्या ? जो ज़ुबाँ मिली तो कहेगा क्या ?

जात = व्यक्तित्व, वस्फ़ = गुणानुवाद, बिरुदावली।

बहुधा इस दोहे को (और पूर्ववर्ती दोहे को भी) पाठकगण अतिशयोक्ति अलंकार की मान्यता में ही यह विचार निहित है कि सन्त महिमा वस्तुत ऐसी अगाध या अपार नहीं है। यह कवि के प्रयोजन से उल्टा होगा कि प्रतिपादित सन्त महिमा को तो न माना जाय या कम करके माना जाय, परन्तु अतिशयोक्ति अलंकार के लिए कवि कल्पना की प्रशंसा की जाय।

यदि केवल सन्तों की महिमा को अकाट्य उदाहरणों द्वारा ही सिद्ध और पुष्ट करने चलें तो सहस्रो दृष्टान्त मिलेंगे जो प्रामाणिक रूप से लिपिबद्ध हैं, प्रकाशित हैं। भक्तमाल में इन उदाहरणों की भरमार है। श्री अयोध्यावासी परमहंस राम मंगलदास जी ने ५०० सन्तों के चरित संकलित किए हैं, जिनमें २०२ एक खण्ड में प्रकाशित हो चुके हैं। बाइबिल कुरान व अन्य धर्मों के ग्रन्थों में बहुत से सन्तों के चरित्र मिलते हैं। इस सबके अतिरिक्त सन्त कथा साहित्य मिलेगा। फारसी

में 'तज्कर्तुल् औलिया' नामक ग्रन्थ है जिसका एक अंश, 'मुस्लिम सन्तों के चरित' के नाम से छप कर बंट चुका है। महान् सन्तों की जीवनियां भी सन्त चरित्र व महिमा को उजागर करती हैं। निम्न महान् सन्तों की जीवनियां निकल चुकी हैं और सन्त महिमा की सक्षम प्रबोधक हैं—श्री श्री चैतन्य महाप्रभु, श्री श्री राम कृष्ण परमहंश जी, श्री नरसिंह मेहता, महर्षि रमण, श्री अरविन्द घोष, श्री एकनाथ जी, श्री तुकाराम जी, श्री रामदास जी आदि आदि। भारत के बाहर सुकरात, टॉमस अ केम्पिस, टेरेसा, देनीजोन, सूफी सन्तों में रबिया, मन्सूर, शम्से, तम्ब्रेज, सरमद, वारिस अली शाह, चिश्ती आदि उल्लेखनीय हैं। सिक्ख, जैन, बौद्ध, आर्य समाजो, ब्रह्म समाजी, सहज मार्गी आदि सन्त अलग हैं। इन सबका जीवन वृत्त मात्र एक विपुल साहित्य बन जाता है। फिर हमें यह भी नहीं भूलना चाहिए कि विश्व भर के साहित्य में जो सन्त महिमा भरी पड़ी है उसका कोई भी पूरा जानकार कहां मिलेगा ? उसका उल्लेख तो उदाहरण मात्र है। सभी सन्त प्रसिद्ध नहीं होते, अत: अगणित सन्त हुए जिनका उल्लेख साहित्य में नहीं हुआ या वह महिमा-मण्डित साहित्य लुप्त हो गया।

अनन्त सन्त हो चुके, देखने में अनन्त प्रकार के भी निकलेंगे, उनके आचार विचार भी भिन्न मिलेंगे और इनमें तारतम्य बैठाना भी शक्य न होगा, परन्तु इन भेदों में न जाकर जहां जहां सन्तों के लक्षण मिलें सन्त की मान्यता होनी चाहिए। 'नास्ति तेषु जाति विद्या रूप कुल धन क्रयादि भेद:। यतस्तदीया: (नारद भक्ति सूत्र)।

राम की तरह सन्त भी अतर्क्य मान्य हैं। तर्क से उनके विचारों का पूरा पूरा समन्वय प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। सभी सन्त भगवान् की विभूति हैं, यदि उनमें भेद पाए जाते हैं, तो वे भेद यदि भगवान् को स्वीकार हैं, तो इन्सान को क्यों नहीं। यह मार्के की बात है

कि सन्त इन वैचारिक, दार्शनिक, निष्ठा सम्बन्धी, भेदों को लेकर विवाद में नहीं पड़ते। सम्प्रदाय प्रवर्तक सन्तों को छोड़ दें तो सन्त शास्त्रार्थ [बहस] में भी अप्रवृत्त मिलेंगे। उनकी भूमिका दार्शनिकों और पण्डितों से भिन्न होती है। वे अपने मत का आग्रह तक नहीं करते, एक प्रसिद्ध प्रचारक ने एक बार कहा था—'जो मतवाले होते हैं। वे कोई मत वाले नहीं होते।' इसलिए भी हमें यह देखने को मिलता है कि कबीर पन्थ में हिन्दू, मुसलमान दोनों समुदायों के लोग पाए जाते हैं। अनेक सूफी सन्तों का भी यही हाल है, उनके मानने वाले हिन्दू, मुसलमान दोनों मिलेंगे। कितना ही साम्प्रदायिक भाव फैले उक्त प्रभाव को नष्ट नहीं करता। क्योंकि वह प्रभाव न तर्काधारित है, न सम्प्रदाय के आधार पर है। यह सब रहस्यमय सन्त महिमा ही है।

भगवान् ने समय समय पर अवतार लेकर जो अनुपम लोकोद्धार लीला की उसमें भी साधुजनों की रक्षा, दुष्ट दलन तथा धर्म स्थापन आदि का प्रयोजन रहा। सन्त रूप में भगवान् की विभूति सदैव प्रगट रहती है। इतना ही है कि सब लोग उसे पहचान नहीं पाते और सब उससे लाभ नहीं उठा पाते। ऋषियों, पैगम्बरों, सन्तों, फकीरों के माध्यम से दिव्य शक्तियाँ सदैव क्रियमाण रहती हैं यद्यपि साधारण व्यक्तियों को इसका कोई अनुमान नहीं हो पाता। जिस समय लोगों को जिस मार्ग दर्शन की आवश्यकता होती है भगवान् सन्तों के माध्यम से देते रहते है। भगवान् के सन्देश वाहक ही पैगम्बर हैं, भगवान् के गुप्त रहस्यों के दृष्टा ही मन्त्र दृष्टा ऋषि हैं, और अन्य सन्त भी भगवान् की आज्ञा को श्रद्धालु जनों तक पहुँचाते हैं। भगवान् के इस प्रकार के सन्देशों पर श्रद्धा रखने वाले ही ईमान वाले अर्थात् धार्मिक हैं और इन उपदेशों से इंकार करने वाले ही काफिर या नास्तिक हैं।

आधुनिक पढ़े लिखे और तार्किक लोगों के मन में बार बार यह बात उठती है कि यदि सब धर्म भगवान् के ही भेजे और चलाए हैं तो

उनमें भेद विरोध और संघर्ष क्यों पाये जाते हैं। यह विषय भी बड़ा गूढ़ और रहस्यमय है, परन्तु यह स्पष्टत: समझ लेना चाहिए कि परम सत्य कथनीय नहीं है उस सम्बन्ध में किसी के हित के लिए तत्सम्बन्धी कोई उपदेश किया जाय तो वह देशकाल, अवसर पात्र के हिसाब से सत्य का तत्कालीन प्रकाशन होगा, वह सर्वांगीण नहीं हो सकता। इसलिए विभिन्न देशों और युगों में भगवान् ने विभिन्न लोगों के लिए जो सन्देश, उपदेश, आदेश दिए उनमें भेद प्रतीत होना स्वाभाविक है। श्री कृष्ण जी ने भी जो उपदेश युधिष्ठिर को दिया' जो उपदेश अर्जुन को दिया और जो उपदेश उद्धव जी को दिया वह एक जैसा नहीं था और गोपियों को वैसा उपदेश कभी न दिया गया। जब श्री कृष्ण के अवतार कालीन उपदेशों में देश काल अवसर और पात्र के हिसाब से इतना भेद पाया जाता है तो फिर सैकड़ों या हजारों वर्ष के अन्तर से जो धर्म विभिन्न देशों और समाजों में प्रवर्तित हुए उनमें पूरा पूरा शाब्दिक साम्य कैसे मिल सकता है। परन्तु स्मरणीय यह है कि यद्यपि 'मुँडे मुँडे मतिर्भिना' के हिसाब से ऋषियों के भी मत अलग अलग हैं तो भी प्रत्येक ऋषि के द्वारा साक्षात्कार किए हुए प्रत्येक मन्त्र को भगवद् वाक्य मानकर ग्रहण करना सबका कर्तव्य है। इसी प्रकार कुरान में अल्लाह की यह घोषणा है कि उसने प्रत्येक समाज में उसी समाज के सन्देश वाहक (नबी) भेजे और उन सब में अल्लाह कोई फ़र्क नहीं करता। क़ुरान में हुक्म है कि वह आलोकित किताब उन लोगों के मार्ग दर्शन के लिए है जिन्हें पूर्व प्रेषित सन्देशों और अद्यतन सन्देशों सभी पर श्रद्धा और विश्वास है। इस प्रकार प्रत्येक धर्म परम सत्य का सापेक्ष प्रकाशन है। श्री भगवान् का यह आदेश नहीं कि दिखाई पड़ने वाले मतभेदों पर तर्क का आश्रय लेकर विघटनकारी संघर्ष छेड़ दिया जाय। भगवान् ने अपने संदेशों को इसलिए भेजा कि जीव माया से मुक्त हो और भगवान् के सम्मुख हो। शब्दों की पकड़ करके वितण्डावाद खड़ा करने से यह काम नहीं हो सकता। यह भगवान् की पसन्द

वाला काम उसी तरह हो सकता है जैसे सन्त लोग करते हैं, अर्थात् शुष्क तर्क का आश्रय न लेकर, माया त्याग करके, बराबर भगवत्परायण जीवन का आदर्श उपस्थित करके। नेषा तर्केण मतिरापनेया (उपनिषद्) तर्क से यह ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।

सच यह है कि भगवान् के आदेशों का पालन करके ही हमारा कल्याण सम्भव है। बुद्धि एक सीमा तक इन्हें समझ सकती है, पूर्णतः नहीं। बहुत उच्च कोटि के लोग भवगान् से सीधा सम्पर्क रखते हैं और उन्हें भगवान् के आदेश सीधे प्राप्त हैं। दूसरों को भगवान् के आदेश शास्त्र के माध्यम से प्राप्त हैं। शास्त्र का मर्म भी उसी अनुपात में हृदयंगम किया जा सकता है, जिस अनुपात में अन्तःकरण की शुद्धि हो। वैसे शास्त्र को विभिन्न आचार्यों ने निज निज निष्ठानुसार ग्रहण करके भाष्य किया है। यद्यपि शास्त्र का यथा विधि अध्ययन सबके लिए उपयोगी हैं, परन्तु अन्ततोगत्वा शास्त्र का मर्म सन्त खोलते हैं। जो शास्त्र के विद्वान् नहीं हैं, उन्हें तो सीधे सीधे और केवल सन्त का ही सहारा है। सन्त ही भगवान् के प्रतिनिधि हैं। वे ही जीव को भगवत् सम्मुख करते हैं, वे ही कर सकते हैं। इस अर्थ में भगवान् से मिलाने के लिए दूत माध्यम या साधन हैं। इस दृष्टि से भी उनकी महिमा अपार है।

गुरु गोविन्द दोनो खड़े, काके लागूं पांय।
बलिहारी गुरुदेव जिन, गोविंद दियो लखाय॥

भगवान् जिस समय अपनी रहस्यमय शक्ति से जो विचारधारा समयोपयोगी समझते हैं उसे प्रसारित कर देते हैं। उदाहरणार्थ पिछली और इस शताब्दी में, आवागमन, सम्वाद, परिवहन आदि के साधन बढ़ जाने से विभिन्न धर्मों की विचारधाराओं के परस्पर सम्पर्क में आने की सम्भावनाएँ बहुत बढ़ गईं। इसलिए यह आशंका हो गई कि धर्मों की आपसी टकराहट हो सकेगी। ऐसी टकराहट उग्र रूप में नहीं

हुई उसका एक कारण यह है कि प्रायः साधारण व्यक्ति धर्म के प्रति उदासीन हो गया है परन्तु भगवान् को यह मंजूर नहीं था कि विभिन्न धर्मों के विद्वान् और निष्ठावान् साधक एक दूसरे के विरोधी हो जायें इसलिए विभिन्न धर्मों में एकता लाने का जो कार्य सूफियों और सिक्ख गुरुओं के द्वारा हो चुका था उसके आगे श्री भगवान् की कृपा से श्री श्रीरामकृष्ण परमहंस जी ने अपने जीवन में सभी धर्मों की साधना करके उन्हें सत्य प्रमाणित किया, व राजाराम मोहन राय व ब्रह्म समाज वालों के द्वारा भी सक्षम समन्वय कार्य हुआ। थियासॉफिकल सोसाइटी के विद्वानों ने अपने ग्रन्थों में विभिन्न धर्मों का सादृश्य भली भाँति प्रदर्शित किया। इसी प्रकार महात्मा गाँधी, डाक्टर भगवान दास सर्वपल्ली राधा कृष्णन, आचार्य विनोबा भावे, श्रीकृष्ण दत्त भट्ट आदि के कार्य से भी सर्व धर्म समन्वय और सादृश्य प्रदर्शन का कार्य आगे बढ़ा। सबको मिलाकर आज यह स्थिति बन गई हैं कि आज (१९८४ में) किसी भी पण्डित या प्रचारक के लिए साधारण जनता के समक्ष यह पक्ष लेकर के उपस्थित होना कि प्रधान धर्म एक दूसरे के विरोधी हैं, इतना सरल या लोकप्रिय कार्य नहीं रह गया है जितना कि सौ या साठ वर्ष पहले था। इस विषय में श्री विवेकानन्द, श्री स्वामी रामतीर्थ व श्री अरविन्द घोष का कार्य भी महत्वपूर्ण रहा है। यह एक उदाहरण है कि भगवान् ने अपनी रहस्यमय शक्ति से समयोपयोगी विचार धारा को सन्तों के माध्यम से प्रसारित और प्रतिष्ठित किया अनुमान है कि निकट भविष्य में भगवान् की कल्याण कारिणी शक्ति सन्तों के माध्यम से ही सर्व धर्म समन्वय और सम्मभाव को और भी आगे बढ़ाएगी और दृढ़ करेगी।

इस प्रकार सन्त शक्ति भगवत् शक्ति से भिन्न नहीं, सतत् क्रियमाण है, दृश्य जगत् में मूर्तिमान् उपलब्ध है और सन्त शक्ति से सम्पर्क में आकर हमें अपने कल्याणार्थ भगवदीय शक्ति सरलता से उपलब्ध हो सकती है इसलिए इसमें तनिक भी अत्युक्ति नहीं मानना चाहिए कि सन्त महिमा अपार है, लिखने और कहने में नहीं आ सकती।

धन्य-धन्य माता पिता, धन्य पुत्र बर सोइ ।
तुलसी जो रामहिं भजै, जैसेहुँ कैसेहुँ होइ ।।३६।।

श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि चाहे जिस सम्पन्नता या विपन्नता की दशा में हो, जो बालक श्री भगवान् का भजन करता है वह धन्य है, उसके माता पिता भी धन्य हैं, भगवद् भक्त पुत्र ही श्रेष्ठ है ।

यह सुविदित हैं कि श्री गोस्वामी जी भक्ति निष्ठ थे, उनके लिए परा भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ मूल्य था । ज्ञान प्राप्ति के बाद भी भक्ति की सार्थकता में उनका विश्वास था । भक्ति मात्र ज्ञान प्राप्ति का सोपान नहीं थी । इसलिए श्री गोस्वामी जी के साहित्य में बहुत से प्रबल भक्ति परक वचन मिलने हैं, जो बड़े ही विवेक पूर्ण हैं । ये वचन भक्ति शास्त्रों के अनुकूल हैं और यद्यपि शुष्क ज्ञानवादी इन्हें प्रायः पसन्द नहीं करते परन्तु महान् ज्ञानी आदि शंकराचार्य, श्री मधुसूदन सरस्वती, श्री शुकदेव जी आदि के वचनों के अनुकूल हैं ।

श्री गोस्वामी जी के मत में—

सोह न राम प्रेम बिनु ज्ञानू । कर्णधार बिनु जिमि जलयानू ।।
(रा०च०मा०)

विषयी साधक सिद्ध सयाने । त्रिविधि जीव जग वेद बखाने ।।
राम सनेह सरस मन जासू । साधु सभा बड़ आदर तासू ।।

नारद भक्ति सूत्र में कहा है—त्रिसत्यस्य भक्तिरेव गरीयसी भक्तिरेव गरीयसी। नैष्कर्म्यमप्यच्युत भाव वर्जितं न शोभते ज्ञानमल निरंजनं (श्रीमभद्‌ागवत)

श्री रामचरित मानस में भरत जी के विषय में जनक जी की सम्मति अंकित की गई है—

साधन सिद्धि राम पद नेहू। मोहिं लखि परत भरत मत एहू ।।

श्री भरत जी कहते हैं—

राउर बदि भल भव दु:ख दाहू। प्रभु बिनु वादि परम पद लाहू ।।

श्री भगवान् की निर्मल अविरल भक्ति ही जीवन का लक्ष्य है—

सबकी न कहैं तुलसी के मते इतनो जग जीवन को फलु है ।।
(कवितावली)

जिसने जीवन के सही लक्ष्य को पहचान लिया और उसकी ओर अग्रसर हो चला, उसी का जीवन सफल है, वही धन्य है। लक्ष्य से असम्बन्धित विषयों नें प्रगति करना व्यर्थ है। अनित्य पदार्थों में आसक्ति पूर्वक फँसे रहना जीवन को बरबाद करना है, नित्य पदार्थ (श्री भगवान्) में अनन्य प्रेम होने से जीवन सार्थक, सफल और धन्य होता है।

भक्ति के आचार्यों ने प्रेम की सर्वश्रेष्ठता स्वीकार की है। उनके लिए प्रेम ही सर्वश्रेष्ठ मूल्य है। वे भक्ति के अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहते।

दिव्य भक्ति प्रयच्छ मे, नान्यं वस्तु कदाचन।
हेतु रहित अनुराग राम पद, बढ़ो अनुदिन अधिकाई ।। (वि०प०)

प्रेम मार्गी हर तरह के प्रेम का आदर करते हैं, परन्तु वे यह अवश्य चाहते हैं कि प्रेम शुद्ध बनता जाय। झूठा या दिखावटी प्रेम, कपट युक्त प्रेम, स्वार्थवश प्रेम, वासना प्रेरित प्रेम, यह सब शुद्ध प्रेम से बहुत दूर है। इसे मोह कहते है। परन्तु उसमें यदि स्वार्थ, वासना, कामना आदि का मैल छँटता जाय तो प्रेम शुद्ध होता जायगा। शुद्धतम प्रेम ही जीवन का आदर्श है। सच्चे प्रेम का अंकुर जिस अन्त:करण में फूटे और पोषण पा जाय, उसका मैल तो छँटता ही जायगा। शुद्धतम प्रेम तक की स्थिति क्रमागत रूप से आती जायगी।

जगत् की ममता में हमें मलीन प्रेम के ही दर्शन होते हैं, परन्तु कभी कभी उच्च कोटि की सती, प्रतिव्रताओं में विशुद्ध प्रेम देखने को मिलता है। साधारण सांसारिक सम्बन्धों में कम या अधिक स्वार्थ का आधार रहता है, परन्तु धर्म या देश पर बलिदान होने वालों का प्रेम सत्य मानना पड़ेगा।

सन्तों या भक्तों का भगवान् के प्रति जो प्रेम है वह चार प्रकार का माना गया है—आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी, ज्ञानी (गीता ७)। ज्ञानी भक्त का प्रेम शुद्धतम, उच्चतम है, अत: ज्ञानी भगवान् से अभिन्न (आत्म स्वरूप) है।

भक्ति के साधन स्वयं श्री रामचन्द्र जी ने श्री रामचरित मानस में अरण्य काण्ड में बताए हैं [अन्य शास्त्रों में भी बताए गए हैं।]—

भगति के साधन कहौं बखानी। सुगम पंथ मोहिं पावहि प्रानी।
प्रथमहि विप्र चरण अति प्रीती। निज निज धरम निरत श्रुति रीती।।
एहि कर फल पुनि विषय विरागा। तब मम चरण उपज अनुरागा।।

इस प्रकार विधि पूर्वक साधन, उपासना करते रहने पर अविरल विशुद्ध भक्ति प्राप्त होती है। यह क्रमागत विकास है परन्तु विशेष

परिस्थितियों में यह देखा जाता है कि जहां दीर्घकाल तक साधना नहीं की गई है, वहाँ भी भगवान के प्रति आसक्ति प्रारम्भ हो जाती है। इसलिए कहीं कहीं पाप से घिरे हुए जीवन में भी भगवान् की अनन्य भक्ति का प्रारम्भ देखा गया है। साधारण व्यक्ति ऐसी भक्ति की पहचान नहीं कर सकता, परन्तु श्री भगवान् की आज्ञा है कि जहां किसी पापी के जीवन में भी अनन्य भक्ति की भावना पाई जाय उसे साधु ही मानना चाहिए। ऐसा व्यक्ति निर्मल भगवद्भक्ति के प्रताप से शीघ्र ही पापमुक्त हो जाता है और निर्मल जीवन बिताने लगता है। [गीता ९/३०-३१] इस प्रकार भगवान् की भक्ति और सच्ची भक्ति कभी कभी उन लोगों में भी पाई जाती है जो देखने में अधम या साधारण हैं। इस सच्ची भक्ति की एक विशेषता यह होती है कि वह प्रतिकूल परिस्थितियों में भी कायम रहती है। दुःख आदि की प्राप्ति से या विघ्नों के आने से सच्ची भक्ति निरुत्साहित नहीं होती। उसकी शक्ति बढ़ती जाती है और वह जीवन के समस्त दोषों और पापों की भस्म करके जीव को पतित से पावन बना देती है। इसलिए यह समझना अच्छा होगा कि भगवान् की सच्ची भक्ति विचित्र परिस्थितियों में मिल सकती है।

इसलिए श्री गोस्वामी जी ने कृपा करके यहाँ अत्यन्त मर्यादापूर्वक और कुशलता पूर्वक यह संकेत दे दिया है कि चाहे जैसी परिस्थिति में किसी का जीवन यापन हो रहा हो, यदि वह भगवान् का भजन करता है तो वह धन्य है, और उसका जीवन सफल है। यहां राम भजन से मतलब सच्ची भावना लेकर भजन करने से है, भजन के दिखावे से नहीं।

श्री गोस्वामी जी के पूर्व निरूपण के बाद आशा की जाती है कि पाठक उस भूमिका को छोड़ चुके होंगे जहाँ लोग सांसारिक सुख, सफलता या सम्पन्नता को भक्ति का मानक समझते हैं। साधारण व्यक्तियों में

यह प्रवृत्ति अक्सर पाई जाती है कि वे सम्पन्नता और सांसारिक सुख को भगवत् कृपा का लक्षण या प्रमाण मानते हैं परन्तु ज्ञान दृष्टि रखने वाले इन दोनों का ऐसा सम्बन्ध नहीं मानते। परम 'अकिंचन प्रिय हरि केरे' के अनुसार बहुत से लोग भगवान् के अनन्य भक्त और कृपा पात्र होते हुए भी दीन हीन अकिंचन बने रहते हैं और उसी में अपने भगवद् भजन की सुरक्षा और निर्विघ्नता पाते हैं। इसलिए विवेकी जनों को यह शोभा नहीं देता कि किसी को गरीबी में या अन्य कष्ट में देखकर जल्दी से यह निर्णय कर लें कि वह भगवान् का सच्चा भक्त या उच्च कोटि का सन्त नहीं हो सकता। अत: यहां सूक्ष्म तत्व का अत्यन्त कुशलता और मर्यादापूर्वक संकेत कर दिया गया है कि जिस किसी भी परिस्थिति में हा भगवान का भजन करने वाला धन्य है।

इस सम्बन्ध में यह उपयोगी होगा कि हम श्री महाराणी जी के अशोक वाटिका में निवास के चरित्र का स्मरण करें। श्री हनुमान् जी को अशोक वृक्ष के पल्लवों में छिपे छिपे यह देखने का अवसर मिला था कि रावण के हाथों श्री महाराणी को कितना कष्ट झेलना पड़ा। फिर श्री हनुमान जी ने यह भी देखा कि श्री महाराणी जी ने अशोक वृक्ष से अग्नि की याचना की कि वे जलकर अपना विरहाकुल जीवन समाप्त कर सकें।

देखि परम विरहाकुल सीता। सो छन कपिहि कल्प सम बीता॥

श्री हनुमान् जी ने लौटकर श्री रामचन्द्र जी से जो हाल बताया उसमें कहा कि—

सीता कै अति विपति विशाला। बिनहि कहे भल दीन दयाला॥

परन्तु जब भगवान् स्वयं इस हाल को सुनकर व्याकुल हो गए और कहने लगे—

वचन काय मन मम गति जाही । सपनेहु बूझिअ विपत्ति कि ताही ।।

तब श्री हनुमान् जी ने कुछ और ही बात कही—

कह हनुमन्त विपति प्रभु सोई । जब तव सुमिरन भजन न होई ।।

आदर्श भक्त का दृष्टिकोण यह है कि भगवान् का स्मरण होते रहना ही जीवन का सुख है, स्मरण भजन न होना, यही विपत्ति है। श्री महारानी जी अशोक वाटिका में रहते हुए श्री भगवान् का अखण्ड स्मरण करती थीं इस आधार पर श्री हनुमान् जी ने उनकी विपत्ति को असिद्ध किया। यद्यपि वे स्वयं यह कह चुके थे कि उनकी भारी विपत्ति का वर्णन न करना ही अच्छा है।

इस चरित्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि सच्ची भक्ति की यह कोई शर्त नहीं हो सकती कि उससे युक्त जीवन में कोई सांसारिक विपति न आ सके। कबीर ने कहा है—

सुख के माथे सिल परै, जो नाम हृदय ते जाय ।
बलिहारी वा दुख की, जो छिन छिन नाम रटाय ।।

महाभारत में कुन्ती ने श्रीकृष्ण से यह वरदान मांगा कि हम लोग जहाँ जहाँ भी रहें हमारे ऊपर विपत्तियाँ आती रहें क्योंकि विपत्ति आने पर ही आपका दर्शन होता है और आपका दर्शन ही मोक्ष है-

विपद: पन्तु जो शश्वत्, तत्र तत्र जगद्गुरो ।
भवतो दर्शनम् यत् स्यादपुनर्भव दर्शनम् ।।

कबीर ने यह भी कहा है कि—

कबिरा हँसना दूर कर, रोने से कर प्रीति ।
बिन रोये कैसे मिलै, मन का परमा-मीत ।।

साधारणतः यह कल्पना ठीक है कि विपत्ति पापों का फल है और सम्पत्ति पुण्यों का फल है परन्तु भक्तों और सन्तों के जीवन में इसी विचार को लेकर निर्णय करना निरापद नहीं है। कम से कम यह तो समझ ही लेना चाहिए कि उच्च कोटि के भक्तों और सन्तों की रहनि में सुख और दुख में समान भाव पाया जाता है, उनकी भक्ति, उपासना या भगवान् की याद इस बात पर बिल्कुल निर्भर नहीं रहती कि विघ्न न आवें और सुख और सम्पन्नता की परिस्थितियाँ हमेशा बनी रहें। यहाँ श्री गोस्वामी जी ने इस दोहे में कुशलता पूर्वक यह संकेत कर दिया है कि जो व्यक्ति हर एक प्राप्त परिस्थिति में, जिस किसी भी दशा में हो श्री राम जी का भजन करता रहता है वह धन्य है। श्री नारद भक्ति सूत्र मे कहा है कि—

गुण रहितं, कामनारहितं, प्रतिक्षण वर्धमानम् सूक्ष्मतरं अनुभव रूपम्।
अनिवचनीयम् प्रेमस्वरूपम्।

यह तो देख लिया गया कि जो भगवान् का निष्काम भाव से परिस्थिति निरपेक्ष रहकर भजन करता रहता है उसका जीवन धन्य है। परन्तु यहाँ ऐसे भक्त के माता पिता को धन्य धन्य कहा है यह देखना चाहिए कि पुत्र के भजन करने से माता-पिता की धन्यता क्यों मानी गई। यह गोस्वामी जी की अपनी अनोखी कल्पना नहीं है। शास्त्रों में जहाँ तहाँ ऐसी धन्यता की घोषणा की गई हैं।

कुलम् पवित्रं जननी कृतार्थाः, वसुन्धरापुण्यवती च तेन।
पावयन्ति कुलानि पृथ्वीम् च (नारद भक्ति सूत्र)

रामचरित मानस में कहा है कि–

पुत्रवती युवती जग सोई। रघुवर भक्त जासु सुत होई॥
न तरु बाँझ भलि वादि बियानी। राम विमुख सुत ते हित हानीं॥

श्री रामचरित मानस में मेघनाथ वध के समय का यह दोहा अंकित है–

रामानुज कहँ राम कहँ, अस कहि छांड़ेसि प्रान।
धन्य धन्य तब जननी, कह अंगद हनुमान ।।

मेघनाद ने भगवन् नाम लेते हुए प्राण छोड़े तो श्री अंगद जी और श्री हनुमान जी ने उसकी माता को भी धन्य धन्य कहा।

श्रीमद्भागवत में श्री भगवान् ने प्रह्लाद से कहा कि आप अपने कुल को पवित्र करने वाले है, आपके जन्म लेने से पिता और पितरों समेत २१ पीढ़ियाँ तर गईं।

त्रि: सप्तभि: पिता पूत: पितृभि: सह तेऽनघ।
यत् साधोऽस्य गृहे जातो, भवान् वै कुल पावन: ।।
(श्रीमद्भा० ७/१०/१८)

श्री रामचरित मानस में श्री शंकर जी का वचन है–

सो कुल धन्य उमा सुनु, जगत पूज्य सुपुनीत।
श्री रघुवीर परायन, जेहि नर उपज विनीत ।।

इस प्रकार यह स्पष्ठ है कि इस दोहे में श्री गोस्वामी जी ने शास्त्र सम्मत विचार ही अंकित किया है तथा यह समझ लेना चाहिए कि पुत्र के भजन करने से माता पिता की धन्यता क्यों और किस आधार पर मानी गई है। ऐसे वचन केवल अलकारिक भाषा का शौक होने से नहीं लिखे गए हैं, उनके पीछे सैद्धान्तिक रहस्य हैं।

कर्म सिद्धान्त के अनुसार 'जो जस करइ सो तस फल चाखा' अपने कर्मानुरूप ही फल मिलता है, यही कर्म सिद्धान्त कुरान और

बाइबिल में भी मान्य किया गया है, अपने अपने कर्म के लेखे के अनुसार फल मिलता है। तो भी श्री रामचरित मानस में हम देखते हैं कि श्री दशरथ जी, श्री राम बनवास के प्रसंग में, श्रवणकुमार के पिता के स्राप की बात याद करके कहते हैं–

करै जो करम पाव फल सोई। निगम नीति अस कह सब कोई।।

और करै अपराध कोउ, और पाव फल भोग।
अति विचित्र भगवन्त गति, को जग जानै योग।।

(श्रवण वध का पाप तो मेरा था, बनवास रूप दुख राम को क्यों मिल रहा है? आश्चर्य है।)

भगवान् ने प्रह्लाद की एक्कीस पीढ़ी तरने की बात स्वयं श्रीमद्भागवत में कही है।

सो कुल धन्य उमा सूनु, जगत् पूज्य सुपुनीत।
श्री रघुवीर परायण, जेहि नर उपज विनीत।।

इस मामले में एक विशेष बात आनुवंशिक संस्कारों की है।

फरै कि कोदो बालि सुशाली। मुकुता प्रसव कि संबुक ताली।।

अत: जो पुत्र भगवद्भक्त हो गया उसके संस्कार माता पिता से मिले, भले ही पिछली पीढ़ी में वे संस्कार गुप्त रहे हों, प्रत्यक्ष न रहे हों। इससे पुत्र की श्रेष्ठता से माता पिता की श्रेष्ठता (किसी दृष्टि से सिद्ध होती है। जिन पेड़ों से अच्छे आम मिलते हैं, उनकी प्रशंसा होती है, वे समाजोपयोगी माने जाते हैं।

इसी से सम्बन्धित बात पितृ-ऋण वाली है। उपनिषद् में कहा हैं–प्रजातन्तुम् मा व्यवच्छेत्सी:। प्रजा तन्तु को मत काटो। आधुनिक

विज्ञान के अनुसार भी किसी व्यक्ति का व्यक्तितत्व उसके पैतृक संस्कारों का वर्तमान् पीढ़ी में एक सम्भव विकसित रूप है। एक माता पिता की सब सन्तानें बिल्कुल एक सी नहीं होतीं उसका कारण यह रहता है कि प्रत्येक में पेतृक संस्कारों का व्यक्त रूप एक सा नहीं रहता है। इस सम्बन्ध में वैज्ञानिक विवरण में जाना यहां प्रासंगिक नहीं हैं।

विवेकी ऋषियों और आधुनिक वैज्ञानिकों की राय में महान् विद्वान् पैतृक संस्कार के अधिष्ठान पर ही विकसित होते हैं, यदि उनके माता पिता पढ़े लिखे न हों तो भी यह बात मान्य है कि पूर्व पीढ़ी के वेपढ़ी होने का कारण या तो यह माना जायगा कि उस पीढ़ी में विद्या का संस्कार प्रच्छन्न रहा, प्रगट नहीं रहा, अथवा उस संस्कार को विकसित होने की सुविधा नहीं मिली। उत्तम पैतृक संस्कारों का श्रेय माता पिता को ही है और उनकी धन्यता के लिए यह आधार पर्याप्त है।

शास्त्र में मनुष्य के तीन ऋण माने गए हैं—देब ऋण, ऋषि ऋण व पितृ ऋण। यह सुप्रसिद्ध है कि पुत्र पैदा करके पितृ ऋण से उऋण हुआ जा सकता है। बिबेक की दृष्टि से केवल पुत्रोत्पादन ही कर्तव्य नहीं है, उत्तम सन्तान पैदा करके छोड़ जाना ही असली सेवा है। यही कर्तव्य है। इसलिए जन्म देने से कर्तव्य की इति नहीं हो जाती, शिक्षित, शिष्ट, संस्कारी बनाने का भी कर्तव्य है। इस कर्तव्य में व्यापक ढील होना सभ्यता और संस्कृति के मूल पर प्रहार है।

यदि यह मान लिया जाय कि भजन निष्ठ जीवन ही सच्ची सफलता है तो राम भजन निष्ठ पुत्र इस बात का प्रमाण है कि उसके माता पिता पितृ ऋण से भली भांति उऋण हो गए, और इस कारण उनकी धन्यता सिद्ध है।

पिता के मरने पर पुत्र उसकी संपत्ति उत्तराधिकार में पाता है। कुछ बीमारियाँ भी ऐसी हैं कि पिता को थीं इसलिए पुत्र को होने की सम्भावना रहती है। अमीर का पुत्र बहुत सी सुख सुविधाएं केवल पुत्रत्व के कारण भोगता है, अपने वर्तमान् जन्म के पुरुषार्थ के कारण नहीं। इसमें यह भले ही कहा जाय कि अमीर का पुत्र होना भी पूर्व पुण्यों का परिपाक है। इसी प्रकार योग्य पुत्र मिलना भी पूर्व पुण्यों का परिपाक मान्य है—

तुम सम सुवन सुकृत जिन दीन्हें। उचित न तासु निरादर कीन्हें ।।

जब विद्वान्, सम्पन्न, सज्जन, पुण्यात्मा पुत्र भी माता पिता के पूर्वकृत् महान् पुण्यों का प्रमाण है, तो फिर भगवद्भक्त पुत्र का क्या कहना !

ऐसा भी हो सकता है कि माता पिता के प्रतिकूल जाकर पुत्र ने भगवद्भक्ति की हो, जैसे प्रह्लाद ने की थी। फ़िर भी भगवान् ने कहा ही कि तुम्हारे पिता इक्कीस पीढ़ियों सहित पवित्र हो गए। विवेक युक्त बिचार करने में यह स्मरण रखना चाहिए कि यदि कहीं पुत्र के त्याग, वैराग्य, भक्ति से माता पिता की ममता को आघात भी लगा हो तो भी कई बार देखा गया है कि भक्ति की सफलता होने पर माता पिता उस पुत्र के कारण ही बाद में गौरवान्वित होते हैं। अतः पुत्र की साधना में उनका कोई हाथ नहीं यह हम नहीं कह सकते।

एक लाखों रुपए की सम्पत्ति वाले परिवार का ज्येष्ठ पुत्र लगभग १६ वर्ष की आयु में त्याग कर गया। बहुत रुपया खर्च करने और ढूंढ़ने पर भी नहीं मिला। प्रायः आठ वर्ष हिमालय के ऊंचे स्थानों पर आश्चर्यजनक तपस्या की। बाद में कारणवश माता पिता से फिर भेंट हुई। दूसरे भाई लौकिक जीवन में प्रगति शील और सम्पन्न हुए।

मांता जी अब अपने ज्येष्ठ पुत्र से ही सर्वाधिक गौरवान्वित हैं। यही नहीं उनका कहना है कि यदि माँ दुःखी होकर आँसू बहाए तो वेटे की साधना सफल नहीं हो सकती। अतः वे कभी नहीं रोतीं न वेटे को घर में पुनः बसाना चाहती हैं। पुत्र जहाँ भी रहे उसकी सुख-सुविधा के लिए वे सहस्रों रुपए हर समय खर्च कर सकती हैं, परन्तु उसके वैराग्य की हितेच्छु ही हैं। दूसरे कई लोग हैं, जिनकी दृष्टि में उक्त ज्येष्ठ पुत्र सिद्ध सन्त के रूप में हैं, साधन की सिद्धि होनी बाकी नहीं हैं।

जननी जनै तो अस जनै, कै जोगी कै शूर।
नाहिं तो बाँझ बनी रहै, वृथा न खोवै नूर॥

जो नर रत्न है, भगवद्भक्त है, वह पृथ्वी पर पुष्पमाला की तरह है, शृंगार रूप है, जो भोगी है, पशुधर्म में ही लगा है, वह भार रूप है।

जाइ जियत जग सो महि भारू। जननी यौवन विटप कुठारू।

वैदिक उक्ति है—'एतावानेव पुरुषः यज्जायात्मा प्रजेऽति च।' स्त्री, स्वयं (पुरुष) और पुत्र मिलाकर पुरुष है। जहाँ इस धर्म भावना से परिवार का एकत्व है, एक के कर्म से दूसरा क्यों नहीं प्रभावित होगा? कोई स्त्री अपने पति के सुधार के लिए जप, तप, पूजा, पाठ, अनुष्ठान करके सफल होती है तो वहाँ उसके कर्म से पति का सुधार होता है या नहीं?

सत्यवान् भाग्यानुसार यथा समय कालकवलित हूए परन्तु सावित्री की तपस्या उन्हें यमराज के हाथ से भी छुड़ा लाई और दीर्घ काल तक दोनों ने राज्य किया, यह समय सावित्री युग कहलाया।

पिण्डदान और श्राद्ध तर्पण में तो पितरों के हित के लिए पुत्र पौत्रादि का कर्म होता ही है।

मुगल बादशाह औरंगज़ेब ने जब शाहजहाँ को कैद करके रक्खा और एक बार वह पानी के लिए तरस गया तो उसने कहा, 'हजार बार तारीफ़ के लायक हैं हिन्दू जो मरे बाप को भी पानी देते हैं, तुम जिन्दा बाप को पानी को तरसाते हो।'

यद्यपि आदर्श भक्त भगवान् से कुछ भी नहीं माँगते, तो भी भगवान् अनन्य भक्त का योग क्षेम चलाते हैं। यह योग क्षेम बहन व्यक्ति तक सीमित नहीं, परिवार भी इसमें आ जाता है। शिष्यादि का भी योग क्षेम भगवान् सँभालते हैं।

तुलसिदास सब भांति सकल सुख जो चाहसि मन मेरो।
तौ भजु राम काम सब पूरन, करहिं कृपानिधि तेरो ।। (वि०प०)

महाराष्ट्र के मध्य युगीन प्रसिद्ध सन्त श्री एकनाथ जी महाराज नित्य कथा कहते थे। सैकड़ों आदमी नित्य प्रेम से सुनते थे। सभी श्रोताओं के मस्तक पर नित्य चन्दन लगाया जाता था। अतः नित्य बहुत सा चन्दन घिसना होता था। घिसने वाला परेशान हो जाता था। उसने ऊबकर नौकरी छोड़ दी। इसके वाद एक दूसरा आदमी श्री एकनाथ जी के पास आया और नौकरी की प्रार्थना की। सन्त जी ने कहा, 'चन्दन घिसने का काम करोगे ?' उसने स्वीकार कर लिया, बड़े उत्साह से नित्य सबके लिए चन्दन घिसता था, ऊबता नहीं था। बहुत दिन यह प्रबन्ध चला।

पश्चात्, एक घटना हूई। सुदूर निवासी एक भक्त भगवान् के दर्शनों के लिए व्याकुल था। उसे आदेश हुआ, 'जाओ, एकनाथ महाराज

की कथा में चन्दन घिसने वाले से मिलो। हमीं उस रूप में हैं। उसन जाकर दर्शन किये। जब बात खुल गई, तो वह चन्दन घिसने वाला ग़ायब हो गया। श्री एकनाथ जी ने बहुत कातर होकर प्रार्थना की तो भगवान् ने दर्शन दिये, और कहा--हम तो अब भी पहले की तरह सेवा करने को तैयार हैं, तुम लोग करने नहीं दोगे यही विवशता है।'

इस प्रसंग से भी प्रगट है कि भगवान् का योग क्षेम वहन एक व्यक्ति के रोटी कपड़े तक सीमित नहीं हैं, उसका बहुत विस्तार है, उसमें लौकिक, पारलौकिक सभी प्रकार का योग क्षेत्र आ जाता है। अत: माता पिता भगवान् की इस महती कृपा के क्षेत्र के बाहर कैसे रह सकते हैं? उनकी धन्यता और कृतकृत्यता में सन्देह कैसे किया जा सकता है?

तुलसी जाके बदन से, धोखेहु निकसत राम।
ताके पग की पगतरी, तेरे तन को चाम ॥३७॥

तुलसीदास जी कहते हैं कि धोखे से भी जिसके मुख से 'राम' निकले, उसके जूते बनाने के लिए मेरे शरीर के चर्म का उपयोग होना, मेरी इच्छा के अनुकूल होगा।

यह दोहा दीनता का सन्देश देता है। श्री गोस्वामी जी बड़े से बड़े उच्च कोटि के सन्तों के लक्षण कह चुके और महिमा भी बता चुके। यह सन्देश भी दे चुके कि बने हुए ढोंगी, साधु सन्त बहुत हैं, माया त्यागी सन्त बिरले बिरले होते हैं, उन्हीं की शरणागति से भव सागर पार होता हैं।

अब विषय के दूसरे पक्ष (पहलू) पर आते हैं। सच्चे सन्त को पहिचान कर उनकी शरण ग्रहण करना तो ठीक है, परन्तु माया मोह में पड़ा हुआ जीव इस विषय में भी ऊटपटांग आचरण करता है। वह प्राय: किसी को निश्चित रीति से माया त्यागी सन्त नहीं मानता। हर एक साधु सन्त में कमी देखता है, निन्दा सबकी करता है, शरण किसी की ग्रहण नहीं करता। प्राय: दूसरों की श्रद्धा को आघात पहुँचाने में उसे संकोच या दु:ख भी नहीं होता। यदि कोई श्रद्धालु किसी सन्त को माया त्यागी सिद्ध करना चाहे, तो ऐसा पुरुष बहुत सा कुतर्क प्रस्तुत करता है। इस प्रकार का तार्किक सच्चे भक्ति पथ से बहुत दूर रह जाता है।

माया त्यागी सन्त या सन्तराज के लक्षणों का द्विविधि उपयोग है, एक तो अपनी शरणागति के लिए योग्य गुरू की पहिचान करने में, सक्षम और स्थिर श्रद्धा स्थापित करने में, इस लक्षण-कथन से सहायता मिलती है, दूसरे आत्म परीक्षण में तथा अभिमान् से बचने में यह उल्लेख सहायक है। मन बहुत जल्दी अपने को श्रेष्ठ, दूसरों को अन्यथा मान लेता है। निष्पक्ष आत्म परीक्षण से जब अपने अन्त:करण में श्रेष्ठ सन्तों के लक्षणों का अभाव पाया जाय तो अपने को सन्त या भक्त या पूज्य कैसे मानें ? अत: पूर्व कथित श्रेष्ठ सन्तों के लक्षग सचमुच वह कसौटी प्रदान करते हैं जिस पर अपने को कसते रहना चाहिए।

सन्त का लक्षण है 'सर्बहिं मान प्रद आपु अमानी।' इसका अर्थ हुआ कि सच्चे सन्त स्वाभाविक रूप से (दम्भ से नहीं), साधारण जनों, दाम्भिकों दुष्टों आदि को भी मान देते हैं। अपने लिए मान के त्यागी बने रहते हैं। अपने को सचमुच श्रेष्ठ समझना और ऊपर से अमानी बने रहना दम्भ है। सन्त या शास्त्र इस दम्भ की सस्तुनि या प्रशस्ति (तारीफ) नहीं कर सकते। सन्त का जो अक्षण है उसमें वास्तविक अमानी भाव बताया गया है। सच्चा भाव, दाम्भिक नही।

यह प्रश्न सहज ही उठता है कि जो सन्त परम शुद्ध, माया त्यागी, भ्रम से मुक्त, यथार्थदर्शी हैं, वे साधारण जीवों से अति उच्च भूमिका में पहुँचकर भी अपनी श्रेष्ठता का अनुभव क्यों नहीं करते, मान से कैसे बच पाते हैं, और सभी जनों को अपने से श्रेष्ठ समझ कर कैसे मान देते हैं।

यह प्रश्न देखने में बड़ा जटिल है और व्यवहार में यह देखना पड़ता है कि बहुत से सन्त रूप में प्रतिष्ठित महापुरुष भी मानी पाए जाते हैं, अमानी नहीं। इसका कारण यह है कि बहुत बार काँचन

कामिनी का त्याग मान प्राप्ति के ही लिए किया जाता है, इसलिए अमानी होना या रहना कठिन होता है। अंग्रेजी के प्रसिद्ध कवि मिल्टन ने एक कविता की एक पंक्ति में कहा है कि मान की वासना एक सौजन्यपूर्ण अन्त:करण की अन्तिम कमज़ोरी है, (जो अन्त में हो छूटती है)। श्री तुलसीदास जी का दोहा है—

कंचन तजना सहज है, सहज त्रिया का नेह।
मान बड़ाई ईरषा, तुलसी दुर्लभ एह ॥ (दोहावली)

अत: अमानी होना बहुत ऊँचा लक्षण है, इसका उदय बाद में होता है।

माया की पकड़ बहुत बेढब है। साधक अनेक उत्तम गुण धारण करता है विकसित करता है, परन्तु उन गुणों की चेतना ही अस्मिता को और भव-बन्धन को दृढ़ करती है। 'ज्यों ज्यों सुरझि भज्यो चहै, त्यों त्यों अरुझत जाय। बहुत बड़े दानी, पण्डित, विद्वान्, लेखक, प्रचारक, सन्त, भक्त आदि कुछ भी होने की भी अस्मिता होती है। अपने को बहुत बड़ा सिद्ध, योगी या अवतार मानना और इसलिए पूज्य मानना भी अमानी भाव के विपरीत है। जब सन्त परम श्रेष्ठ हैं तो फिर वे अपने को क्षुद्रातिक्षुद्र कैसे देखते हैं ?

आरति विनय दीनता मोरी। लघुता ललित सुवारि न खोरी ॥

यह एक मनोवैज्ञानिक पहेली है कि श्रेष्ठ मनुष्य अपने को क्षुद्र और क्षुद्र मनुष्य अपने को श्रेष्ठ कैसे देखता हैं ?

इसके उदाहरण बिरले नहीं हैं, बहुत पाये जाते हैं, प्राय: सबकी जानकारी में हैं कि अल्प गुणी व्यक्ति अपने को महान् गुणी और कम योग्य मनुष्य अपने को अत्यन्त योग्य समझता है, मानता है। इसका कारण

यह है कि अन्त:करण रूप दर्पण की समतलता को अभिमान विकृत कर देता है। असमतल दर्पण (नतोदर या उन्नतोदर दर्पण) में प्रतिबिम्ब साधारण प्रतिबिम्ब से बहुत बड़ा या बहुत छोटा दिखाई देता है। घमण्डी व्यक्ति को अपने अन्त:करण में अपना प्रतिबिम्ब वास्तविक से बढ़ा चढ़ा दिखाई देता है, इसीलिए उसे भ्रम होता है।

विपरीतत: जहाँ अस्मिता गतलि हो गई है, अपने में श्रेष्ठता का आभास नहीं होता, अमानता आ जाती है, सबको मान देने की वृत्ति का उदय होता है।

इसी बात को दूसरी तरह से समझ सकते हैं। शरीर ही कर्मों का माध्यम है। सारे शुभ कर्म शरीर से किये जाते हैं। शरीर प्रकृति का स्थूल कार्य है, अन्त:करण सूक्ष्म कार्य है, दोनों अष्टधा प्रकृति (गीता) के भीतर हैं। इस प्रकृति के प्रेरक वही प्रभु हैं जो एक साथ अन्तर्यामी और बहिर्यामी हैं। अत: जो सृष्टि के समस्त कर्मों का कर्ता है, वही देह के द्वारा किए जाने वाले कर्मों का कर्ता है, ऐसा नहीं है कि समष्टि के कर्म प्रकृति के और दैहिक (व्यष्टि के) कर्म हमारे। अत: सभी कर्मों का श्रेय भगवान् का ही है इन्सान का नहीं। साधकों के लिए तो यही ठीक है कि, गुन तुम्हार समुझै निज दोसू। जेहि सब भाँति तुम्हार भरोसू ।। परन्तु तत्वदर्शी सिद्ध सन्त के लिए सभी कर्म प्रकृति के हैं और भगवान् प्रकृति का प्रेरक है। भगवान् कर्ता होते हुए भी अकर्ता है। (गीता ४.) गुण, दोष, पाप पुण्य, कार्य अकार्य आदि का विवेक व्यवहार में अति आवश्यक है। परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से सब स्वप्न हैं। स्वप्न में भी बीमार होने पर दवा की आवश्यकता होती है, पर जागने पर सब असिद्ध हो जाता है। वास्तविक ज्ञान मर्यादाओं को तोड़ने की अनुमति नहीं देता परन्तु तत्व दर्शन होने पर पारमार्थिक सत्ता में श्रेष्ठ, कनिष्ठ आदि भेद नहीं रहते। यदि अपनी श्रेष्ठता और

दूसरों की कनिष्ठता का भाव बना रहा तो द्वैत दर्शन सिद्ध होगा, 'द्वैत कि बिनु अज्ञान।' मान का भाव द्वैत का प्रमाण है और अज्ञान सिद्ध करता है, "ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं (रा०च०मा० अरण्य काण्ड) अपने को ज्ञानी, दूसरों को अज्ञानी समझना, यह भी अज्ञान है। अमानी भाव ज्ञानी का सहज लक्षण है, आश्चर्य का विषय नहीं। अब अनन्य भक्ति की दृष्टि से देखिए—

उमा जे राम चरण रत, विगत काम मद क्रोध।
निज प्रभु मय देखहिं जगत, का सन करहिं विरोध।
सो अनन्य जाके असि, मति न टरै हनुमन्त।
मैं सेवक सचराचर, रूप स्वामि भगवन्त।।
(रा०च०मा० किष्किन्धा काण्ड)

अनन्य भक्त के लिए सब कुछ भगवद्रूप है। इसलिए सचमुच कोई परमात्मा भिन्न सत्ता नहीं है। पुण्यात्मा, पापात्मा, महात्मा, दुष्टात्मा आदि कुछ नहीं। इस तरह की प्रतीति होती है (ऐसा मालूम होता है) कि यह सब भेद हैं, पर वह प्रतीति या आभास इसलिए होता है कि प्रभु अलग अलग रूपों में अलग अलग लीला कर रहे हैं। 'वासुदेव: सर्वम्' (गीता) ऐसा देखने वाले महात्मा दुर्लभ हैं। ऐसे महात्माओं के ही जीवन में 'सबहि मान प्रद आपु अमानी' की असली बहार देखने में आती है। अन्य लोगों में यदि ऐसा आचरण मिले तो वह दम्भ के कारण हो सकता है अथवा कहीं कहीं 'सज्जन धर्म' के कारण भी मिलता है।

भजन की दृष्टि से भी बात यह है जितने अंश में जो अभिमान ग्रस्त है वह भजन के लिए उतना ही अयोग्य है। दीनता भगवद्भजन

का अत्यन्त सहायक गुण है।' ऐहि दरबार दीन को आदर रीति सदा चलि आई। (विनय पत्रिका)

राम ग़रीब नेवाज हैं हौं लही न गरीबी। (वि०प०)

कवीन्द्र रवीन्द्र नाथ ठाकुर ने गीताञ्जलि में कहा है—

सदैव तुम भरते रहते हो,
सदैव और भरने की जगह रहती है।

दीन ही सुपात्र है और भगवत्कृपा उसमें भरी जाती है, अखण्ड प्रक्रिया चलती है।

कुतर्की तुरन्त सन्देह करेगा कि ऐसा कौन है जिसके मुख से धोखे से भी कभी भगवन्नाम न निकला हो, तो ऐसे सब लोगां के प्रति इतना आदर, इतनी कृतज्ञता, इतना प्रेम कैसे उमड़ेगा, कैसे निभेगा ? कोरा साहित्यिक करेगा, 'यह अतिशयोक्ति अलंकार है, इसको यथार्थ के रूप में लेना ही मूर्खता है। परन्तु इन लोगों के पास इसका क्या जवाब हैं कि स्री नामदेव जी की रोटी कुत्ता लेकर भागा तो वे घी की कटोरी लिए हुए दौड़े कि रूखड़ी मत खैयो, स्वामी रूखड़ी मत खइयो। प्रभु ! रूखी रोटी न खायँ, घी तो चुपड़ लेने दें।' जिसे अतिशयोक्ति दिखाई पड़ती है वह जाने परन्तु यह समझना आवश्यक है, कि सन्तों में दीनता और सबको मान देने का भाव ऐसी सीमा तक पाया जाता है जो हमारे लिए आश्चर्यजनक है। हमारे सन्तवर श्री तुलसीदास जी ही कवितावली में कहते हैं—

माँगि के खैबो मसीत को सोइबो है,
लेनो है एक न देनो है दोऊ।

मो सम दीन न दीन हित, तुम समान रघुवीर ।(रा०च०मा०)

तू दयालु दीन हौं, तू दानि हौं भिखारी । (वि०प०)

इतना ही नहीं, श्री गोस्वामी जी की एक घटना यह है कि एक बार एक जगह सन्तों का भण्डारा हो रहा था । खीर परसने के पात्र की कमी थी तो श्री गोस्वामी जी एक सन्त का एक जूता उठा लिया और कहा, इससे उत्तम पात्र क्या हो सकता है ? कहते हैं कि इसी भाव को देखकर श्री नामा जी ने भक्तमाल में श्री गोस्वामी जी को 'भक्तन माल सुमेरु' कहा । इस तरह अन्य उदाहरणों की बात क्या, स्वयं लेखक की ही दीनता व मान देने की भावना अलौकिक और अनुपम थी । उन्होंने प्रस्तुत दोहा इसी तत्व को उजागर करने के लिए लिखा है न कि अतिशयोक्ति अलंकार का एक अनावश्यक उदाहरण देने के लिए । हम लोगों का कल्याण इसमें है कि ग्रंथ में इस दोहे को पढ़कर यह सीखें कि सच्चा, वैराग्यपूर्वक, भजन तभी हो सकता है जब हममें परी तरह दीनता व अमानी भाव आए । श्री चैतन्य महाप्रभु जी चैतन्याष्टक (श्लोक ३) में कहते हैं–

तृणादपि सुनीचेन, तरोरपि सहिष्णुना ।
अमानिना मानदेन, कीर्तनीयः सदा हरिः ।।

(तिनके से भी क्षुद्र बना जो, सहनशील तरु से भी आगे ।
वही भजन के योग्य, मान प्रद, अपना मान सदा ही त्यागे ।।)

श्री गोस्वामी जी अप्रतिम नामानुरागी थे, उनका अपूर्व नामानुराग भी इस दोहे में प्रतिबिम्बत हुआ है । भगवन्नाम की जो अपार महिमा है वह तर्कगम्य नहीं है । अकथनीय भी है । तथापि जीवों के कल्याणार्थ शास्त्र में उल्लिखित है । शास्त्रों में जो नाम महिमा है उसमें धोखे से भी नाम लेने का माहात्म्य अंकित है । एक उदाहरण यह है—

सांकेत्यं पारिहास्यं वा स्तोकं हेलनमेव वा ।
वैकुण्ठ नाम ग्रहणमशेषाघ हरं विदुः ।। (श्रीमद्भा०)

श्री राम चरित मानस में भी कहा है—

भाव कुभाव अनख आलसहू । नाम जपत मंगल दिसि दसहू ।।

यह कहना आसान है कि शास्त्र के ऐसे वचन रोचक हैं, यथार्थ नहीं, परन्तु इस प्रकार वचकर निकल भागना आसान नहीं है। पुराण में दस नामापराध गिनाएँ हैं, उनमें से एक है—

'नाम्न्यर्थवाद भ्रम:' (नाम के माहात्म्य में अर्थवाद का भ्रम, अर्थात् नाम माहात्म्य को सुनकर भी उसमें विश्वास न करना, यह सन्देह करना कि यह सब अतिशयोक्ति है।

जब यह कहा जाता है कि शास्त्र कथित नाम माहात्म्य में अर्थवाद है, अतिशयोक्ति, रोचनार्थ कथन है, लोगों में श्रद्धा बढ़ाने के लिए उतना कह दिया गया है, तो उसमें यह भाव तो छिपा ही रहता है कि शास्त्र भगवन्नाम प्रचार के लिए, जनता को प्रभावित करने के लिए रोचक वचन कहते हैं लेकिन हमारे जैसे विवेकी विद्वान् इस भुलावे में नहीं आ सकते। हम तो जानते ही हैं कि यह रोचक वचन है, अतिशयोक्ति हैं। इस प्रकार जिनकी कल्पना यह है कि भगवन्नाम उद्धारक तो है परन्तु शाश्त्रों में साधकों को लुभाने के लिए श्रद्धा को दृढ़ करने के लिए अतिशयोक्ति की गई है, उनका अपना गौरव यही है कि वे स्वयं इस प्रलोभन में नहीं पड़े। यदि कोई विवेकी किसी भी प्रलोभन में न पड़े तो स्तुत्य है, परन्तु वह कल्याणमार्ग में आवाहन करने वाले शास्त्र वचनों से अप्रभावित रहता है, परन्तु पतनकारी लौकिक प्रलोभनों से

नहीं बच सकता, तो उसकी विद्या और विवेक की प्रशंसा कैसे की जाय ?

जब तक अपनी श्रेष्ठता का कुछ भी मान रहेगा, धोखे से भगवनाम लेने वाले के प्रति हम अत्यन्त श्रद्धावान् नहीं हो सकते । परन्तु जब हम तिनके से भी नीचे बन जायँगे, तभी हम सबका आदर कर सकते हैं । अनन्य भक्ति में तो अपने को सेवक, सचराचर सबको भगवद् रूप देखना होता है, अतः वहाँ सबके प्रति कृतज्ञता व विनीत भाव सम्भव है । इसी भाव की पराकाष्ठा दोहे में अंकित है ।

तुलसी भगत सुपच भलो, भजै रैन दिन राम ।
ऊँचो कुल केहि काम को, जहाँ न हरि को नाम ।।३८।।

श्री तुलसीदास जी कहते हैं भक्त चाण्डाल भी अच्छा है, जो रात दिन भगवान् रामचन्द्र जी का भजन करता है, जहाँ श्री हरि का नाम न हो, वहाँ ऊँचा कुल किस काम का ?

जन्मना जातिः (जाति जन्म से होती है) । वर्ण व्यवस्था में से ही सहस्रों जातियों का उदय हुआ और इनमें काल क्रम से वह सौहार्द व सामञ्जस्य नहीं रह गया जो एक ही बिराट् पुरुष के अंगों में अवश्य होना चाहिए था । धीरे धीरे जातीय स्पर्धा व वैमनस्य बढ़ता गया । वर्ण-व्यवस्वा व वर्ण धर्म की परवाह नहीं रही । वर्णाधिकार व जन्मजात श्रेष्ठता का आग्रह बढ़ता गया । ऋषियों के बिचार में आनुवंशिक संस्कारों और व्यक्तिगत उपलब्धियों, दोनों का महत्व था । परन्तु कालक्रम से जन्म का ही महत्व रह गया, व्यक्तिगत गुणों का महत्व क्षीण हुआ । उच्च जातियों ने ऋषियों की सी उपलब्धियों का अरमान नहीं रक्खा, वरन्तु जन्मजात जातीय श्रेष्ठता और पूज्यता का दावा किया । श्री गोस्वामी जी को स्वयं विनय पत्रिका में यह लिखना पड़ा—

वरण धरम आश्रमनि के, पैये पोथिही पुरान ।
करतब बिनु वेश देखिये, ज्यों शरीर बिनु प्रान ।

ऋग्वेदीय पुरुपसूक्त में चार वर्षों की कल्पना विराट् पुरुष के अंगों के रूप में प्रस्तुत की गई थी परन्तु विकृति के कारण उनमें टकराव आया स्वधर्म की उपेक्षा के ही कारण यह सब हुआ, नही तो सच्चे ब्राह्मण की इज्जत कोई कोशिश करने पर भी मिटा नहीं सकता, न तपस्वियों से इर्ष्या करना ही सम्भव है। यही हाल शूरवीरों का है। क्षत्रिय का अर्थ है—घाव से बचाने वाला। रक्षक ही क्षत्रिय है, त्रासक या भक्षक नहीं। तुलाधार वैश्य व दासी पुत्र विदुर भी अपने धर्म पालन के कारण अत्यन्त सम्मानित हुए।

भारतीय दर्शन के इतिहास में यह विडम्बना मिलती है कि एकदम अद्वैतवादियों ने जातीय भेदभाव का पक्ष लिया, जबकि कम या अधिक सीमा तक द्वैत को प्रश्रय देने वाले भक्ति के आचार्यों ने जातीय भेदभाव और विषमता के विरुद्ध कदम उठाए। आज भी जातीय कट्टरता के पक्षधर शंकराचार्य के अद्वैतवाद में निष्ठ आचार्य लोग हैं, जबकि वैष्णवाचार्यों की पीठों व गद्दियों में उतनी जातीय कट्टरता नहीं पाई जाती।

श्री गोस्वामी जी के प्रस्तुत दोहे पर विचार करते समय जातिवाद का सारा विवाद विचारणीय नहीं है। उसी संकेत को ग्रहण करना चाहिए जो गोस्वामी जी ने दिया हैं। इसे ही अच्छी तरह समझ लेना चाहिए की नीच जाति का सच्चा हरि भक्त उच्च जाति के भगवद्विमुख व्यक्ति से भला (श्रेष्ठ) है।

ऋषियों का यह मत है कि भक्त अपने को भी पवित्र कर लेता है और कुल को भी पवित्र कर देता है—

कुल पवित्रं जननी कृतार्था, वसुन्धरा पुण्यवती च तेन।
यह तो राम लाइ उर लीन्हा। कुल समेत जन पावन कीन्हा॥

एहि सम निपट नीच कोउ नाहीं । बड़ वशिष्ठ सम को जग माहीं ।।
जेहि लखि लखनहु ते अधिक, मिले मुदित मुनिराउ ।
सो सीतापति भजन को, प्रगट प्रताप प्रभाउ ।।

स्वपच सबर खस यवन जड़ पामर कोल किरात ।
राम कहत पावन परम, होत भुवन विख्यात ।

गीध अधम खग आमिष भोगी । गति दीन्हीं जो जाँचत जोगी ।।

जातिहीन अघ जन्म महि, मुक्त कीन्हि असि नारि ।
यन्नामधेयं श्रवणानुकीर्तनाद्यत्प्रह्वणाद्यत्स्मरणादपि क्वचित् ।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते कुतः पुनस्ते भगवन्नुदर्शनात् ।।
अहो वत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यम् ।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या ब्रह्मानूचुर्नाम ग्रहन्ति ये ते ।।
(श्रीमद्भागवत ३.३३.६-७)

यहाँ भक्ति के प्रताप से कुत्ते का मांस खाने वाले चाण्डाल का भी यज्ञ का अधिकारी होना बताया गया है और श्वपच (मेहतर) का भी भक्ति के प्रताप से कृतकृत्य होना बताया गया है ।

श्री प्रह्लाद ने नृसिह भगवान् की स्तुति करते हुए कहा—

मन्ये धनाभिजन रूप तपः श्रुतौज, तेजः प्रभाव बल पौरुष बुद्धियोगाः ।
नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय ।
विप्राद्विषड् गुण युतादरविन्द नाभ पादारविन्द विमुखात्छ्वपचं वरिष्ठं ।
मन्ये तदर्पित मनो वचने हितार्थं प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः ।

धन, परिजन, रूप, तप, विद्या, ओज, तेज, बल, प्रभाव, पौरुष, बुद्धि योग इन बारह गुणों से युक्त, परन्तु भगवद्विमुख ब्राह्मण से मैं मन

वचन कर्म से भगवत्छरणागत श्वपच को श्रेष्ठ मानता हूं, वह श्वपच अपने प्राणों को व अपने कुल को भी पवित्र कर देता है, परन्तु अति मानी ब्राह्मण ऐसा नहीं कर सकता।

श्री नारद भक्तिसूत्र में. भी भक्तों के विषय में कहा है कि—

नास्ति तेषु जाति विद्या रूप कुल धन क्रियादि भेदः।

इस प्रकार यह विचार कि जाति निम्नतम होने पर भी भक्ति श्रेष्ठता दायक होती है, शास्त्र सम्मत है, विशेषत: भक्ति शास्त्रों और आचार्यों को भली भाँति मान्य है।

श्रीमद्भागवत में कथा है कि भक्ति निष्ठ ऋषि पत्नियाँ यज्ञरत ऋषियों के द्वारा सम्मानित हुईं, केवल श्रीकृष्ण प्रेम के आधार पर, यद्यपि उनका उपनयन व गुरुकुलवास नहीं था।

जो सरोवर शबरी जी के द्वारा बहिष्कृत किए जाने से अपवित्र हो गया था, उनके स्नान करने पर ही पवित्र हुआ।

भक्ति के आचार्यों का यह मन्तव्य कभी नहीं रहा कि वे जातीय स्पर्धा, ईर्ष्या, संघर्ष या विद्वेष में पक्षधर हों, परन्तु उन्होंने उपर्युक्त प्रकार की बातें इसलिए लिख रक्खी हैं कि भवगान् अभिमान् का वैरी है, दैन्य-प्रिय है–

ईश्वरस्याप्यभिमान द्वेषित्वा द्दैन्य प्रियत्वाच्च। (ना०भ० सूत्र)

अत: जाति विद्या कुल आदि का अभिमान छूटे बिना सच्ची शरणागति नहीं हो सकती, न भगवत्प्राप्ति हो सकती है।

सत्य वचन आधीनता, पर तिय मातु समान।
एतेहु पै हरि ना मिलैं, तो तुलसीदास जमान।

अर्थात् इतने पर भी भगवान् न मिलें तो श्री गोस्वामी जी जमानतदार हैं, भगवान् को हाजिर करेंगे, मिलाएँगे ।

इस दोहे का तात्पर्य यही मानना चाहिए कि भक्ति की साधना में अपनी जाति की श्रेष्ठता का भाव नहीं रहना चाहिए, परन्तु जाति के आधार पर जिन भक्तों ने अपनी हीनता जानी, दैन्य धारण किया व शरणागति का भाव प्राप्त करने में सफल हुए । दैन्य धारण करना आवश्यक है ।

राम ग़रीब नेवाज़ हैं, हौं लही न ग़रीबी ।

परमार्थ पथ में देहाभिमान (देहाध्यास) का भी संन्यास करना होता है फ़िर देह किस जाति में उत्पन्न हुआ इस सम्बन्ध में अभिमान संजोए रहें तो वैराग्य या भक्ति की पूर्णता कैसे होगी ?

जाति मूलक अभिमान के निरसन हेतु शास्त्र का उपदेश है, उच्छृखल व्यवहार या जाति मूलक विद्वेष के बढ़ाने के लिए नहीं । शास्त्र के उपदेश के सच्चे भाव को समझने और बरतने से ही समाज में एकता हो सकती है, अन्यथा नहीं । निर्वैरः सर्वभूतेषु श्रीमद्भगवद्गीता ११.५५) तथा अद्वेष्टा सर्वभूतानां गीता १२.१३) परमावश्यक है, इसके बिना गति नहीं ।

आजकल बहुत सा विघटन इसलिए हो रहा है कि केवल जन्म के आधार पर, सम्बन्धित गुणों के अभाव में भी सन्मान का दावा किया जाता है जो परमार्थ पथ में पूरा विघ्नकारी है । मान ज्ञान का वैरी है, भक्ति का वैरी है, वैराग्य का भी वैरी है ।

मनु ने कहा था कि जो पूर्वा और पश्चिमा सन्ध्या नहीं करता वह सभी द्विज कर्मों से शूद्रवत् बहिष्कार किये जाने योग्य है, परन्तु ऐसे वचन आजकल प्रायः समाज के सामने लाए नहीं जाते ।

श्रेष्ठ वर्ण या जाति के उपयुक्त कुछ गुण भी शास्त्र में मान्यता पाए हुए हैं। इन गुणों की परवाह न करें फिर भी श्रेष्ठता का दावा करें तो यह ठीक न होगा। जो भक्ति शास्त्रों और आचार्यों का वास्तविक सन्देश है वह तो यही है कि उच्च वर्ण का व्यक्ति अपने वर्ण के गुणों से सम्पन्न होने पर भी भगवद्विमुख होने पर भगवच्छरणागत श्वपच से कनिष्ठ हैं, वह श्वपच वरिष्ठ है। अर्थ यह कि जातीय श्रेष्ठ गुण भी भगवत्प्राप्ति के लिए अनर्ह बना देते हैं यदि उनका अभिमान अन्त:करण में प्रतिष्ठित हो। पुण्य करके अभिमान करने वाले की स्थिति से पाप करके ग्लानि करने वाले की स्थिति उत्तम है। भक्ति आचार्यों ने इस तत्व को भली भाँति उजागर किया है।

साधारण आधुनिक शब्दावली में गोस्वामी जी ने जाति या वर्ण की समानता का प्रतिपादन नहीं किया है। उसी श्वपच को श्रेष्ठ बताया है जो 'भजै रैन दिन राम।' ऐसा भक्त सन्त रैदास (रविदास) की तरह अत्यन्त सम्मानित हो सकता है परन्तु उसे न दूसरे के सन्मान से डाह होगी न अपने सन्मान की चाह। सच्चा सन्त प्रतिष्ठा का त्यागी होता है। 'सबहि मान प्रद आपु अमानी' 'निज गुण श्रवण सुनत सकुचाहीं' आदि। श्रीमद्भगवद्गीता का भी सन्देश है—

निर्मान मोहा जित संग दोषा अध्यात्म नित्या विनिवृत्त कामा:।
द्वन्द्वैर्विमुक्ता: सुख दु:ख संज्ञैर्गच्छन्त्यमूढा: पदमव्ययं तत् ।। (१५ ५)

यदि किसी को प्रस्तुत दोहे से या ऐसे ही अन्य प्रमाणों से यह आभास हो कि श्री गोस्वामी जी श्रुति प्रतिपादित वर्णाश्रम धर्म को नहीं मानते, उसे मिटाना चाहते हैं, तो यह गलत होगा। श्री रामचरित मानस में यह कलियुगी लक्षण बताया गया है कि —

वर्ण धरम नहिं आश्रम चारी। श्रुति विरोध रत सब नर नारी।।

तथा—शूद्र द्विजन्ह उपदेसहिं ज्ञाना । मेलि जनेऊ लेहिं कुदाना ।।

अथवा— बैठि बरासन कहहिं पुराना ।—एवं

बादहिं शूद्र जिन्ह सन, हम तुम्ह ते कछु घाटि ।
जानइ ब्रह्म सो विप्रवर, आंखि देखावहिं डाटि ।।

इस प्रकार श्री गोस्वामी जी वर्णाश्रम धर्म के विरुद्ध बागी नहीं हैं, परन्तु जाति वर्ण आदि का अभिमान भक्ति और वैराग्य में बाधक है इसलिए इस तत्व पर बल दिया कि भगवान् को नीच जाति का भक्त प्रिय है और वह वर्णाभिमानी से श्रेष्ठ है । श्री गोस्वामी जी मर्यादा-निधान हैं अतः उन्होंने शास्त्रों और सन्तों की भी मर्यादा रक्खी, और भक्ति पथ की भी मर्यादा बताई ।

कवि कुल शिरोमणि, मर्यादानिधान श्री गोस्वामी जी ने उसी श्वपच को भला कहा है जो दिन रात भजन करता है, उच्च वर्णाभिमानी भगवन्नाम विमुख को केवल यह कहा कि उसका कुल किस काम का ? और कोई निन्दा नहीं की । इसमें ध्वनि यह है कि उच्च कुल वाला यदि भगवद्विमुख है तो उसका वर्ण जाति, या कुल उसे भगवान् की प्राप्ति में कुछ भी सहायता न कर सकेगा इसलिए किस काम का, यानी बेकार है ।

भक्त्या तुतोष भगवान् गज यूथाय । (श्रीमद्भागवत ७.९.९)
भक्ति के कारण भगवान् गज पर भी प्रसन्न हो गए ।

भगतिवन्त अति नीचउ प्रानी । मोहि प्रान प्रिय असि मम बानी ।।

बहुत पतित भवनिधि तरे बिनु तरि बिनु बेरे ।
कृपा कोप सतिभाय हू तिरछेहू राम तिहारेही हेरे । [वि०प०]

विनय शीलता दीनता, निरभिमानता भाव ।
दृढ़ करिबे के हेतु है, सन्त जनन को चाव ।।

———

अति ऊँचे भूधरनि पर, भुजगन के अस्थान ।
तुलसी अति नीचे सुखद, ऊख अन्न अरु पान ।।३९।।

अत्यन्त ऊंचे पर्वतों पर सर्पों के बिल [भी] होते हैं, अति नीचे स्थानों में पैदा होने वाले गन्ना, अनाज और पान सुखदाई होते हैं ।

दोहा संख्या ३८ के ही भाव चातुर्य और मर्यादापूर्वक दृढ़ करने के लिए प्रस्तुत दोहे [संख्या ३९] में उपमा देकर समझाते हैं । उत्तम वर्ण वाला व्यक्ति प्राय: अपने को अति उच्च मानता है । उसकी ऊंचाई का निषेध किए बिना श्री गोस्वामी जी यह बात प्रस्तुत करते हैं कि ऊंचाई हर एक प्रकार से शुभ नहीं होती । वह भयावह भी हो सकती है ।

ऊंचे पर्वत शिखरों पर चढ़ने का प्रयास करने वाले पर्वतारोही दलों को गिर कर मर जाने की आशका बराबर बनी रहती है । महाभारत में कहा है—

क्षयान्ता: सञ्चया: सर्वे, पतनान्ता: समुच्छ्रया: ।
संयोगा: विप्रयोगान्ता: मरणान्तं हि जीवनम् ।।

सभी सञ्चयों का अन्तक्षय है, प्रत्येक उत्थान का अन्त पतन है, संयोग का अन्त वियोग है, जीवन का अन्त मरण है । जाति आदि पर आधारित उच्चता के अभिमान का भी परिणाम पतन है । यदि जाति से

सम्बन्धित सद्गुण सचमुच विकसित हों और तत्सम्बन्धी अभिमान बिल्कुल न हो, उन गुणों का भगवत् समर्पण भाव से समाज के हित में उपयोग हो तो सन्मान सहज ही सधेगा और कल्याण साधन भी बनेगा। प्रत्येक प्रकार की श्रेष्ठता अभिमान से युक्त होने पर भव-बन्धन को दृढ़ करती है, भगवदीय कृपा से प्राप्त गुण के रूप में समर्पण भावना से सेवार्थ प्रयुक्त होने पर ही कल्याणकारी और मोक्षदायक हो सकती है। भगवद्विमुख के लिए श्रेष्ठता मोक्ष की साधिका नहीं है।

राम विमुख सम्पति प्रभुताई। जाइ रही पाई बिनु पाई।

वह निष्फल है, व्यर्थ है।

प्रथम पंक्ति में अत्यन्त ऊँचे पर्वत शिखरों पर विषधरों के बिल बता कर संकेत किया कि जिस प्रकार सर्पों को ऊँचे पर्वतों पर अच्छा आश्रय और निवास स्थान मिलता है, फिर वहाँ से दूर दूर तक जाकर आहार की प्राप्त कर सकते हैं और प्राणियों को डस भी सकते हैं, उसी तरह सर्पों के समान विषैले प्रभाव वाले मनोविकारों को भी श्रेष्ठता के अभिमानी जनों के अन्तःकरण में सुरक्षित व निरापद आवास स्थान मिलता है। वहाँ इन विकारों को विकास व प्रसार का अवसर भी मिलता है।

पूर्व दोहे के सन्दर्भ से हम ऊँचाई को कुल, जाति, वर्ण से सम्बन्धित कर सकते हैं, परन्तु अर्थ को वहीं तक सीमित करना आवश्यक नहीं। अपने में विद्या, रूप, कुल, धन, कला, उद्यम आदि किसी तरह की श्रेष्ठता का अभिमान हो वह पतनकारी है।

संसृति मूल शूल प्रद नाना। सकल शोक दायक अभिमाना।।

अभिमान सद्गुणों के उपार्जन का बाधक है, अवगुणों का प्रश्रयदाता है, देहाध्यास को दृढ़ करता है, धर्म व्यतिक्रम का दुस्साहस पैदा करता है और सेवाभाव के विपरीत सन्मान आग्रह पैदा करता है। अभिमान अविवेक का जनक है, वह अपने दोषों और परिपाक हो रहे अनर्थों का दर्शन नहीं होने देता, और माया के जाल के फैलने में सहायक होता है। इसी से सन्तों ने मान त्याग का उपदेश दिया है, अभिमान निरसन का उपदेश दिया है।

यद्यपि प्रस्तुत दोहे में केवल ऊँचाई की बात है, अभिमान का उल्लेख नहीं है, परन्तु यह स्मरणीय है कि जिस श्रेष्ठता को हेय कहा है वह भगवदर्पित और सेवा भाव से ओत प्रोत निरभिमान श्रेष्ठता नहीं है, अभिमान ग्रस्त श्रेष्ठता ही है। वही भुजंगों का स्थान बन सकती है, सात्विक श्रेष्ठता तो योगियों, तपस्वियों का आश्रय स्थान बनेगी, उससे अन्त:करण में मलिन भाव व्याप्त न होंगे, निर्मल भाव व्याप्त होंगे। वह श्रेष्ठता क़ल्याण साधिनी होगी, विनाशिनी नहीं होगी।

प्रथम पंक्ति कह कर सचेत किया गया कि श्रेष्ठता का दुरुपयोग सम्भव हैं और उससे अनर्थं परिपाक हो सकता है। विपरीतत निम्नता भी हितकारिणी, कल्याण दायिनी हो सकती है। श्री गोस्वामी जी बताते हैं कि ऊख (गन्ना) अन्न और पान की खेती मैदानी भागों में होती है, ऊँचे पहाड़ों पर नहीं, और यह वस्तुएँ सर्व-साधारण जन के लिए उपयोगी और आवश्यक हैं। मिठाई (माधुर्य) के लिए ऊख और दैनिक आहार के लिए अन्न सर्व-साधारण के लिए आवश्यक हैं। ऊँचे पर्वतों पर तप करने वाले सन्तों को इन वस्तुओं का अभाव रहता है, इसलिए भी कभी कभी उन्हें प्राय: इनके बिना गुजर करना पड़ता है, परन्तु सर्वं-साधारण जन वैसा रहन सहन नहीं बना सकते। उनके लिए ऊख, अन्न और पान आवश्यक हैं और रहेंगे। अत: अर्थ व्यवस्था के लिए

जन साधारण की गुजर बसर के लिए नीचे स्थलों मैदानों का उपयोग है, केवल ऊँचे स्थलों से काम नहीं चल सकता।

यह गोस्वामी जी का चातुर्य है और मर्यादावाद है कि निम्नता का गुण पक्ष सामने रख दिया, किसी तरह की निम्नता हो वह सर्वांश में हेय नहीं है। यदि वह निरभिमानता की पोषक है, आत्मग्लानि की सहायक है, दैन्यवर्धक है, अभिमान त्याग को सरल बनाती है, शरणागति के मार्ग को प्रशस्त करती है, तो परमार्थ पथ की साधिका है।

श्री रामचरित मानस में श्री गोस्वामी जी ने गर्वोक्ति नहीं की जैसा कि पण्डितराज जगन्नाथ जी ने रस गंगाधर में की थी या बीसवीं शती ईसवी में बर्नार्ड शॉ किया करते थे। उल्टे सन्तोचित भाव से लिखा कि—

कथित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे।।

तो क्या इस दैन्य भाव से भगवच्चरित्र लिखने में कोई कमी आई या बाधा पड़ी? नहीं। वे कहते हैं–

आरति विनय दीनता मोरी। लघुता ललित सुवारि न खोरी।।

गर्वोक्ति के स्थान पर दैन्योक्ति निरूपण या उपदेश को सुपच्य और ग्राह्य बनाती है। यदि ऊँचेपन का अभिमान रहा तो दूसरों के सामने उल्टा उदाहरण प्रस्तुत हो जाता है और दूसरों को प्राय: सत्पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा के स्थान पर चुनौती स्वीकार करने को उत्तेजना मिलती है। सन्त लोग दैन्य युक्त भाव, वाणी और व्यवहार रखते हैं, जिससे लोगों को बहुत सी हितकर बातें उनसे प्राप्त होती हैं, समझ में आती हैं, और आचरण की प्रेरणा मिलती है। श्री गोस्वामी जी का अति उत्तम संकेत है कि साधारण साधकों का जो सम्बल है वह श्रेष्ठताभिमानी उपदेशकों, प्रचारकों और पण्डितों से नहीं मिलता। वे लोग

अपने व दूसरे अन्त:करणों में विकारों को बढ़ाने में ही सक्षम होते हैं, जबकि सन्त जन निरभिमान रहकर विकारहीन दशा प्राप्त करते हैं और प्राप्त कराते हैं।

ऊँचे पर्वतों पर विषधर निवास कर सकते हैं, उसी तरह आभासमान् श्रेष्ठता के अत्यन्त अनिष्ट परिणाम हो सकते हैं, जब कि दैन्य भाव की भूमिका के परिणाम समाज के लिए अनेक रूपों में इष्ट सिद्ध हो सकते हैं, वे समाज के लिए आहाररूप, माधुर्यरूप अथवा शृंगार रूप भी हो सकते हैं। जो कार्य समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाले हैं वे अन्नाहार रूप हैं, जो समाज को सुखी करने वाले हैं वे माधुर्य (ऊख) रूप हैं और जो अन्य प्रकार से हितकर व शोभनीय हैं वे पान की तरह शृंगार रूप हैं। इन सभी प्रकार की सेवाओं के लिए दैन्य सहायक है, निज श्रेष्ठता का अभिमान बाधक है।

अभिमानी व्यक्ति दूसरे को पराजित, प्रताड़ित, अपमानित करना चाहता है, विशुद्ध करुणा व मैत्री की सतोगुणी वृत्ति निरभिमान सन्त में ही होती है। सतोगुणी व्यक्ति में ही भक्ति का विकास होता है, वही ज्ञान प्राप्त कर सकता है। श्रेष्ठता एक शक्ति है। प्राय: प्रत्येक प्रकार की शक्ति का सदुपयोग और दुरुपयोग सम्भव है। श्री भर्तृहरि ने कहा है–

विद्या विवादाय धनं मदाय, शक्ति परेषाम् परिपीडनाय।
खलस्य साधो विपरीतमेतत् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय ।। (नीतिशतक)

दुष्ट की विद्या विवाद के लिए होती है, धन घमण्ड के लिए, शक्ति दूसरों को सताने के लिए, साधुओं के पास विपरीतत: विद्या ज्ञान के लिए होती है, धन दान के लिए और शक्ति रक्षा करने के लिए होती है।

श्री वैराग्य संदीपनी वैराग्य को प्रदीप्त करने के लिए है। वैराग्य में केवल वाह्य विषयों का त्याग ही नहीं है। जनकादि वाह्य विषयों से घिरे होने पर भी, वैभव भोगते हुए भी, पूर्ण विरागी माने गए, जबकि बेरोज़गार, गरीब, कंगाल या भिखारी होने से ही किसी को वैराग्य नहीं होता। महर्षि पतञ्जलि विषय वितृष्णा को वश में करने को वैराग्य मानते हैं। श्री रामचरित मानस में कहा है—

कहिय तात सो परम विरागी। तृण सम सिद्धि तीन गुन त्यागी ।।

परम विरागी केवल साधारण विषयों से ही निस्पृह नहीं होता वह सम्पूर्ण सिद्धियों को भी और माया के तीनों गुणों (सतोगुण, रज़ोगुण, तमोगुण) को भी तिनके समान क्षुद्र और महत्वहीन जानता है, उनसे भी निस्पृह रहता है। श्री हनुमान् जी की स्तुति में कहा गया—ब्रह्म-लोकादि वैभव विरागी। (विनय पत्रिका)

जब ब्रह्म लोकादि तथा सभी सिद्धियों से परम वैराग्यवान् निस्पृह रहता है तो फिर जाति, कुल, वर्णं, विद्या, कला आदि में स्पृहा, आसक्ति या अभिमान रखना प्रशस्त कैसे हो सकता है? यह तो वैराग्य का उल्टा और परमार्थ पथ का घातक ही होगा।

प्रस्तुत दोहे से हमें यह सीखना चाहिए कि हम किसी भी सन्त, भगवच्छरणागत भक्त या साधु को केवल वाह्य कारणों से या जाति आदि के आधार पर कनिष्ठ या उपेक्षणीय न समझें, अपमानित न करें। भगवान् का सच्चा प्रेम जहाँ भी दिखाई पड़े हमें उसका आदर करना चाहिए। भगवान् स्वयं भक्त का आदर करते हैं, उसे अपनाते हैं, जाति आदि का परहेज नहीं करते। श्री शबरी जी से भगवान् ने कहा—

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउँ एक भगति कर नाता ।।
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई। धन बल परिज़न गुन चतुराई ।।

भगति हीन नर सोहै कैसा । बिनु जन वारिद देखिय जैसा ।।

सन्तों के जीवन में अनेकानेक उदाहरण मिलते हैं जिनमें उन्होंने ऐसे व्यक्तियों को सन्मान, सत्कार व प्रेम दिया जिनमें भक्ति थी यद्यपि उनकी सामाजिक स्थिति नीची थी ।

श्रेष्ठ वर्ण या जाति के उत्तम गुणों का धारण करना तो अच्छा हैं परन्तु चतुर साधकों को अति सावधान रहना चाहिए कि जाने या बेजाने किसी का अपमान न हो जाय । सन्त प्राय: गुप्त रहना चाहते हैं, मान क त्यागी होते हैं, अपनी श्रेष्ठता को प्रगट नहीं करते अत: सन्त को पहचानने और उनका आदर करने में सावधानी अपेक्षित है ।

कियेहु कुवेश साधु सनमानू । जिमि जग जाम्बवन्त हनुमानू ।।

जो व्यक्ति किसी सन्त का शरीर सम्बन्धी या सामाजिक स्थिति सम्बन्धी कारणों से तिरस्कार करता है, वह पाप का भागी होता है । साथ ही यह प्रमाणित हो जाता है कि वह सच्चा मुमुक्षु नहीं हैं, क्योंकि वह लौकिक बातों को महत्व देता है, मोक्षदायक गुणों का तिरस्कार करता है । वह इसलिए भगवद्भक्ति, सच्ची शरणागति, ज्ञान, वैराग्य या मुक्ति का अपात्र ठहरता है । इसीसे सावधान करने के लिए पूज्य गोस्वामी जी ने यह सन्देश दिया है ।

———

अति अनन्य जो हरि को दासा ।
रटै नाम निसि दिन प्रति स्वासा ।।
तुलसी तेहि समान नहि कोई ।
हम नीके देखा सब लोई ।।४०।।

जो भगवान् का अत्यन्त अनन्य भक्त है, वह दिन रात श्वास-श्वास पर नाम रटता रहता है । श्री तुलसीदास जी कहते हैं कि हमने सब लोगों को भली भाँति देख (परख) लिया, उसके समान (श्रेष्ठ) कोई नहीं ।

यहाँ श्री गोस्वामी जी ने अनन्य शरणागत, भगवान् के दास, को श्रेष्ठता बताई है । जो अति अनन्य दास है वह अहर्निश भगवन्नाम रटता है, श्री गोस्वामी जी की दृष्टि में वह सर्व श्रेष्ठ है, उसके समान और कोई नहीं है, ऐसा मत गोस्वामी जी ने भली भाँति सोच विचार कर के खोजबीन, अनुसंधान करके स्थिर किया है ।

भगवान् की भक्ति की अति उच्च भूमिकाएँ हैं, उनमें बिरले बिरले ही प्रतिष्ठित होते हैं । साधारण मनुष्य तो उन उच्च दशाओं की कल्पना करने में भी असमर्थ रहते हैं । अनन्य भक्तों की दशा दिव्य रहती है, लौकिक व्यवहार मात्र देखने से, उस दिव्य दशा की कल्पना भी सम्भव नहीं । अतः प्रस्तुत वचन की बात समझने के लिए भी साधारण संस्कार वाले जीव सक्षम नहीं । भगवान् की सच्ची दासता, केवल कथन मात्र नहीं, तभी हो सकती है जब जगत् के विषयों से उपरामता हो । इसके पहले की हुई भक्ति की साधना इस उपरामता का कारण बन सकती है ।

अत्यन्त मोहग्रस्त व आसक्त पुरुष को आसक्ति के स्थान में महान सुख प्रतीत होता है। यह प्रतीतिमान् सुख एक सीमा तक जीवन के साधारण अनुभवों से ही कम हो जाता है। फिर जगत् में सुखाभास से अधिक दुःखाभास होने लगता है। कटु अनुभवों से आसक्ति में झटके लगते हैं। तथापि इस क्रम से यह सुखाभास नष्ट नहीं होता। जगत् के स्वरूप का साक्षात्कार हो जाने से यह सुखाभास नष्ट हो जाता है। इसीलिए साधना के सोपान हैं। राम भक्त चार प्रकार के माने गए हैं—सुकृती चारिउ अनघ उदारा। (रा०च०मा० बालकाण्ड)। चहुं चतुरन कहँ नाम अधारा। (बाल काण्ड)।

जाना चाहहिं गूढ़ गति जेऊ। नाम जीह जपि जानहिं तेऊ।। (जिज्ञासु)
साधक नाम जपहिं लव लाए। होहिं सिद्ध अणिमादिक पाए।।
(अर्थार्थी)
जपहिं नाम जन आरत भारी। मिटहिं कुसंकट होंहि सुखारी।।(आर्त)
नाम जीह जपि जागहिं योगी। विरति विरंचि प्रपंच वियोगी।
ब्रह्म सुखहिं अनुभवहिं अनूपा। अकथ अनामय नाम न रूपा।।(ज्ञानी)

इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि भगवन्नाम के सप्रेम अवलम्बन से साधक की भूमिका उच्चतर होती ही चली जाती है और वह परमोच्च दशा तक पहुँच जाता है। आस्तिक धर्मों में भगवन्नाम की अत्यन्त प्रतिष्ठा है, जैसे इस्लाम व ईसाई धर्मों में। परन्तु अन्य धर्मों को भी मन्त्र और जप का आश्रय लेना पड़ता है। श्री दोहावली जी में घोषित किया गया है कि—

राम नाम अवलम्बन बिनु, परमारथ की आस।
बरसत वारिद बूंद गहि, चाहत चढ़त अकास।।

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलं। कलौ कास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव
गतिरन्यथा।। (व्यास)

चार प्रकार के भक्तों की भूमिकाओं को पारमार्थिक अर्थ में भी लिया गया है। भगवन्नाम के सेवन से संसार की भयानकता का बोध हो जाने पर उससे छूटने की तड़प आर्ति है, पारमार्थिक तत्व के ज्ञान की इच्छा जिज्ञासा है, भगवत्प्राप्ति का अपना प्रयोजन बन जाने पर इस अर्थ की प्राप्ति की साधना अर्थार्थी भक्ति है, ज्ञान प्राप्त हो जाने पर की जाने वाली परा भक्ति ज्ञानी की है, वह भक्त भगवान् से एक है, भगवान् को विशेष प्रिय हैं।

जब तक तृष्णा है, जगत् की दासता रहती है, भगवान् की सच्ची दासता प्राप्त नहीं होती।

तौ लौं जोगी जगत गुरु, जौ लौं रहे उदास।
जौ मन में आसा भई, जग गुरु जोगी दास॥

जगत् की दासता और हरिदासता साथ साथ नहीं चल सकती।

जे लोलुप भए दास आस के ते सेवक सब केरे।
प्रभु विश्वास आस जीती जिन ते सेवक हरि केरे॥ (विनय पत्रिका)

दासता की कसौटी और शोभा अनन्यता है। अनन्य दास वह है जो भगवान् का दास है किसी और का दास बिल्कुल नहीं है। 'ला इलाह इल् अल्लाह' भववान् के सिवा कोई पूज्य नहीं है) कुरान् (सूरे फातिहा) बाइबिल में भी अनन्यता का सिद्धान्त मान्य किया गया है--'कोई भी दो मालिकों की सेवा नहीं कर सकता' [मैथिड ६.२४] ईसा से जब पूछा गया कि धर्म का सबसे बड़ा और पहला आदेश क्या है तो उन्होंने कहा—भगवान् को पूरी तरह मन वचन कर्म से प्यार करना। [मार्क १२.३०] दूसरे नम्बर पर कहा कि पड़ोसी को आत्मवत् प्यार करना। [मार्क १२.३१] अन्य सब आदेश इन्हीं के अन्तर्गत आ जाते हैं। श्री रामचन्द्र जी ने किष्किन्धा काण्ड मे बताया है।

सो अनन्य जाके अस, मति न टरै हनुमन्त ।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवन्त ।।

अनन्य भक्ति का साधारण अर्थ यही लिया जाता है कि एक मात्र इष्टदेव की ही उपासना, अन्य किसी देवता की नहीं। परन्तु जहां सब अपने इष्टदेव का ही स्वरूप दिखाई देते हैं, वहाँ 'अन्य' का प्रश्न ही समाप्त हो जाता है। अन्य की उपासना की सम्भावना ही नहीं रहती। जिसे बहुत रूप दिखाई देते हैं, परन्तु एक इष्ट की ही उपासना करता है, अन्य की नहीं, वह अनन्य कहा जाता है, परन्तु जिसे किसी अन्य का दर्शन ही नहीं होता, वह इष्ट व अनिष्ट रूपों का भेद कैसे करेगा ? उसके लिए सब इष्टदेव स्वरूप ही हैं, वह अति अनन्य है।

अति अनन्य भक्त पूर्णतः शरणागत होता है। शरणागति के ६ लक्षण नारद पाञ्चरात्र में बताए गए हैं—

आनुकूलस्य संकल्पं प्रातिकूलस्य वर्जनं ।
रक्षिष्यतीति विश्वासः भर्तृत्वे वरणं तथा ।।
आत्म निक्षेप कार्पण्यं षड्विधा शरणागतिः ।

१. इष्ट के अनुकूल ही संकल्प करना, २. प्रतिकूल संकल्प न करना, ३. इष्टदेव ही हमारी रक्षा करेंगे ऐसा विश्वास रखना, ४. भरण पोषण के लिए एकमात्र इष्टदेव का भी भरोसा करना, ५. आत्म समर्पण, ६. दीनता का भाव।

इस प्रकार अनन्य शरणागत भक्त, सबको इष्टदेव रूप देखता हुआ [वासुदेवः सर्वम् गीता ७.१९] सबका सेवक होकर रहता है, वह अति अनन्य दास है।

सबको भगवद्रूप देखने का यह अर्थ नहीं होगा कि ऐसा भक्त हर एक की हर बात मान जायगा, क्योंकि यह असम्भव है। यह सब बातें परस्पर विरोधी हो सकती हैं। इन सबका मान लेना असम्भव हैं। भगवान् विभिन्न रूपों में प्रकट होकर लीला कर रहे हैं, परन्तु इस सब में उनके दास की क्या भूमिका हो यह भगवान् ने शास्त्र में स्पष्ट कर रक्खा है, सन्तों के द्वारा उपदिष्ट है। दास उसी मर्यादा में चलता है, लीला की किसी बात का सहारा लेकर वह उस मर्यादा से विचलित नहीं होता। अनन्य हरिदास पिता पुत्र को भगवद्रूप देखते हुए भी उसका प्रणाम स्वीकार करेगा, स्वयं उसके पैर नहीं छुएगा। यदि सर्वत्र भगवद्दर्शन की यह दशा प्राप्त न हो लेकिन कोई इसका दम्भ करे तो वह जिस किसी की बात अपनी वासना के अनुकूल हुई, उसकी बात मान लेगा और उसी को भगवान् का आदेश बताएगा। पर इससे वह पतन से नहीं बच सकता। सच्चा सर्वत्र भगवद्दर्शी, समदर्शी, मर्यादित, वैराग्यवान् होता है। उसकी वासना समाप्त हो चुकी होती है। उसे दम्भ से कोई प्रयोजन नहीं, किसी वासनापूर्ति का बहाना ढ़ूंढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं।

ताकर सुख सोइ जानइ, परानन्द सन्दोह। (उत्तर काण्ड)

जैसा कि पूर्व प्रसंग (छन्द सं० १४) में कह आए हैं—'अति अनन्य गति इन्द्री जीता।' अनन्य भक्त इन्द्रियजित् होता है।

सकल वासना हीन ने, राम भगति रस लीन।
नाम सप्रेम पियूष हृद, तिनहु किये मन मीन॥

यह आश्चर्य करना व्यर्थ है कि वासना हीन व्यक्ति भगवन्नाम प्रेमी क्यों होगा? उसका प्रयोजन ही क्या है? विपरीततः यह समझना चाहिए कि भगवन्नाम का वास्तविक प्रेम ऐसे वासनाहीन व्यक्ति के लिए ही सम्भव है। इससे पहले की साधना इस दशा की तैयारी मात्र है।

साधारण विषयी जीव की दृष्टि में लौकिक लाभ ही भक्ति का प्रयोजन है, परन्तु श्री रूप गोंस्वामी जी ने 'हरि भक्ति रसामृत सिन्धु' में कहा है कि 'भुक्ति मुक्ति स्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्तते' (जब तक भोग या मोक्ष इच्छा की रूपी चुड़ैल हृदय में विराजमान है) तब तक हरि भक्ति का अभ्युदय कैसे होगा ? इस प्रकार भोग ही नहीं मोक्ष की भी स्पृहा छूटने पर ही प्रेमा (परा) भक्ति का उदय होता है। 'चहौं न सुमति सुगति सम्पति कछु, रिधि सिधि विपुल बड़ाई। (वि०प०) परा भक्ति में प्रतिष्ठित होने, भगवान् की दिव्य लीला में प्रवेश पाने की जो दशा है, उसके वर्णन को पढ़कर अज्ञानी जीव को उसमें भी लौकिक आसक्ति का सा आभास मिलता है, परन्तु कोई भी आसक्ति उस लीला के लिए अपात्र बना देती है। सम्पूर्ण आसक्ति व मोह के लुप्त होने पर ही जिसमें प्रवेश मिलता है, उस आसक्ति विरोधिनी दशा को आसक्ति रूप समझना ही महामोह है।

जहाँ जनक गुरु गति मति भोरी। प्राकृत प्रीति कहत बड़ि खोरी।।
जेहि लागि विरागी अति अनुरागी, विगत मोह मुनि वृन्दा।

अतः अति अनन्य दास के लिए किसी लौकिक प्रयोजन की अपेक्षा नहीं है। इसीलिए ऐसी भक्ति को 'अहैतुकी' माना गया है। कुर्वन्त्य-हैतुकीं भक्ति इत्थम् भूत गुणो हरिः। (श्रीमद्भागवत १.७.१०)

इस चौपाई में श्री गोस्वामी जी ने ऐसी ही उच्चतम सोपान की भक्ति का चित्रण किया है।

जब तक हम भगवान् की भक्ति करके कुछ पाना चाहते हैं प्राप्तव्य वस्तु हमारी दृष्टि में भगवान् से भी श्रेष्ठ व अधिक प्रिय है, अनन्य भक्ति की ऐसी भूमिका नहीं हो सकती। अर्थ और काम की वासना क्षींण होने पर धर्म (पुण्य) की वासना तीव्र होती है। इसका

व्यक्ति और समाज के लिए उपयोग होता है परन्तु वह वासना भी मोक्ष की बाधक ही ठहरती है—

अलं अर्थेन कामेन, सुकृतेनापि कर्मणा ।
एभ्य: संसार कान्तारे, न विश्रांतमभून्मन: ।। (अष्टावक्र गीता १०.७)

अर्थ, काम और पुण्य की वासनाएं छोड़ो । इनके द्वारा इस संसार रूपी वन में भटकता हुआ मन कभी शान्त नहीं होता । यत: पुण्य कर्मानुष्ठान से हीं निम्नतर सोपानों से उत्थान होता है, तत्सम्बन्धी संस्कार के दृढ़ हो जाने पर उस आसक्ति का उत्सर्ग विषयासक्ति के त्याग से भी कठिनतर हो जाता है, परन्तु अनन्य भक्त वैसा उत्सर्ग करता ही है । श्री गीतावली जी में श्री राम वन गमन के प्रसंग में श्री कौशिल्या जी की महाराज दशरथ के प्रति टिप्पणी है—हरि तजि धरम शील भयो चाहत, नृपति नारि बस सरबस हारे ।।

श्री भरत जी का वाक्य है—

राउर बदि भल भव दुख दाहू । प्रभु जिनु बादि परम पद लाहू ।।

सूफ़ी (मुस्लिम) सन्तों की साधना में भी 'तर्क दुनियां' (लोक का त्याग) के बाद 'तर्क उकबा' (परलोक का त्याग) आता है । विनय पत्रिका में श्री हनुमन्त लाल जी की स्तुति में उन्हें 'ब्रह्म लोकादि वैभव विरागी कहा है ।

आजकल बहुत से विद्वानों, विचारकों, मनीषियों, प्रचारकों की यह आलोचना रहती है कि ऐसी निवृत्ति परायण विचारधारा जनोपकार की बाधक है । कर्मयोग निष्ठ पक्ष की यह शिकायत है कि यदि सभी विरक्त जन कर्म-संयासी होने लगेंगे तो समाज के व्यवहार में शुद्धि कभी आ न सकेगी । उनके विचार से इसीलिए श्रीकृष्ण की चेतावनी आवश्यक

है–मा ते संगोस्त्वकर्मणि (गीता २.४७) [तेरा अकर्म में भी संग न हो]। भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में कर्म संन्यास से कर्म योग को श्रेष्ठ कहा है। [गीता ५.२] जब दूसरे धर्म वाले भारतीय दर्शन को निरा पलायनवादी या परलोकवादी बताते हैं तो [यद्यपि वह आलोचना अन्य महान् धर्मों पर भी घटित हो सकती है] प्रायः भारतीय मनीषियों को उपर्युक्त प्रकार के गीतोक्त या उपनिषदुक्त वचनों का ही सहारा लेना होता है। अतः एकदम निवृत्ति परायण स्थिति को परमोच्च घोषित करना उन्हें पसन्द नहीं आता। शास्त्रानुकूल सम्यक् विचार करने से प्रतीतिमान् विरोधाभास का परिहार हो जाता है।

एक तो यह स्मरणीय है कि श्री गीता जी में भी जिस कर्मयोग का प्रतिपादन है वह 'संकल्प रहित' स्थिति है। 'सर्व संकल्प संन्यासी योगारुढ़स्तदेच्यते।' [गीता ६ ४] सन्यास और कर्मयोग की एकता बताते हुए कहा है कि––न ह्यसन्यस्त सकल्पो योगी भवति कश्चन। [गीता ६.२] अतः भले ही समझ में आने में कठिनाई हो, परन्तु गीतोक्त कर्मयोग पर निवृत्ति परायण स्थिति की मुख्य शर्त, संकल्प रहित दशा, लागू होती है। इसी प्रकार यह महत्वपूर्ण घोषणा है कि—

ज्ञेयः स नित्य सन्यासी यो न द्वेष्टि न काँक्षति। [गीता ५.३]

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स सन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः। [गीता ६.१]

जो कर्मफल का आश्रय न लेकर, उचित कर्मों को ही करता है, वही सन्यासी व योगी भी है, अग्नि का त्यागी या कर्म का त्यागी [वेश से सन्यासी] नहीं। इस प्रकार श्री गीता जी को भी वह विरोधाभास मान्य नही है जो बहुत से विचारकों को प्रतीतिमान् है।

जिज्ञासु के लिए असली पहेली यह है कि संकल्प रहित व्यक्ति कर्म कैसे करेगा ? परन्तु इसकी उल्टी समस्या यह है कि कैसा भी कर्म-सन्यासी हो जीवित रहते उसका कर्म कैसे रुकेगा ? 'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्' [गीता ३.५] एक क्षण भी कर्म किये बिना रह नहीं सकता। जब डाक्टर परीक्षा करता है कि रोगी जीवित है या नही, तो वह यह देखता है कि देह में कोई कर्म हो रहा है या नहीं, नाड़ी चलती है या नहीं, दिल धड़कता है या नहीं, साँस चलती है या नहीं। यदि सब कर्म बन्द हैं तो डाक्टर उसकी मृत्यु घोषित कर देता है। यह तो सभी जानते हैं कि श्वास-प्रश्वासादि स्वयं चालित कर्म चलते ही रहेंगे पर विवाद जान बूझकर किये जाने वाले कर्मों के विषय में है। सहज क्रियाओं में पुण्य पाप का प्रश्न नहीं आता। जान बूझकर किये जाने वाले कर्मों में स्वार्थ, परार्थ, पाप, पुण्य, परअपकार परोपकार के प्रश्न उठते हैं।

भोजन, स्नान, चलना, फिरना, लेटना, सोना यह सहज क्रियाएँ नहीं हैं, इन्हें समय बाँध कर, कार्यक्रम बनाकर किया जाता है तो क्या कर्म सन्यासी के यह सब काम बन्द हो जाते हैं ? बन्द नहीं होते, चलते रहते हैं। सन्यासी को भी भिक्षा करने की अनुमति हैं क्योंकि देह धारणार्थ वह आवश्यक है। रोग होने पर चिकित्सा भी देह धारणार्थ आवश्यक हो सकती है। चिकित्सा से सम्बन्धित सभी कर्म सँभाल कर करने ही होंगे। अतः आवश्यक कर्म सहज क्रिया तक सीमित नहीं हैं। उनका बहुत विस्तार है। कर्म सन्यासियों को भी देह धारणार्थ कर्म करना ही होता हैं। श्री गीता जी में भी कहा है—शरीर यात्रापि च ते, न प्रसिद्ध्येदकर्मणः (३.८) बिना कर्म के जीवन यापन भी न हो सकेगा। जीवन धारण की आवश्यकता निवृत्ति वालों के लिए भी मान्य की गई क्योंकि जीवन धारण करके ही साधन किया जा सकता है—तनु बिनु वेद भजन नहि वरणा (उत्तर काण्ड)। इससे यह स्पष्ट

हुआ कि कर्म सन्यासी न केवल जीवन धारणार्थ कर्म करेगा, वह साधन के कर्मों को भी करेगा, जैसा कि (उदाहरणत:) श्री आदि शंकराचार्य ने साधन पंचक में बताया है, अथवा जो साधन चतुष्टय (विवेक, वैराग्य, षट्-सम्पत्ति, मुमुक्षत्व) के अन्तर्गत आता है। साधन पर विचार करने से पहले साधकों को कर्म शोधन की आवश्यकता लक्षित होती है। नित्य, नैमित्तिक, नियत कर्मों का अनुष्ठान, पुण्य कर्म सम्पादन, वर्जित अनिष्टकारी, पापयुक्त, समाज के लिए अहितकारी कर्मों का त्याग। इस भूमिका में पुण्य कर्मों का अनुष्ठान आवश्यक है ही। जगत् की आसक्ति कम होने पर भक्ति की साधना का अधिकार होता है, भक्ति से अन्त:करण की शुद्धि होती है, ज्यों ज्यों भगवान् की भक्ति बढ़ती है, विषयासक्ति क्षीण होती है—'भक्त्या प्रक्षाल्यते चेत:' विवेक चूड़ामणि प्रेम भगति जल बिनु खगराई। अभ्यन्तर मल कबहुँ कि जाई॥ (उत्तर काण्ड) शुद्ध अन्त:करण में ही ज्ञान होता है। भक्ति की साधना में दया, करुणा, सेवा आवश्यक हैं। 'भक्ति' शब्द 'भज्' धातु से बना है जिसका सेवा के अर्थ में प्रयोग होता है। अनन्य भक्ति युक्त व्यक्ति भी चराचर को अपने स्वामी भगवान् का रूप देखता है और अपने को सेवक मानता है, इसलिए वह सेवा कर्म से विरत कैसे हो सकता है? सेवा करेगा ही। भक्ति प्रधान निष्काम कर्मयोग में लोक सेवा आवश्यक है, वैकल्पिक या वर्जित नहीं। विशुद्ध भक्ति योगी भी अपने को दीन हीन समझ कर सेवा प्रधान वृत्ति रक्खेगा। समाज की सेवा उसकी साधना से उल्टी नहीं पड़ती।

व्यवहार में यह देखा जाता है कि बहुतेरे जन सेवी अपने सेवा काम में लगे हुए परमार्थ पथ से भटक जाते हैं, आसक्ति में पड़ जाते हैं सत्पथ से डिग जाते हैं। इसका कारण यह है कि अस्मिता, संकल्प, कामना, वासना युक्त कर्म बन्धन का ही कारण है, मोक्ष का सहायक नहीं। भक्त की सेवा, अस्मिता, निजी संकल्प, कामना, राग द्वेषादि विकारों से रहित

होगी । 'सकल प्रकार विकार विहाई । मन क्रम वचन करेहु सेवकाई ।' भक्त तो सदैव भगवान् की ही सेवा करेगा भगवान् से पृथक मान्य जनता या समाज या लोक का सेवक वह नहीं हो सकता । उसकी सेवा भगवत्प्रतीत्यर्थ होगी । वह मुक्तिदायिनी ही होगी, मुक्ति घातिनी नहीं हो सकती । जन सेवकों के जीवन में जो अनर्थ परिपाक प्रायः होता है, वह इसलिए कि उनकी सेवा भगवद्भाव से रहित है, बहुत बार तो स्वार्थ प्रेरित या दाम्भिक ही होती है । अनन्य भक्त के जीवन में सेवा समाप्त नहीं होगी, विशुद्ध होगी, वही प्रभावी होगी । श्री स्वामी रामतीर्थ जी एक बार अमेरिका में एक पार्क में विश्राम कर रहे थे । किसी ने कहा, 'क्यों यहाँ आलस्य में पड़े हो, जाओ कुछ अच्छा काम करो ।' श्री स्वामी रामतीर्थ जी बोले, 'अच्छा काम करने वाले पेशे में क्या अभी पर्याप्त भीड़ नहीं है ?' खतरा यही है कि जन सेवा भी एक पेशा बनकर रह जाती है, साधना नहीं रहती । फिर 'लोभ ग्रसे शुभ कर्म' के अनुसार सेवा भ्रष्ट हो जाती है । इसी पतन से कर्म सन्यासी साधक को भय है ।

यह कहा जा सकता है कि जीवन धारण का प्रयोजन साधना है, तदर्थ कर्म साधक के लिए है, सिद्ध के लिए न वह प्रयोजन है न वह कर्म आवश्यक है । इसी प्रकार, यह बहुत बड़ा सन्देह बहुत बार उठता है कि अद्वैतदर्शी के लिए सेवा कर्म या कोई भी कर्म सम्भव नहीं, क्योंकि द्वैतात्मक जगत् में ही कर्म सम्भव है । ज्ञानि प्राप्ति के बाद कर्म का अपने कुछ प्रयोजन नहीं रहता, 'तस्य कार्यं न विद्यते [गीता ३ १७], जगत् स्वप्नवत् भ्रमात्मक ठहरता है, अतः लोकोपकार की भी कल्पना नहीं हो सकती, साथ ही अद्वैत स्थिति के साथ कर्म का मेल नहीं बैठता । अतः पुण्य कर्म भी छूटेगा । इस सन्देह द्वारा प्रस्तुत दारुण असम्भावना निवृत्त हो सकती हैं, यद्यपि 'सिद्धावस्था और व्यवहार

एक अत्यन्त सूक्ष्म और जटिल विषय है, जिस पर श्री लोकमान्य तिलक ने 'कर्मयोग रहस्य' में एक बड़ा ही उत्तम अध्याय लिखा है।

यह दावा नहीं किया जाता है कि ज्ञानी को जगत् भासता ही नहीं। उसे यह सत्य रूप, सुख रूप, ग्राह्य उपादेय या प्राप्तव्य रूप नहीं भासता, असत्यरूप, स्वप्नरूप, इंद्रजाल रूप (या आधुनिक सिनेमा या टेलीविजन रूप भासता है। वह इसका तटस्थ दृष्टा (साक्षी) मात्र है। जगत् का व्यवहार भी उसे भासता है, परन्तु उस आभास से वह विकारवान् नहीं होता। अपना कहा जाने वाला देह भी दृश्य जगत् का अंग है। जगत् असत् है तो देह भी असत् ही है। जो मनुष्य स्वप्न देखता है उसका शरीर तो सुख से पलंग पर सोता रहता है परन्तु स्वप्न के भीतर उसका भी देह दृष्टिगोचर होता है और यही सक्रिय रहता है। इस देह को सत्य और शेष स्वप्न को असत्य नहीं कह सकते। सारा स्वप्न असत् और अभाव रूप है तो तद्गत सभी देह कल्पित और मिथ्या हैं, तथाकथित स्वप्नदृष्टा का स्वप्नगत देह भी कल्पित और अविद्यमान् है। वैसे ही उसके कर्म भी हैं। जीवन्मुक्त पुरुष जगत् और उसके कर्मों क्रियाओं की तरह तथाकथित निज देह को भी मिथ्या ही देखता है, उसके कर्म भी वास्तविक नहीं, स्वप्न के कर्मों की तरह हैं। ज्ञानी के अद्वैत दर्शन से जगत् की प्रतीति सगाप्त नहीं हो जाती, जगत् का व्यवहार बन्द नहीं हो जाता, उसकी अपनी कही जाने वाली देह की प्रतीति समाप्त नहीं हो जाती, न उसके कर्म बन्द हो जाते हैं। तीन गुणों (सत्व, रज, तम) का प्रभाव उसके व्यवहार पर भी पड़ता है, केवल यह होता है वह त्रिगुणों से विकारवान् चलायमान् नहीं होता, 'गुणैर्यों न विचाल्यते' (गीता १४.२३)। गुणातीत की व्यवहार में स्वाभाविक स्थिति सतोगुण में रहती है, यद्यपि वह उस गुण से भी बँधा हुआ नहीं होता। 'निर्द्वन्द्वो नित्य सत्वस्थो, निर्योगक्षेम आत्मवान् (गीता २.४५)। जिस आत्मज्ञानी को यह भूमिका है कि–'नाह देहो न

मैं देही' (अष्टावक्र गीता ११.६) उसके लिए जैसे अन्य देहों के प्रतीतिमान् कर्म अद्वैत दर्शन के घातक नहीं हैं, वैसे ही तथाकथित स्वदेह के भी कर्म अद्वैत दर्शन के घातक नहीं हो सकते हैं। इसलिए जिन कर्मों की सम्भावना औरों के लिए हैं, उनकी उसके लिए असम्भावना नहीं हो सकती। उसका देह अत्यन्त सक्रिय या निष्क्रिय रह सकता है, कर्म से उसका ब्रह्मज्ञान (या अद्वैत दर्शन) अप्रभावित रहता है। ऊपर की विचार धारा कोरी कल्पना नहीं है। कितने ही जीवन्मुक्त महापुरुष अत्यन्त सक्रिय जीवन बिताकर दिखा चुके हैं। श्री जनक जी जीवन्मुक्त थे, राज्य संचालन भी करते थे। श्री हनुमान जी जीवन्मुक्त थे परन्तु परम सक्रिय और पराक्रमा भी थे। भीष्म भी पराक्रमी योद्धा थे और जीवन्मुक्त भी थे। श्री गुरु गोविन्द सिंह जी महान् पराक्रमी वीर थे।

सवा लाख से एक लड़ाऊँ। तब मैं गोविन्द सिंह कहाऊँ।।

पर वे जगत् का सभी व्यवहार के साक्षी मात्र थे–

हौं तो परम पुरुष को दासा। आएउँ देखन जगत् तमासा।।

यह नहीं कहा जा सकता कि ज्ञानी परोपकार, प्रचार या जनसेवा कार्य नहीं करता। इसका उल्टा कथन अधिक सही होगा कि सच्ची जन सेवा, सार्वजनिक कार्यं, लोकाराधन ज्ञानी ही कर सकता है, क्योंकि वही स्वार्थ रहित, निर्विकार, शान्त और समचित्त रह सकता है। अतः अनन्य भक्ति या ज्ञान प्राप्ति लोक मंगल के कार्य हेतु साधक शक्ति है, बाधक शक्ति नहीं। उससे भिन्न अहंभाव युक्त जो योजनाएँ हैं वे सहज ही विकार भ्रष्ट होकर ध्वस्त हो सकती हैं। अब इस पर ध्यान दें कि श्री गोस्वामी जी निशि दिन श्वास श्वास में भगवन्नाम रटने वाले अति अनन्य हरिदास को ही सर्व श्रेष्ठ मानते हैं।

भगवन्नाम की महिमा सर्व विदित है। चहुँ युग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ (बाल काण्ड)। भगवन्नाम महिमा यहूदी, ईसाई, इस्लाम, सिक्ख

धर्मों में भी खूब पाई जाती है। परन्तु भगवन्नाम महिमा सुविदित होकर भी एक प्रकार से अविदित ही है। क्योंकि वह अनिर्वचनीय है। शास्त्रों में जो वर्णन मिलता है वह अनिर्वचनीय तत्व को वचनों से समझाने की कोशिश है। कोरे तर्क से वह महिमा बुद्धि में जम नहीं पाती। परन्तु सन्तों के अनुभव से वह महिमा विलक्षण व अलौकिक सिद्ध होती है।

उच्च कोटि के सन्त भगवन्नाम की अपार पाप नाशिनी शक्ति में पूर्ण आस्था रखते हुए भी उस शक्ति का अपने पाप मोचन या दुःख मोचन के लिए प्रयोग नहीं करते, वे भगवन्नाम में अहैतुकी, अलौकिक प्रीति रखते हैं।

प्रिय राम नाम तो जाहि न रामो।
ताको भलो कठिन कलिकालहुँ, आदि मध्य परिणामो॥ (वि०प०)

श्री गोस्वामी जी का विश्वास है कि भगवन्नाम के प्रताप से असंभव सम्भव हो सकता है–

नाम प्रताप सही जो कहै कोउ, सिला सरोरुह जामो। (वि०प०)

यद्यपि भगवन्नाम से सभी परिचित हैं परन्तु सच्चे भगवन्नामानुरागी बिरले बिरले ही मिलते हैं, उनकी स्थिति, उनकी महिमा को समझना भी साधारण साधक की शक्ति के परे है। तथापि यहाँ यह विचार प्रासगिक है कि श्री गोस्वामी जी ने जो अहर्निशि हरिनाम रठने की बात कही है वह कैसे सम्भव है और वैसी रटन करने वाले को सबसे श्रेष्ठ क्यों माना गया है?

बहुधा नाम के साधक निश्चित समय का दैनिक जप करते हैं। इस प्रकार साधन का प्रारम्भ होता है। आधा घण्टा, एक घण्टा जप करके

बहुत से भक्त शेष समय के लिए खाली हो जाते हैं, फिर भगवन्नाम स्मरण की चिन्ता नहीं रहती। ऐसी साधना प्राय: यान्त्रिक रहती है, भाव पूर्णं नहीं। नामामृत सिन्धु में स्नान की तरह वह नहीं होती। परन्तु जिन साधकों का जप एकाग्रता से होता है और भाव पूर्णं हहता है, उन्हें जो आनन्द प्राप्त होता है, उसके कारण बँधे वक्त के जप से उन्हें सन्तोष नहीं होता। अधिकाधिक समय वे भगवान् के स्मरण और नाम जप में लगाना चाहते हैं। पूजा के अतिरिक्त समय में भी भगवन्नामाराधन जारी रखने का प्रयास करते हैं। निराकार के व साकार के, दोनों प्रकार के उपासक भगवन्नाम का आश्रय लेते हैं–

अगुन सगुन बिच नाम सुखाखी। उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी ।।

भगवत्स्मरण और नाम जप अलग अलग साधन नहीं हैं। भगवत्स्मरण पूर्वक नाम जप चलता है। तज्जपस्तदर्थ भावनं [योगसूत्र] उत्तम साधकों का जप भाव सहित होता है और उससे भगवत्प्रेम बढ़ता ही जाता है।

द्वादश अक्षर मन्त्रवर, जपहिं सहित अनुराग।
वासुदेव पद पंकरुह, दम्पति मन अति लाग।। [बाल काण्ड]

उत्तर काण्ड में भरत की विरह की दशा वर्णन करते हुए कहा है–
राम राम रघुपति जपत, स्रवत नयन जल जात।

ऊँचे नाम प्रेमियों की नाम निष्ठा भी अहैतुकी हो जाती है, जगत् के किसी विषय के लिए नहीं होती। तब अनवरत नाम रटन चलाने की साधना की जाती है उच्च कोटि के नाम प्रेमी प्राय: गुप्त रहते हैं। उनकी नाम साधना का सबको पता नहीं चलता। कोई कोई जो प्रत्यक्षही दिन भर नाम साधना में लगे रहतें हैं, उनकी भी आन्तरिक स्थिति प्राय:

अज्ञात ही रहती है और यह उनकी नामाराधना की निर्विघ्नता में सहायक है। प्रस्तुत लेखक का परिचय एक ऐसे सज्जन से था जो अपनी नई उमर से ही भगवन्नाम के गहरे अनुरागी थे। वे साधारण गृहस्थ की तरह घर में रहते थे, नौकरी करते थे, परन्तु बराबर भगवन्नाम में लगे रहते थे। भगवन्नाम में उनकी समाधि लग जाती थी, जो कभी कभी घण्टों चलती थी। यह मालूम है कि कभी कभी वे इसलिए आकस्मिक अवकाश लेते थे कि खूब जी भर कर भगवन्नाम का आनन्द लें। शास्त्राध्ययन उन्होंने नहीं किया था परन्तु बातचीत में उनके मुख से शास्त्र-सम्मत वचन सहज ही निकलते थे। उनके जीवन में कभी कभी विलक्षण चमत्कार भी सहज ही घटित हुए परन्तु उनकी सन्त रूप में मान्यता उनकी गली भर में भी नहीं थी। वह जितने गुप्त रहना चाहते थे, रह सके। यह तो एक उदाहरण है। ऐसे कितने ही सन्त हो चुके और हैं। उनकी गति प्राय: अलक्ष्य रहती है। उनका बाहरी जीवन और पर्यावरण उन्हें भगवन्नाम में आनन्द विभोर रहने से रोक नहीं सकता। उससे अधिक लाभ और कोई नहीं है। अत: उस परम लाभ में ही वे मस्त और तृप्त रहते हैं। उनका भगवन्नामानुराग सभी लौकिक संस्कारों को मिटाता जाता है–

आई जो उनकी याद तो आती चली गई।
हर नक्शे पा को दिल से मिटाती चली गई।।
मन ते सकल वासना भागी। केवल राम चरण लय लागी।।
(उत्तर काण्ड)

इस प्रकार प्रेम की वाढ़ आ जाने पर ही अहर्निशि रटन का सोपान सम्भव होता है, हर एक के लिए नहीं। प्रश्न यह उठता है कि ऐसे सन्तों के लिए भी अहर्निशि श्वास श्वास में नाम रटन कैसे सम्भव है?

एक तो रटन का अर्थ यहाँ भगवन्नाम की आवृत्ति मात्र लिया जाय अर्थात् भगवन्नाम का बार बार लेना, यह अर्थ न लिया जाय कि जीभ से बार बार ज़ोर से कहना। जीभ से कहना हर समय नहीं चलेगा, जैसे बात करते समय, खाते समय और सोते समय। वाणी चार प्रकार की मानी गई है–परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी। जीभ से औरों के सुनने लायक शब्द वैखरी वाणी है, बाहर स्पष्ट शब्द न हो परन्तु भीतर भीतर शब्दोच्चार हो, यह कण्ठ स्थित मध्यमा वाणी मानी जाती हैं। नाद बिल्कुल न हो अर्थात् आवाज न हो पर मानसिक जगत् में शब्दोच्चार हो यह पश्यन्ती वाणी है। जब हम विचार करते हैं तब भी शब्द काम नें आते हैं, आवाज नहीं होती। विचार के साथ आवाज भी निकले और सुनी जा सके तो वह वैखरी वाणी है। मानसिक जगत् से भी सूक्ष्म और विलक्षण परा वाणी है, जो सूक्ष्मतम, संकल्प जगत् से सम्बन्धित है।

श्री चरण दास जी ने 'भक्ति सागर' में लिखा है—

आठ मास मुख सों जपै, सोलह मास कण्ठ जाप।
बत्तिस मास हिरदै जपै, तन में रहै न पाप।।

यह वैखरी, मध्यमा व पश्यन्ती द्वारा जप है। परा वाणी एक प्रकार से शब्दातीत है। सोते समय भी परा का अवरोध नहीं है। जो नाम ध्वनि रोम रोम के व्याप्त हुई कहीं गई उसका स्वरूप अलौकिक है, वह श्रवण गोचर (सुनने लायक) वैखरी वाणी नहीं है। उसका स्वरूप एक यौगिक रहस्य है। जिन सन्तों का जप परा वाणी तक पहुँच चुका है, उनकी नाम रटन अहर्निशि अनवरत (अखण्ड) चलना सम्भव और सहज है।

अब से लगभग पचास वर्ष पहले मेरठ से 'संकीर्तन' नामक एक मासिक पत्र निकलता था। भगवन्नाम पर उसका एक विशेषांक निकला।

उस अंक विशेष के सम्पादक पूज्यपाद प्रभु दत्त जी व्रह्मचारी बनाए गए। उन्होंने अति उत्तम सम्पादकीय लेख लिखा। इसमें भगवन्नाम साधना की गहराई को अत्यन्त सरल शब्दों में समझाया। उन्होंने लिखा, 'जब मैं जेल में था (स्वराज्य आन्दोलन में) तो मेरे साथ बहुत से विद्यार्थी भी थे। मैं चलते फिरते दिन भर श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे। हे नाथ नारायण वासुदेव।। रटा करता था। वे कहते इस तरह नाम रटने से क्या फायदा ? (जबकि मन दूसरे दूसरे कामों में लगा रहता है) मैंने उनसे पूछा कि तुम लोग जब कक्षा में पढ़ते हो तो तुम्हार मन एकदम अध्ययन में लगा रहता है ? या भटकता रहता है उन्होंने स्वीकार किया कि भटकता रहता है।

तो फिर तुम लोग पढ़ाई बन्द कर देते हो या उसी तरह पढ़ते रहते हो ? उसी तरह पढ़ते रहते हैं। और उसी तरह पढ़ते हुए परीक्षा भी देते हो ? हाँ। तो फिर मेरे लिए यह पाबन्दी क्यों लगाई गई कि पूरे मन से भगवन्नाम लूं या बिल्कुल न लूं।

पूज्यपाद प्रभुदत्त व्रह्मचारी जी ने एक और घटना का उल्लेख करके समझाया।

'मेरा एक आपरेशन होने वाला था। उसमें बेहोशी की जानी थी। मैने पता लगाया कि बेहोश रोगी क्या करते हैं। लोगों ने बताया कि बेहोशी में खूब गालियाँ बकते हैं। मुझे चिन्ता हुई कि यदि मैंने बेहोशी के समय गालियाँ बकीं तब तो बड़ी लज्जानक बात होगी।

बेहोशी की गई। आपरेशन हो गया। होश में आने पर मैंने पूछा कि बेहोशी के समय मैं गालियाँ तो नहीं बक रहा था ? मुझे बताया गया कि मैंने गालियाँ बिल्कुल नहीं बकीं। मैं तो केवल—श्रीकृष्ण

गोविन्द हरे मुरारे। हे नाथ नारायण वासुदेव कहता रहा। अब बताइये कि बेमन से भी रटा हुआ नाम यदि मन में न उतर जाता तो बेहोशी में कैसे निकलता ?

उपर्युक्त से लक्षित होता है कि नाम की प्रबल साधना से नाम अचेतन मन में व्याप्त हो जाता है। अचेतन मन की क्रिया जागृत अवस्था तक सीमित नहीं है।

इसीलिए यह कहा जाता है कि भगवन्नाम लेते लेते ही सो जाता है और भगवन्नाम लेते हुए उठता है, उसका जप सोते समय भी (अचेतन मन में) चलता रहता है और अखण्ड जप मान्य है। इस दृष्टि से अहर्निशि अखण्ड रटन या जप सम्भव है।

एक और बात भी स्मरणीय है। जप के क्रम में अजपा जाप भी माना गया है, जिसमें जाप किये बिना अपने आप हुआ करता है। इसका अनुभव भी जागृत अवस्था तक सीमित नहीं है। योगियों, सन्तों, का यह अनुभव है कि भगवन्नाम ध्वनि अपने आप ही अनवरत रूप से हो रही है, साधारण मनुष्य को सुनाई नहीं देती परन्तु साधना करने पर सुनाई देती है। किसी किसी को केवल ध्यान की दशा में सुनाई देती है, परन्तु ऐसे सन्त भी हैं, जिन्हें यह दिन रात अखण्ड रूप से सुनाई देती है। कभी कभी यह ध्वनि बड़ी जोर की होती है, उसका ध्यान लगाने का प्रश्न ही नहीं आता, उल्टे उस ध्वनि के कारण दूसरे की बात सुनना समझना कठिन हो जाता है। इस दशा के प्राप्त होने पर केवल उस ध्वनि को सुनते रहना ही भजन है। ऐसे महाभाग सन्तों के लिए अहर्निशि नाम रटन असम्भव कहां है ? श्वास प्रश्वास के साथ नाम जप करने से श्वास प्रति श्वास रटन होने ही लगती है।

तथापि जिन लोगों को ऐसी दशाएँ प्राप्त नहीं हैं, उनके लिए कभी कभी सन्तों का दूसरे प्रकार का उपदेश होता है। यह मानकर कि प्रत्येक श्वास के साथ नाम जप (या रटन) न हो सकेगा, यह उपदेश दिया जाता है कि कुछ समय तक नित्य एक एक श्वास में अनेक बार भगवन्नाम लेना चाहिए और इतनी जप संख्या पहुँचा देना चाहिए कि वह साधारणतः चौबीस घण्टों में ली गई श्वासों की कुल संख्या के बराबर पहुँच जाय। एक मिनट में १५ श्वासों के हिसाब से १ घण्टे को ९00 श्वासें होती हैं, चौबीसी घण्टे की २१६०० श्वासें। अतः २१६०० जप संख्या की सम्मति दी जाती है। श्वासों की गति हर समय एक सी नहीं रहती। विकारवान् चित्त होने से श्वास की गति तीव्र होती है। जागृत, स्वप्न, सुसुप्तावस्थाओं में भी श्वास की गति एक समान नहीं होती। ज्वर में नाड़ी ही नहीं, श्वास की गति भी तीव्र हो जाती है। श्वास की गति का सम रहना स्वयमेव एक सिद्धि है और निर्विकार, शान्त चित्त का प्रमाण है श्वास की गति ध्यानावस्था में, समाधि में धीमी हो जाती है, कभी कभी समाधि अवस्था में श्वास रुक भी जाती है, नाड़ी भी रुक जाती है, दिल की धड़कन बन्द हो जाती है। परन्तु यह दशा अत्यन्त असाधारण अलौकिक सी है। साधारणतः प्रायः सभी समय श्वास की गति प्रति मिनट बारह से अठारह के बीच होती है अतः १५ का औसत लेकर २४ घण्टे में २१६०० श्वासों का हिसाब लगाया जाता है। इन सय बातों पर विचार करने से श्री गोस्वामी जी का अमृतोपदेश समझ में आ सकता है और उसे अतिशयोक्ति कह कर टालना आवश्यक नहीं रह जाता।

जो अनन्य हरिदास है और अहर्निशि प्रति श्वास नाम रटन करता है, श्री गोस्वामी जी ने उसे सर्व श्रेष्ठ माना है, उसके समान किसी और को नहीं माना। ऐसा क्यों ?

यह तो समझ ही लेना चाहिए कि श्री गोस्वामी जी स्वयं भगवन्नाम के अनन्य अनुरागी हैं। यहाँ उनकी अपनी निष्ठा का प्रकाश है। अनन्य भक्ति की यह दशा उपासना का चरमोत्कर्ष है। भगवन्नाम साधारण शब्द नहीं है। माण्डूक्य उपनिषद् में भूत, भविष्य, वर्तमान् को सब सृष्टि ॐकार स्वरूप ही बताई गई है। इस पर श्री गौड़पादाचार्य जी की कारिका और आदि शंकराचार्य जी का भाष्य है।

'सर्व खल्विदं ब्रह्म' के अनुसार सब ब्रह्ममय हैं।' 'वासुदेव: सर्वम्' (गीता ७.१९) का भी वही सन्देश है। 'समुझत सरिस नाम अरु नामी' (बाल काण्ड) के प्रकाश में सब कुछ नाम मय है। इस दशा की अनुभूति विरल है।

द्वैत दर्शन में ही भगवान् और संसार का भेद और विभाजन है, आदर्श स्थिति में नहीं।

नाममय जीवन का वस्तुत: व्यवहार में निष्क्रिय होना आवश्यक नहीं। नामानुरागी का जीवन बाहर से दोनों तरह का हो सकता है, एकान्त परायण, कर्म क्षेत्र से अलग, ध्यान प्रधान अथवा अत्यन्त सक्रिय, क्रान्तिकारी, पराक्रमी। दोनों दशाओं में नामानुरागी समाज का, जाने बेजाने महान् हित साधक होता है। श्री हनुमान जी अनुपम भगवन्नामानुरागी, परम विरक्त, ज्ञानिनामग्रगण्यं' (सुन्दर काण्ड) होने के साथ साथ 'अतुलित बल धामं' भी हैं, लंका के युद्ध में उनका अनुपम पराक्रम रहा, राम सेवा में ऐसे सावधान व समर्पित कि 'राम काज लगि तव अवतारा' (किष्किधा काण्ड) को पूरा पूरा सार्थक कर दिया। उनके रोम रोम में राम नाम का व्याप्त होना प्रसिद्ध है। श्री हनुमन्नाटक के मंगलाचरण के श्लोक में केवल भगवन्नाम की ही स्तुति की गई है।

अज्ञानी की दृष्टि में भगवन्नाम में अत्यन्त निष्ठ व्यक्ति पलायनवादी है, वह महान् पराक्रमी भी हो सकता है, निर्विकार जीवन स्वयमेव

सबसे बड़ा पराक्रम है। श्री राम नाम के अनुराग से पुन्यानुष्ठान का बाधित होना श्री गोस्वामी जी को मान्य नहीं है।

यथा भूमि सव बीजमय, नखत निवास अकास।
राम नाम सव धरममय, जानत तुलसीदास ।। (दोहावली)

श्री हनुमन्नाटक के मंगलाचरण के श्लोक में श्री राम नाम को– 'कल्याणानां निधानं' कहा है, ममुक्षु का पाथेय (सम्बल) बताया है तथा 'वीजं धर्म दुमस्य' [धर्म रूपी वृक्ष का बीज] निरूपित किया है। महर्षि पतञ्जलि ने भी योग दर्शन में 'धर्म मेघ समाधि [योग सूत्र ४.२९] का उल्लेख किया हैं।

मीठा अरु कठवति भरो, रोताई अरु छेम।
स्वारथ परमारथ सुलभ, राम नाम के प्रेम ।। [दोहावली]

यदि किसी को लौकिक प्रगति [अभ्युदय] और पारमार्थिक कल्याण (निःश्रेयस्, मोक्ष), दोनों के बीच कोई विरोधाभास प्रतीत होता हो तो स्मरण रहे कि भगवन्नाम से इसका परिहार हो सकता है। श्री गोस्वामी जी ने तो निराकार व्रह्म और सगुण साकार श्री राम दोनों से ही भगवन्नाम को बड़ा बताया है–

मोरे मत बड़ नाम दुहूँ ते। (वाल काण्ड) अतः परम नामानुरागी अति अनन्य हरिदास को सर्वश्रेष्ठ कहना ठीक ही है और किसी को भी उसके समक्षण न मानना भी स्वाभाविक और सही है।

सब लोई : सब लोग। गीता प्रेस की पोथी में 'सब कोई' पाठ है, अर्थ वही है।

जदपि साधु सबही बिधि हीना।
तद्यपि समता के न कुलीना।।
यह दिन रैंन नाम उच्चरैं।
वह निति मान अगिन में जरैं।।४१।।

साधु चाहे सब प्रकार से हीन हो, कुलीन (ऊँचे कुल का व्यक्ति उसकी बराबरी नहीं कर सकता। यह (साधु) दिन रात भगवान् का नाम लेता रहता है, जबकि वह (कुलीन व्यक्ति) नित्य मान की अग्नि में जला करता है।

इस चौपाई में पूज्यपाद कलिपावनावतार श्री गोस्वामी जी ने लौकिक दृष्टि से एकदम दीन हीन भगवन्नामानुरागी साधु की एक प्रतिष्ठित कुलीन व्यक्ति से तुलना की है और साधु को श्रेष्ठ ठहराया है, प्रतिष्ठित व्यक्ति उसकी बराबरी नहीं कर सकता। इस सन्देश के रहस्य को समझना है।

चौपाई में 'हीन' शब्द 'कुलीन' के विपरीत अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, इसलिए विशेष अर्थ यह लक्षित होता है कि जो साधु जाति और कुल के अनुसार अत्यन्त हीन अर्थात् निकृष्ट अथवा नीच है वह उस व्यक्ति से कहीं श्रेष्ठ है जो जाति और कुल के आधार पर अत्यन्त ऊँचा है। तथापि हीन और कुलीन शब्दों को अति महत्व देकर केवल जाति या कुल परक अर्थ करना ठीक न होगा। 'सब ही विधि हीना' का केवल यह अर्थ करना पर्याप्त न होगा कि जाति और कुल की दृष्टि से सब

प्रकार से नीच। 'सब ही विधि हीना' में हीन कुल के अतिरिक्त धन, बल, जन बल, शरीर बल' बुद्धि बल, रूप बल आदि की हीनता भी समाविष्ट मानना चाहिए। इस प्रकार लौकिक साधनों, बलों व प्रतिष्ठा के आधारों से रहित एक साधु है जिसे पूर्व चौपाई (छन्द सं० ४०) के सन्दर्भ में दिन रात भगवन्नाम लेने वाला अति अनन्य हरिदास मानना चाहिए, उस साधु की बराबरी में अत्यन्त सम्पन्न, कुलीन तथा प्रतिष्ठित व्यक्ति को नहीं रख सकते, यानी श्रेष्ठ होना तो अलग रहा बराबरी भी नहीं हो सकती।

श्री गोस्वामी जी का तात्पर्य यहाँ केवल कुल से नहीं है। व्यापक लौकिक हीनता से है। केवल कुल की श्रेष्ठता और नींच जाति के भगवन्नाम जापक की उसकी तुलना में श्रेष्ठता पूर्व प्रसंग में छन्द सं० ३८ में कह चुके हैं।

यह जान पडता है कि श्री गोस्वामी जी ने यहाँ सरल शब्दों में उसी बात का निरूपण किया है जो भक्तराज प्रह्लाद जी ने नृसिंह भगवान् की स्तुति करते हुए कही थी – श्रीमद्भागवत स्कन्ध ७ अध्याय ९-

मन्ये धनाभिजनरूपतपः श्रुतौजस्तेजः प्रभाववलपौरुषबुद्धियोगाः।
नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो भक्त्या तुतोष भगवान गजयूथपाय।
(९)

विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभपादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम ।।
मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थं प्राणं पुनाति स कुलं न तु भूरिमानः ।।
(१०)

धन, जन, रूप, तप, श्रुत शास्त्र ज्ञान), ओज, तेज, प्रभाव, बल, पौरुष, बुद्धि और योग, इन लक्षणों को मै परम पुरुष भगवान् की

अराधना और प्रसन्नता के लिए पर्याप्त नहीं मानता, (जबकि इन गुणों के बिना भगवान् केवल भक्ति से गजराज पर भी प्रसन्न हो गए थे ।

उपरोक्त बारह गुणों से युक्त परन्तु भगवान् के चरण कमलों से विमुख ब्राह्मण से मैं उस स्वपच को श्रेष्ठ मानता हूँ जिसने अपने मन वचन भगवान् को अर्पण कर रखे हैं और उन्हीं को अपना हितू जानकर उनसे प्रेम करता है । ऐसा स्वपच भक्त अपने प्राणों को तथा अपने कुल को पवित्र बना देता है जबकि वह अति प्रतिष्ठित और अभिमानी ब्राह्मण ऐसा नहीं कर सकता ।

भक्तराज प्रह्लाद जी ने यह भाव अपनी स्तुति के प्रारम्भ में ही प्रकट किया है क्योंकि घटनाक्रम के कारण उनके मन में उस समय सहज़ ही यह विचार आया कि जाति और कुल की दृष्टि से वे दैत्य कुल में प्रगट होने के कारण अत्यन्त हीन थे, और सबसे बड़ी बात यह थी कि उनके पिता हिरण्य कश्यप विशणु भगवान् से वैर भाव रखते थे । अतः भगवान् की यह नीति स्पष्ट ही सामने आ गई कि भगवान् ने जाति कुल आदि का विचार कुछ भी नहीं किया । हिरण्य कश्यप की भावना के अनुसार उसे मृत्यु की प्राप्ति हुई परन्तु उसी के बेटे प्रह्लाद को विशुद्ध भक्ति भावना के कारण भगवान् की परम प्रसन्नता प्राप्त हुई । प्रह्लाद कम आयु के बालक थे इसलिए उनके उल्लिखित बारह गुणों से मण्डित होने का भी प्रश्न नहीं था, तथापि भक्तराज प्रह्लाद अनुपम भगवत्कृपा प्राप्त कर गए । भक्तराज ने कहा कि भक्ति से तो भगवान् गजराज पर भी प्रसन्न हो गए जिसके लिए उन उत्तम बारह गुणों से युक्त होने का प्रश्न ही नहीं था ।

इसी सिद्धान्त को भगवान् श्री रामचन्द्र जी ने शबरी जी के प्रसग में राम चरित्र मानस में निरूपित किया है—

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता । मानउँ एक भगति कर नाता ।।
जाति पाँति कुल धर्म बड़ाई । धन बल परिजन गुन चतुराई ।।
भगति हीन नर सोहइ कैसा । बिनु जल वारिद देखिय जैसा ।।
(अरण्यकाण्ड)

श्री शबरी जी के प्रसंग के अन्त में श्री गोस्वामी जी ने दोहा लिखा है—

जाति हीन अध जन्म महि मुक्त कीन्हि असि नारि ।
महामन्द मन सुख चहसि ऐसे प्रभुहिं बिसारि ।।

शबरी जी ऋषि मुनियों द्वारा बहिष्कृत थीं, अस्पृश्य मानी गई थीं, परन्तु श्री राम ने उन्हीं का आतिथ्य ग्रहण किया, उन्हें माता के समान माना ।

श्री राम जी के चरित्र में इसका दूसरा उदाहरण निषाद राज गुह का है । श्री राम ने उन्हें सखा माना । उनके प्रसंग में ही श्री रामचरित मानस में कहा गया है—

स्वपच सबर खस यवन जड़, पामर कोल किरात ।
राम कहत पावन परम, होत भुवन विख्यात ।।

इसी प्रकार—

राम राम कहि जे जमुहाहीं । तिन्हहि न पाप पुंज समुहाहीं ।
यह तौ राम लाइ उर लीन्हा । कुल समेत जग पावन कीन्हा ।।

तथा—

लोक वेद सब भाँतिहि नीचा ।
जासु छाँह छुइ लेइय सींचा ।।

तेहि भरि अंक राम लघु भ्राता ।
मिलत पुलक परिपूरित गाता ।।

एवं—

एहि सम निपट नीच कोउ नाहीं । बड़ वसिष्ठ सम जग कोउ नाहीं ।।
तेहि लखि लषनहु ते अधिक, मिले मुदित मुनिराउ ।
सो सीतापति भजन को प्रगट प्रताप प्रभाउ ।।

केवट व शबरी इसके महान् उदाहरण हैं कि भगवान् की भक्ति से चाण्डाल भी पवित्र हो जाता है—श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते । (श्रीमद्भागवत)

अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्तते नाम तुभ्यं ।
(श्रीमद्भागवत)

'सबही विधि हीना' में धन आदि की हीनता भी आ जाती है । यदि आवश्यकताओं की अनुभूति होती है और वे पूरी नहीं होतीं तो यह दरिद्रता है—नहिं दरिद्र सम दुख जग माहीं । (उत्तर काण्ड) परन्तु भगवान् में लीन सन्त जनों की दरिद्रता की दशा नहीं होती, अपरिग्रह की दशा होती है, कुछ भी अपना करके ग्रहण नहीं करते, किसी आवश्यकता की अनुभूति नहीं करते, भगवान् के नाम के आनन्द में मग्न रहते हैं । सच तो यह है कि वस्तुओं का अभाव उनके लिए साधनों का अभाव नहीं है, विघ्नों का विक्षेपों का अभाव है । इसी से 'कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः' ऐसा आदि शंकराचार्य ने कहा । अपरिग्रही के पास आवश्यक वस्तुएं स्वयं आती रहती हैं । अस्त्येय प्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् । (योगसूत्र २.३७) । इसी दृष्टि से 'परम अकिंचन प्रिय हरि केरे' (बाल काण्ड) कहा गया है ।

अज्ञानी जीव को कभी कभी मुफ्लिसी में गिरफ्तार फ़कीर अर्थात् निर्धनता ग्रस्त साधु पर दया लगती है, परन्तु वह उनकी आन बान

शान न पहचानने से ऐसी दया करता है। सूफी फ़कीरों के नाम के साथ प्राय: 'शाह' लगा ही रहता हैं। यदा कदा किसी सन्त से किसी सम्पन्न व्यक्ति ऐसी बातचीत हो जाती है जिससे सम्पन्न व्यक्ति की हीनता और फ़कीर की मस्ती का आभास मिलता है।

एक साधु रात भर कंकड़ों पर ही पड़ा रहा। प्रात: सामने की कोठी में रहने वाले रईस ने उससे पूछा—

आप रात भर कंकड़ों पर पड़े रहे, बिछाने ओढ़ने को भी कुछ नहीं था। रात कैसी कटी? साधु ने कहा—कुछ आपके बराबर कटी, कुछ आपसे अच्छी कटी। यह कैसे? साधु ने कहा—जितनी देर हम और आप सोते रहे, पलंग और कंकड़ों का क्या फ़र्क़ पड़ा? रईस—कुछ नहीं। साधु ने फिर समझाया कि जितनी देर हम जागते रहे (भगवान् का) चिन्तन करते रहे, आप जब तक जागते रहे समस्याओं की चिन्ता करते रहे, इसलिए जागते में हमारी रात आपसे अच्छी कटी। रईस निरुत्तर हो गया।

सम्राट औरंगजेब के भाई दारा सूफी मत से अत्यन्त प्रभावित थे और तत्कालीन प्रसिद्ध सूफ़ी सन्त सरमद के सहयोगी थे। सरमद बिना कपड़ों के ही रहते थे। इस प्रकार नगे रहने पर आपत्ति उठाई गई तो उन्होंने औरंगजेब को इस प्रकार उत्तर दिया—

आँकस कि तोरा ताजे पात शाही दाद।
मारा हमा अस्बाबे परीशानी दाद॥
पोशीदा लिबास हरकेरे ऐबे दीद॥
बे ऐबारां लिबासे उरियाँ दाद॥

जिस ख़ुदा ने आपको बादशाहत का ताज दिया उसी ने मुझे गरीबी दी। जहाँ कहीं उसने दोष देखा वहाँ उसके ढाँकने के लिए पोशाक दी जिन लोगो में दोष नहीं देखा उन्हें नहीं ढाँका, ख़ुला रखा।

स्वामी रामतीर्थ ने एक प्रवचन में कहा कि आप लोगों की ही सम्पत्ति ही आप लोगों की चिन्ता का विषय है वह बौझ वनकर आपको दबाए रहती है।

कहा जाता है कि सन्त तुकाराम जी के सामने श्री लक्ष्मी जी प्रकट हुई और उनसे वरदान माँगने के लिए कहा सन्त बोले यही दीजिए कि अब फिर कभी दरशन न दीजिए। श्री रामकृष्ण परमहंस जी के बारे में बतलाया जाता है कि यदि उनको बिना बताए ही उनके बिछौने के नीचे रुपए पैसे रख दिये जाते थे तो भी उन्हें वेचैनी हो जाती थी। एक बार कोई दर्शनार्थी कुछ रुपए रखकर चला गया। परमहंस जी ने माँ काली जी से आर्त प्रार्थना की कि 'ऐ माँ तू ऐसे लोगों को क्यों भेज देती है जो मेरे तेरे प्रेम में बाधा डालते हैं।

इसी प्रकार एक बार की घटना है कि श्री श्रीरामकृष्ण परमहंस जी के वहुत एक पुराने परिचित मित्र थे और बहुत वर्षों तक तपस्या करने के पश्चात् श्री परमहंस जी से मिलने आये थे। श्री परमहंस जी ने उनसे पूछा कि आपने अपनी तपस्या से क्या सिद्धि प्राप्त की? उन्होंने कहा कि, 'मैं पानी की धार पर चल कर नदी के दूसरी ओर जा सकता हू। श्री परमहंस जी ने कहा कि इतने वर्ष तपस्या करके आपने जो सिद्धि प्राप्त की है वह दो पैसे की है। मुझे यदि पार जाना हो तो दो पैसे नाव वाले को देकर नाव पर नदी पार कर लूंगा।

धन सम्पत्ति तथा सिद्धि, चमत्कार परमार्थ के पथ में विघ्न रूप माने गए हैं—अन्तरायबदन्तेते काल क्षमण हेतवङः (श्रीमद्भागवत ११) इन सिद्धियों को विघ्न रूप माना गया है क्योंकि इनमें रमण करने वाले योगी की पारमार्थिक प्रगति रुक जाती है और बहुत सा समय बरबाद हो जाता है। श्री कबीर दास जी का प्रसिद्ध भजन है।

मन लागों मेरो यार फकीरी मे,
जो सुख पायो नाम भजन में सो सुख नाहि अमीरी में।
भलो बुरो सबको सुन लीजै करि गुजरान गरीबी में।
कहैं कबीर सुनो भई साधो, साहब मिलैं सबूरी में।

जो व्यक्ति गरीबी में गुजर करता हुआ भगवान् के भरोसे सन्तोष पूर्वक रहता है और भगवान् की याद करता है उसी को कुरान में साबिर (सब्र करने वाला कहा गया है) ऐसा व्यक्ति भगवान् को प्रिय है।

ऐसा कई बार देखा गया है कि अकिंचन सन्तों के पास बड़े बड़े राजे महराजे और रईस लोग आशीर्वाद लेने पहुँचते हैं और उनके आशीर्वाद से अपनी समस्याएँ हल करते हैं, सम्पन्नता, सम्पत्ति या अन्य सांसारिक सुख प्राप्त करते हैं। उस समय ऐसे लोग यह सन्देह नहीं करते कि जो सन्त स्वयं निर्धन हैं वे हमें क्या देंगे ?

'बादशाह आते हैं पापोशी गदा के वास्ते' बादशाह लोग भिक्षुकों के चरण कमलों में दण्डवत करने आते हैं। इससे यह प्रगट हो जाता है कि सचमुच दोनों में किसका स्थान श्रेष्ठ है।

स्वयं श्री गोस्वामी जी ने बड़े ही प्रबल शब्दों में इस तत्व का निरूपण किया है।

सात टूक कोपीन में, अरु भाजी बिनु लोन।
तुलसी रघुवर हिए बसैं, तो इन्द्र बापुरो कौन।

प्रस्तुत ग्रन्थ के नाम से ही प्रकट है कि वैराग्य इसका प्रयोजन है इसलिए कवि ने अत्यन्त उपयुक्त सन्देश दिया है कि जो मालमस्त है अर्थात् धन सम्पत्ति का रस ले रहा हैं वह ख्याल मस्त अर्थात् ध्यान मग्न नहीं रह सकता। जो सचमुच भगवान् के ध्यान में मग्न रहता है उसके लिए सम्पत्ति व्यर्थ है, विघ्नकारी भी हो सकती है। अतः सम्पत्ति का त्याग सच्चे सन्तों को अनुकूल पड़ता है।

प्रस्तुत चौपाई में यह नहीं कहा गया है कि सन्त का बाहरी जीवन अवश्य ही निर्धनता का होना चाहिए, परन्तु यह दावा किया गया है कि लौकिक दृष्टि से सब प्रकार से हीन होने पर भी अनन्य हरिदास साधु परम श्रेष्ठ हैं। कुलीनता और सम्पन्नता के आधार पर कोई उसकी समानता नहीं कर सकता।

श्री गोस्वामी जी ने कृपा करके चौपाई की दूसरी अर्द्धाली में साधु की श्रेष्ठता का मुख्य आधार उल्लिखित कर दिया है। साधु दिन रात भगवन्नाम लेता रहता है जबकि कुलीन और सम्पन्न व्यक्ति जो भगवान् का शरणागत नहीं है, सदा अभिमान की अग्नि में जला करता है। स्पष्ट है कि भगवन्नाममृत में डूबा हुआ व्यक्ति अभिमान की अग्नि में जलते हुए व्यक्ति से श्रेष्ठ माना जायगा। कठिनाई तो यह है कि साधारण जनों को ही नहीं बहुत से साधकों को भी भगवन्नाम अमृत के समान नहीं मालूम होता, न अभिमान अग्नि के समान दाहक मालूम होता है। परन्तु शास्त्र और सन्तों की सम्मति में वही सत्य है जो अर्द्धाली में अंकित किया गया है।

श्री महाप्रभु चैतन्य देव जी ने चैतन्याष्टक के प्रथम श्लोक में श्री कृष्ण संकीर्तन का स्तवन किया है और उसकी विजय घोषित की है। श्लोक के उत्तरार्द्ध में वे कहते हैं—

आनन्दाबुधि वर्धनम् प्रतिपदम् पूर्णामृतास्वादनम्।
सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्ण संकीर्तनं ॥

हर कदम पर आनन्द के समुद्र को बढ़ाने वाला और पूर्ण अमृत का स्वाद देने वाला है। इससे यह प्रकट हो जाता है कि सन्तों की अनुभूति में भगवन्नाम अनुपम है और अमृत सिन्धु की तरह है। श्री रूप गोस्वामी जी ने अपने ग्रंथ हरि भक्ति रसामृत सिन्धु के मंगलाचरण में कहा है कि, 'हरि भक्ति रस के अमृत सागर की गहरे जल वाली उन कछलियों को नमस्कार है जिन्होंने मुक्ति रूपी नदी में कभी प्रवेश नहीं किया है।

सच्चे सन्त भगवन्नाम के अमृत में डूबे रहते हैं, वे मुक्ति की भी इच्छा नहीं करते—मुक्ति निरादर भक्ति लुभाने' (उत्तर काण्ड) तो फिर ऐसे अनन्य हरि दासों के लिए लौकिक कुलीनता या सम्पन्नता अत्यन्त तुच्छ है ।

रमा विलास राम अनुरागी, तजहिं वमन इमि नर बड़भागी ।।

भरत जी श्री राम जी के बनवास काल में १४ वर्षों तक अयोध्या का राज्य सम्हालते रहे परन्तु अयोध्या की राज्य लक्ष्मी उन्हें कुछ भी आकर्षित नहीं कर पाई ।

तेहि पुर बसहिं भरत बिनु रागा । चंचरीक जिमि चम्पक बागा ।।

इसके पूर्व के प्रसंग में श्री भरत जी का व अन्य अयोध्या वासियों का अलौकिक आतिथ्य हुआ तो अन्य लोगों को हर्ष और विस्मय प्राप्त हुआ परन्तु श्री भरत जी के विषय में यह अंकित किया गया कि—

सम्पत्ति चकई भरत चक, मुनि आयसु खिलवार ।
तेहि निसि आश्रम पींजरा, राखे भा भिनुसार ।।

ऋद्धि सिद्धियों द्वारा अलौकिक सुखों का विधान किए जाने पर भी श्री भरत जी को तनिक भी आकर्षण नहीं हुआ ।

श्री विनय पत्रिका जी में कहा है कि—

जिन रघुवीर चरन अनुरागे । तिन सब भोग रोग सम त्यागे ।

इस प्रकार विपुल उदाहरण और प्रमाण मिलते हैं कि अनन्य भगवन्नामानुरागी दिन रात नामामृत में निमग्न रहते हैं । उनके अनुपम आनन्द को वे ही जानते हैं ।

विपरीतत: प्रतिष्ठित और अभिमानी व्यक्ति की मानसिक दशा पर भी ध्यान दीजिए । मान अर्थात् अभिमान के भी सोपान हैं—अस्मिता, अहमिति (अहम : इति), मैं हूँ की अनुभूति पहला सोपान है ।

जीव धर्म अहमिति अभिमाना । (उत्तर काण्ड)
संसृति मूल शूल प्रद नाना । सकल सोक दायक अभिमाना ।।

एक अखण्ड (अद्वैत) सृष्टि में अहं अलग खड़ा हो गया तो शेष इदं रह गया। अहं इदं पर अपना वर्चस्व रखना चाहता है, परन्तु व्यावहारिक जगत् में अहं सीमित है, क्षुद्र है, इदं महान् है, बलवान् हैं, असीम है। अहं इदं को बस में नहीं रख सकता। अतः दुःखी रहता है। अहं अनन्त हैं, इनकी भी आपस में टक्कर होती है। इस संघर्ष में कोई अहं शान्त और समाहित नहीं रह सकता।

अहं का दूसरा सोपान है, अपनी उत्तमता या श्रेष्ठता की कल्पना। दूसरों की अपेक्षा पुरुष अपने को अच्छा मानने लगता है और समाज में भी ऐसी मान्यता प्राप्त करना चाहता है। इसकी तड़प बढने पर वह बहुत सा अनिष्ट कर्म भी कर सकता है। इससे दूसरों से प्रतिस्पर्धा संघर्ष, वैर आदि का प्रसंग बनता है। धन और मान का साथ है। धनपतियों को और अधिक की लालसा जीवन की आवश्यकताओं के कारण नहीं होती, सम्मान के चक्कर में होती है। (श्रीमद्भा०स्क० ११) में धन के जो पन्द्रह दोष गिनाए गए हैं, उनमें हिंसा, दम्भ, क्रोध, भेद (फूट), वैर, अविश्वास, संस्पर्धा तथा व्यसन (स्त्री, छूत, आसव) भी हैं। प्रत्येक विचारवान् सरलता से समझ सकता है कि इन विकारों, दोषों, अनर्थों के कारण मानी व्यक्ति का चित्त उद्विग्न, तप्त रहना स्वाभाविक है, वह शान्त और समाहित नहीं रह सकता।

अभिमान का तृतीय सोपान वह है, जिसमें सव श्रेष्ठता की कल्पना होती है—कोन्योऽस्ति सदृशो मया। (गीता १६.१५) मेरे समान और कौन है? भगवान् की माया के प्रताप से किसी किसी का ऐसा भ्रम थोड़े या अधिक समय तक चलता रहता है। फिर ध्वस

होता है। किसी किसी का अभिमान चोट खाकर भी जीवन भर चलता रहता है।

विशेषत: द्वितीय व तृतीय सोपानों पर अभिमान दु:ख और ताप का देने वाला है। अंग्रेज़ी में एक कहावत है कि अभिमान पतन का पूर्वगामी है। सन्तों की उक्ति है कि अभिमान (घमण्ड) भगवान् का आहार है। श्री नारद भक्ति सूत्र में कहा है—ईश्वरस्याप्यभिमानद्वेषित्वाद् दैन्यप्रियत्वाच्च (ईश्वर को भी अभिमान से द्वेष है, दैन्य उसे प्रिय है।)

इहाँ को सयानप अयानप सहस सम।
सूधे सति भाउ कहे मिटति मलीनता ।। (वि०प०)

तथा—निदरि गनी गरीब को आदर रीति सदा चलि आई। (वि०प०)

अभिमान भव-बन्धन की जड़ (संसृति मूल) और त्रयताप (दैहिक, दैविक, भौतिक तापा। (उत्तर काण्ड)भव बन्धन का लक्षण है। इसलिए अभिमान ताप (दाह) का कारण है।

कभिमान के बढ़ने से सहज ही आसुरी लक्षण बढ़ते जाते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि 'चिन्तामपरिमेयाञ्च प्रलयान्तामुपाश्रिता: (गीता १६ ११) जीवन भर अपरिमेय (असीम) चिन्ता में फँसा रहना पड़ता है। प्रसिद्ध उक्ति है कि चिता मुर्दे को जलाती है, चिन्ता जीवित व्यक्ति को। इस प्रकार भी अभिमान अग्नि रूप है।

मान (प्रतिष्ठा) की स्थिति प्राप्त करने में बहुत दु:ख उठाना पड़ता है, उसे स्थिर रखने की चिन्ता में भी बहुत दु:ख होता है तथा सम्मान के नष्ट हो जाने पर महान् दु:ख होता है।

संभावितस्य चाकीर्तिर्मरणादतिरिच्यते ।। (गीता २.३४)
संभावित कहुँ अपयश लाहू । मरण कोटि सम दारुण दाहू ।।
(अयोध्या काण्ड)

इज्जतदार आदमी की बदनामी मौत से भी अधिक दुःखदायी है । श्री कालिदास जी के रघुवंश महाकाव्य में दिलीप की गो सेवा का मार्मिक प्रसंग है । दिलीप सिंह से प्रार्थना करते हैं कि वह गुरु जी की गाय को न खाये, दिलीप को ही खा ले । सिंह इसके लिए राजी नहीं होता और राजा के महत्व का कथन करता है । तब दिलीप उससे कहते हैं—

अथाप्यवध्यस्तव चेन्मतोऽहं, यशः शरीरे भव में दयालुः ।।

यदि आप फिर भी मुझे अवध्य समझते हैं, तो मेरे यश रूपी शरीर पर दया करें । मेरे दो शरीर हैं—भौतिक और यशरूपी । इनमें से एक तो आप नष्ट कर ही देंगे । तो जो शरीर मुझे अधिक प्रिय है, उसे ही बचाएं । मुझे जैसों की भौतिक पिण्ड में आस्था नहीं होती यश शरीर में ही होती है । अतः यश शरीर बचाइये, भौतिक शरीर को खाइये । इस प्रसग से भी यही लक्षित होता है कि मान भंग (अपकीर्ति) मृत्यु से भी अधिक दुःखदायी है । इसलिए भी अभिमान की दाहकता स्पष्ट है—

अभिमान कुछ (वास्तविक और कल्पित) गुणों को लेकर होता है, परन्तु गुण भय से रहित नहीं हैं, जिन गुणों का अभिमान होता है उनके कारण भी भय और ताप की प्राप्ति होती है ।

भोगे रोग भयं कुले च्युति भय रूपे जरायाद्भयं ।
मोने दैन्य भयं बले रिपु भयं वित्ते नृपालाद्भयं ।।

शास्त्रे वाद भय गुणे खलभयं काये कृतान्ताद्भयं ।
सर्ववस्तु भयान्वितं भवि नृणां वैराग्यमेवाभयं ।। भर्तृहरि
(वैराग्य शतक)

भोगी को रोग का भय है, कुलीन को निष्कासन का भय है, सुन्दर व्यक्ति को बुढ़ापे का भय है, मौनी को दीनता प्राप्त होने का भय है, वलिष्ठ को दुश्मन का भय है, धनी को राजा से भय है, शास्त्र के विशेषज्ञ को शास्त्रार्थ में हार जाने का भय है, गुणी को दुष्टों का भय है, शरीरधारियों को मृत्यु का भय है, केवल वैराग्य में ही निर्भयता है ।

अत: अभिमान चिन्ता, भय और ताप का कारण है । निज सुख विन मन होइ कि थीरा । (उत्तर काण्ड) । निज स्वरूप के (आत्मानन्द के) बिना मन स्थिर नहीं होता, अशान्त रहता है । अशान्तस्य कुत: सुखं (गीता २.६६) । अशान्त को सुख कहाँ ? उसे तो ताप ही प्राप्त होता है ।

तुलसी यह तनु तवा है, तपत सदा त्रय ताप । (पूर्व छन्द ६)

पारमार्थिक दृष्टि से अभिमानी सदा तृप्त है, नामानुरागी नामामृत सिन्धु की मीन है ।

नाम सप्रेम पियूष हृद, तिनहु किए मन मीन ।

यद्यपि संसार में मान प्राय: सबको पसन्द है । अपमान कोई नहीं चाहता, तथापि मान से ज्ञान का शीघ्र नाश बताया गया है— ‘मान ते ज्ञान, पान ते लाजा ।’ (अरण्य काण्ड) मान के त्याग से ही ज्ञान हो सकता है । ‘ज्ञान मान जहँ एकउ नाहीं ।’ (अरण्य काण्ड) इसलिए ऐसे भी सन्त हुए हैं, जिन्होंने अपनी अपकीर्ति व अपमान का प्रबन्ध स्वयं किया ।

अभिमान ज्ञान का विरोधी होने से श्री योग वासिष्ठ में निन्दित हुआ है।

प्रतिष्ठा शूकरी विष्ठा, गौरवं घोर रौरवं।
अभिमानं सुरायानं त्रयत्यक्त्वा सुखी भवेत्॥

श्री गोस्वामी जी का श्री दोहावली जी में अपना सन्देश है—

शील गहनि सबकी सहनि, कहनि हीय मुख राम।
तुलसी रहिये एहि रहनि, सन्त जनन को काम॥

प्रस्तुत चौपाई की बात श्री गोस्वामी जी ने अन्यत: भी जोरदार शब्दों में व्यक्त की है–

सात टूक कोपीन में, अरु भाजी बिनु लौन।
तुलसी रघुवर हिय बसैं, तो इन्द्र बापुरो कौन। [दोहावली]

दास रता एक नाम सों, उभय लोक सुख त्यागि ।
तुलसी न्यारो है रहै, दहै न दुख की आगि ॥४२॥

भगवान् का दास केवल भगवन्नाम से प्रेम करता है, दोनों लोकों के सुखों का त्यागी है । वह [जगत् की आसक्ति से] अलग होकर रहता है, दुःख की अग्नि में नहीं जलता ।

इस दोहे में भी अति अनन्य हरिदास का ही वर्णन जारी है, जो निशि दिन भगवन्नाम लेता है । इस दोहे में चार बातें कही गई हैं– १–दास को केवल भगवन्नाम प्रिय है, जगत् में और कुछ भी प्रिय नहीं । २–दास लोक परलोक के सभी सुखों का त्यागी है । ३–वह समस्त आसक्तियों से अलग है । ४–वह दुःख की अग्नि में नहीं जलता ।

अनन्य हरिदास को केवल हरिनाम प्रिय है, जगत् में और कुछ भी प्रिय नहीं है ।

विषयी साधक सिद्ध सयाने । त्रिविधि जीव जग वेद बखाने ।।
राम सनेह सरस मन जासू । साधु सभा बड़ आदर तासू ।।

विषयी जीवों को जगत् के भोग ही प्रिय हैं, भगवान् प्रिय हैं ही नहीं । बार बार विषय भोग के परिणाम में अनिष्ट की प्राप्ति होती है, परन्तु फिर भी विषयी जन भोग निष्ठ ही रहते हैं । जो विषयों से असन्तुष्ट होने लगता है वह सन्त भगवन्त की कृपा से जगदासक्ति के

त्याग की साधना करता है। साधक की जगत् में प्रीति क्षीण होती है। भगवन्नाम में प्रीति उत्पन्न होती है और बढ़ती जाती है। अनन्य हरिदास की प्रीति भगवन्नाम (व यश) में ही होती है, अन्यत्र नहीं। इसलिए केवल भगवन्नाम से प्रीति बताई। अन्यत्र कहीं प्रीति न होना ही अनन्यता है।

अन्याश्रयाणां त्यागोऽनन्यता। (ना० भ० सूत्र)

एक मात्र भगवान् के अतिरिक्त कोई पूज्य नहीं है। (ला इलाह इल् अल्लाह— कुरान) यही अनन्यता है। 'तज्कुरुलाहि कसीरन्' अल्लाह की खूब याद करो। भगवान् की याद करते रहना अनन्य भक्ति का काम है। योग क्षेम वहन करने वाला भगवान् है। अनन्य भक्त का 'रिज्क' (योग क्षेम साधन) अल्लाह के जिम्मे है, वही 'रज्जाक' (रिज्क का देने वाला) है। विश्व भरण पोषण कर जोई। (बाल काण्ड) 'विश्वम्भर' देव वही है। अनन्य भक्त प्रेम पूर्वक भगवन्नाम में लगा रहता है। योगक्षेम से निश्चिन्त रहता है। अनन्य चिन्तन उसका काम है, चिन्तान नहीं। दूसरी जगह प्रीति न होने से चित्त के व्यग्र या विक्षिप्त होने की सम्भावना नहीं रह जाती। तभी भगवन्नाम का रस प्राप्त होता है, भक्त उसी अमृत सिन्धु में मग्न रहना चाहता है। उसे लोक परलोक दीन दुनियां की परवाह नहीं रहती।

उभय लोक (लोक, परलोक, दुनियाँ व उक़बा, अनुभूत और शास्त्रोक्त, दृष्ट व आनुश्रविक) के सभी सुखों का त्याग करके अनन्य हरिदास केवल भगवन्नामाराधन करता है। सुखों के त्याग के भी सोपान हैं। प्रस्तुत विषय से अवश्य आकर्षित हो जाना, परिणाम विचार न कर सकना पशुत्व है। विचार और मनन से अनिष्ट परिणाम को समझकर विषयाकर्षण से बचना मनुष्यता का लक्षण है। पश्यतीति पशुः, मनुते इति मनुष्यः। (दृष्टि से ही प्रेरित होता है वह पशु है,

मनन करने वाला मनुष्य है)। जगत् के सभी विषयों की तीक्ष्णता, क्षणभगुरता, असारता, अनिष्टरूपता, भ्रामकता, मृग तृष्णा रूपता को हृदयंगम करके उपराम हो जाना ज्ञान का और मुक्ति का लक्षण है। विषयी जग़त् के विषयों में रमता है, साधारण साधक धर्म मर्यादानुसार विषय सेवन करना चाहता है। तपस्वी भी बहुधा इस लोक के सुखों का त्याग इस भाव से करता है कि स्वर्गादि लोकों में इनसे कहीं अच्छे भोग़ों की दीर्घकाल के लिए प्राप्ति होगी। इन्द्र पद प्राप्ति के लिए सौ महायज्ञ किये जाते थे। इस प्रकार महत् के लिए अल्प का त्याग होता है। यह नहीं कहा जा सकता कि स्वर्गकामी विषयों से विरक्त है वह क्षुद्र सुखों में न फँसकर महान् सुखों को पाना चाहता है। जैसे कोई व्यक्ति बहुत सा भोग त्याग करके उच्च पद प्राप्ति हेतु प्रयत्नशील है परन्तु उसका लक्ष्य अधिक भोगों की प्राप्ति ही है। इसमें क्वचित् विवेक दृष्टिगोचर होता है परन्तु यह वैराग्य की स्थिति नहीं है।

एक सन्त को किसी राजा ने प्रणाम किया तो सन्त ने भी रांजा को प्रणाम कर दिया। राजा ने पूछा—आप ने मुझे क्यों प्रणाम किया? सन्त ने पूछा—आपने मुझे क्यों प्रणाम किया? राजा ने कहा—आप महान् हैं, आप ने सारी दुनिया को छोड़ दिया। सन्त बोले— मैंने तो इस दुनियाँ को दूसरी दुनियाँ को पाने के लिए छोड़ा है, वह इससे बड़ी है। आपने तो बड़ी वाली दुनियाँ (परलोक) को छोड़ दिया है। मुझसे बड़े त्यागी आप हैं।

जिन्हें परलोक के महान् सुख दुःखों का होश नहीं है या उन पर विश्वास नहीं है, वे उनसे प्रेरित नहीं होते परन्तु बहुत से विज्ञ सकाम साधक स्वर्गादि की प्राप्ति के लिए यज्ञादि का अनुष्ठान करते देखे गए हैं। ज्ञान प्राप्ति के लिए ऐसा साधन सक्षम नहीं। 'प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञ रूपा' (उपनिषद्)। (यह यज्ञ रूप जहाज मजबूत नहीं है)।

शास्त्र में इस संसार में अनुभव में आने वाले सुखों को 'दृष्ट' कहा है, शास्त्रकथित अननुभूत विषयों को 'श्रुत' (सुने हुए) कहा है। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार दोनों प्रकार के विषयों की तृष्णा निवृत्त होना वैराग्य है। (योगसूत्र १.१५) शास्त्र का उपदेश है कि विवेकी को इस संसार के सभी विषयों को नश्वर समझना चाहिए और परलोक के भोगों को भी वैसा ही समझना चाहिए–

विपश्चिन्नश्वरं पश्येददृष्टमपि दृष्टवत् । श्रीमद्भा०)

भोग और मोक्ष की इच्छा रूपी चुड़ैल का नाच हृदय में होता रहे तब तक सच्ची अनन्य अहैतुकी अनपायिनी विशुद्ध भक्ति उदय कैसे होगी। वासना ग्रस्त व्यक्ति के लिए अनन्य भक्ति का सुख नहीं है।

मज़ा देता है जख्मे खंजरे इश्क ।
कभी ऐ बुल् हविस खाया तो होता !

बुल हविस = वासना ग्रस्त ।

यह कहना काफी नहीं है कि हमने उभय लोक सुख त्याग दिया। जो ऐसा त्याग करेगा वह सुख दुःख की परिस्थितियों में समान रहेगा। एक सन्त (श्री रामप्रसाद शरण जी 'दीन') भगवत् कथा कहते थे, भगवान् के अपूर्व प्रेमी थे, उनका लिखा छन्द है—

चाहे कुबेर कि सम्पति होय चहै विधि द्वार ही द्वार फिरावैं ।
दीन इव मूरख होय चहै बहु शास्त्रानि को पढ़ि लोक रिझावैं ।।
चाहे अरोग रहैं नित ही चहै रोगी ह्वै सारी ही वैस बितावैं ।
देह धरे को यही फ़ल है, ज़ो विदेहजा के पति को जस गावैं ।।

सुख त्याग का अर्थ यही है कि सुख प्राप्ति (अथवा दुःख निवृत्ति) की इच्छा न होना। दैवाल्लब्धेन सन्तोषः।

(प्रारब्ध प्राप्त सुख दु:ख में सन्तुष्ट रहना) ।

सन्त परदु:खकातर होते हैं, पर अपने दु:ख की निवृत्ति के इच्छुक नहीं होते। तारींफ तो यही है कि बड़े से बड़ा दु:ख उन्हें बिचलित नहीं कर सकता। (गीता ६.२२)। उनका अखण्ड भगवत्स्मरण और अलौकिक आनन्द चलता ही रहता है। समझने वाले के लिए यही अनन्य भक्त के जीवन का अनुपम चमत्कार है।

अनन्य दास न्यारा (अलग) होकर रहता है। वह एकान्त प्रिय होता है। भीड़भाड़ में, महफिलों, मजलिसों में, उसे रुचि नहीं होती—अरतिर्जन संसदि (गीता १३.१०]। जन समुदाय से उसे उद्वेग तो नहीं होता परन्तु एकान्त में नाम स्मरण में डूबने की विशेष सुविधा रहती है। एक गुप्त भगवन्नामानुरागी सन्त जब समाधि में जाना चाहते थे तो कहते—अच्छा ! अब जरा आनन्द ले लें। जगत् में किसी प्रकार की प्रीति या आसक्ति न होना ही न्यारा रहना है। भगबान् की लीला में, उनकी आज्ञा से, गुरु आज्ञा से वह बहुत कुछ पराक्रम कर सकता है, परन्तु अपना संकल्प और उत्तरदायित्व आदि छूट चुका। इसीसे कहा गया कि वह न्यारा [अलग] होकर रहता है, वह वन, उपवन, उद्यान, नगर कहीं भी मिले. है न्यारा ही।

इस रहनि का परिणाम यह होता है कि ऐसे सन्त दु:ख की अग्नि में नहीं जलते। यह तो है ही कि ऐसे सन्तों को नरक की अग्नि [दोजख की आग, हेल् फ़ाएर] में कभी नहीं जलना पड़ता। इस संसार में भी तृष्णा दुख का कारण मानी गई है, बुद्धदेव द्वारा भी, शुकदेव द्वारा भी।

तं सत्यमानन्दनिधिं भजेत, नान्यत्र सज्जेद्यत आत्मपात: ।

[श्रीमद्भागवत २.१.३९]

तृष्णा रहित व्यक्ति दु:खी नहीं होता, दु:खद परिस्थितियों मे भी अव्यथित, समाहित, शान्त रहता है ।

दु:ख से सभी प्राणी उद्विग्न होते हैं, सुख से उल्लसित होते हैं, परन्तु अनन्य हरिदास इसमें न्यारे [अलग] निराले होते हैं, क्योंकि— दोउ सम धीर धरहिं मन माहीं । (अयोध्या काण्ड) सुख दु:खादि द्वंद्वों से परे रहते हुए, भगवत् शरणागति में षड़े रहना और अनन्य भाव से भगवद्भजन करते रहना ही हरि दासों का गौरव है । उन्हें दु:ख अग्नि स्पर्श नहीं कर पाती ।

जैसे किसी जंगल के बीच श्री गंगा जी बह रही हों । उस वन में दावानल लग जाय और भयंकर आग से वचने के लिए कोई हाथी श्री गंगा जी की धार में जाकर खड़ा हो जाय, तो वह हाथी आराम से खड़ा रहेगा । वह दावानल से तप्त नहीं होगा । इसी तरह हरिदास भी उस हाथी [गंगाम्भस्थ इव द्विप: श्रीमद्भागवत ११.७.२९] की तरह ससार के दावानल से तप्त नहीं होता ।

श्री महाप्रभु चैतन्यदेव जी ने चैतन्याष्टक के प्रथम श्लोक में श्रीकृष्ण संकीर्तन को 'भव महा दावाग्नि निर्वापनम्' भव की महान् दावाग्नि का शामक बताया ।

अनविचार रमणीय सदा, संसार भयंकर भारी । (वि०प०)

ज्ञान की दृष्टि से संसार रमणीक नहीं, दावाग्निवत् भयंकर है, परन्तु भगवन्नाम में मस्त हरिदास की शीतलता को दावाग्नि नष्ट नहीं कर सकती । गंगा के पानी में खड़े हुए हाथी की तरह ऐसे सन्त 'भव महा दावाग्नि' की लपटों से पूर्णत: सुरक्षित हैं । दह्यमान नहीं होते ।

संसार के अन्य आने जाने वाले दु:खों से अधिक भयंकर संसार के बन्धन का दु:ख है, विवेकी की दृष्टि में। भक्तराज प्रह्लाद जी ने नृसिंह भगवान् से कहा था कि मैं आपके भयानक मुख दाढ़ों और दाँतों से नहीं डरता हूँ, परन्तु यह जो आपने संसार चक्र चला रक्खा है, इससे डरता हूँ। [श्रीमद्भागवत ७.९.१५–१६] परन्तु आगे इसी स्तुति में उन्होंने भव दु:ख से भी अनुद्विग्न होना बताया—

नैवोद्विजे पर दुरत्यय वैतरण्यास्त्वद्वीर्य गायन महामृत मग्न चित्त:।
(७.९.४३)

आपके चरित्रों के गायन में मग्न चित्त होने से मैं इस कठिन भव (संसार] रूपी वैतरणी नदी से नहीं घबराता हूँ।

श्री राम नाम अनन्य हरिदासों की सभी प्रकार की दु:खाग्नि से सुरक्षित रखता है और अमृत सिन्धु में मग्न रखता है।

राम नाम काम तरु, देत फल चारि रे।
कहत पुरान वेद पण्डित पुरारि रे। [वि०प० ६७]

श्रीमद्भागवत स्कन्ध ५ अध्याय १३ में भवाटवी [संसार रूपी जंगल] का वर्णन है। इसमें साङ्ग रूपक है। पूरे अध्याय में संसार को जंगल के रूप में उल्लिखित किया है। इससे संसार की भयानकता स्पष्ट हो जाती है। उसके बाद एक अध्याय में उस रूपक का स्पष्टीकरण दिया है। भवाटवी वर्णन का प्रथम श्लोक यह है—

दुरत्ययेऽध्वन्यजया निवेशितो।
रजस्तम: सत्व विभक्त कर्मदृक्॥
स एव सार्थोऽर्थ पर: परिभ्रमन्।
भवाटवीं याति न शर्म विदन्ति॥

भगवान् की अनादि माया के द्वारा यह जीव दुस्तर संसार में डाल दिया गया है। माया के तीन गुण सतोंगुण, रजोगुण, तमोगुण के प्रभाव से यह नाना प्रकार के कर्म करता है, उन कर्मों से फलित प्रारब्ध की पूंजी लेकर यह अर्थ परायण (लाभार्थी) जीव भोग सुख रूपी लाभ के लिए व्यापारी की तरह घूम रहा है, परन्तु वह संसार रूपी जगल में भटक जाता है, उसे विश्राम (शान्ति) नहीं मिलता।

आधुनिक महानगरों के वैभव विलास को देखकर कौन संसार को जंगल के समान मानेगा, परन्तु भवाटवी वर्णन के श्रवण, पठन, पाठन, मनन से संसार वैसा ही विकराल सिद्ध होता है। इसमें जीव भटकता रहता है, शान्ति प्राप्त नहीं करता। चिन्ताग्नि, दुःखाग्नि में जलता है। परन्तु अनन्य हरिदास इस सब दुःख से एकदम छूटा हुआ है। इस असार संसार में वैराग्य पूर्वक भजन ही एक मात्र जीवन का सार है।

श्री रामचरित मानस में नामानुरागी सन्तों के लिए कहा है—

फिरहिं सनेह मगन सुख अपने। नाम प्रसाद सोच नहिं सपने।।

(बाल काण्ड)

शान्ति वर्णन

रैन को भूषन इन्दु है, दिवस को भूषन भानु।
दास को भूषन भक्ति है, भक्ति कौ भूषन ग्यानु ॥४३॥

रात की शोभा [आभूषण] चन्द्रमा है, दिन की शोभा [आभूषण] सूर्य है, दास की शोभा भक्ति है, भक्ति की शोभा ज्ञान है।

श्री भर्तृहरि जी का श्लोक है—

या राकाशशि शोभना निर्धना सा यामिनी यामिनी।
या सौन्दर्यं गुणान्विता पतिरता या कामिनी कामिनी ॥
या गोविन्द पदारविन्द मधुरा, सा माधुरी माधुरी।
या लोक़द्वय साधिनी चतुरता, सा चातुरी चातुरी ॥ (नीति शतक)

जिस रात है शरत् पूर्णिमा का चन्द्र आकाश में हो, उसकी चांदनी छिटकी हो, बादल न हों, वही रात सचमुच [असली या उत्तम] रात है। जो नारी रूपवती हैं, सुन्दरी है और पति से सच्चा प्रेम करती है, वही [सच्ची) नारी है, वही मधुरता [उत्तम] मधुरता है जो भगबान् के चरण कमलों की माधुरी है, वही चतुराई [सच्ची या उत्तम] चतुराई है जो लोक परलोक दोनों को सँवारने वाली हो। रामचरित मानस अयोध्या काण्ड में कहा है–

जिमि भानु बिनु दिनु, प्रान बिन तनु, चन्द बिनु जिमि यामिनी।
तिमि अवध तुलसीदास प्रभु बिनु, समुझि धौं जिय भामिनी ॥

सूर्य के बिना दिन फीका, आभा रहित रहता है और चन्द्र के बिना अंधेरी रात सूनी और शोभा रहित रहती है।

भगवान् कृष्ण की रासलीला शरद पूर्णिमा को हुई थी। चन्द्रोदय हो चुका था। चन्द्रोदय की अरुणिमा पूर्व दिशा में छाई हुई थी। ऐसा जान पड़ता था कि चन्द्रमा की बहुत दिनों बाद अपनी प्रिया प्राची दिशा से भेंट हुई तो उसने प्रिया के मुख में लाल कुंकुम का लेप किया। शरद ऋतु में मल्लिका फूल रही थी। इस शोभा का वर्णन करके भागवतकार कहते हैं कि–भगवान् ने भी ऐसी सुहावनी रात को देखकर अपनी योग माया से रास लीला करने की इच्छा की। (स्क० १० अ० २९)

कुहरे या मेघ से या ग्रहण से यदि सूर्य अदृष्ट हो जाय तो स्फूर्ति कम हो जाती है, पाचन क्रिया कम अच्छी तरह होती है, सुस्ती आती है। दिन फीका लगता है, शोभायमान नहीं होता।

उपर्युक्त दोनों उदाहरण देकर कवि ने कहा—दास को भूषन भक्ति है। भक्ति के बिना दास की शोभा नहीं। सेवक तो वेतन भोगी और निश्चित समय पर काम करने वाला भी हो सकता है, पर दास तो स्वामी की सम्पत्ति की तरह है। वह सच्चा सर्व कालिक सेवक है, वह सब प्रकार से सब समय सेवा करे। भक्ति भज् धातु से सेवा के अर्थ में सिद्ध शब्द है। दास को सेवा ही करनी है। भगवान् बाजार में कोई दास नहीं खरीदते। कोई दाम भी नहीं चुकाते। भगवान् के अनन्य भक्त बिना मोल के गुलाम बन जाते हैं। वे कोई वेतन रुपए, पैसे, सम्पति के रूप में नहीं लेते, न सुख, सुविधा सत्कार, दक्षिणा आदि के ही रूप में कुछ लेते हैं। बिल्कुल मुफ्त में सेवा करते हैं, बदले में कुछ नहीं चाहते। प्रह्लाद भक्त ने जो भगवान् से यह भी कह दिया कि जिसे आपसे कुछ आर्शीवाद [वरदान] पाने की आशा है, वह आपका भृत्य (सेवक) नहीं

है, वह बनिया है, अपनी सेवा बेचना चाहता है। [श्रीमद्भागवत ७.१०.४] । भगवान् के भक्त भगवत्सेवा ही चाहते हैं। और कुछ नहीं चाहते। यही सेवा उनका सर्वस्व है। भगवत्सेवा के विकल्प में चार प्रकार की मुक्ति [सारूप्य, सामीप्य, सालोक्य, सायुज्य] में से कोई भी प्राप्त तो भी वे नहीं लेते—

दीयमाना न गृह्णन्ति, बिना मत्सेवनं जनाः ।। [श्रीमद्भा०]

सगुणोपासक मोक्ष न लेहीं। तिन कहँ राम भगति निज देहीं ।।
[लंका काण्ड]

भगवान् किसी को जबर्दस्ती अपना दास नहीं बनाते। भक्त स्वय भगवान् की दासता के लिए आकांक्षी प्रत्याशी होता है। भगवान् भक्त के निष्काम [तस्मात् अकारण] स्वामी हैं और भक्त उनका निष्काम भक्त है। यह कोई सरकारी नौकरी की तरह नहीं है कि सरकार काम कराने के लिए नौकर रक्खे और सेवक वेतन के लिए काम करे। भक्त और भगवान् का नाता राजा और राजसेवक के नाते की तरह नहीं है। (श्रीमद्भागवत ७.१०.६) यहाँ प्रेम की दासता है, निष्काम परन्तु निष्ठापूर्वक अखण्ड सेवा है। कानूनी दासता (जब थी) में वेबसी थी, बेमन की सेवा करनी होती थी। अनन्य हरिदास के लिए सेवा एक गौरव है। अपमान या दण्ड रूप नहीं है, वरदान स्वरूप, पारितोषिक स्वरूप हैं। इस सेवा में सन्मान है, गौरव है, रुतबा बढ़ता है, हैसियत बनती है।

वेहतर हुँ मैं शाहों से, तेरे दर का गदा हूँ।' गदा=भिक्षुक
'मुफ्लिस हूँ तो क्या बात है, हूँ मैं से न ख़ाली।
बिल्लौर से बेहतर है मेरा जामें सफ़ाली ।।

यदि बन्दे में बन्दगी न हो, ख़ादिम (नौकर) में खिदमत न हो, सेवक में सेवकाई न हो, दास में प्रेमपूर्वक भक्ति न हो तो रह क्या

गया ? सारी शोभा समाप्त है । आदर्श यही है कि दास के लिए भक्ति हार (माला) रूप हो भार रूप न हो । दास के लिए भक्ति न दण्ड के समान है और न भारवहन के समान है, वस उसकी निष्ठा है, शौक है, गौरव है, सन्मान जनक है, शृंगार रूप है, भगवान् के दास की शोभा ठाठदार वर्दी से नहीं, भक्ति ही उसका भूषण है ।

भक्ति का भूषण ज्ञान है । भक्ति का वही रूप उत्तम और शोभायमान है जो ज्ञान से युक्त सो । इस ग्रंथ में ज्ञान ओर भक्ति के बीच कोई विरीध मान्त नहीं हुआ हैं । किसी किसी को यह कघ्पना होती है कि गोस्वामी जी भक्तिवादी थे, अत: यह ग्रंथ श्री गोस्वामी जी का नहीं जान पड़ता । परन्तु सचमुच यहाँ कोई वात गोस्वामी जी की भक्ति के विरुद्ध नहीं है । भक्ति ज्ञान वैराग्य का जो समन्वित रूप श्रीमद्भागवत में प्राप्त होता है वही यहाँ है और वहीं राम चरित मानस में है यथा

श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथ, संयुति विरति विवेक ।
नेहिं न चयहि नर मोह बस, कल्पहिं पन्थ अनेक ।
विरति चर्म असि ज्ञान मद लोभ मोह रिपु मारि ।
जय पाइय सोइ हरि भगति, देखु खगेस विचारि ।।
ज्ञानी प्रभुहिं विशेष पियारा ।। (बाल काण्ड)

यह सही हैं कि भक्ति साहित्य में कभी कभी ज्ञान का निरादर हुआ है । और भक्ति की स्वतन्त्र प्रतिष्ठा हुई है और ज्ञान के साहित्य में भी कभी कभी ज्ञान को एकमात्र मोक्ष का एकमेव स्वतन्त्र साधन प्रदर्शित बवाया गया है । ऐसे निरूपण में ज्ञान व भक्ति को सम्बद्ध परपराश्रित या समन्वित नसी दिखाया गया है । मोक्ष हेतु एक को स्वतन्त्र रूप से सक्षम कारण बताया गया है, परन्तु ज्ञान से आलोकित व मण्डित भक्ति श्रेष्ठ है यह सिद्धान्त इस ग्रन्थ में या राम चरित

मानस में नया या अनोखा नहीं है। ज्ञानी त्वातमैव मे मतम। गीता ७.१८ में भी ज्ञानी भक्ति की श्रेष्ठता कही गयी है।

साम्प्रदायिक आग्रह के कारण भक्तियोग वाले ज्ञान को ओर ज्ञानयोग वाले भक्ति को श्रेष्ठतर मानने को तैयार नहीं होते। संस्कृत में यह विवाद हैं परन्तु अति प्रमुख और विस्तृत नहीं है। हिन्दी साहित्य में गोपी उद्धव संवाद (भ्रमर गीत) को लेकर कई कवियों ने ज्ञान और योग पर काफी कटाक्ष किये हैं। ऐसे व्यंग साहित्य में श्री रत्नाकर जी का 'उद्धव शतक' प्रमुख और महत्वपूर्ण है। भक्ति साहित्य में उसका महत्व है। परन्तु ज्ञान का उपहास सिद्धान्त रूप से ग्राह्य नहीं है। निःसन्देह श्री गोस्वामी जी भक्ति प्रधान विचार धारा अपनाए हुए हैं परन्तु वे श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथ को मानते हैं जिसमें ज्ञान विराग का महत्व पूर्ण स्थान है श्रीमद्भागवत माहात्म्य में ज्ञान और वैराग्य को भक्ति के पुत्र माना है। व्यापक उपेक्षा के कारण वे दुर्बल और मरणासन्न हो गये। भक्ति युवती रही अपने पुत्रों की दशा पर उसे घोर दुःख हुआ। उन्हें स्वस्थ और बलिष्ठ देखकर ही प्रसन्न हुईं। वैराग्य रहित भक्ति के भ्रष्ट हो जाने की पूरी सम्भावना रहती है और ज्ञान का निरादर होने पर भक्ति अविवेक पूर्ण मार्गों मैं भटक कर निन्दित और निस्तेज हो सकती है।

विरक्त पुरुष ही सच्ची भगवद्भक्ति कर सकता है—

जिन रघुबीर चरण अनुरागे। तिन सब भोग रोग सम त्यागे।।वि० प०।।
तथा– रमा विलास राम अनुरागी। सजत वमन जिमि नर बड़भागी।।
(अयोध्या काण्ड)

वैराग्य रूप ढाल ज्ञान रूप तलवार से काम क्रोधादि विकारों पर विजय प्राप्त करना ही सच्ची हरि भक्ति है। (उत्तर काण्ड) सम्यक विचारोपरान्त यही सिद्धान्त फलित होता है। यह कैसे हो सकता है कि

श्री वैराग्य संदीपनी में जिस भक्ति का परम आदर किया जाय, वह वैराग्य से असंम्बन्धित हो। सन्तो की तो यह मान्यता है कि यह ग्रन्थ उस समय प्रणीत हुआ जब श्री ग़ोस्वामी जी के अन्त: करण में उत्कट वैराग्य लहरा रहा था। श्री काग भुशुण्डि जी ने उत्तर काण्ड में अपना अनुभव बताया है कि जब—'मन ते सकल वासना भगी, तब, केवल राम चरण लयलागी अर्थात् वासना के अत्यन्तिक निरसन होने पर ही अनन्य भक्ति विकसित होती है। भक्ति के आचार्यो का यही मत है। वैराग्य की अन्तिम परिणति ज्ञान है। ज्ञान से आलोकित भक्ति स्थिर दृढ़ होती है, नि:स्वार्थं अहैतुकी होती है। ऐसी भक्ति की श्रेष्ठता में कोई सन्देह नहीं है। अत: अवश्य ही ज्ञान भक्ति का भूषण है। यदि कोई भक्ति वादी भूषण-धारक को भूषण से श्रेष्ठ मानता हा, तो वह वैसा मान सकता है यह श्री गोस्वामीजी का अनुपम मर्यादावाद है कि यथासंभव किसी की निष्ठा को ठेस नहीं पहुँचाते।

———

ज्ञान को भूषन ध्यान है, ध्यान को भूषन त्याग ।
त्याग को भूषन शान्ति पद, तुलसी अमल अदाग ।।४४।।

ज्ञान का भूषण ध्यान है, ध्यान का भूषण त्याग है, त्याग का भूषण निर्मल, निर्दोष शान्ति पद हैं,

श्री गोस्वामी जी ने ज्ञान को अन्तिम स्थिति घोषित नहीं किया उन्होंने उसी ज्ञान को अलंकृत, विभूषित माना जिसके साथ ध्यान की दशा बनी रहे। इसके विरुद्ध कुतर्क करना अति सरल है। यथा— पातज्जल अष्टाग योग में धारणा ध्वान के बाद अन्तिम अष्टम् पद समाधि है। समाधि में वृत्तियों का पूर्ण निरोध और दृष्टा को आत्म स्वरूप का ज्ञान होता है। तो फिर अष्टम सोपान का भूषण सप्तम सीपान को क्यों बताया? ध्यान भी एक क्रिया है, साधना है, स्वरूप ज्ञान के वाद कृतकृत्यता प्राप्त कर लेने पर ध्यान कैसा और वह भूषण रूप क्यों ? समाधि में हम जान बूझकर प्रवेश करते हैं, फिर समाधि से उतरते भी हैं, यह तो कर्म हुआ, स्वरुप ज्ञान की सहज स्थिति तो नहीं हुई। ध्यान से समाधि में प्रवेश करना एक कर्म है, कर्म से कर्मजन्य दशा ही प्राप्त हो सकती है, सहज स्वरुप की स्थिति प्राप्त नहीं हो सकती। अन्तः करण की आने ज़ाने वाली दशाओं को आत्म– स्थिति नहीं माना जा सकता आदि आदि ।

शब्द ग्राही बुद्धि से ऐसे कुतर्क उठाने के स्थान पर अब दूसरी तरह की विचार धारा पर ध्यान दीजिये। यह कहना आसान है कि ज्ञान प्राप्त करने पर सन्त भावातीत हो जायगा वह किसी भाव से उद्वेलित नहीं होगा

न लौकिक न पारलौकिक, लेकिन यह मान लिया गया है कि ज्ञान प्राप्ति का प्रयोजन दुःख की अत्यन्त निवृत्ति ओर अखण्ड सुख की प्राप्ति हैं। भगवान् को सच्चिदानन्द स्वरूप महा गया है यह भी माना गया है, जहाँ जिसको आनन्द आता है, वराँ उसका प्रेय हो जाता है, तस्मात् जहाँ परमानन्द की अनुभूति होगी, वहाँ परम प्रेम हो जायगा, भगवान् परमानन्द स्वरूप हैं, परमानन्द की अनुभूति होने पर, परम प्रेम होना सहज और अनिवार्य है, तो फिर परम प्रेमास्पद का ध्यान सरल और सहज रूप से क्यो न होगा ? जिस ज्ञान के साथ ध्यान की तल्लीनता नहीं, उसे परमानन्द के स्वरुप के ज्ञान के रूप में कैसे स्वीकार किया जाय ?

आजकल ऐसे बहुत से साधु, पंडित, प्रचारक मिलते हैं जो विद्वता पूर्ण ढँग से ज्ञान का निरुपण करते हैं और अपने प्रवचनों में अद्वैत को सिद्ध करते हैं। इनमें से अफिकाँश भक्ति भाव विभोर कभी कहीं होते, ऐसा जान पड़ता है कि भक्ति भाव में विभोर होना उनके गौरव के विरुद्ध है। प्राय: उनमें ऐसा भाव रहता है कि उपासना में उन्हे द्वैत भावकी झलक आती हैं क्यों कि अपने से भिन्न और श्रेष्ठ व्यक्ति की उपासना की जा सकती है। प्राय: यह बल्पना होती है कि अपने से भिन्न किसी इष्टदेव की उपासना करने वाला द्वैत की निम्न भूमिका में स्थित है, जब कि वे अपनी अद्वैत स्थिति सिद्ध करना चाहते हैं। परन्तु सघमुच यह विचार ठीक नहीं है, यदि ज्ञानी चलता फिरता, खाता सोना बातचीत करता, प्रवचन देता और प्रश्नों के उत्तर देता हुआ भी अपनी अद्वैत स्थिति का भंग नहीं मानता तो यह कल्पना ठीक न होगी कि किसी उपासना से उसका अद्वैत खण्डित होगा।

कभी कभी यह भी देखा गया है कि अद्वैत प्रतिपादक प्रवचन कर्ता अपनी प्रतिष्ठा व आदर सत्कार के आग्रही होते हैं, और उसमें कुछ कमी आ जाय तो नाराज भी हो सकते हैं।

क्रोध कि वुद्धि द्वैत बिनु, द्वैत कि विनु अज्ञान। (उत्तर काण्ड)

इस प्रकार क्रोध के प्रगट हो जाने से द्वैत और अज्ञान की स्थिति सिद्ध होती है, अद्वैत स्थिति सिद्ध नहीं होती। भगवान् की भक्ति अभिमान की दवा है। भक्ति भाव विभोर होने प अन्त:करण की शुद्धि पूर्वक ज्ञान की स्थिति सरल बनती है।

सबको भगयत रूप देखने से और सबका आदर करने से मान से ज्ञान खण्डित नहीं होता। (सबहि मान प्रद आपु अमानी) उत्तर काण्ड अभिमान से पूरी सुरक्षा रहती है। इसलिए भाव त्रिभोर होने से ज्ञान की स्थिति सरल हो जाती है और टिक सकती है जबकि अभिमान ज्ञान का बैरी है।

ज्ञान के प्रतिपादक लोगों के लिए यह खतरा रहता रहता है कि वे कहीं कोरे वाचिक ज्ञानी न रह जायँ। यदि ज्ञान सम्बन्धी बहुत उत्तम प्रवचन देने से ही ज्ञानी होने की मान्यता मिल जाय तो अपरोक्षानुभूति की आवश्यकता ही क्यों पड़े ?

यह भी भूला नहीं जा सकता कि ज्ञानी, अद्वैतदर्शी की दृष्टि में उसका शरीर स्वप्नवत्, कठपुतली की तरह अथवा सिनेमा के पात्रों की तरह है दूसरे शरीरों में और उसके शरीर में ज्ञान की दृष्टि में कोई पूज्यता या श्रेष्ठता का भेद नहीं माना जा सकता। इसलिए यदि किसी ने अपनी पूज्यता की कल्पना की तो वह ज्ञान की भूमिका से वंचित हुआ।

यदि अद्वैत प्रतिपादक के प्रवचन के अतिरिक्त अन्य समय में लौकिक भाव बने रहे और समस्याओं की चिन्ता व्याप्त रही तो उसका ज्ञान असिद्ध है।

यदि यह बात भली भाँति मान ली जाय कि जगत असत्य है आत्म स्वरूप ही सत्य है तो फिर यही अनुकूल पड़ेगा कि आत्म स्वरूप का श्रवण, मनन निदिध्यासन बराबर करते रहा जाय। इससे स्पष्ट हो जाता है कि सच्चा ज्ञानी आत्म पद में लीन रहेगा। यही ध्यान है।

यदि कोई सन्त निर्गुण निराकार ब्रह्म में लीन रहता है तो भी वह ध्यान है और यदि वह सगुण साकार इष्टदेव की मूर्ति का ध्यान करता है और उसी में तल्लीन रहता है तो भी वह ध्यान है। भगवान् के स्वरूप का ध्यान होते रहने से भक्त ज्ञान की दशा में स्थित हो जाता है। जिस ज्ञान के साथ भगवान् क़ी खूब याद नहीं है उसके स्थिर रहने का बहुत भरोसा नहीं किया जा सकता, परन्तु जहां बराबर भगवान् का ध्यान रहता है वहां ज्ञान की अखण्ड भूमिका बनी रहती है। इसलिए ध्यान ज्ञान का भूषण है।

श्री गोस्वामी जी महाराज ने प्रस्तुत दोहे में यह सन्देश दिया हैं कि ध्यान का भूषण त्याग है। इस सन्देश को समझ लेना चाहिए। जहाँ ज्ञान और ध्यान की दशाएँ प्राप्त हैं वहाँ वैराग्य पूर्वक भजन की बहार छायी रहती है। ऐसे सन्त को कोई भी लौकिक वस्तु प्राप्तव्य नही लगती ऐसी दशा में उसे विषय चिन्ता की प्रेरणा नहीं होती। उसे किसी भी भौतिक वस्तु का आनन्द प्राप्त करने की चेष्टा नहीं रहती। इसलिए वह सहज ही भगवान् के ध्यान में मस्त रहता है।

श्री गोस्वामी जी ने इसे ही चतुराई माना है कि चित वृत्ति भगवान् के चरणों में लीन रहे।

तुलसी चतुराई सोई, वृत्ति राम पद लीन।
पर धन पर मन हरन कहँ वेश्या परम प्रवीन ॥

जिसको केवल ध्यानावस्था का सुख अभीष्ट है, और कोई भौतिक वस्तु अभीष्ट नहीं हैं वही संसार की तमाम वस्तुओं से हटकर भगवत् चरण कमलों में लीन रह सकता है। जिस किसी की इस जगत् के किसी किसी स्थान में आसक्ति बनी हुई है उससे विषय चिन्तन होगा ही और वह निर्विघ्न होकर ध्यान में तल्लीन न हो सकेगा। ध्यान की उत्तम दशा वही है जिसमें विक्षेप की सम्भावना न हो। जिसने संसार की सभी वस्तुओं को मन से त्याग दिया है उसे ही ध्यान की सर्वोत्तम दशाएँ प्राप्त हो सकती हैं। यहाँ श्री गोस्वामी जी का यह सन्देश समझना चाहिए कि त्याग के बिना ध्यान का चरमोत्कर्ष नहीं होता। इसलिए त्याग ध्यान का भूषण गाना गया है। कभी कभी कोई कोई साधक यह कल्पना करते हैं कि ध्यान की साधना निश्चित समय में रोज चलेगी, परन्तु शेष समय जगत् के व्यवहार को सिद्ध करने के लिए है। ऐसा विचार इस बात का द्योतक हैं कि ज्ञान और ध्यान की उच्च दशाएँ अभी प्राप्त नहीं हुई हैं। जगत् को स्वप्न या मृग तृष्णा के समान जान लेने पर किसी लौकिक व्यवहार की चिन्ता नहीं रह सकती। जगत् का अन्त:करण से पूरा पूरा त्याग कर देना ध्यान की दशा की शोभा है, ऐसे त्याग के बिना ध्यान निर्विघ्न नहीं रह सकता।

कभी कभी ऐसे लोग देखे गए हैं कि जो इस दुनियाँ के ठाठ-बाट तथा ध्यान की बहार, दोनों चाहते हैं। ऐसे ही लोग निश्चित समय में ध्यान और अन्य समय में कर्तव्य सम्पादन की सावधानी की बात सोचते हैं। ऐसे लोगों का संत्कार भी बहुत से लोग करते हैं और समझते हैं कि वही दशा अच्छी है जिसमें अमीरी और फकीरी दोनों का आनन्द आ सके। परन्तु इस प्रकार कर्तव्य के दो मोर्चे मान लेने पर निर्विक्षेप ध्यान का आनन्द बराबर प्राप्त करने का सुख नहीं भोगा जा सकता। त्याग ज्ञान की दशा को गुप्त और सुरक्षित रखता है। इसलिए त्याग

ध्यान की शोभा है, आभूषण है। बाहरी ठाठ-बाट के जीवन के साथ भी उत्तम ध्यान जनकादि में पाया गया, परन्तु ऐसे उदाहरण कम मिलते हैं और वे भी अपवाद रूप नहीं हैं, क्योंकि जनकादि का मार्ग त्यागपूर्ण ही है, त्याग रहित नहीं। जो त्याग ध्यान का भूषण है, वह मन से किया हुआ त्याग है, बाहरी नहीं। अंतः और वाह्य उभय प्रकार का त्याग हो तो क्या ही कहना ·

कटती है रघुनाथ सँग, बांधि जटा सिर केस। (श्री गोस्वामी जी)

परन्तु यदि अन्तः त्याग परिपूर्ण है तो ध्यान के साथ बादशाहत भी चल सकती है, अन्यथा नहीं। जनकादि के ध्यान का भो भूषण त्याग ही था।

आजकल भी कोई कोई सच्चे सन्त ऐसे मिलते हैं, जिनके जीवन में बाहरी अमीरी दिखाई पड़ती है, परन्तु अन्दर से फ़कीरी ही है। ऐसे उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। अधिकांश साधक बाह्य अमीरी के वातावरण में फ़कीरी नहीं पा सकते, फ़कीरी में टिक भी नहीं सकते। कोई कोई जो जनकादि की तरह भीतर से फ़कीर और ऊपर से अमीर दिखाई पड़ते हैं, उनकी अमीरी प्रारब्ध प्रदत्त होती है, न कि इच्छापूर्वक साधन करके प्राप्त की हुई। भीतर से पूर्ण त्याग होने पर, बाहरी जीवन में त्याग या ग्रहण किसी की भी प्रेरणा नहीं रहती (पूर्ण तटस्थता रहती है।), इसलिए बाहरी अमीरी जारी रह सकती है। कभी कभी अपवाद स्वरूप ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं, जिनमें बाहरी ठाठ-बाट आवरण का काम करता है। गोपनीयता में सुरक्षा है, बहुत से सन्त लोकमान्यता से बचकर गुप्त रहना चाहते हैं। गुप्त रहने के लिए कुछ आवरण चाहिए। यदि उनके जीवन में कुछ ऐसे लक्षण पाये जाते हैं जिनसे साधारण जनो में उनका सन्त स्वरूप खण्डित या असिद्ध माना जाय, तो इनके सहारे वे गुप्त रह सकते हैं। जनक, भीष्म, तिलक या

गाँधी की तरह यदि लोक व्यवहार में अति संलग्नता हो, तो बहुतों की दृष्टि में साधुता असिद्ध होती है। इसी प्रकार सम्पन्न व्यक्ति भी साधारण जन की दृष्टि में सन्त नहीं होते। अतः अमीरी भी कभी कभी सन्त को गुप्त रखने में सहायक होती है। अधिकाँश प्रकरणों में वाह्य जीवन के ठाठ बाट विपरीत प्रभाव ही रखते हैं, ध्यान के विघ्न रूप ही सिद्ध होते हैं।

जैसे ध्यान से रहित ज्ञान के विषय में आशंका रहती है कि वह कोरा वाचिक ज्ञान न ठहरे, उसी तरह ज्ञान के बिना ध्यान के विषय मे यह आशंका रहती हैं कि वह कहीं बक-ध्यान (बगुला भक्ति) न सिद्ध हो जाय। जिसका अन्तःकरण त्याग से परिपूर्ण नही है, वह प्रायः भगवान् का ध्यान छोड़कर अपनी आसक्ति के विषय का ध्यान करने लगेगा। अथवा उसका ध्यान निष्काम नहीं होगा, उसमें अभिलषित वस्तु की प्राप्ति की कामना रहेगी। ऐसी कामना भक्ति के प्रवाह में बह सकती है—

उर कुछ प्रथम वासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही॥
(सुन्दर काण्ड)

सभी वासनाओं के शान्त हो जाने पर निर्मल भक्ति का उदय होगा और निर्विक्षेप, निष्काम, विशुद्ध प्रेममय ध्यान हो सकेगा। इस प्रकार सभी तरह से विचार करने पर यही परिणाम आता है कि सिद्ध और पुष्ट ध्यान त्याग से परिपूर्ण ही रहेगा। त्याग ही उसकी शोभा है, आभूषण है।

त्याग का भी भूषण शान्ति पद बताया गया है, सो भी अमल (निर्मल, विशुद्ध) और अदाग (निर्दोष), त्रुटि रहित. निष्कलंक, निरंजन, निर्विकार। त्याग का आभूषण रूप से उल्लेख करते हुए कवि ने

शान्ति-पद का वर्णन प्रारम्भ किया है। यही ग्रन्थ का अन्तिम प्रकरण है। कवि का उपदेश गीतोक्त भक्तियोग के प्रमाण के अनुरूप है।

> श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाद् ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
> ध्यानात् कर्म फल त्यागस्, त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥ (गीता १२.१२)

अभ्यास से ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है, ध्यान से कर्मफल त्याग श्रेष्ठ है, त्याग से तुरन्त शान्ति लाभ होता है।

उपासना का साधक अभ्यास करता है, उससे ज्ञानी भक्त श्रेष्ठ है क्योंकि बोध के पश्चात् साधन भक्ति सिद्ध भक्ति में बदल जायगी। ज्ञानी से भी ध्यानी श्रेष्ठ है, ध्यान भी विक्षिप्त रहेगा जब तक फलासक्ति रहेगी अत: सर्वं कर्म फल त्यागो श्रेष्ठ है, त्याग का सद्य: परिणाम शान्ति है, वही त्याग का पर्यवसान है, शोभा है आभूषण है।

त्याग का आभूषण शान्ति पद को बताया क्योंकि वास्तविक त्याग का फल शान्ति ही है। "सर्व परिग्रह भोग त्याग:। कस्य सुख न करोति विराग:।" (आदि शंकराचार्य), दो प्रश्न अध्यात्म व वैराग्य के सन्दर्भ में अत्यन्त महत्वपूर्ण है—

> सुख विषय भोगों से मिलेगा या वैराग्य से ?
> शान्ति परिग्रह से मिलेगी या अपरिग्रह से ?

श्री शंकराचार्य जी ने 'प्रश्नोत्तरी' में कहा है—

बद्धो हि को ? यो विषयानुरागी। (बद्ध कौन है ? जो विषयप्रेमी है)
का वा विमुक्तिर् ? विषये विरक्ति:। (मुक्ति क्या है ? विषय से विरक्ति)

भौतिकवादी धारणा है कि विषय भोग से सुख मिलेगा। परन्तु भोगों से इंद्रियों को जो अनुकूल वेदना होतो है, उसे ही सुख मानें तो भी वह प्रतिकूल वेदना [दु:ख] की सम्भावना से मुक्त कभी नहीं हो सकती। 'चक्रवत् परिवर्तन्ते सुखानि च दु:खानि च।' सुख दु:ख का चक्कर चला ही करता है। एक सी स्थिति रह नहीं सकती। फिर कोई भो इद्रिय सुख दुष्परिणाम, सम्भावित पछतावा निर्भरता, (या आदत्त) के संस्कार आदि से रहित नहीं है। एक ही स्थिति कभी वांछनीय कभी असहनीय लगती है। इसलिए विवेक दृष्टि से भोग सुख दुख रूप ही है। भोगों से इन्द्रियों की शक्ति घटती है। उनके बने रहने का कोई भरोसा नहीं, तथा भोग सुख भी क्षय होता जाता है। सुलभ होने पर उसका महत्व घटता जाता है पर उस पर निर्भरता बढ़ती जाती है। इसलिए सन्त लोग विषयों को सुखरूप नहीं मानते। अष्टावक्र ग्रीवा का उपदेश है।

मुक्तिमिच्छति चेत्तात, विषयान् विषवत् त्यज। १.२.।

हे प्यारे यदि मुक्ति (दु:ख निवृत्ति) चाहते हो तो विषयों को विष की तरह छोड़ दो। इन्द्रियों को दुलार करने से वे वश के बाहर होने लगती हैं, जीवन में चञ्चलता बढ़ती है, अशान्ति आती है। अशान्तस्य कुत: सुखं (गीता २.६६) अशान्त को सुख कहाँ ?

रजोगुणी व्यक्ति इन्द्रिय प्रीति को ही महत्व देता है: तमोगुणी निद्रा, आलस्य प्रमाद में ही सुख मानता है, परन्तु सतोगुणी व्यक्ति निर्द्वन्द ओर शान्त जीवन को ही सुखी मानता है निर्द्वन्द शान्त जीवन विषय संग्रह और भोग से नहीं मिल सकता वह त्याग से ही सम्भव है। त्याग से ही शान्ति प्राप्त होती है।

इसी तरह परिग्रही को वस्तुओं की प्राप्ति, रक्षा उचित व्यवस्था आदि की चिन्ता रहती है। वह निश्चिन्त नहीं रह सकता। अधिक सम्पन्न

व्यक्ति के मन पर चिन्ता का भार भी अधिक रहता है, वह शान्त नहीं रह सकता सच्चा अपरिग्रही निश्चिन्त और शान्त रहता है। उसे विक्षेप का अभाव रहता है।

इस प्रकार जो सच्चा (मन से) त्यागी है वही शान्त है, त्याग से तुरन्त (अनन्तरं) शान्ति मिलती है। आजकल भी प्रशाशन में मुक्ति पद-भार विमुक्ति विश्रान्ति आदि शब्द प्रचलित हैं। यद्यपि आसक्ति के कारण पद 'भार' युक्त रहना ही पसन्द आता हैं, पद भार से विश्रान्ति नहीं। भोगी बहुत सा दुख झेलता रहता है उसे गिनता ही नहीं, बहुत से भार का अभ्यस्त हो जाता है, उसे मानता ही नहीं परन्तु इस मोह से क्या ? उसके जीवन पर तो उस दुःख व भार का अनिष्ट प्रभाव पड़ता ही रहता है।

यह एक विडम्बना ही हैं कि मनुष्य अपनी नौकरी से रिटायर हो ज़ाता है जिसका कार्य उसके लिए विशेष क्लिष्ट या अस्वास्थ्यकर नहीं होता परन्तु घर गृहस्थी की चिन्ताएँ उसे अति पीड़ित करने लगती हैं, और तीव्रता से उसके जीवन और स्वास्थ्य को नष्ट करने लगती हैं। इस चिन्तालय से वह प्राय: मरने पर ही मुक्त होता है।

त्याग को भूषन शान्ति पद इसलिए कहा है कि सच्चे त्याग से ही शान्ति मिलती है, दाम्भिक त्याग से नहीं। त्याग मन से न हो ऊपरी दिखावा हो तो शान्ति नहीं मिल सकती। दम्भ चिन्ता को बढ़ाएगा शान्ति नहीं देगा। निस्सन्देह अनन्य भक्ति की, भगवन्नामानुसरण की जिस उच्च स्थिनि का ड़िरूपण हो रहा है उस स्थिति में दम्भ का प्रश्न ही नहीं उठता, परन्तु किसी का त्याग कितना सच्चा है कितना खरा हैं, इसे इस बान से परखा जा सकता है कि उसके जीवन में कितनी शान्ति है।

ग्रथ के प्रारम्भ में ही कह चुके हैं कि यह शरीर तवे की तह भयताप जलता रहता रहता है यह तभी शान्त होता है जब श्रीराम प्रताप से (भयताप) शान्त हो। (छन्द संख्य ६.) अब ग्रन्थ के अन्तिम प्रकरण 'शान्ति पद का निरूपण किया जा रहा है। कवि ने शान्ति पद' के साथ दो विशेषण लगा दिये हैं अमल, अदाग। जो शान्ति पद त्याग का भूषण है वह निर्दोष दाग धब्बे से रहित है जिस व्यक्ति का लौकिक जीवन अभावग्रस्त न हो, सन्तुलित और सुव्यविथत रूप से चल रहा है, उसके जीवन में भी एक प्रकार की शान्ति प्रतीतिमान होती है क्योंकि विक्षेपों और द्वन्दों से पीड़ित नहीं दिखाई देती परन्तु बाहर सुखी और शान्त दिखाई पड़ने वाले जीवन में भी महान् समस्यएँ व चिन्ताएँ रह सकती हैं, प्राप्त भी हो सकती है। शान्त दिखाई पड़ने वाली परिस्थिति नें विस्फोट होकर अनर्थ, दुःख या चिन्ता के कारण उत्पन्न हो जाते है। 'शम, सन्तोष, दया, विवेक' आदि गुणों से आलोकित जीवन में एक व्यवहारिक शान्ति पद दृष्टिगोकर होता है जो वर्षो तक स्थिर प्रतीत हो सकता हैं। परन्तु जिस दिव्य स्थिति का कवि ने निरूपण किया है, उसकी प्राप्ति के बिना इस शान्ति में अशान्ति और दुख के कारण कष्ट हो सकते हैं अतः इस शान्ति को एकदम निर्मल नहीं कह सकते है। व्यवहारिक शान्ति दोष गर्भित है, पारमार्थिक शान्ति निर्मल है, जिसमें स्थित होकर महान दुख से भी विचलित नहीं होता (गीता ६ २२) पारमार्थिक शान्ति अखण्ड है, निश्चल है, विशुद्ध है।

आसुरी सम्पदा वाले लोग पाप में लिप्त रहते हुए भी शान्ति की कल्पना करते हैं। ईश्वरोऽहमहं भोगीसिद्धोऽहं बलवान्सुखी (गीता १६.१४) ऐसी कल्पना करते हैं। शोषण कपट हिंसा छल आदि से सारे साधन जुटाकर शान्ति लाभ की कल्पना करते हैं, परन्तु असीम चिन्ताओं में लिप्त रहते हैं उनकी शान्ति कल्पित ही है। अपरिमित चिन्ता और शान्ति दोनों साथ साथ नहीं चल सकतीं इपके अतिरिक्त

जो (तथाकथित) शान्ति दूसरों के शोषण उत्पीड़न लूट छल आदि पर टिकी है, वह अदाग नहीं दागी है। यह कल्पना ही नहीं की जा सकती कि अनन्य हरिदास भगवन्नाम की अखण्ड रटन करने वाला शोषण या हिंसा-प्रवृत्त होगा। वह तो सबको निज प्रभु का रूप देखता हुआ सेवा करेगा शोषण कदापि नहीं करेगा। श्री गीताजी में अपने ही जैसा सुख दुःख सभी अन्य प्राणियों का समझने वाला परम योगी कहा गया है (६.३२)। इसी प्रकार विनय पत्रिका में कहा गया है ——

अखिल जीव वत्सल निर्मत्सर चरण कमल अनुरागी।
ते तव प्रिय रघुवीर धीरमति अतिसय निज पर त्यागी॥

इसलिए पापी, छली हिंसक आदि यदि शान्ति पद प्राप्ति का दावा करते हैं तो वह गलत है, झूठा है, और उनकी (तथाकथित) शान्ति वेदाग नहीं कही जा सकती। विशुद्ध, निर्दोष, पारमार्थिक शान्ति पद को ही त्याग का भूषण बताया गया है। चिन्ताग्रस्त अन्तःकरण में व्याकुल, चंचल, दुःखी होते हुए भी जिस शान्ति का दावा किया जाता है वह दम्भ का भूषण हो सकती है सच्चे त्याग का भूषण (सौंदर्य या शोभा) नहीं हो सकती।

अमल अदाघ शान्ति पद सारा ।
सकल कलेस न करत प्रहारा ।।
तुलसी उर धारै जो कोई ।
रहै अनन्द सिंधु महँ सोई ।।४५।।

निर्मल निरंजन शान्ति पद ही सार है वह सभी क्लेशों का नाश करता है । जो मन में इस शान्ति कों धारण कर लैता है यह आनन्द-सागर में लीन रहता है ।

विशुद्ध शान्ति पद को प्राप्त कर लेना ही जीवन का सार है, परम परमार्थ है । इस पद की प्राप्ति से सभी क्लेशों पर प्रहार हो जाता है, सभी क्लेश मिट जाते हैं । और सन्त आनन्द सिन्धु में मग्न रहता है ।

आज से लगभग पचास वर्ष पूर्व यह सन्देह भी प्रकट किया गया था कि "वैराग्य संदीपनी" श्री ग़ोस्वामीं जी का ग्रन्थ नहीं है, क्योंकि गोस्वामी जी भक्तिवादी थे । वे भक्ति को ही सर्वोच्च स्थान दे सकते थे शान्ति पद को नही, जब कि इस प्रसंग में शान्ति के समान किसी सुख को नहीं माना है । यह सन्देह दृढ़ आधार पर नहीं था । भगवान की भक्ति से परम शान्ति पद मिलता है, इसमें विरोध मा भेद दृष्टि का अवसर नहीं है । जो कवि का सन्देश है उसे समझना चाहिये । वह यह है कि मन को चंचल बनाने वालै जो विषय भोग हैं, उनके माध्यम से जीवन को सफल करना सम्भव नहीं है । चित्त को सम व शान्त करना ही इसका उपाय हे —— इहैव तैंजित: सर्गो येषां

साम्ये स्थितं मनः। (गीता ५.१९) जिसने चित्त को साम्य (समता) में स्थिर कर लिया है उसने इस लोक में, इस जीवन में, यहीं सृष्टि को जीत लिया। अतः चित्त को भोचोन्मुख नहीं बनने देना है, अन्तर्मुखी व भगवत् सन्मुख करना है। इसी से शान्ति मिलेगी परम शान्ति ही परम लाभ है।

यहाँ जिस शान्ति पद का वर्णन हुआ है वह मोक्ष पद ही है अन्य नही। उपनिषद् में आत्म ज्ञानी का शोक रहित होना प्रतिपादित है।

तरति शोकं अत्मवित्। इसी तरह —– तत्र को मोहः कः णोकः एकत्वमनुपश्यतः। उस परावर का दर्शन करके, हृदय की गाँठ कट जाती है, सक संशय दूर हो जाते हैं, कर्म बन्धन भी क्षीण हो जाते हैं। श्री योग वशिष्ठ में भीं कहा है —— 'जगत् त्यक्त्वा सुखी भवेत्' जगत को छोड़कर सुखी होता है।

दुख की अत्यन्त निवृत्ति ही मोक्ष है। मोक्ष पद प्राप्ति से सभी क्लेशों की निवृत्ति हो जाती है। यही सकल क्लेशों पर प्रहार करना है निर्मल शान्ति पद पाने से अपने भीतर श्री राम जी का राज्य कायम हो जाताहै और राम राज्य में ——

दैहिक दैविक भौतिक ताप।। राम राज नहिं काहुहि ब्यापा ।।
(उत्तर काण्ड)

त्रय ताप की जलन शान्त होने पर मन रूपी त्वा ठंडा हो जाता है। (छंद ६ पूर्वगत्) श्री प्रहलाद जी ने भी श्री राम नाम को 'सर्वताप शमनैक भेषज' (नृसिह पुराण) (सब तापों को शान्त करने

वाली एकमात्र) बताया है इस प्रकार शान्ति पद प्राप्त करने पर सभी क्लेश दूर हो जाते है।

ऐसा तो नहीं है कि जिन घटनाओं या परिस्थितियों को हम कष्टदायक समझते हैं, वैसी घटनाएँ या परिस्थितियाँ सन्तों के जीवन में कभी नसीं आतीं परन्तु फिर भी निम्न प्रकार से साधारण लोगों और सन्तों के बीच वहुत बड़ा अन्तर पड़ जाता है ——

कोई कोई घटना जो महान क्लेशदारक मानी जाती है, उनके लिए कुछ भी कष्ट दायक नहीं होती यथा राम वन गमन, सिद्धार्थ गौतम का गृह त्याग महात्मा गाँधी की जेल यात्रा।

कभी कभी जिस घटना का साधारण व्यक्ति पर तीव्र प्रभाव है, वह सन्तों के लिए क्षुद्र या नगण्य प्रभाव रखती है। समता में स्थित सन्त सुख दु ख में समान रहते हैं।

जिनके लिए संसार स्वप्नवत् है इसके सुख दुःख भी केवल प्रातिभासिक सत्ता रखते हैं।

दिव्य शक्ति के हस्तक्षेप से, भगवदीय कृपा से, कितने ही कष्ट कम हो जाते हैं, नहीं आते या अति शीघ्र मिट जाते हैं, जिसका आभास सन्तों को हो जाता है।

सन्त प्रारब्ध से बचना नहीं चाहते। उन्हें प्रारब्ध स्वीकार है, उसको भोगते हुए भी वे सम और आनन्दमग्न रहते हैं।

यदि सन्तों के जीवन में क्लेशदायक मान्य घटनाएँ आएँ ही नहीं तो हम अज्ञानी जीवों के प्रति उनकी दिव्य रहनि क़ैसे स्पष्ट हो ? शास्त्रोपदेश की शक्यता क़ैसे प्रमाणित हो ? हम वोगों को व्यत्व्रहारिक प्रेरणा

खैसे मिले ? इसलिए सन्तों के सर्व क्लेशों की निवृत्ति का यह अर्थ नहीं लेना चाहिये कि जरा, व्याधि, मृत्यु, दुःख दोषादि का कोई प्रभाव उनके जीवन में नहीं दिखाई देता। क्लेशाभाव का कुछ सूक्ष्मता से अर्थ ग्रहण करना होना।

महर्षि पतञ्जलि ने योग दृष्टि से 'क्लेश' का दूसरा ही अर्थ किया है 'अविद्या ऽस्मिता राग द्वेषाभिवेशाः पंच क्लेशाः ।। योग दर्शन सूत्र २.३.। क्लेश पाँच हैं -- अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश।

अनित्याअशुचि (अपवित्र), असुख, और अनात्म, पदार्थ में निव्य शुचि' सुख, और आत्मभाव की प्रतीति, होना (अर्थात विपरीत ज्ञान होना) अविद्या है (योगसूत्र २. ५.) यही अविद्या मोह है। मोह सकल व्याधिन कर मूला। तेहि से पुनि उपर्जहि बहु शूला ।। (उत्तर काण्ड) अपना शरीर ही अनित्य, अशुचि, दुःख, अनात्म है और यहीं विपरीत अनुभूति होने लगती है। इसी से इस अनात्म पदार्थं में आत्म स्परूप भासित होता है और तब देहात्म बुद्धि पैदा होती है, देह में मेरापन ही नहीं मैंपना भी हो जाता है यह अस्मिता (मैंपना) है। यह दूसरा क्लेश है.--

संसृति मूल शूल प्रम नाना। सकल शोक दायक अभिमना ।।
(उत्तर काण्ड)

अस्मिता के कारण शरीर के लिए अनुकूल वस्तुओं में राग और प्रतिकूल वस्तुओं में द्वेष हो जाता है। फ़िर जगत् में अत्यन्त आसक्ति (दृढ़ अध्यास) हो जाती है, भव बन्धन दृढ़ होता जाता है। यौगिक दृष्टि से, प्रायः सम्पन्न व्यक्ति इन क्लेशों में अधिक गिरपत्तार रहते हैं कम नहीं। लौकिक उरायों से इन पंच क्लेशों से उद्धार नहीं हो सकता यौगिक उपायों से ही हो सकता है

मोह नष्ट होने पर शान्ति पद प्राप्त होता है शान्ति पद विकार रहित होने से 'अमल' है और उस पद में स्थित व्यक्ति पर कर्म के संस्कार नहीं पड़ते, बन्धनकारी परिपाक नहीं होता इसलिए अदाग है। शान्ति पद में स्थित व्यक्ति के लिए पञ्च क्लेशों के उदय का प्रश्न ही नहीं उठता अतः 'सकल कलेसन करत प्रहारा।' श्री गोस्वामी जी राज-योग की बहुत ऊँची दशा का वर्णन कर रहे हैं। देहाभिमान के गलित होने के बाद की यह दशा है, सचराचर में प्रभु का दर्शन करते हुए सेवा, अखण्ड भगवन्नामस्मरण, देहाभिमान गलित, आत्म विस्मृति पूर्वक ध्यान मग्नता, ऐसी यह विलक्षण अलौकिक दशा हैं।

कहत सुनत समुझत समुझावत, दसा हृदय नहिं आवै
जेहि अनुभव बिनु मोह जनित दारुण भव विपति सतावैं।

जिसको इस दशा की अनुभूति हुई, जिसने इस दशा को हृदय में धारण कर लिया, वह आनन्द सागर में निमग्न हुआ।

शान्ति पद सम्बन्धी श्री गोस्वामी जी का जो सन्देश है वह दृढ़ वैराग्य की नींव पर है। महर्षि पतञ्जलि का अष्टांग योग भी इसी प्रकार वैराग्य पर आधारित है। म० बुद्ध का अष्टांग मार्ग भी बिल्कुल वैसा ही है, जैन साधना भी दृढ वैराग्य पर आधारित है।

आजकल जमाने की जरूरत के नाम पर, और साधकों को आकर्षित करने के लिए ऐसे अनेक ध्यान मार्ग चल पड़े हैं जिनमें यह सुविधा प्रतीत होती है कि दृढ़ वैराग्य की नींव आवश्यक नहीं मानी जाती। ईसा की बीसवीं शती में अमीरी और फ़कीरी के समन्वय की बड़ी चेष्टा की ग़यी है। हमारे यहाँ जनकादि का कर्मयोग बहुत पुराना है परन्तु आप राजभोग ओर राजयोग का समन्वय नहीं साध सकते। जनकादि के मार्ग में भीं अन्तःकरण का वैराग्मपूर्ण होना आयश्यक हैं। देश के और समाज

के हित में कर्मयोग अनिवार्थं है, परन्तु वह योग ही होगा। भोग मार्ग नहीं।

वैराग्य का दृढ़ आधार ध्यानादि के उच्च सोपानों की उपलब्धि तथा धृढ़ता के लिए आवश्यक है। ऐसे आधार के बिना जो प्रगति दिखायी देती है वह ठोस, स्थिर, व ऊर्ध्वोन्मुख नहीं होती। यदि यह प्रतीत हो कि इस तरह भी शान्ति पद प्राप्त हो गया तो वह शान्ति पद अमल व अदाग नहीं होगा और सकल क्लेशों की मिवृत्ति उससे न हो सकेगी।

जौ मन लाग़ै राम चरन अस।
देह गेह सुत वित कलत्र महँ, मगय होत बिनु जतन किये जस ।।
द्वन्द्व रहित गत मान ज्ञान रत, विषय विरत खटाइ नाना कस।
सुख निधान सुजान कोसल पति, ह्वै प्रसन्न कहु क्यों न होहिं बस ।।
सर्वभूत हित निर्व्यलीक चित, भगति प्रेम दृढ़ नेम एक रस।
तुलसि दास यह होइ तबहिं जब द्रवै ईस जेहि हत्यो सीस दस ।।
(वि० प० पद संख्या २०४)

अमल अदाग शान्ति पद हृदय में धारण हो जाय यह विरले विरले उदाहरणों में ही पाया जाता है क्योंकि यह बहुत ही विलक्षण अनुभूति है। अधिकांश लोग जो इस मार्ग पर चलते हैं, निम्नतर सोपानों तक ही पहूँच पाते हैं या वहीं रुक जाते हैं। तत्सम्बन्धी सुख, सुविधा, सिद्धि प्रसिद्धि आदि में रम जाते हैं अथवा मर्यादा अतिक्रमण असदाचार साधन-विकृति आदि के कारण निम्नतर स्थितियों में स्खलित या पतित हो जाते है। जिनकी निष्कामता व वराग्य की जितनी 'दृढ़ भूमि' होती है, उनकी स्थिरता उतनी ही निश्चित रहती है पतन की संभावना नहीं रहती। हीनता और शरणागति का भाव सच्ची भक्ति

के उत्तम लक्षण हैं और यही लक्षण पतन से बचाकर उत्थान को तीव्र करते हैं।

राजयोग की उत्तमोत्तम दशाएँ मनोवेज्ञानिक बाजीगरी की तरह नहीं हैं, न यांत्रिक करिश्मे (जादू) की तरह हैं। वे मात्र मानसिक संभ्रम मा मिथ्याभास भी नही है। उनका नैतिक जीवन दीनता भक्ति भाव आदि से सीधा सम्बन्ध है, ऐसा भी नहीं है कि जो सिद्धि मिली वह मिल ही गयी, अब वह जा नहीं सकती। अत: विरले सत्यनिष्ठ साधक ही अमल अदाग शान्ति पद को हृदय में धारण कर सकते हैं। यदि कोई दशा क्षणिक हो बराबर न बनी रहे तो यह नहीं कह सकते कि उसका धारण हो गया। धारण स्थिरता का सूचक है। श्री गोस्वामी जी कहते हैं कि जो इस पद (दशा) को हृदय में धारण करते हैं वे आनन्द सागर मग्न रहते हैं। ताकर सुख सोइ जानइ, परानण्द सन्दोह ।। (उत्तर काण्ड)

साधारध जीव विषय रूप जल की मछली की तरह है। उससे अलग नहीं होता।

विषय वारि मन मीन भिन्न नहि होत कबहुं पल एक।
ताते सहिय विपति अति दारुन जनमिय योनि अनेक ।। (वि०७४०)

इसके विपरीत सन्त शान्ति सागर की मछली हैं। वे उससे अलग नहीं होते। वह परमानन्द स्वरूप हैं।

प्रस्तुत चौपाई में श्री गोस्वामी जी ने शान्ति पद पर आरुढ़ सन्त की क्लेश रहित दशा व आनन्द मग्नता का उल्लेख कर दिया। आगे शान्ति पद का प्रकरण जारी हैं उसमें इस दशा की विलक्षणता का पर्याप्त विस्तृत वर्णन हो जाता है।

विविधि पाप संभव जो तापा ।
मिटहिं दोष दुख दुसह कलापा ।।
परम शान्ति सुख रहै समाई ।
तहँ उत्पात न भेदै आई ।।४६।।

विविधि पापों के कारण प्राप्त (त्रय) ताप शान्त हो जाते हैं, अनेक दोष दुख तीव्र वेदनाएँ शान्त हो जाती हैं । सन्त परम शान्ति के सुख में मग्न रहता है जहाँ कोई दुख दोष आदि का विक्षेप पहुँच नहीं सकता । (अत: निर्विक्षेप एकरस अखण्ड आनन्द रहता हैं ।)

संसार को प्राय: भवभागर के रूप में निरूपित किया जाता है । जीव इस सागर मैं डूब रहा है, अनन्य भक्त के लिए –

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्य संसार सागरात् ।
भवामि न चिरात् पार्थं, मय्यावेशित चेतसां ।।
(गीता १२. ७)

भगवान् शीघ्र ही उद्धारकर्ता बन जाते हैं ।

कभी कभी संसार को एक जंगल कहा गया है श्री मद्भागवत के पंचम स्कन्ध अध्याय १३ में भवाटवी का अति उत्तम वर्णन है इस संसार रूप जंगल में जीव भटक गया है इस संसार कान्तार (भव बन) में शान्ति नहीं मिलती मार्ग नहीं सूझता ।

परन्तु कभी कभी संसार को जलते हुए जंगल, दावानल, के समान बताया है। 'भव महा दावाग्नि' (चैतन्याष्टक १)

रूपक चाहे सागर का हो या जंगल का शास्त्र का तात्पर्य संसार की भयंकरता प्रदर्शित करना है। अविवेकी के लिए संसार रमणीक है, विवेकी के लिए 'दुखरूप' है ,अशाश्वत, है क्षणभंगुर है भयावह है।

अनविचार रमणीय सदा संसार भयंकर भारी। (वि० प०)

संसार सुखदायक नहीं है वस्तुत: तापदायक है तापदायक गुण को उजागर करने के लिए भव को 'महा दावाग्नि' कहा गया है। श्री भर्तृहरि ने कहा है कि चिरकाल तक संचित किये हुए विषय अवश्य ही छुट जायेंगे। अपने आप छूटेंगे तो मन को बड़ा परिताप देंगे, स्वयं छोड़ दिये जांय तो मन को बहुत सुख और शान्ति देकर जाते हैं।
(वैराग्य शतक)

जिस ज्ञानी को संसार स्वप्नवत् भासता है या मृग तृष्णा सम जग जिय जानी। (पूर्व छन्द सं० १४) उसके लिए संसार भयानक नहीं रह जाता।

मैं तोहि अब जान्यो संसार।
बाँधि न सकइ मोहि हरि के बल प्रगट कपट आगार।
(वि० प०)

जो मोह बस है जिसे संसार रमणीक भासता है उसी के लिए ताप दायक है। बुद्ध का महान सन्देश था कि तृष्णा ही दुख का कारण है। संसार के जो प्रेमी हैं, उन्हीं को संसार दुख देता है। लो संसार से विमुख हैं भगवान् के अनन्य भक्त हैं उन्हें भगवान आनन्द सिन्धु में रखते

हैं। अखण्ड आनन्द देते हैं। यह भेद है। श्री गोस्वामी जी ने कहा है। –

तुलसी अद्भुत देवता आसा देवी नाम।
सेवत सोक समर्पई, विमुख भये अभिराम।।
(दोहावली)

तथा ———

सोइ सेंभर सोइ सुआ सेवत सदा बसन्त।
तुलसी महिमा मोह की सुनत सराहत सन्त।।
(दोहावली)

विवेक द्ष्टि से तो भव बन्धन स्वयमेव अत्यन्त ताप दायक हैं, परन्तु साधारण जनों को ऐसा अनुभव नहीं होता। उन्हें तो व्यवहारिक जगत के दु:ख, दर्द, चिन्ता आदि तापदायक लगते हैं। इनका उद्भव पापों से होता हैं। इस शरीर रूपी खेत में मन वचन और कर्म किसान हैं जैसा बोते हैं वैसा काटते हैं। (पूर्व छन्द सख्या ५) पाप पुण्य बीज हैं। पाप रूपी बीज से ही ताप की उत्पत्ति होती हैं। यद्यपि पाप का परिपाक रहस्य मय है पहले से जाना नहीं जाता तथापि विवेकी ऋषियों की दृष्टि में पाप ही ताप का कारण है। निष्पाप व्यक्ति ताप रहित होगा।

जीव के संचित कर्मो में पाप पुन्य के अपरिमित भण्डार हें। इनमें से कुछ इस जन्म में भोगे जाने के लिए निर्दिष्ट हैं और उनका भोग 'प्रारब्ध है। विविधि पापों के परिपाक के फल स्वरूप अनेक तापों से जीव ग्रसित है – 'जीव सकल सन्ताप के भाजन जग माहीं'।
(वि० पि०)

इन तापों की भोग द्वारा समाप्ति नहीं हो सकती लाखों जन्मों तक पाप और ताप चलते रह सकते हैं। ताप की निवृत्ति आध्यात्म से ही संभव है। पापों का परिपाक अन्तःकरण के संस्कारों के सिलसिले से ही होता है। शान्ति पद प्राप्त होने से अन्तःकरण से परे दशा आ जाती है। उस स्तर पर ताप का प्रभाव नहीं होता और उस अवस्था में निम्न स्तर के तापों का अनुभव भी नहीं होता। यही नहीं शान्ति पद प्राप्त, सन्त के भीतर भगवदीय दिव्य शक्तियाँ क्रियमाण हो जाती हैं, जिनका जीवन के घटना क्रम पर भी प्रभाव पड़ता है। और यह प्रभाव अत्यन्त ताप शामक होता है। अतः ताप की अनुभूति समाप्त हो जाती है।

शान्ति और ताप विरोधी अनुभूतियाँ हैं, दोनों एक साथ नहीं रह सकतीं अतः शान्ति पद में स्थित व्यक्ति तप्त नहीं होता। जैसे दावा, नल से जलते हुए वन के ताप से गंगा जी की धार में खड़ा हुआ हाथी तप्त नहीं होता। सन्तों का कहना है कि अनन्य शरणागत भक्त का का प्रारब्ध भी भगवदर्पण हो जाता है, फिर भगवान की मर्जी के हिसाब से फलित होता है।

महर्षि अरविन्द जी ने यह तत्व विस्तार से समझाया हैं कि अस्मिता के गलित होने पर, अनन्य शरणागत के अन्तःकरण में भगवदीय शक्ति का अवतरण होता है और सक्रियता हो जाती है। कई बार तो यह देखा जाता है कि इस भगवदीय शक्ति के कार्य से दुःख, दर्द, व्याधि, चिन्ता या समस्या का तुरन्त निराकरण हो गया, उसमें कुछ भी समय नहीं लगा। भौतिक जगते के व्यवहार में इसका कारण नहीं खोजा जा सका। जहाँ भगवदीय दिव्य शक्ति सतत क्रियमाण है वहाँ भव बन्धन तो पहले ही कट चुका क्योंकि वह दिव्य शक्ति भव-बन्धन में सीमित व नियन्त्रित होकर काम नहीं करती —

परम स्वतन्त्र न सिर पर कोई। भावइ मनहि करहु तुम सोई ।।
(बालकाण्ड)

अणु अणु में और क्षण क्षण में भगवान् की शक्ति का और लीला का अनुभव शान्ति पद का गौरव है। पापी जीवन का फलित शान्ति पद नहीं है। भक्त चार प्रकार के होते हैं — आर्तोजिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ। गीता ७. १६। चारों को उदार और निष्पाप कहा है

सुकृती चारिउ अनघ उधारा। बालकाण्ड।

निष्पाप सन्त ही शान्ति पद पर प्रतिष्ठित होता है। भगवद्भक्ति अत्यन्त पतित को भी पावन बना देती है। जो पाप पहले हो चुके हैं उनसे उत्पन्न ताप भी शान्ति पद में स्थित व्यक्ति को तप्त नहीं कर सकते।

हमारे जीवन के सभी दोष और दुःख तथा तीव्र वेदनाएँ शान्ति पद प्राप्त होने पर निष्प्रभ हो जाती हैं। यह कहिये कि ज्ञानाग्नि में सभी पाप जल जाते हैं। (गीता ४. ३७) अथवा सन्त ज्ञान रूप जहाज पर चढ़कर दुख सागर से पार हो जाता है (गीता ४.३६) अतः सभी पाप, ताप, दुःख दोष मिट जाते हैं। इसीलिए तो शान्ति पद अमल व अदाग है।

सन्त परम शान्ति के सुख में मग्न रहता है। शान्ति की भी भूमिकाएँ, हैं श्रेणियाँ हैं। वह उत्तरोत्तर पुष्ट. गहरी, अनवरत, अखण्ड, अभेद्य, होती जाती है। परम शान्ति के प्राप्त हो जाने पर जगत् का कोई आकर्षण नहीं ठहरता, पूरी पूरी निष्कामता, निर्विकारता, तटस्थता समता, एकरसता अखण्डता आती है। फिर सन्त जगत् की घटनाओं से प्रभा

वित नहीं होता, अपने दुःख दर्द से अव्यथित रहता है' सुख से प्रफुल्लित भी नहीं होता। समता और शान्ति के साम्राज्य का स्वामी हो जाता है, अतः उसे परम शान्ति में निमग्न बताया गया है।

परम शान्ति सुख में समाया रहे, अर्थात् निरन्तर उस सुख में डूबा रहे। घन्टे दो घन्टे के लिए उस स्थिति में पहुँच जाना पर्याप्त नहीं है। यहां उन महान् योगियों की दशा का वर्णन है जो शान्ति की परम उच्च दशा में निरन्तर बने रहते हैं। उस आनन्द समुद्र से क्षण भर भी बाहर नहीं निकलते। जैसे कुछ देर की समाधि लगाना वही बात नहीं है जो 'सहज समाधि' में है। कबीर ने गाया है – साधो सहज समाधि भली। इसी प्रकार घन्टे दो घन्टे भावपूर्वक पूजा कर लेना भी बहुत बड़ी बात है परन्तु अनन्य भक्त की प्रत्येक क्रिया ही पूजन रूप हो जाती हैं — सपर्या पर्यायस्तव भवतु यन्मे विलसितम्।

(सौंदर्य लहरी)

उसी प्रकार शान्ति पद का क्वचित् अनुभव हो जाना भी बहुत बड़ी बात है परन्तु अन्तिम स्थिति तो यही है कि परम शान्ति के सुख सिन्धु मे निमग्न रहे। परम शान्ति ही उसकी सहज स्थिति बन जाय।

यह परम शान्ति कोई नकारात्मक दशा नहीं है। यह एक भावात्मक दशा है। शान्ति का केवल यह अर्थ नहीं कि कोई दुःख, दर्द, विघ्न चिन्ता नहीं है। इस शान्ति पद में भगवदीय आनन्द की प्राप्ति है, केवल दुःख का अभाव नहीं। इसलिए इसे सुख सिन्धु में निमग्नता की स्थिति कहा गया है।

इस परम शान्ति के पद में ऐसी सहज और निरन्तर स्थिति हो जाने पर किसी विक्षेप द्वारा उस स्थिति के भग होने की आशंका नहीं रह जाती। अखण्ड आनन्द रहता है। कोई उत्पात उस दशा को भेद नहीं सकता अर्थात् वह निर्विघ्न पद है।

किसी दशा के भंग हो जाने के आन्तरिक या वाह्य कारण हो सकते हैं। परम शान्ति की दशा में भंग होने के आन्तरिक कारण नहीं प्राप्त हो सकते। मन आनन्द सिन्धु से कभी ऊब नहीं सकता, परेशान नहीं हो सकता। अन्तःकरण के विषयोन्मुख संस्कार ऐसे कारण बन सकते थे जिनसे मन बहिर्मुख होकर शान्ति के सागर से निकल पड़े और रागद्वेषादि से भरे हुए व्यवहारिक जगत् में आ जाय। परन्तु ऐसे संस्कार तो परम शान्ति सुख की प्राप्ति के बहुत पहले ही अस्त हो चुकते हैं। वे इस दशा के विघ्नकारी नहीं हो सकते। यदि कोई बीज रूप प्रसुप्त संस्कार शिष्ट माने जायँ तो उनके विकसित व क्रियमाण होने की परिस्थिति परम शान्ति पद में नहीं बन सकती। अतः आन्तरिक विक्षेप का प्रश्न ही नहीं उठता। 'उत्पात' शब्द बाह्य विक्षेप का ही सूचक है। भेदन भी बाहर से ही होता है। चौपाई में कहा गया है कि उत्पात वहाँ पहुँच कर शान्ति की दशा का भेदन नहीं कर सकता उसे बिगाड़ नहीं सकता। परम शान्ति सुख वाह्य विक्षेपों से भी सुरक्षित है।

यह दावा नहीं किया गया है कि सन्तों के वाह्य जीवन की परिस्थितियाँ बदलेंगी नहीं एक सी रहेंगी। वे बदलेंगी। कभी कभी ऐसे परिवर्तन भी होंगे जिन्हें उत्पात कहा जा सकेगा। कोई भी महान विघ्न उत्पात कहा जा सकेगा। जरा, व्याधि, विपत्ति से सन्तों का वाह्य जीवन बरी नहीं होता। उनका गौरव यह है कि वे विषम परिस्थितियों में भी व्यथित नहीं होते। बड़े-बड़े सन्तों के जीवन में हमें आश्चर्यजनक तपस्या व तितिक्षा मिलती हैं। भारी से भारी विपत्ति में भी सन्त जनों में अलौकिक धैर्य दृष्टि गोचर होता है। यह बडी ऊँची साधना हैं। प्रलये न व्यथन्ति च (गीता) प्रलय में भी व्यथित नहीं होते। कितने ही सन्त मृत्यु के सम्मुख होते हुए भी विचलित नहीं हुए सुकरात, ईसा, मन्सूर, सरमद,

स्वामी दयानन्द, महात्मा गांधी आदि ऐसे ही सन्त थे। कभी कभी क्रान्तिकारी या सन्त आत्मोत्सर्ग की परिस्थिति प्राप्त होने पर भी प्रसन्न हुए।

फानूस को परवानों ने देखा तो ये बोले।
क्यों हमको जलाते हो कि जलने नहीं देते।।

तपश्चर्या या तितक्षा से एक सींमा तक हम विक्षेपों से अप्रभावित रह सकते हैं परन्तु परम शान्ति पद पर आरुढ़ व्यक्ति के लिए वाह्य परिस्थितियों का महत्व क्षींण हो जाता है। क्योंकि देहाभिमान गल जाता है और संसार भ्रममात्र स्वप्नवत् मृगतृष्णावत् मालूम होने लगता है। अखण्ड शान्ति ही एकमात्र सत्य रह जाता है उसी में स्थिति रहती है।

सपने होइ भिखरि नृप, रंक नाकपति होइ।
आगे हानि न लाभ कछु तिमि प्रपंचु जिय जोइ।।
(अयोध्या काण्ड)

जब गोस्वामी जी विनय पत्रिका में सन्त रहनि की प्रार्थना करते हैं तो यह लक्षण भी बताते हैं--

परिहरि देह जनित चिन्ता सुख दु:ख सम बुद्धि सहौंगो।
तुलसि दास प्रभु एहि पथ रहि अविचल हरि भक्ति लहौंगो।

वाह्य जगत् की विषम से विषम परिस्थितियां परम शान्ति को भंग करने से असमर्थ रहती हैं क्योंकि वे निष्प्रभाव हो जाती हैं।

परम शान्ति पद को एक प्रकार का अभेद्य दुर्ग माना है। कोई बाहरी गोलाबारी उसकी दीवारों में छेद करके भीतर प्रवेश नहीं कर सकती। अतः कहा कि वहाँ कोई उत्पात भेदन नहीं कर सकता।

परम शान्ति पदारूढ़ व्यक्ति जिस आनन्द में मग्न रहता है वह अदृष्ट, अलौकिक, और अव्यय है। वहाँ जिस सत्ता का सम्पर्क है वह परम सत्य हैं जिसके जानने पर यह त्रिगुणात्मक सृष्टि मिथ्या सिद्ध हो जाती है — यत्र त्रिसर्गो मृषा (श्रीमद्भागवत १. १. १.) तब परम सत्य में लीन व्यक्ति को मृषा (मिथ्या) संसार कैसे और क्या विघ्न पहुँचाएगा ? अपने सहज स्वरूप में स्थित व्यक्ति को कैसा शोक, भय, या विक्षेप ?

जहि जाने जग जाइ हेराई। जाके यथा स्वप्न भ्रम जाई।
जासु सत्यता ते जड़ माया। मास सत्य इव मोह सहाया।।
(बाल काण्ड)

'यत्सत्वादमृषैव भाति सकलं' बालकाण्ड। जिसकी सत्यता से माया मोहग्रस्त जीव को सत्य भासती है, वहीं माया उसी परम सत्य पद पर प्रहार करने में कैसे समर्थ हो सकती है ? तस्मात् यही परम शान्ति पद प्रयत्नपूर्वक धारण करने योग्य है।

तं सव्यमानन्द निधिं भजेत, नान्यत्र सज्जेद्यत आत्म पातः। श्रीमद्भा.

उसी सत्य आनन्द निधान का भजन करें अन्यत्र आसक्त न हो, जहाँ आसक्त होने पर आत्म पात (पतन) होता है। आगे के छन्दों में इस पक्ष को और भी उजागर किया गया है।

———

तुलसी ऐसे शीतल सन्ता ।
सदा रहैं एहि भाँति एकंता ॥
कहा करैं खल लोग भुजंगा ।
कीन्ह्यो गरल शील जो अंगा । ४७ ॥

श्री गोस्वामी जी कहते हैं कि ऐसे शीतल सन्त इस प्रकार सदा एकान्त वासी रहते हैं उन्होंने अपने अंगों को गरल-शील बना लिया है, दुष्ट जन रूपी सर्प उनका क्या बिगाड़ कर सकते हैं ?

परम शान्ति पदारूढ़ सन्तों को यहाँ पर शीतल कहा है। उन्हें शीतल इसलिए कहा कि वे अहंकार की अग्नि (जिसका आगे उल्लेख है) से नहीं जलते और त्रयताप से भी अलग हैं, जैसा कि ऊपर (छन्द ४६ में) दिखा चुके हैं। राग द्वेष की अग्नि भी उन्हें नहीं तपाती अत: वे सब प्रकार से शीतल (ताप रहित) हैं। साधारण जीवन त्रय ताप से तप्त रहता है, सदैव तप्त रहता है। साधारण जीव इस ताप के अभ्यस्त हो गए हैं अत: उन्हें इसका अनुभव नहीं होता। अनुभव न होने से यह सिद्ध नहीं होता कि ताप का अभाव है। कोई कोई ज्वर के रोगी ऐसे होते हैं कि उन्हें ज्वर होता है परन्तु मालूम नहीं होता। ऊष्मतामापी यन्त्र (थरमामीटर) से नापने एर असाधारण ताप निकलता है। इसलिए ज्वर मान्य करना पड़ता है। क्षय रोग में, जिगर के रोग में तथा अन्य रोगों में भी कभी कभी ज्वर रहता है पररोगी को उसका पता नहीं चलता। कोई कोई अविवेकी यह सोच सकते हैं कि यदि ज्वर का

ताप रहे परन्तु उसकी अनुभूति न हो तो उसकी चिन्ता ही क्यों की जाय ? अपनी क्या हानि है ? यह मूर्खता पूर्ण विचार है क्योंकि ऐसा ज्वर किसी भयानक रोग का लक्षण हो सकता है और यदि उस रोग का पता न चले तो वह अबाध रूप से सक्रिय रह सकता है, बढ़ सकता है और स्वास्थ्य व जीवन की हानि कर सकता है। इसलिए चेतनागत अनुभूति के अभाव में भी ऐसे ताप को मान्य करके चिकित्सा व उपचार आवश्यक होता हैं। ज्वर एक दैहिक ताप हैं। विरह, ईर्ष्या, चिन्ता, सन्ताप आदि मानसिक ताप हैं। मानसिक तापों के विषय में भी हमारा चेतन मन सदैव सजग नहीं रहता। चेतना से बाहर रहकर भी मानसिक विकार ओर ताप (अचेतन मन से) सक्रिय रहते हैं। जो ताप जिसकी चेतना में नहीं है, उसका अनर्थ रोगी आसानी से मानने को तैयार नहीं होता। परन्तु अन्य देह जिसका तापक्रम साधारण है ज्वराक्रान्त शरीर से अपेक्षाकृत ठडा लगेगा। इसी प्रकार त्रयताप से पीड़ित जीवन का ताप अभ्यास के कारण भले ही तप्त न लगे हरन्तु जिसने ताप रहित शीतलता और शान्ति का अनुभव किया है उसके लिए साधारण जीवन अबश्य ही तप्त और दु:खी है जिससे वह दूर ही रहना चाहेगा। साधरणत: अविद्या, अस्यिताा राग, द्वेष, ईर्ष्या, चिन्ता आदि अग्नि की तरह दाहक नहीं जाने जाते परन्तु योगी की दृष्टि में दाहक ही है। इस सारे ताप (या दाह) की निवृत्ति पूर्वक जो निर्मल शान्ति प्राप्त होती है वह अन्त:करण को शीतल कर देती है। विकारों की दाहकता मात्र रूपक नहीं है। ईर्ष्यादि विकारों से सीने का कैंसर होना संभव है और उस रोग की उन्नत दशा में रोगी के पास जाने वाला व्यक्ति कैंसर से निकलते हुए ताप का अनुभव कर सकता है। विकार और पाप त्रय ताप का कारण होने से ताप रूप ही मान्य हैं। अग्नि का शामक जल हैं। अत: परम शान्ति पद जो सभी तापों का शामक (शान्त करने वाला) है, शीतल जल के सागर के समान आगे बताया गया

है। उस पर आसीन सन्त शीतल मान्य है। प्रारब्ध वशात् देह में ज्वर का प्रकोप हो तो भी उनका अन्तःकरण शीतल रहता है।

ऐसे (अर्थात् परम शान्ति पदारूढ़ होने से) शीतल सन्त सदैव ही इस प्रकार एकान्त में रहते हैं। सन्तों की एकान्त प्रियता सुविदित है। ज्ञान के जो लक्षण गीता के तेरहवें अध्याय के श्लोक ७ से ११ तक बताए गए हैं उसमें अरतिर्जन संसदि (श्लोक ११) (भीड़, भाड़ महफिल, जनसमूह) का शौक न होना।

सन्तों को एकान्त में रहने का चाव होता है। एकान्त में उन्हें निर्विघ्न भजन की पर्याप्त सुविधा मिलती है। श्रीमद्भागवत में अवधूत जी के चौबीस गुरु लिखे हैं। उनमें एक कुमारी कन्या भी है।

एक कन्या के विवाह सम्बन्ध के सन्दर्भ में कुछ लोग उसके घर पर आये। घर के लोग कहीं गए हुए थे, घर में वही कन्या थी। उसे अतिथियों के लिए आटा पीसने बैठना पड़ा। उसकी चूड़ियों की खनक अतिथियों तक पहुँचती थी। इससे उसे लज्जा हुई। खनक को कम करने के लिए उसने चूड़ियाँ उतारना प्रारम्भ कर दिया। ज्यों ज्यों चूड़ियाँ कम हुई, खनक कम होती गई। एक एक हाथ में दो ही दो चूड़ियाँ रह गयीं तो ध्वनि बहुत कम हो गयी। फिर एक एक चूड़ी और कम कर दी तो अकेली चूड़ी से ध्वनि नहीं हुई। (श्रीमद्भागवत ११. ९ ८.)। इससे अवधूत जी ने यह उपदेश ग्रहण किया —

वासे बहूनां कलहो भवेद्वार्ता द्वयोरपि।
एक एव चरेत्तस्मात्, कुमार्या इव कंकणः ।। ११. ९. १०.

बहुत से लोगों के एक साथ रहने से कलह (झगड़ा) होता है दो व्यक्ति साथ रहें तो बात चीत होती रहती है। अतः भिक्षु (सन्यासी)

को कुमारी कन्या की चूड़ियों की तरह अकेला ही विचरना चाहिए ।

प्राय: शान्ति पदारूढ़ व्यक्ति एकान्त प्रिय और ध्यान प्रधान ही पाया जायगा । विशेष कारणों से कहीं कहीं इससे भिन्न आभास पाया जा सकता है परन्तु वैसे अपवाद स्वरूप बदाहरणों में भी ध्यान प्रधानता व एकान्त प्रियता के लक्षण मिल सकते हैं, इतना हो है कि वाह्य जीवन में वे प्रमुख व स्पष्ट नहीं दिखाई देते । श्रो गोस्वामी जी ने वाह्य जीवन के एकान्तवास का उल्लेख नहीं किया है । एहि भाँति एकन्ता से स्पष्ट संकेत है कि सन्त इस प्रकार अर्थात् शान्ति पदारूढ और शीतल रहकर सदा एकान्त सेवन करते हैं ।

एकान्त, शान्त ध्यान मौन आदि शब्दों का प्राय: हम बाहरी अर्थ ही लगाते हैं जो योग की दृष्टि (या विवेक की दृष्टि से) पर्याप्त नहीं है । यदि कोई बाहर से चुप है बोलता नहीं तो उसे लोक भाषा में मौनी कह देते हैं । इस अर्थ में सोते हुए व्यक्ति (यदि बर्रा न रहे हों, स्वप्न देखते हुए बक न रहे हों तो) मौन ही है । बेहोश लोग प्राय: मौनी ही रहते हैं । गूंगे तो चिर मौन ही रहते ही हैं । असली मौन वह है जहाँ चित्त का विचार प्रवाह रुकने लगे या बिल्कुल रुक जाय और एक तत्त्व का चिन्तन मनन हो । यदि विचार प्रवाह तीव्र है, शब्द नहीं बौलता तो यह बाहरी (वैखरी) वाणी का संयम है । दार्शनिक दृष्टि से यह मौन नहीं है । इसी तरह ध्यान केवल आँख बन्द करके चुपचाप आसन से बैठ जाने का नाम नहीं है । अपने इष्ट मे तैल धारवत अखण्ड चित्त वृन्ति प्रवाह ध्यान है, न कि केबल आसनासीन होना । आँख बन्द करके हम दुनिया भर की बातें सौचते रहें तो यह ध्यान नहीं हुआ । भले ही हमारी कल्पना हो कि हमने ध्यान में कुछ समय बिताया इसी तरह एकान्त शब्द अकेलेपन का पर्यायवाची मात्र नहीं है । ग़ालिब ने लिखा है —

चल के अब ऐसी जगह रहिये जहाँ कोई न हो।
हमनवा[1] कोई न हो और पसबाँ[2] कोई न हो।
पड़िये ग़र बीमार तो कोई न हो तीमारदार[3]।
और अगर मर जाइये तो नौह-ख्वाँ[4] कोई न हो।

[1] सहभाषी
[2] निकटबासी
[3] परिचारक
[4] बिलापकर्ता

यह अकेलापन है (तनहाई) है परन्तु एकान्त का अर्थ यह है कि एक इष्ट तत्व में, लक्ष्य में स्थिर हो जाना। अकेलापन इसमें सहायक हो सकता है वैराग्यवान् के लिए, विषयी के लिए, अकेलापन चिन्ता, विरह, व्याकुलता, ऊब, प्रिय जनों की स्मृति' और शोक आदि का कारण बन सकता है। एकान्त के साथ एक इष्ट लक्ष्य में वृत्ति के स्थिर होने का भी अर्थ ग्रहण है। शान्ति पदारूढ व्यक्ति चाहे साधारण अर्थ में अकेला हो या न हो इष्ट तत्व में लीन रहता है और इजलिए अन्य सबसे अलग तो वह रहता ही है। इस प्रकार का दार्शनिक या आध्यात्मिक एकान्त उसका सदैव चलता रहता है। इसमें व्यवधान नहीं होता। श्री गोस्वामी जी का आशय ऐसे ही एकान्त से है। उसी की प्रससा है। ऐसा सन्त भीड़ में भी हो पर एकान्त में है। क्योंकि भीड़ से तटस्थ और भगवान् में तल्लीन है। और एकदम अकेला हो तो भी अकेला नहीं है क्योंकि उसे भगवान के सकाश (समीपता) व सहयोंग का अनुभव है। यही उसका दिव्य जीवन है।

साधारण मनुष्य को यह शंका या आशंका रहती है कि क्रोध, प्रतिरोध, हिंसा, आदि से एकदम सन्त जीवन असुरक्षित रहेगा और तबाह व बरबाद हो सकता है। ईसा के 'पहाड़ी पर के उपवेश पर भी यह आक्षेप कई बार उठ चुका है कि वे उपदेश तो बहुत ऊँचे हैं परन्तु उन पर चलने से तबाही आएगी। इस पर टॉल्सटॉय ने कहा है कि

तबाही लाने वाले उपदेश ऊँचे क्यों कहे गये ? गलत या मूर्खतापूर्ण क्यों नही माने गए ? यह तो स्पष्ट है कि समाज के सज्जन लोग सन्तों को पूजेगे उनकी सेवा करेगे सताएँगे नहीं । परन्तु दुर्जन लोगों से उनकी रक्षा कैसे होगी ? इस शंका का समाधान तो होना ही चाहिए ।

यहाँ दुष्ट जनों को **भुजंग (सर्प)** रूप कहा गया है । सर्प भ-सन्त की तरह अलक्ष्य गति और एकांत बासी होता है । कार्यत: विपरीत हैं । सन्त मोक्ष तक पहुँचाते हैं सर्प मौत तक । दुष्टजन क्या अनिष्टकारी न सिद्ध होंगे ? गोस्वामी जी ने इसका जबाब 'नहीं' में दिया है पर क्यों ? खल लोग सर्प की तरह डसेंगे तो सन्त लोग क्या करेंगे ? श्री गोस्वामी जी ने संक्षेप में यह संकेत दिया है कि दुष्टजन रूप सर्पों का विष सन्तों को नहीं व्यापता क्योंकि उन्होंने अपने अंगों को गरल शील बना लिया है ।

गरल शील का अर्थ तीन प्रकार से किया गया हैं — १. स्वयं ज़हरीला २. जहर का प्रतिशोधक या शामक ३. जहर से लिए ओषध रूप ।

कोइ कोई नशेड़ी इस बात पर गर्व करते हैं कि उनके नशे (अफीम या चण्डू या गाँजा या ओर कुछ) के कारण उनके खून में इतना विष व्याप्त है कि उन पर साँप या बिच्छू का जहर नहीं चढ़ सकता । उनका खून स्वयं इतना जहरीला है कि साँप या बिच्छू का बिष उस पर प्रभावी नहीं होता । यहाँ तक सुना गया है कि ऐसे लोग साँप या बिच्छू द्वारा काटे जाने का स्वागत करते हैं कि बिना खर्च किये मुफ्त में नशा हो गया । गरल शील का शब्दार्थ इस प्रकार किया तो जा सकता है परन्तु ऐसा अर्थ श्री गोस्वामी जी के तात्पर्य के अनुकूल नहीं जान पड़ता ।

श्री गोस्वामी जी का यह सन्देश तो है नहीं कि दुष्टजन रूप सर्पों का सा जहर सन्तों के अंग में पहले से ही उपस्थित है। इसलिए यही अर्थ ग्रहण करना चाहिये कि जैसे गरल-शील रूधिर सर्प विष का प्रतिकार करता है, वैसे ही सन्तों के अंग में दुष्टजन रूप सर्प के विष की प्रतिरोधक शक्ति है अत: उन पर वह विष गहीं चढ़ सकता।

एक बात और है उससे उपरोक्त दोनों बातों का भेद मिट जाता है समन्वय संभव है। योग और संयमी जीवन तपस्या आदि से ऐसा हो सकता है ! कि रूधिर में ऐसा प्रभाव आ जाता है कि वह साधारण अर्थ में विषाक्त तो नहीं कहा जा सकता परन्तु विषैले जन्तुओं के रूधिर से सम्पर्क होने पर वह उनके लिए विशाक्त प्रभाव रखता है साथ ही उन जन्तुओं के विष का प्रभाव उनके ऊपर नहीं पडता। इस प्रकार ऐसा सम्भव है कि शान्ति पदारूढ़ व्यक्ति बहुत से अन्य लोगों के लिए अमृत सदृश प्रभाव वाले हों। परन्तु दुष्टजन रूप सर्पो के लिए वे गरल शील (विषाक्त प्रभाव धाले) सिद्ध हों, इस प्रकार सन्तों का सहज स्वभाव स्वत: ही सज्जनों और दुष्टों के लिए सदृश नहीं होता विपरीत हो सकता है।

यह भी स्मरणीय है कि सर्प का बात अन्तत: रूपक है। सचमुच सर्प दशका ताप्पर्यं नहीं है। न सन्तों के देहिक अंगों का प्रश्न है. न सर्पवत् दुम्टजन काट या डस सकते है। अत: रूपक के निहितार्थ पर पर ध्यान देना चाहिये। दुष्ट जन के सम्पर्क की असली दिक्कत यह है कि वे वातावरण को दूषित करते हैं। जहाँ कोई सन्त तपस्या ओर भजन मय जीवन व्यतीत करते हैं वहाँ एक सात्विक ओर आध्यात्मिक वातावरय बन जाता है वहाँ आने वाला उससे सहज ही प्रभावित होता है। दष्टजन इस वातावरण में विकृति उत्पन्न करते हैं उनके कारण

रजोगुणी, तमोगुणी, वातावरण बनने लगता है। रजोगुण और तमोगुण दोनों ही सतोगुण के विरोधी हैं इनकी प्रबलता के कारण सतोगुणी वातावरण बिगड़ने लगता हैं। अत: दुष्टजन के सम्पर्क से गुण-वैषम्य विरोध, प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उत्पन्न होता है जो शान्ति का बाधक है। गुण विरोध वृत्ति विरोध के कारण शान्ति का वातावरण नहीं बन पाता या बिगड़ जाता है। स्मरणीय है कि सतोगुण में बँधा हुआ व्यक्ति तो रजोगुण व तमोगुण का विरोधी है परन्तु गुणातीत गुण का किसी से विरोध नहीं।

न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि न निवृत्तानि कांक्षति। गीता १४. २२.
वह गुणों का न द्वेषी है न आकांक्षी है।

जहाँ सतोगुणी साधना हो रही है सतोगुणी वतावरण तय्यार हो रहा है दुष्टजन का प्रभाव उसके लिए घातक है। इसलिए दुष्ट सग वर्जित है।

दु:संग: सर्वथैव त्याज्य:। नारद भक्ति सूत्र।
बरु भल वास नरक कर ताता। दुष्ट संग जनि देइ विधाता।।
(सुन्दरकान्ड)

काम क्रोध आदि की लहरें कुसंग पाकर तुरन्त समुद्र बन जाती हैं जब तक मन का बच्चापन दूर न हो जाय तब तक कुसंग वर्जनीय है। (श्री मद्भागवत ११ २८. २७) जैसे जिस बीमारी का पूरा पूरा इलाज नहीं होता वह बार बार अंकुरित होती है। इसी प्रकार विषयासक्त मन वाले योगी को मन बार बार बेधता है। (भा ११. २८. २८) परन्तु यह साधनावस्था की भूमिका है जो शान्ति पद पा चुके है वे ऐसे विघ्न से बिल्कुल बचे रहते हैं। रजोगुण, तमोगुण के उत्पात वहाँ प्रभावी नहीं हो सकते। 'तहँ उत्पात न भेद आई'

(पूर्व छन्द ४६)। ऐसे शान्त सन्त के प्रभाव में दुष्टजन भी शान्त होने लगते है। उपद्रव नहीं कर पाते। इसके अनेकानेक उदाहरण सन्तों के जीवनों में मिलते हैं। एक प्रसिद्ध उदाहरण है डाकू अगुलीमाल की शरणागति। भगवान बुद्ध के सम्पर्क में आने पर। महाप्रभ चैतन्य के हाथों जगाई मधाई का उद्धार एक और प्रबल उदाहरण है। इसी के योग सूत्र में कहा है — अहिंसा प्रतिष्ठायां तत् सन्निधौ वैर त्यागः। (२. ३५.) अहिंसा के सिद्ध होने पर उसकी निकटता में वैर छूट जाता है। भगवान बुद्ध अक्रोध से क्रोध को जीतने की सलाह दी है, वैर से वैर शान्त नहीं होता। जो भी व्यक्ति परम शान्ति पदारूढ़ हो गया है उसे दुष्टजन विकारवान् नहीं बना सकते, वह निर्विकार ही रहता है गुणातीत होने से वह त्रिगुणों के सघर्ष में सतोगुण का भी पक्षधर नहीं होता। इसलिए दुष्टजन उसे विकारवान् नहीं बना पाते। उल्टे दुष्टजनों का विकार उनके प्रभाव से शान्त होने लगता है। सन्तों का चित्त सम व शान्त होता है इसलिए वे त्रिलोक विजयी होते हैं। इसी बात को रूपक में प्रदर्शित किया गया है कि दुष्टजन रूपी सर्पों का विष प्रशान्त सन्तों का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकता क्योंकि उन्होंने अपने अंगों को 'गरल शील' बना लिया है। उन पर दुष्टजन के जहर का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता। उल्टा उनका अपना प्रभाव दुष्टजन की दुष्टता के लिए जहर साबित होता है। सन्त इस जहर की दवा हैं जहर से प्रभावित नही होते जहर के लिए जहर हैं। कभी कभी 'गरल शील' का अर्थ गरल को ओषधि (गरल शिला) माना गया है। जैसे जहर मोहरा, तिर्याक, कुलंजन, घुड़बच, आदि सर्प विष की निवारक औषधियाँ मानी गई हैं। जब तक व्यवहारिक जगत सत्य प्रतीत होता है दु:सग भयावह है। जब ससार मृगतृष्णावत्, स्वप्नवत् सिनेमावत् हो जाता है, दिव्य सृष्टि से सतत् सम्पर्क रहता है तब दुष्टरूप सर्प कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते। ऐसे ही सन्तों के लिए कहा गया है कि —

विधि बस सुजन कुसंगति परहीं। फणि मणि सम निज गुन अनुसरहीं।।
(बालकाण्ड)

अहि अघ अवगुण मणि नहि गहई। हरै गरल दुःख दारिद दहई।।

इसलिए ऐसे समर्थ सन्तों के लिए यह आशंका नही है कि दुष्ट-जन के प्रभाव से उनकी शान्ति नष्ट हो जायगी उल्टे उस शान्ति के प्रभाव से उनकी दुष्टता नष्ट होने की आशा है यदि सम्पर्क व सान्निध्य (निकटता) प्राप्त रहे।

सन्तों का यह अलौकिक प्रभाव साधारण बोलचाल की भाषा में नितान्त स्पष्ट नहीं किया जा सकता और भगवान् को भी ऐसे विषयों का परोक्ष निरूपण पसन्द है अत: इस विषय में एक सूत्र मात्र अंकित किया गया है। अति विस्तृत विवेचन से अनिष्ट की आशंका भी है अतः यहाँ तथा शास्त्रों में अत्यन्त सक्षिप्त व परोक्ष विवेचन किया गया है। अधिकारी जन इतने से भी लाभान्वित हो सकते हैं और हुए हैं।

अति सीतल अति ही अमल, सकल कामना हीन ।
तुलसी ताहि अतीत गनि, वृति शान्ति लय लीन ।४८।

जो अत्यन्त शीतल है, अत्यन्त निर्मल हैं, सभी कामनाओं से मुक्त है श्री गोस्वामी जी कहते हैं कि उसे गुणातीत मानना चाहिये, जिसकी वृत्ति शान्ति पद में लीन रहती है ।

इस दोहे में अति शीतल सन्तों का उल्लेख है । पूर्व प्रसंग में देखा जा चुका है कि शीतल का अर्थ त्रयताप मुक्त, शान्त और निज सुख में केन्द्रित हैं । स्थिति की दृढता व अखण्डता आदि के आधार पर शीतलता की भी श्रेणियाँ मानी जा सकती है । शीतलता की कसौटी भी बताई जा सकती है और अगले छन्द ४९ में श्री गोस्वामी जी ने ऐसी कसौटी बताई भी है । गुणातीत पद का यह द्योतक लक्षण है कि यह शीतलता सहज प्राप्त हो और व्यवहार में दृष्टिगोचर हो । शीतल के स्वरूप का विशेष निरूपण अगले छन्द ४९ के साथ ही विशेष उपयुक्त होगा ।

यहाँ साथ में अत्यन्त निर्मलता का भी गुण कहा गया है । पहले भी छन्द ४४ में कह चुके हैं कि –– त्याग को भूषण शान्ति पद तुलसी अमल अदाग । अमल अर्थात् मैल से रहित , दोष, पाप, विषयासक्ति, भगवद्विमुखता आदि मन के मैल हैं । शान्ति सागर में मग्न सन्त के चित्त में थौड़ा सा भी मैल नहीं रह सकता । वह अत्यन्त निर्मल ही रहेगा ।

तीन गुणों में से तमोगुण अति मलीन है, रजोगुण भी मलीन है, सतो गुण शुद्ध है। अति शीतल सन्त का व्यवहार सतोगुणी पाया जायगा। वह नितान्त निर्मल रहेगा। सतोगुण में भी शुद्ध सतोगुण की विलक्षण व अलौकिक भूमिका रहती है। साधारण सतोगुण शुद्ध तो है परन्तु वह त्रिगुण के प्रवाह से अलग नहीं हैं, वह परिवर्तनीय भी है। सतोगुण से रजोगुण या तमोगुण में चला जाना सम्भव है। ऐसा नहीं है कि सतोगुण बन्धन कारी नहीं है वह भी बन्धन कारी है। जैसे सोने की बनी सुई हथकड़ी भी हथकड़ी ही है बन्धन रूप ही है। जो सतोगुण में स्थित हो जाता है वह इन्द्रियों के सुखों में तो नहीं रमता परन्तु उसे निश्चिन्तता का, निर्द्वन्द्वता का, शान्ति का, निर्विक्षेपता का सुख मिलने लगता है और वह अमीरी के सुखों से कहीं अधिक आकर्षक और तुष्टिदायक जान पड़ता है। सतोगुणी को ज्ञान का सुख होता है, उसे व्यवहारिक ज्ञान, पुस्तक ज्ञान, शास्त्र ज्ञान की अधिक आसानी होती है और आध्यात्मिक जान की पात्रता उसी में होती है — सत्वात्सज्जायते ज्ञानं। गीता १४. १७.। सतोगुणीं को निर्द्वंद्वता निश्चिन्तता व ज्ञान का सुख होता है, उसकी आसक्ति उसके लिए बन्धन कारी है। सुख संगेन बन्धाति, ज्ञान सगेन चानच। गीता १४. ६.। यह तो कहा जा सकता है कि अन्य गुणों के बन्धन से सतोगुण का बन्धन श्रेष्ठ है, पर है वह भी बन्धन ही।

साधारण सतोगुण से श्रेष्ठ है 'शुद्धं सतोगुण' शुद्ध सतोगूण बन्धन रूप नहीं है। उसमें सतोगुणी व्यवहार है पर आबद्धता नहीं है। सतोगुणी व्यवहार इसलिए है कि अन्य गुण (रजोगुण व तमोगुण) जिस मलीनता के सहारे बढ़ते हैं उस मलीनता का अभाव है अत: सतोगुण प्रधान है। परन्तु शुद्ध सतोगुणी को सतोगुणी रहन सहन या व्यवहार से भीं मोह नहीं होता। युद्ध या राज्य जैसे कार्य वह कर सकता है। जिस कर्म में वह कुशल नहीं है उससे भी द्वेष नहीं

करता। (उसके न करने का आग्रह नहीं करता) और जिसमें कुशल है उसमें भी आसक्त या आबद्ध नहीं है।

(गीता १८. १०.)

शुद्ध सतोगुण में प्रेम, मैत्री, मुदिता, उपेक्षा, यह चार वृत्तियाँ हैं, शोक, मोह, प्रतिकार, संघर्ष, द्वेष, आदि विकार नहीं हैं। अतः कोई ऐसे सन्त का विरोध करे तो भी प्रतिकार, संघर्ष या द्वेष, की वृत्ति उदय नहीं होगी।

निज प्रभुमय देखहि जग़त, का सन करहिं विरोध ॥

(उत्तर काण्ड)

'विगत काम मद क्रोध' होने से उसके पुनः रजोगुण में पड़ जाने की सम्भावना नहीं रहती। जहाँ सतोगुण में स्थिति है परन्तु बन्धन नहीं है, वहाँ वस्तुतः तीनों गुणों का अतिक्रमण हो चुका है।

त्रैगुण्य बिषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निद्वन्दो नित्य सत्वस्थो, निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥

(गीता २. ४५.)

अर्जुन से कहा गया कि वह (व्यवहारतः) नित्य सतोगुण मे स्थित परन्तु (तत्वतः) निस्यैगुण्य (तीनों गुणों से रहित दशा) को प्राप्त हो। जो सतोगुणी है वह अमल है जो शुद्ध सतोगुणी है वह 'अति ही अम्ल' है वही गुणातीत कहलाता है।

अति निर्मलता का द्योतक लक्षण है, सकल-कामना हीनता। जो अति शीतल सन्त है वह सहज ही सभी कामनओं से मुक्त है सभी लौकिक कामनाएं मन का मैल हैं। अति अमल सन्त में यह मैल नहीं पाया जा सकता जो अति अमल है वह सकल कामना हीन है ही।

कामनाएं भले ही आकर्षक या सुखद लगें परन्तु अन्त में वह दाहक अग्नि की तरह सिद्ध होती है —

येहि संस्पर्शजा भोगा दुःख योनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते वुधः ।।
(गीता ५. २२.)

जो विषय इन्द्रियों के संस्पर्श से उत्पन्न भोग हैं वे परिणाम में दुःखदायी हैं क्षण भंगुर भीं हैं, ज्ञानी उनमें नहीं रमता। महाभारत में कहा है—

न जातु कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषः कृष्ण वत्मैव भूय एवाभि वर्धते ।।
इसी भाव को विनय पत्रिका जी में भी प्रकट किया गया है।
अब नाथहि अनुरागु जागु जड़ त्यागु दुरासा जी ते।
बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ विषय भोग बहु घी ते ।।

भोगने से कामना शान्त नहीं होती बढ़ती ही जाती है, अतः अन्त में अभाव और अतृप्ति की अग्नि में जलना ही पड़ता है — —

जिमि प्रति लाभ लोभ अधिकाई। (बाल काण्ड)

तथा ——

सेवत बिषय विवर्ध जिमि, नित नित नूतन मार ।।
(लंका काण्ड)

'कहाँ अति शीतलता' कहाँ कामना की अग्नि ! दोनों विपरीत होने से साथ साथ नहीं रह सकते। राम और काम दोनों साथ साथ नहीं रह सकते जैसे सूर्य और रात्रि। (दोहावली) शीतल सन्त राम पद लीन हैं, अतः अवश्यमेव सकल कामना हीन होते हैं।

श्री गोस्वामी जी कहते हैं कि ऐसे सन्तों की वृत्ति शान्ति में लीन रहती है उन्हें 'अतीत' ही समझना चाहिये। योग शास्त्र में चित्त वृत्ति निरोध को ही योग कहा है यही समाधि सिद्धि का कारण है। वृत्तियाँ अन्तःकरण रूप जलाशय की लहरें हैं' कामना रूप वायु इन्हें बढ़ा देती है। निर्वात स्थान में जल का आधार (पात्र) भी स्थिर हो तो लहरें नहीं उठती। उसी प्रकार योगी के निष्काम होने पर वृत्तियाँ नहीं उठतीं। यही चित्त वृत्ति निरोध है। जैसे निर्वात स्थान पर रखे दीपक की लौ नहीं हिलती वैसे ही योगो का चित्त भी चंचल नहीं होता। (गीता ६. १९) सन्त, वृत्ति रहित होने पर भी शून्य में लीन नहीं होता, शान्ति में लीन होता है, अति शीतल दशा जड़ता नहीं है, प्रशान्त चैतन्य की अवस्था है, जो त्रयताप रहित है, और परमानन्दमय है।

जो ऐसा अति शीतल सन्त है, उसका जीवन दिव्य हो जाता है, उसका लौकिक जीवन आभास मात्र है। वह बीत चुका। तथापि यहाँ 'अतीत' का अर्थ बीता हुआ या समाप्त नहीं समझना चाहिये। अतीत अर्थात् परे, अतिक्रमण करके उठा हुआ, दिव्य। इस तरह 'अतीत' का तात्पर्य गुणातीत से है। तीनों गुण समाप्त हो गए हैं जिसके लिए, जो तीनों गुणों के बन्धन से मुक्त हो चुका है, जो गुणों से ऊपर निकल गया है, उनका अतिक्रमण कर गया है, वह 'अतीत' है अर्थात् गुणातीत है।

जिस अति शीतल सन्त की वृत्ति शान्ति पद में लीन है, वह गुणातीत हैं, मुक्त है, किसी भी गुण, स्वभाव के बन्धन में नहीं है। उसे त्रिगुणातीत समझ कर ही उसकी रहनि आदि पर विचार किया जा सकता है। यदि हम सन्तों का जीवन समझने के लिए साधारण मानवी मानकों का प्रयोग करेंगे, तो हम असफल होंगे उनकी गुणातीन स्थिति के जानकर और मानकर ही उनकी महिमा एक सीमा तक हृदयंगम

की जा सकती है। अत: उस पक्ष को श्री गो स्वामी जी ने इस दोहे में उजागर किया है।

यदि हम गुणातीत पद की कोई कल्पना नहीं कर सकेंगे तो आगे के छन्दों में शीतलता, शान्ति, अहंकार रहित जीवन आदि का जो निरूपण हुआ है वह हमारी समझ में नही आएगा, बल्कि असम्भव या अनिष्टकर लगेगा। अत: सन्तों के जीबन की दिब्यता को पहचान करके ही आगे बढ़ना चाहिए।

यदि कोई आधुनिक वैज्ञानिक सारे शान्ति वर्णन को असम्भव ठहरा दे तो कोई आश्चर्य नही, क्योंकि उसका सारा मनोविज्ञान साभारण बद्ध जीव के व्यवहार का अध्ययन करके तैयार किया गया है। परम्तु यह भुलाया नहीं जा सकता कि विषयी (बद्ध) जीव का मनोवैज्ञान साधक, तपस्वी योगीं, सिद्ध, मुक्त, या गुणातीत व्यक्ति के समझने के लिए पूरा नहीं पड़ सकता। शान्ति पदारूढ़ सन्त की प्रेरणाएं भिन्न हैं, लक्ष्य भिन्न हैं, स्थिति भिन्न है, अत: उस वर्ग का मनोवैज्ञान ही अलग है। उस मनोवैज्ञान का अध्ययन, श्रवण, मनन व निदिध्यासन करने पर ही ऐसे योंगियों/सन्तों की स्थिति को हम लोग कुछ हद तक जान सकते हैं, पूर्णत: नहीं।

जो कोइ कोप भरै मुख बैना,
सन्मुख हतै गिरा सर पैना ।।
तुलसी तऊ लेस रिस नहीं ।
सो शीतल कहिए जग माहीं ।। ४९।।

श्री गोस्वामी जी कहते हैं कि यदि कोई अत्यन्त क्रोधपूर्वक वोले और तीखे वाग्बाणों (वचन रूप वाणों) से प्रहार करे तो भी जिसे जरा सा भी क्रोध न आवे उसे ही शीतल सन्त कहना चाहिये ।

इस चौपाई में अक्रोध को शीतलता के रूप में बताया गया है । वही सन्त शीतल माना जाय जो क्रोध की प्रबल उत्त्तेजना के होने पर भी रंच मात्र भी क्रोध न करे । बहुत से लोगों को यह सन्देह होता है कि क्या ऐसी शीतल दशा सम्भव है ? ऐसे लोग भी मिलेंगे जो यदि ऐसी दशा भम्भव भी माने तो भी अभीष्ट नहीं मानेगे क्योंकि उनकी दृष्टि में यह आत्म-रक्षा की घातक है और हिसा व अन्याय के प्रतिकार को अशक्य वना देती है और परिणामत: दुष्टों व हिसकों को प्रोत्साहन देती है ।

जहाँ तक यह प्रश्न है कि अक्रोध सम्भव है या नहीं, यह भूलना नहीं चाहिये कि सभी सहज प्रवृत्तियाँ आत्म रक्षार्थ ही हैं, परन्तु वहाँ पर आत्म रक्षा का अर्थ पार्थिव शरीर (देह) और भौतिक जीवन की रक्षा है । जहाँ देह से भिन्न चैतन्य स्वरूप जाना और ज्ञान के आलोक

में यह भाव बना कि नाहं देहो न मे देहो (न में देह हूँ न मेरा देह है) वहां इन सहज वृत्तियों का महत्त्व समाप्त हो जाता है, इनका जोर तभी तक चलता है जब तक देहाभिमान है। दधीचि ऋषि को हड्डियां दे देने में भी आत्म रक्षा की प्रवृत्ति बाधक नहीं हुई, रन्तिदेव, बलि आदि के लिए भी सहज प्रवृत्तिया बाधक न बन सकीं। देहाभिमान से ऊपर उठकर प्राणोत्सर्ग करने में ईसा, सुकरात, मन्सूर, सरमद आदि सन्तों को अथवा बलिदानियों, क्रान्तिकारियों आदि को आत्मरक्षा कीं सहज प्रवृत्ति बाधक न बन सकी। स्वामी दयानन्द, श्रद्धानन्द, महात्मा गांधी आदि कों अपने हत्यारे पर भी क्रोध नहीं आया। म० बुद्ध के उपदेश में भी इसी कोटि की अहिंसा बतायी गयी है। इसीलिए अक्रोध की जो असम्भावना प्रतीत होती है वह साधारण व्यक्ति के लिए ही हो सकती है। देहाभिमान रहित मुक्त शान्ति पदारूढ़ व्यक्ति के लिए नहीं। इसीलिए तो यह पहिचान कराने वाला लक्षण माना गया हैं। जो शान्ति पदारूढ़ है उसके लिए ऐसा अक्रोध सहज और सम्भव है देहाभिमानी के लिए अशक्य है। इसी से यह परिचायक लक्षण है जिसमें यह लक्षण पाया जाय उसे शीतल (व शान्त) सन्त मानना चाहिये।

सम्भावना के अतिरिक्त उपयोगिता का भी प्रश्न उठता है। आम लोगों की कल्पना है कि ऐसा अक्रोध अपनाने पर दुष्टजन सब कुछ बिगाड़ देंगे। परन्तु इस सन्देह का निराकरण तो पहले हो चुका —— कहा करें खल लोग भुजंगा। कीन्ह्यो गरल शील जो अंगा।। (छन्द ४७)। दुष्टजन हिंसा में विश्वास करते हैं, परन्तु वे अकारण हिंसा नहीं करते। आत्म रक्षार्थ, बदला लेने के लिए या अपनी कार्यवाही में बाधक तत्त्वों के प्रति ही हिंसा करते हैं, सन्तों के साथ ऐसे कारण उदय नहीं होते, अतः यह प्रायः देखा गया है कि डाकू हत्यारे आदि यहाँ तक कि हिंसक जीव भी) सन्तों के प्रति हिंसा भाव

नहीं रखते। कभी कभी ऐसे उदाहरण अत्यन्त आश्चर्य जनक बगते हैं। इसी तरह यह भी स्मरणीय है कि जो आत्मरक्षा नहीं करते परन्तु समाज के लिए अत्यन्त उपयोगी व पूज्य हैं' उनकी रक्षा समाज करता है और भगवान् की अनन्य भक्तों के योग क्षेम संचालनार्थ विशेष व्यवस्था रहती है। इतने पर भी यदि कोई सन्त शहीद (बलिदान) हो गए तो वह प्रारब्ध या भगवान की लीला या आदर्श उपस्थित करने की कार्यवाही मानी जायगी। यह कोई बहाना नहीं है। यदि स्वामी श्रद्धानन्द मारे गये, जो कि सन्यासी थे, तो सीजर व लिंकन भी मारे गए जब कि वे राज्य सत्तारुढ़ थे। इसको किसी ने हिंसा शक्ति या राज्य शक्ति की व्यर्थता का प्रमाण नहीं माना।

आश्चर्यजनक तो यह होना चाहिये कि एकदम शीतल सन्त सौ, दो सौ या और अधिक वर्षों तक कैसे जीवित रहे (जैसे तेलग स्वामी) जबकि बड़े बड़े साम्राज्य इससे कम सयय में शिथिल हो गये या मिट गये। ईसा ने कहा था -- जो तलवार उठाएंगे वे तलवार से मरेंगे। (बाइबिल निउ टेस्टामेन्ट),

कभी कभी भोतिक जीवन या आध्यात्मिक जीवन में से एक को छांटना पड़ता है। सन्त जनों की आस्था आध्यात्मिक जीवन में रहती है। वे भौतिक जीवन को बलिदान करके भी आध्यात्मिक जीवन की रक्षा करते हैं आत्मा नित्य है उसकी रक्षा के लिए मूल प्रवृत्तियों आवेगों विकारों आदि की आवश्यकता नहीं है।

सन्त देश और समाज की अमूल्य निधि हैं अतः उनकी रक्षा करना और इसका विशेष ध्यान रखना, इसके लिए विशेष व्यवस्था करना राज्य का भी पुनीत कर्तव्य है।

अहिसा दण्ड न्यास अप्रतिरोध सन्तों के जीवन का अनिवार्य अंग है। राम द्वेषादि से रहित, समभाव से युद्धादि व्यापार भी कर्तव्य रूप होने पर

किये जा सकते हैं। वे हिंसा वृत्ति या क्रोध से रहित ही होंगे। परन्तु व्यवहार से अलग रहने वाले सन्त जन कभी युद्ध, प्रतिकार, विरोध, आदि में (वाह्य जीवन में भी) कदापि प्रवृत्त नहीं होते।

श्री गोस्वामी जी ने शीतलता का लक्षण बड़ी चतुराई के साथ निश्चित किया है, क्योंकि क्रोध दूसरे पर ही होता है अद्वैतदर्शी या 'वासुदेवः सर्वम्।' (गीता) वाली दृष्टि वाले को क्रोध नहीं हो सकता। शीतल सन्त ज्ञान में स्थित रहते हैं, क्रोध होना ज्ञान का अभाव सूचित करता है।

क्रोध कि द्वैतक बुद्धिबिनु, द्वैत कि बिनु अज्ञान।
माया बस परिछिन्न जड़, जीव कि ईस समान।।
(उत्तर काण्ड)

अक्रोध की भी भूमिकाएँ हैं। क्रोध का पहला निग्रह यह है कि साधारण समाज की दृष्टि में अनुचित, अति उग्र, अमर्यादित क्रोध न करना। इसके आगे का सोपान यह है कि जिस तरह का क्रोध जिन कारणों से जिन परिस्थितियों में साधारण जनों को आता है वैसा भी न आना। क्रोध के अनर्थ को विवेक द्वारा जितना समझते जायेंगे उतना ही क्रोध को रोकेंगे, उसे कल्याण कारी या आवश्यक नहीं मानेंगे।

लषन कहेउ हँसि सुनहु मुनि, क्रोध पाप कर मूल।
तेहि बस जन अनुचित करहिं, चरहिं विश्व प्रतिकुल।।
(बाल काण्ड)

क्रोध पाप का मूल है इसे भूलकर ही लोग क्रोध करते हैं। इसे आवश्यक समझते हैं।

बहुत से मामलों में यह समझना भ्रमपूर्ण ही होता है कि क्रोध अपराध नियंत्रण, अनुशासन, प्रशासन, राज्य संचालन आदि के लिए आवश्यक हैं, तथापि कभी कभी असली क्रोध के बिना क्रोधाभास की स्थिति की अनुमति दी जा सकती है। असली क्रोध जितना भी हो विवेक को बिगाड़ता है, इसलिए धर्म का विरोधी है। न्यायालयों में अधिवक्ताओं को यह अनुभव है कि यदि किसी साक्षी को या अधिवक्ता को क्रोध दिलाया जा सके तो उसका मानसिक संतुलन विगड़ जाता है। वह सँभलकर नहीं बोल सकता ओर इस तरह उसके पक्ष को निर्बल किया जा सकता हैं। इसी तरह क्रोध के विकार से साधना विगड़ सकती है, बिगड़ जातीं है। क्रोध के आवेश में मनुष्य को जो नहीं सोचना चाहिये सोचता है, जो नहीं कहना चाहिये कहता है, जो नहीं करना चाहिये करता है।

सबसे बड़ी बात यह है कि क्रोध में उत्तेजना है गरमी है अशान्ति है। क्रोध वाले का ख़ून भी गरम हो जाता है। इसलिए स्पष्ट ही क्रोध शांति और शीतलता का विरोधी है। कोंई भी व्यक्ति क्रोधयुक्त और शान्त दोनों नहीं रह सकता न क्रोध शीतलता के साथ रह सकता है। जल में शीतलता है अग्नि में उष्णता हैं शान्ति शीतल जल के सागर की तरह है, क्रोध अग्नि की तरह। अतः क्रोध रूपी अग्नि का नितान्त अभाव शीतलता का परिचायक माना गया। आगे छंदों में जो निरूपण हुआ, हैं उसमें भी शांति को जल के समान और क्रोध को अग्नि के समान बताया गया है।

तितिक्षु संतों का यह तप है कि वे सुख दुख मानापमान को सहन करते रहते हैं, क्रोध नहीं करते। यह तितिक्षा की साधना है। परन्तु शांति पद पर आरुढ़ व्यक्ति को यह साधना नहीं होती, वह शीतल होने के कारण ही क्रोध की अग्नि से उत्तप्त नहीं हो सकता। इसलिए

शीतल सन्त के लिए यह प्रश्न नहीं उठता कि वह मर्यादित क्रोध करे। वह तो तनिक भी क्रोध नहीं कर सकता। लेश मात्र क्रोध का भी उदय उसके हृदय में सम्भव नहीं क्योंकि वह निज सुख में स्थिर है, उसकी समता में स्थिति है, जगत् को स्वप्नवत् जानता है, शान्त और शीतल है, विकारवान् नहीं हो सकता। उसके लिए अक्रोध सिद्धि है, साधन नहीं है। श्री गोस्वामी जी ने अक्रोध की शीतलता का जो परिचायक लक्षण इतने प्रबल शब्दों में बताया है, उसका यही रहस्य है।

सात द्वीप नव खण्ड लौं,
तीनि लोक जग माँहि ।
तुलसी शान्ति समान सुख,
अपर दूसरो नाँहि ॥५०॥

श्री ग़ोस्बामी जी कहते है कि इस पृथ्वी के सातों दीपों में (जम्बू दीप के) नव खण्डों में अथवा सम्पूर्ण सृष्टि में भो शाति के समान कोई दूसरा सुख नहीं है । (शांति परम सुख है ।)

इस दोहे में शान्ति को परम सुख बताया गया है । तीनों गुणों में वतंमान् लोगों के सुख की कल्पना अलग अलग है । तमोगुणी का यही सुख है कि कुछ काम न करना पड़े, वैसे ही बिना उद्यम किये गुजर वसर हो जाय खूब आराम करने को मिले, किसी झंझट से आराम में बिघ्न न हो गफ़लत से भी कोई काम बिगड़ने का डर न हो । निद्रा आलस्य प्रमाद यही तमोगुणी के सुख हैं । तमोगुणी इसकी कोई कद्र नहीं कर सकता कि लखपती करोड़पती लोग रुपया कमाने में दिन भर लगे रहते हैं, जबकि वे बिना मेहनत के आराम से रह सकते हैं । भारत वर्ष के भिखारी भीख मागते समय दाता को यह आशीर्वाद देते हैं कि 'बैठे हुकुम चले', अर्थात् कुछ काम न करना पड़े । कभी कभी गरीब लोग कल्पना करते हैं कि यदि अपने पास यथेष्ठ रुपया होता तो उठकर पानी भी न पीते, नौकर से मँगाकर ही पानी पीते । यह सब आलस्यमय तमोगुणी सुख की कल्पना है । कोई कोई राजे या

जमींदार या धनाढ्य लोग जो तमोगुण में विशेष स्थिर और निष्ठ हो गए कालक्रम से तबाह हो गए क्योंकि सम्पत्ति के अर्जन, रक्षण और उचित व्यय के लिए रजोगुणी भूमिका चाहिए, तमोगुण से यह सब नहीं हो सकत्ता। इसके अतिरिक्त तमोगुणी को विघ्न विपत्ति या विरोध का सामना करना पड़ता है तो आलस्य प्रमाद से काम नहीं चलना। क्रोधादि विकार व संघर्ष के कारण उसे रजोगुणी भूमिका में जाकर सक्रिय होना पड़ता है तथा आलसीं व प्रमादी स्वभाव व अविवेक के कारण भारी हानि उठानी पड़ती है। तमोगुण में जड़ता है अविवेक है।

रजोगुणी व सतोगुणी लोग तमोगुणी आलसी व्यक्ति को सुखी मानने को तैयार नहीं हैं। उनकी दृष्टि में ,आलस्य निद्रा प्रमाद' को सुख माना ही नहीं जा सकता। रजोगुणी व्यक्ति इन्द्रिय भोगों को अति महत्व देता है और भोग सुख को ही सुख मानता है। वह तमोगुणी व्यक्ति को मूर्ख मानता है क्योंकि वह जितनी सम्पत्ति अर्जित कर सकता है नहीं करता, जितना सुख उठा सकता है नहीं उठाता। वृद्धावस्था में भी स्वस्थ लोगों को अधिक धनार्जन करके सुख भोगना चाहिए। यदि किसी सक्षम व्यक्ति को अपने लिए और धन नहीं चाहिए (जो स्थिति रजोगुणी को कभी प्रतीत नही होती) तो भी उसे दूसरों की सहायता के लिए पारिवारिक भविष्य के लिए अथवा समाज, राष्ट्र या धर्म के लिए ही परिश्रम करके धनार्जन करना चाहिए। रजोगुणी आदर्श है अधिकतम सम्पत्ति और सुखोपभोग।

सतोगुणी की दृष्टि में रजोगुणी अविवेकी है। अर्थ में अनर्थ भरा है, आसक्त मनुष्य उसे देख नहीं पाता। अर्थ के १५ दोष श्रीमद्भागवत ११. २३. १८. में गिनाए गये हैं। अर्थ केउपार्जन रक्षण और व्यय में भी दुःख होता है। सुखोपभोग में भी स्थिरता नहीं, अनिश्चय, क्षणभंगुरता है और इन्द्रिय शक्तियों का भी ह्रास है। भोग सुख के अभ्यस्त

होने से सुखानुभूति घटती है परन्तु निर्भरता बढ़ती जाती है। इन सबसे महान् परिणाम-दुःख का परिपाक होता है। वासना तृप्ति में पाप कर्म हो जाता है, धर्म मर्यादा का अतिक्रमण हो जाता है और उससे भी महान् अनिष्ट फल की प्राप्ति होती है। इसलिए मोहग्रस्त और विषयासक्त जीव सतोगुणी की दृष्टि में दयनीय हैं।

'तेऽनुकम्या भवादृशां'

श्रीमद्भागवत

ऐसे जीव आप जैसे सन्तों के लिए दया के पात्र हैं। पक्का सतोगुणी कभी नहीं मान सकता कि अमीरी में फकीरी से अधिक सुख है।

जो सुख पाया नाम भजन में सो सुख नाहि अमीरी नें।

(कबीर)

सतोगुणी को निश्चिन्त निर्विघ्न सादे जीवन का और आत्मज्ञान का आकर्षण है। शास्त्र ज्ञान का भी आकर्षण हो सकता है।

शास्त्र की दृष्टि में ज्ञानालोकित निर्धनता (अकिंचन दशा) श्रेष्ठ है अविवेक के साथ सम्पत्ति अच्छी नहीं! श्री वसिष्ठ जी का वाक्य है —

वरं शराव हस्तारो, चाण्डालागारवीथिषु ।
भैक्ष्यार्थमटनं राम न मौरव्यं हत जीवनं ।।

(योग वसिष्ठ)

हे! राम हाथ में खप्पर लेकर चन्डालों की गली में घर घर भीख माँगते घूमना श्रेष्ठ है, अज्ञान से अपहृत जीवन अच्छा नहीं। अष्टावक्र जी ने अपनी गीता में विषयों को विष तुल्य मानकर त्यागने की सलाह दी हैं। (१.२.) शान्त और निश्चिन्त सादा जीवन और भव बन्धन से मोक्ष, यही

सतोगुणी की अभिलाषा रहती है। तप सारा हि साध्व:, सन्त जन तपस्या को ही सार समझते हैं। तप में लगे हुए सन्त कभी अपने को अभावग्रस्त था दरिद्रता से पीड़ित अनुभव नहीं करते।

कणाद ऋषि के विषय में यह कथा है कि उनकी उग्र तपस्या का हाल तत्कालीन राजा को बताया गया तो वे कणाद के पास गए और उनकी योग क्षेम की व्यवस्था कर देने को तय्यार हुए। कणाद शिलोञ्च वृति से कण कण बटोर कर खाते थे। वे राजा से बोले – आपको गलत सूचना मिली कि हमको कोई अभाव या कष्ट है। आप जायँ अपना काम करे। राजा ने उनकी वृत्ति पर लक्ष्य किया तो कणाद बोले — 'सामने पहाड़ देखते हो' राजा ने कहा 'हाँ'। कणाद ने कहा 'यदि मैं चाहूँ तो यह सारा पहाड़ सोने का हो जाय। मेरे पास कोई कमी नहीं है, आप जायँ'। राजा लौट पड़े। पर अब यह विचार उठने लगा कि पहाड़ क्या, एक चट्टान भी यदि कणाद सोने की बना दें तो राज्य की सारी आर्थिक समस्या ही हल हो जाय। इसलिए राजा कुछ समय बाद पुन: कणाद के पास गये और एक चट्टान को ही सोना कर देने की प्रार्थना की। तब कणाद ने कहा, 'राजन अब बताओ' अभावग्रस्त तुम हो या मैं ? भिक्षार्थी कौन है ? राजा लज्जित हुए। कणाद ने उन्हें आशीर्वाद देकर विदा किया।

गुणातीत सन्त जन अकिंचनता में भी परम मस्त रहते हैं, इसी से तो पूर्व छन्द में कह आए हैं कि साधु सब प्रकार से हीन हो तो भी कुलीन जन उनकी बरबरी नहीं कर सकते। (छन्द संख्या ४१.)। श्री गोस्वामी जी तो सन्त के समान इन्द्र को भी नहीं मानते। इन्द्र सन्तों के तप से आशकित होते हैं कि हमारा इन्द्रासन न छिन जाय परन्तु सन्तों की दृष्टि से वह इन्द्रासन सूखी हड्डी के समान नीरस है।

सूख हाड़ लै भाग सठ, स्वान निरखि मृगराज।
छीन लेइ जनि जानि जड़ तिमि सुर पतिहि न लाज।।

(बाल काण्ड)

सन्त तो जिस भगवदानन्द में लीन हैं, उसकी मस्ती में लोक परलोक के किसी वैभव की तरफ नजर ही नहीं उठाते हैं। यह शांति और शीतलता की मस्ती ऐसी है कि उसे पाकर व्यक्ति तृप्त और मस्त हो जाता है। वह फिर कुछ भी और नहीं चाहता इसी असीम में सुख है अल्प में नहीं। यो वे भूमा तत्सुखं, नाल्पे सुखमस्ति। उपनिषद्। यही इसके परमानन्द स्वरूप होने का प्रमाण है।

यह शांति सुख किसी देशकाल तक सीमित नहीं है, न किसी देशकाल में इससे अधिक सुख कहीं उपलब्ध है। इसी को प्रमुखता से उजागर करने के लिए श्री गोस्वामी जी ने दोहे की प्रथम पंक्ति लिखी। पुराणों ने इस पृथ्वी को सप्त दीपवती माना है। भूलोक के सात द्वीपों (महाद्वीपों) के नाम इस प्रकार दिये गए हैं —१. जम्बू २ प्लक्ष ३. शालमली ४, कुश ५. क्रौंच ६. शाक ७. पुष्कर श्रीमद्भागवत [५. २०] जम्बू दीप के नव खण्ड नव वर्षों के नाम से कहे गए हैं' इन्हीं में से एक भारत वर्ष है। अतः एशिया महादीप जम्बू दीप वत् मान्य हो सकता है। नव वर्षों के नाम इस प्रकार दिये गए हैं —— १. इलावृत २. भ्रद्राश्व ३. हरि ४. केतुमाल ५. रम्यक ६, हरिण्मय ७. उत्तर कुरु ८.किंपुरुष ९. भारत। हम लोग जम्बूदीपान्तर्गत भारत वर्ष में हैं। यदि कोई यह कल्पना करे कि कि जितना सुख हमें हमारे भारत वर्ष में मिलता है दिखाई देता है, वह भले ही कम हो परन्तु उससे सैकड़ों हजारों गुना सुख किसी अन्य वर्ष में या जम्बू द्वीप के अतिरिक्त किसी और द्वीप के किसी स्थान में प्राप्त है या हो सकता है, वह कदाचित शान्ति के सुख की वरावरी कर

सके तो यह कल्पना सही न होगी। कहीं भी किसी वर्ष या द्वीप में कोई ऐसा स्थान नहीं है, जहाँ शान्ति सुख की बराबरी करने वाला कोई अपर (दूसरा) सुख मिल सके।

फिर एक सम्भावना रह जाती है कि सम्पूर्ण भूलोक तो मृत्यु लोक माना गया हैं। यहाँ दु:ख बहुत है सुख बहुत नहीं हैं। क्या यह नहीं हो सकता कि किसी अन्य ऊर्ध्व लोक में इतना अधिक सुख मिलता हो जो शान्ति सुख की समता कर सके? स्वर्गादि ऐसे लोक बताये गए हैं जहाँ बहुत सुख है, पुण्यात्मा जन पुण्यफल भोगने के लिए वहा भेजे जाते हैं फिर क्षीणे पुण्ये मर्त्यं लोके विशन्ति (गीता) पुण्य चुक जाने पर फिर मत्यु लोक (भूलोक या पृथ्वी लोक) में आते हैं। भर्भुव: स्व: मह:जन: तप: सत्यं — भूलोक के ऊपर ६ लोक और कहे गए हैं। इनमें सुख अधिक है। क्याँ वहाँ का सुख शान्ति सुख के समान माना जा सकता है? श्री गोस्वामी जी इस सम्भावना को अस्वीकार करते हैं। कभी कभी १४ भुवनों का भी उल्लेख होता है। पृथ्वी, स्वर्ग और पाताल। शास्त्रों में भगवान् वामन के द्वारा दो ही पग में तीनों लोकों का नापना बताया कया है। (ऋग्वेद १. २२. १७. तथा १. २२. १८. तथा पुराणों में वामन अवतार की कथाएँ) 'तीन लोक' से समस्त ब्रम्हाण्ड का अर्थ सूचित होता है। एक एक ब्रम्ह्मण्ड में अनेक लोक हैं और अनन्त ब्रम्हाण्ड भगवान के विराट् (विश्वमय या सृष्टिमय) रूप में रोम रोम में लगे हैं।

'ब्रम्हाण्ड निकाया निर्मित माया, रोम रोम प्रति वेद कहै।
(बालकाण्ड)

तस्मिन् हि तस्थु र्भुवनानि विश्वा:।
(ऋगवेद)

सारी सृष्टि (कुल ब्रह्माण्ड, तारे राशि आदि सम्मिलित करके जग शब्द से सूचित किया गया है । सन्देश यह है कि सम्पूर्ण सृष्टि में इस लोक या परलोक में कहीं भी शान्ति सुख की समानता करने वाला कोई और सुख नहीं है । 'अपर' (और कोई) कहना आवश्यक था, क्योंकि शान्ति का सुख सर्वत्र व्याप्त और उपलब्ध है । शान्ति पद आरुढ़ व्यक्ति को सभी स्थानों और लोकों में वह सुख एकरस अखण्ड, एकसा उपलब्ध है । वह दिक् कालादि से परिच्छिन्न (सीमित) नहीं है ।

विभिन्न मोक्षों, भगवान् के विभिन्न लोकों, लीलाओं के जो अपार सुख हैं जिनका वर्णन शास्त्रों में मिलता है और निज निज निष्ठानुसार सन्त जन जिसको प्राप्त करते हैं जिनका वर्णन और जिनकी प्रसंशा वे करते हैं, ओर जो एक से एक बढ़कर निरूपित किये जाते हैं, वे सब यहाँ शान्ति सुख में ही समाविष्ट हैं । उनको अलग समझकर उनकी तुलना करना ठीक नहीं है । अलग अलग समझने से यह सन्देह होता है कि श्री गोस्वामी जी स्वयं राम भक्ति निष्ठ दिव्यानुभूति सम्पन्न हैं, वे सगुण साकार सरकार की लीलाओं के परमानन्द का जिक्र न करके शान्ति सुख को ही परम श्रेष्ठ कैसे कहते हैं ? यह स्मरण रखना आवश्यक है सभी प्रकार के दिव्यानंद शान्ति सुख ही हैं । श्री गोस्वामी जी महाराज दास भाव की भक्ति करते थे और उनके सम्पूर्ण साहित्य में प्रधान रस परिपाक शान्त रस का ही है । श्री रामचरित मानस के अन्त में कहा भी है —

जाकी कृपा लवलेस ते मतिमन्द तुलसीदास हूँ ।
पायो परम बिश्राम राम समान प्रभु नाहीं कहूँ ।।

यह परम विश्राम शान्ति सुख ही है ।

श्री गोस्वामी जी मर्यादा निधान, परम चतुर और उदारमना हैं, व्यक्तिगत साम्प्रदायिक उपासनाओं मान्यताओं, अनुभूतियों का आधार न लेकर, उदार दृष्टिकोण से उन्होंने वैराग्य संदीप्त करने वाला सन्देश दिया है जिसमें सतोयुणी सुख और विशेषत: गुणातीत पद का सुख, शान्ति का सुख मान्य किया गया हैं। दोहे का प्रबल शब्दों में प्रमुख सन्देश यह है कि विषय का सुख कहीं भी, कैसा और कितना ही अधिक क्यों न हो समाधि-सुख (शान्ति सुख) की बराबरी नहीं कर सकता।

निम्न योनियों से मानवों का सुख अधिक है, उनमें भी राजाओं आदि का अधिक माना गया है, उससे भी पितरों, गन्धर्वों देवताओं आदि का कहीं अधिक हैं। इन्द्र का सुख देवताओं से कहीं अधिक श्रेष्ठ है। परन्तु इन सब सुखों से अधिक विलक्षण, अलौकिक व स्थिर समाधिस्थ सन्तों का शान्ति सुख है, जिसके सामने 'इन्द्र बापूरो कौन' (दोहाबली) इन्द्र बेचारा क्या हैसियत रखता है, ऐसा कहा गया है। विषय सुख और शान्ति सुख में गुणात्मक भेद है, वे अलग श्रेणी के हैं। विषय सुख हेय है, शान्ति सुख उपादेय है। योग मार्ग में रिद्धि सिद्धियाँ प्राप्त होती हें तो वे प्राय: साधक को विशेष विषय सुख प्रदान करके उसी में रमा देती हैं, क्योंकि अन्तरायान् बदन्त्येता कालक्षपण हेतव: (श्रीमद्भागवत ११. १५. ३३.) इनको समय नष्ट करा देने वाले विघ्न ही कहा गया है। इनसे मोक्ष साधन शिथिल हो सकता हैं और परम सुख, समाधि सुख या शान्ति सुख अवरुद्ध हो जाता है या उसमें विलम्ब हो जाता है। जब वैराग्य शिथिल होता हैं और शान्ति सुख को परमानन्द स्वरूप दृढ़ता से नहीं माना जाता तभी ऐसे विघ्नों विक्षेपों का जोर चलता हैं। श्री गोस्वामी जी का सन्देश दृढ़ता से हृदयंगम हो जाने पर परमार्थ पथ में निर्विक्षेप, निर्विघ्न और तीव्र गति होती है। तस्मात् यह सन्देश भी वैराग्य को संदीप्त करने वाला है।

जहाँ शान्ति सतगुरु की दई ।
तहां क्रोध की जर जरि गई ॥
सकल काम वासना बिलानी ।
तुलसी इहै शान्ति सहिदानी ॥५१॥

श्री गोस्वामी जी कहते हैं कि जहाँ किसी को सद्गुरु से शान्ति प्राप्त हुई, क्रोध की तो जड़ ही जल जाती है, सभी कामनाएँ पूरी तरह लुप्त हो जाती हैं, यही शान्ति की पहिचान है ।

इस चौपाई में सद्गुरु द्वारा दी हुई शान्ति का उल्लेख है और यह उसकी पहिचान बताई गई है कि क्रोध समूल नष्ट हो जाता है, काम वासना लुप्त हो जाती है, सभी वासनाएँ निवृत्त हो जाती हैं । अभी तक (इससे पूर्व) जो शान्ति का वर्णन हुआ था उसमें शान्ति का महत्त्व तो कहा परन्तु उसे 'सद्गुरु की दई' (गुरु कृपा से प्राप्त) दशा नहीं कहा गया था । यह लक्षण अब कहा गया । परमार्थ पथ में अग्रसर होने के लिए पुरुषार्थ (साधना) का उपदेश भी दिया जाता है और उसे भगवत्कृपा साध्य भी बताया जाता है । इसमें विरोधाभास की प्रतीति होती है, परन्तु इस विरोधाभास का परिहार संभव है ।

पुरुषार्थ रहित, आलसी, अकर्मण्य व्यक्ति को परमार्थ तत्त्व की प्राप्ति नहीं हो सकती । जिसका देहाध्यास (देह को अपना स्वरूप मानना) प्रबल है और जो अहंभाव (अस्मिता) पूर्वक ही अपने सब

कर्म करता है, उसका केवल साधन वाला कर्म अहंभाव रहित हो, यह संभव नहीं है। अतः प्रारम्भ में साधक से यह आशा नहीं की जा सकती कि वह अहंभाव रहित होकर बरते। वह देहाभिमानी हैं उसकी जो भूमिका है उसमें वह भौतिक (व्यबहारिक) जगत् में कर्म का अधिकारी है, नियत, उचित, धर्मानुकुल कर्म करने के लिए प्रोत्साहित किया जा सकता है, विपरीत कर्म न करने को कहा जा सकता है, परन्तु उसे अभीं 'नैष्कर्म्यं' सिद्धि प्राप्त नहीं है अतः उसके कर्म उसी स्थिति के अनुरूप हो सकते हैं। नैष्कर्म्य उसके लिए अभीं दूर है।

कुछ प्रगति कर जाने पर साधक इससे आगे के उपदेश का अधिकारी हो जाता है और उसे उस उपदेश की आवश्यकता भी पड़ती है। शुभ कर्म अनुष्ठान की अच्छी भूमिका बन जाने पर यह प्रश्न सहज ही उठ सकते हैं – १– शुभ कर्मों का फल भी परिपाक होगा, वह भोगना पड़ेगा वह सर्वांश में अनुकूल नहीं पड़ेगा, वह भी बन्धन रूप ही होगा। पुण्यों का फल स्वर्गादि ही है मोक्ष कदापि नहीं — नास्त्यकृत: कृतेन। उपनिषद्। जो कर्म से उत्पन्न नहीं वह कर्म से प्राप्त नहीं हो सकता। ३ — अहंभाव युक्त कर्म शुभ भी हों तो भी अहंभाव को बढ़ा सकते हैं। अतः भव बन्धन और भी बढ़ सकता है, ऐसी दशा में वह मोक्ष के लिए सहायक न होंगे।

अलं अर्थेन कामेन सुकृतेनापि कर्मणा।
एभ्यः संसार कान्तारे न विश्रांतमभून्मनः।।

[अष्टावक्र गीता १०. ७.]

अर्थ, काम और पुण्य कर्मों को भी छोड़ो, इनसे इस संसार रूपी बन में मन कभी शान्त नहीं हुआ।

४. पुण्याभिमानी जीव से दीन हीन भाव रखने वाला जीव भगवान् के अधिक निकट हे। इसकी क्या तरकीब है कि पुण्याभिमान न हो ? पुण्यानुष्ठान होता रहे, परन्तु पुण्याभिमान न हो, यह इसी तरह सभव है कि इस पुण्यानुष्ठान में भी भगवदीय शक्ति की लीला की पहिचान हो। आदि शंकराचार्यं ने कहा है कि यह तीन वस्तुएँ दुर्लभ हैं, देवानुग्रह के अधीन हैं —

मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महा पुरुष संश्रयः।
[मानव जन्म, मोक्षाभिलाषा, महापुरुष की शरणागति]
कबहुँक करि करुणा नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥
[उत्तर काण्ड]

विषयी मनुष्य को मुमुक्षु [साधक] बनाने का भी कोई सुनिश्चित लौकिक उपाय नहीं है। यह भी भगवत्कृपा साध्य है। यह तो लिखा है 'पुण्य पुंज बिनु मिलहिं न सन्ता' उत्तर काण्ड। परन्तु पुण्यवानों को भी सत संग सहज सुलभ नहीं –

बिनु हरि कृपा मिलहिं नहिं सन्ता। सत्संगति संसृति कर अन्ता॥
[उत्तर काण्ड]

इस तरह मोक्ष की सारी परिस्थिति भगवत्कृपा से बनती है।
नृदेहमाद्यं सुलभं सु दुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरु कर्णधारं।
मया ऽनुकूलेन नमस्वतेरितं पुमान् भवाब्धि न तरेत् स
आत्म हा॥ श्रीमद्भागवत ११, २०. १७॥

नर तनु भव वारिधि कहँ बेरो। सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो॥
कर्णधार सतगुरु बृढ़ नावा। दुर्लभ साज सुलभ करि पावा॥

जौ न तरै भव सागर नर समाज अस पाइ ।
सो कृत निन्दक मन्दमति आत्माहन गति जाइ ।। उत्तर काण्ड ।।

तान्स्ते प्रेत्याभि गच्छन्ति, ये के चात्महनो जनाः ।।
[ईशोपनिषद् ३.]

इस प्रकार इस उपदेश में शास्त्र मह कहता है कि भगवान् ने भव सागर तरने की सब सुविधा बना दी है, अब हम उसका लाभ न लें तो यह कृतघ्नता होगी ।

यह भरत खण्ड समीप सुरसरि थल भलो संगति भली ।
तेरी कुमति कायर कलप बल्ली चहति विष फल फली ।।
[कवितावली]

अब यह भी विचारणीय है कि शरणागत भक्त इस सब अनुकूल परिस्थिति से लाभ उठाने का दायित्व या अभिमान नहीं लेता । उसमे भी भगवत्कृपा का ही भरोसा रखता हे यथा —

मै सिसु प्रभु सनेह प्रतिपाला । मन्दर मेरु कि लेहिं मराला ।।
[अयोध्या काण्ड]

हौं तो बिगरायल ओर को, बिगरो न बिगरिये ।
तुम सुधारि आए सदा सबकीं सबही बिधि,
अब मेरियौ सुधरिये ।। विनय पत्रिका ।।

रावरी सुधारी जौ बिगारी बिगारैगी मेंरी,
वेद की न कहौं वलि लोक कहा कहैगो ।
बांकी विरुदावली बनैगी पाले ही कृपालु,
अन्त मेरी हाल हेरि, यों न मन रहैगो ।। वि० प० ।।

कृपा डोरि बन्सी पद अंकुस परम प्रेम मृदु चारो ।
एहि विधि वेधि हरहु मेरो दुख, कौतुक राम तिहारो ।।वि० प०।।

यह छरभार ताहि तुलसी जग जाको दास कहैहों । वि० प०।

तुलसीदास हरि गुरु करुणा बिनु विमल विवेक न होई ।
बिनु विवेक संसार घोर निधि, पार न पावै कोई ।।
[वि० प०]

अभूतपूर्वं कि नो विधायि, सर्वं सहे मे सहजं हि दुखं ।
किं तु त्वदग्रे शरणागतानां, पराभवो नाथ न तेऽनुरूपः ।।
(श्री यामुनाचार्यं आल्वन्दार स्तोत्र)

हे भगवान, मेरे अभूतपूर्व पापों की अभूतपूर्व सज़ा आप कैसे दे सकेंगे (क्योंकि नरकादि तो सब वर्णित ओर विदित हैं और दूसरे पापियों को भी मिल चुके हैं) ? फिर मैं इन सब को झेल चुका हूँ, इनके दुख सहने की आदत भी पड़ गई है । अतः आप मेरे पापों के अनुसार अभूतपूर्व दण्ड न दे सकेंगे । परन्तु अपनी बचाइये, कहीं आपको अभूतपूर्व दुःख (मेरे कारण) न हो जाय । क्योंकि कहीं आपकी नजरों के सामने यदि आपके शरणागत भक्त का पराभव हो जाय तो आपकी शान के एककम खिलाफ़ होगा । आपकी इज्ज़त में बट्टा लगेगा ।

इस प्रकार साधन का भी दायित्व व श्रेय आदि सब भगवान का ही हैं । शरणागति में पूर्ण सुरक्षा, चिन्ता मुक्ति और निरभिमानता है । परन्तु जो भगवान् का अनन्य शरणागत भक्त नहीं है, वह आलसी रह कर इस सब का शब्द छल और दम्भ करे तो अनर्थ परिपाक अवश्य होगा । इसी से जहाँ 'शान्ति सतगुरु की दई' यह कथन बहुत से अन्य निरूपण के बाद रखा गया है ।

यह कुतर्कमय कल्पना सम्भव है कि जब पुण्य कर्म का भी अभिमान त्यागना पड़ेगा, तो प्रारम्भ से ही पाप पुण्य दोनों का अभिमान क्यों न त्याग कर दिया जाय ? यह समझ लेना चाहिये कि कर्तृत्व के अभिमान का त्याग अत्यन्त पुण्यवान तप: पूत शुद्ध अन्त:करण वाले ही कर सकते हैं, पापी आलसी, ढोंगी ऐसा नहीं कर सकते। यह कहुत ऊँची स्थिति वाले अनन्य भक्तों की अनुभूति है कि भगवान् उनके पारलौकिक पारमार्थिक योग क्षेम का भी वहन करते है। इस गौरवमयी दशा का दम्भ अनर्थकारी होगा, सफल नहीं। इसीलिए श्री रामनुजाचार्य महाराज अपने को मर्यादा मार्ग का अधिकारी नहीं मानते थे, भगवत्कृपा का आश्रय ग्रहण किये थे तथा श्री बल्लभाचार्य जी पुष्टि मार्ग के उपदेष्टा थे। षोषणं तदनुग्रह, (श्रीमद्‌भागवत २. १०. ४.) भगवान् का अनुग्रह ही पोषण (पुष्टि) है।

जब हम थे तब हरि नहीं, अब हम हैं हरि नाहि।
प्रेम गली अति साँकरी तामे दो न समाहि ।। कबीर ।।

यह अहंभाव का त्याग है। अहं भाव छूटने पर मिलने वाली शान्ति हरि गुरु करुणा प्रदत्त ही होगी पुरुषार्थ प्राप्त नहीं। इसलिए शान्ति सतगुरु की दी हुई मान्य की गई।

शान्ति पद भगवत्पद ही है। भगवान् किसी साधन के मूल्य पर नहीं मिलते — यमेवैष वृणुते तेन लभ्य: । उपनिषद् ।

जिसे यही आत्मा पसन्द करता है उसी को मिलता है।
सोइ जानइ जेहि देहु जनाई। जानत तुम्हहि तुम्हहि होइ जाई ।।
(अरण्य काण्ड)

इसलिए यह दशा कृपा साध्य है।

श्री गोस्वामी जी ने जब कहा कि —

सन्मुख मरुत अनुग्रह मेरो। तो पर्यावरण या परिस्थिति की अनुकूलताओं को तो नोका के लिए अनुकूल वायु माना परन्तु श्रीमद भागवत के श्लोक की ही तरह गुरु को कर्णधार बताया। पार उतारने का श्रेय सदैव कर्णधार का ही होता है, होना चाहिये। अत: सत्गुरु की दी हुई शान्ति कही गई है।

उपर्युक्त के अतिरिक्त एक गुप्त यौगिक रहस्य और भी है, उस आधार पर भी सतगुरु की दी हूई शान्ति कही ग़ई है। एक दिव्य प्रक्रिया है जिसे शक्ति अवतरण, शक्ति पात् या शक्ति संक्रमण कहते हैं। यह शक्ति दृष्ट भले ही न हो परन्तु उसका परिणाम तुरन्त अनुभव में आता है। महर्षि अरविन्द ने भगवदींय शक्ति के उच्चतर सोपांनों से निम्नतर सोपानों पर अवतरण होने की बात विस्तार से कही है और प्रबल आवाहन किया है कि हम लोग आत्म निवेदन करके इस अवतरण के माध्यम बनें।

सन्तों के बहुत से चमत्कारों का रहस्य यही है कि उन मामलों में दिव्य शक्ति व्यवहार के क्षेत्र में क्रियमाण हो जाती है, जिसका कार्य साधारण बुद्धि की पकड़ के बाहर रहता है।

दिव्य शक्ति के सहसा व्यवहारिक जगत में हस्तक्षेप के कुछ प्रसिद्ध उदाहरण हैं – महाप्रभु चैतन्य देव जी के द्वारा जगाई मधाई का उद्धार, तथा कोढ़ी का तत्काल चंगा हो जाना, स्वामी रामकृष्ण परमहस के द्वारा नरेन्द्र को सहसा बदल कर उन्हें विवेकानन्द बना दिया जाना, स्वामी विशुद्धानन्द जी द्वारा महान् प्रतिभाशाली पं० गोपीनाथ कविराज को सहसा भगवत्सन्मुख कर दिया जाना इत्यादि।

उच्च साधकों में जो शक्ति का अवतरण या शक्तिपात होता है वह इतना दूसरों की नजरों के सामने स्पष्ट नहीं होता। शक्तिपात का प्रभाव सम्बन्धित व्यक्ति को तुरन्त प्रतीत होता है, उसे विचित्रअ ाध्यात्मिक दशा का अनुभव होता है जो घन्टों या दो एक दिन तक जारी रह सकता है। सिद्ध गुरू की शरण में जाकर दीक्षा लेते समय भी शिष्य को शक्तिपात् का क्वचित् तात्कालिक अनुभव होता है। शक्तिपात् की दशा एक सूक्ष्म और अनिर्वचनीय दशा है। 'ताकर सुख सोइ जानइ, परानन्द सन्दोह।' उत्तरकाण्ड। राम भरत के चित्रकूट प्रसंग में कहा गया है — परम प्रेम पूरण दोउ भाई। मन बुधि चित ब्रहमिति बिसराई ।। अयोध्याकाण्ड। जिन साधकों को शक्तिपात् का अनुभव है, उन्हें उस शक्ति से वहुत बल मिलता है, चित्त के विकार शान्त होते हैं, चित्त के ठहराने में, ध्यान लगाने में अत्यन्त सुविधा हो जाती है। ध्यान लगाने में, समाधि में स्थित रहने में बड़ी सुविधा हो जाती है।

उपर्युक्त वर्णन तात्कालिक या अल्पकालिक शक्तिपात् का है परन्तु श्री रवीन्द्र ठाकुर ने गीतान्जलि में लिखा है — 'सदैव आप भरते रहते हैं, सदैव और भरने ए लिए स्थान रहता है।' उस दशा की कल्पना कीजिये कि जब अखण्ड शक्तिपात् (अनवरत) होता ही रहे। मन को उस अनुभूति से अलग करने का प्रश्न ही न रहे।

करुणानिधान वरदान तुलसी चहत,
सीतापति भक्ति, सुरसरि नीर मीनता ।।

ऐसी दशा में मन बराबर शान्ति निमग्न रहेगा ही और काम क्रोधादि विकारों की सम्भावना नहीं रह जायगी। शान्ति पद के ऐसे वैभव और प्रभाव को यहां (और आगे के वर्णन में) उजागर किया गया है।

शक्तिपात अपने बस की चीज़ नहीं है, वह गुरु कृपासे ही हो सकता है, उसमें ज़ोर ज़वर्दस्ती छीना झपटी, लूट खसोट का कुछ भी अवसर नहीं है। दीन-हीन व्यक्ति विशेष कृपापात्र है।

निदरि गनी, गरीब को आदर, रीति सदा चलिआई। वि०प० कोई अपना जीवन सतोगुणी बना ले तो निःसन्देह उसका जीवन अपेक्षाकृत शान्त भी होगा, परन्तु जिस महान् शान्ति का यहां वर्णन है और जिसका प्रभाव यहाँ और आगे कहा गया है, वह निरपेक्ष, सम्पूर्ण शान्ति, है उसी का आलौकिक प्रभाव होता है, जैसा कि वर्णित है। यह शान्ति सतगुरु के द्वारा दी गई ही होती है।

जहां सतगुरु की दी हुई शान्ति की प्रतिष्ठा है, वहां क्रोध की साधारण निवृत्ति नहीं कही, जड़ (मूल) से निवृत्ति कही है। कोई पौधा टूट जाय, तो पुनः अंकुर निकल सकता है। पेड़ काट दिये जाते हैं, परन्तु जड़ स्थिर रहे तो फिर कुछ वर्षों में पेड़ तैयार हो जाते हैं। यदि जड़ उखाड़ दी जाय या जल जाय तो वे पेड़ पुनः अंकुरित नहीं हो सकते। व्यावहारिक जगत् में क्रोध का रुक जाना, बहुत दिनों तक न आना, क्रोध की निवृत्ति तो है पर यह अत्यन्त निवृत्ति नहीं है। वीर पुरुष क्रोध के आवेग को रोकता है, सह जाता हैं, परन्तु इससे क्रोध निर्मूल नहीं होता। पुनः क्रोध के आवेग का उदय सम्भव रहता है। तलवार के घाव भर जाते हैं, परन्तु वचन बाणों के घाव चिरकाल तक कष्ट देते रहते हैं। जो क्रोध की अग्नि से नहीं ज़लता– चित्तं न निर्दहति कोप कृशानु तापः (भर्तृहरि) वह धीर पुरुप धन्य है। क्रोध के आवेग को एकदम रोक जाना स्वयमेव बहुत बड़ी उपलब्धि है, प्रशंसनीय धैर्य है।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीर विमोक्षणात्।
काम क्रोधोद्भवं वेगं, स युक्तः स सुखी नरः।। गीता ५ २३

जो शरीर छूटने के पहले (मरने से पहले कभी भी) काम व क्रोध के आवेगों को सहन करने में समर्थ हो जाता हैं, वह योगी और सुखी पुरुष है । यह दशा अत्यन्त प्रशंसनीय है । योगी के अन्त:करण में काम के आवेग उठते हैं, परन्तु वह उन्हें धैर्य से सह लेता है, रोक जाता है, निरुद्ध कर देता है । यही उसका धैर्य और शौर्यं (बहादुरी) है । युद्ध विजय से भी कहीं अधिक वीरता विकार विजय में है । 'जीतहु मनहिं, सुनिव अस, राम चन्द्र के राज ।' उत्तरकाण्ड । परन्तु जो क्रोध के आवेग को सहन करने में समर्थं होता है वह योगी और सुखी पुरुष मान्य हो, परन्तु उसका क्रोध निर्मूल नहीं हुआ है, क्रोध की जड़ जल नहीं गई है ।

इसी प्रकार काम विकार के उठने पर उसे सहन कर लेना, उसे रोक जाना, उसके वश में न होना, तदनुकूल व्यवहार न करना और उसे शीघ्र ही शान्त कर देना, आध्यात्मिक वीरता है, स्तुत्य है परन्तु इससे काम विकार के निर्मूल होने की सूचना नहीं मिलती । अन्य वासनाओं (कामनाओं) का भी ऐसा ही हाल है । कौन वासना कितनी सक्रिय और वेगवती है इसके अनुसार वासना को जागृत वासना, स्वप्न (वत्) वासना या सुप्त (सोई हुई, गुप्त, निष्क्रिय, प्रच्छन्न) वासना कहा जाता है । इसी तरह बीज मात्र वासना, अंकुरित वासना, प्रवृद्ध (बढ़ी हुई, पुष्ट) वासना, पुष्पित वासना, फलित वासना आदि का भेद किया जाता है । किसी विकार या वासना के क्षीण, प्रसुप्त या बीज मात्र हो जाने से उसका समूल नाश नहीं माना जा सकता ।

मानसिक रोगों के विषय में श्री रामचरित मानस उत्तरकाण्ड में कहा गया है——

जाने ते छीजहिं कछु पापी । नास न पावहि जन परितापी ।।
विषय कुपथ्य पाइ अंकुरे । मुनिहु हृदय का नर बापुरे ।।

यह काम क्रोधादि के क्षीण होने का वर्णन है, समूल नाश का नहीं। क्षीण वासनाएं पुनः अंकुरित हो सकती हैं, फिर अनुकूल परिस्थिति पाकर ये आश्चर्यजनक गति से बढ सकती हैं और दृढ़ बन सकती हैं,

मानसिक रोगों के समूल नाश के विषय में यह उपदेश है--

राम कृपा नासहिं सब रोगा । जौ एहि भांति बनै संयोगा ।।
सतगुरु वैद्य वचन विस्वासा । संयम यह विषय कै आसा ।।
रघुपति भक्ति सजीवन मूरी । अनोपान श्रद्धा मति पूरी ।।
एहि विधि भलेहि सो रोग नसाहीं । नाहिं तो कोटि जतन नहिं जाहीं ।।

तथा--

जानिय तब मन निरुज गोसाइं । जब उर बल विराग अधिकाई ।।
सुमति क्षुधा बाढ़ै नित नई । विषय आस दुर्बलता गई ।।
विमल ज्ञान जल उब सो नहाई । तब रह राम भगति उर छाई ।।

ध्यान देने लायक है कि भक्ति रूपी संजीवनी-बूटी मानसिक रोगों की दवा है, फिर मानसिक रोगों के एकदम नष्ट होने पर वह हृदय में छा जाती है, प्रबल हो उठती हैं, व्याप्त हो जाती हैं। यहीं साधन भक्ति और परा भक्ति का भेद है। साधन भक्ति मानसिक रोगों की दवा है जबकि परा भक्ति का उदय और उसकी व्याप्ति मानसिक रोगों की समाप्ति और ज्ञान की प्राप्ति के भी बाद होती है। विकारों के निर्बीज होने पर पराभक्ति की बहार आती है।

क्रोध की जड़ क्या है और वह कैसे जल जाती है? 'मोह सकल व्याधिन कर मूला।' (उत्तरकाण्ड)। मोह (अविद्या, विपरीत दर्शन) ही अन्य रोगों की जड़ है। अविद्या से अस्मिता (अहंभाव, देह को निज

स्वरूप जानना) का उदय होता है और जगत् में सत्य बुद्धि होती है, द्वैत दर्शन होता है। फिर राग और द्वेष उत्पन्न होते हैं। काम राग से सम्बन्धित है, क्रोध द्वेष से। परिणामत: अत्यन्तासक्ति और दृढ़ भव-बन्धन होता है।

शान्ति की प्राप्ति की प्रक्रिया में क्रम उलट जाता है। भगवत् शरणागति, भगवन्नाम जप, ध्यानादि से आन्तरिक सुख में निष्ठा बढ़ती जाती है, विषयाशक्ति क्षीण होती है। जहाँ-जहाँ से वैराग्य होता जाता है, आसक्ति छूटती जाती है, वहाँ-वहाँ माया का बन्धन कटता जाता है—

यतो-यतो विरज्येत, विमुच्येत ततस्तत: । (श्रीमद्भागवत)

जब सभी जगह् का विषयाकर्षण समाप्त हो जाता है तो विमुक्ति (पूर्ण मोक्ष) हो जाती है विषयों से विरक्ति ही मोक्ष है।

'कावा विमुक्ति विषये विरक्ति: ।' प्रश्नोत्तारी आदि शंकराचार्य कृत

आन्तरिक शान्ति सुख की रुचि बढ़ती जाती है, जो बिषयेन्द्रिय संयोग (गीता १८·३८) वाला उत्तेजना जनित तथाकथित सुख विघ्नकारी (बाधक) जान पड़ता है। उसमें सुख बुद्धि क्षीण होती जाती है।

जिन रघुबीर चरण अनुरागे। तिन सब भोग रोग सम त्यागे ।। (वि· प·)

शान्ति पद में नितान्त निमग्नता होने पर विषय सुख का आकर्षण बिल्कुल समाप्त हो जाता है। देह को अपना या निज स्वरूप बानना बन्द हो जाता है, जगत् में सत्य बुद्धि और रमणीयता की प्रतीति नहीं रहती। मन: कल्प हो जाता है। द्वैत दर्शन समाप्त हो जाता है—

जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे यथा सपन भ्रम जाई ।। बालकाण्ड

स्वाप्नं पुनर्न भजते प्रतिबुद्ध वस्तुः । (श्रीमद्भागवत स्क.११)

जागने के बाद व्यक्ति फिर स्वप्न की वस्तुओं का आश्रय नहीं लेता ।

देहाध्यास और दृश्य जगत् में सत्य बुद्धि. ही भूल है, जिससे विकारों की उत्पत्ति होती है । 'नष्टे मूले नैव शाखा न पत्रं ।' मूल के नष्ट होने पर शाखा व पत्ते नहीं रह जाते । इसी से क्रोध की जड़ का जल जाना बताया है । यद्यपि शांति शीतल है, परन्तु उसमें क्रोध रूप अग्नि को सभूल भस्म करने की शक्ति है, जैसा कि आगे चलकर कहा है– 'पावक तेज प्रमान ।' (छन्द सं०५६) सब कामनाएँ वासनाएं 'विलाय' जाती हैं अर्थात् लुप्त (नितान्त समाप्त) हो जाती हैं, केवल गुप्त या क्षीण नहीं होतीं ।

शांति पद की पहिचान उसके प्रभाव से की जा सकती है, सबसे अचूक पहिचान यही है कि शांति पदारूढ़ व्यक्ति के जीवन में काम क्रोधादि विकारों का नितान्त अभाव रहता है, इन विकारों के उत्तेजक कारणों के प्राप्त होने पर भी किंचित् भी विकार का उदय नहीं होता । यही सत्गुरु कृपा का परम प्रसाद है ।

तुलसी सुखद शान्ति को सागर ।
संतन गायो करन उजागर ॥
ता महँ तन मन रहै समोई ।
अहं अगिनि नहि दाहै कोई ॥५२॥

श्री गोस्वामी तुलसीदास जी महाराज कहते हैं कि शांति का सागर शीतल (ठंडा) और सुख देने वाला है, सन्तों ने इसलिए उसका वर्णन किया है कि वह उजागर (सुविदित, प्रसिद्ध, विज्ञप्त) हो जाय। जो कोई उस शांति सागर में तन मन से डूबा रहता है, वह अहंकार की अग्नि से बिल्कुल नहीं जलता।

शांति को शीतल सुखद सागर बताया, अहंकार को अग्नि कहा। इस छोटे से सूत्र में महान् सन्देश निहित हैं। शांति क्यों सुखद और शीतल है, अहंकार किस प्रकार दाहक अग्नि से समान है, यही मनन योग्य बिन्दु है।

कभी तो संसार को ही भवसागर कहते हैं, परन्तु उस सागर का स्वरूप महा भयानक वर्णित हुआ है।

पारं परं निजमिषोर्भवसागरस्य (जो भवसागर के पार जाना चाहता हैं)। चैतन्य महाप्रभु।

लेषामहं समुद्धर्ता मृत्यु संसार सागरात्।
भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशित चेतसाम्॥ गीता १२ ७।

अपार संसार समुद्र मध्ये, निमज्जतो में शरणं किमस्ति ।
गुरो कृपालो कृपया वदैतद्, विश्वेश पादाम्वुज दीर्घ नौका ।।
आदि शंकराचार्य ।
निमज्जतोऽनन्त भवार्णवान्तश्चिराय मे कूलमिवासि लब्धः ।
श्री यमुनाचार्य ।
यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधेस्तितीर्षावताम् ।
(बालकाण्ड)
भव सागर कहँ नाव शुद्ध सन्तन के चरन । (वि॰ प)
नर तनु भव वारिधि कहँ बेरो । उत्तरकाण्ड । आदि

भवसागर दारुण दुःखद है, मृत्यु सागर है, जबकि शान्ति पद अमृत सागर है । संसार की दारुणता को प्रदर्शित करने के लिए ही कभी-कभी उसे अटवी (जंगल) अथवा दावानल से भस्म होते हुए वन अथवा मृगतृष्णा का रूप बताया गया है । कभी-कभी वन में ऐसी तीव्र अग्नि लग जाती है और शीघ्र ही इस प्रकार फैल जाती है कि वन के जीव तक ठीक से भाग कर बच नहीं पाते । कई वन्य पशु जल कर मर जाते हैं । जहाँ संसार को इस प्रकार दावाग्नि रूप बताया है वहाँ यह कल्पना की गई है कि सन्तजन उसी प्रकार इस दावाग्नि से बच जाते हैं, तप्त नहीं होते, जैसे श्री गंगा जी की धार में खड़ा हुआ हाथी, दावाग्नि से नहीं तपता ।

भक्तराज प्रह्लाद जी ने कहा है कि––

नैवोद्विजे भव दुरत्यय वैतरण्यात् त्वद्वीर्य गायन महामृत मग्न चित्तः ।
श्रीमद्भागवत ७ ९·४३·

मैं दुस्तर भव वैतरणी से नहीं घबराता हूँ, मेरा चित्त आपकी लीला के गान के महान् अमृत के रस में निमग्न है ।

इसलिए यद्यपि भव को भी सागर रूप बताया गया है और यहाँ शांति को भी सागर ही कहा है, परन्तु दोनों का स्वभाव और प्रभाव

परस्पर विपरीत है। भवसागर दारुण है, शांति सागर शीतल व सुखद है। भवसागर मृत्यु-सागर है, शांति अमृत सागर है। भवसागर में डूबने का भय है, शांति सागर में मग्न रहने का सुख हैं, गौरव है।

शांति का सागर परम श्रेयष्कर, आनन्द स्वरूप, उद्धारक व तुरन्त प्रभाव दिखाने वाला होते हुए भी साधारण जन के लिए अदृष्ट, अननुभूत अज्ञात ठहरता है। जिसे उसका पता चल जाय, उसके होने पर जिसे विश्वास हो, वह अवश्य ही उसे पाना चाहेगा। फिर गुरुउपदिष्ट साधन से वह अग्रसर हो सकेगा, शांति सागर को पा सकेगा। और जगत् से उपराम होकर उसमें निमग्न रह सकेगा। नहीं तो शान्ति वर्णन भी तिलस्मी (जादुई) कहानी की तरह लगेगा। शांति पद प्राप्त सन्त कोई लौकिक चमत्कार न करें तो भी उनके जीवन और अनुभूति का चमत्कारिक प्रभाव पड़ता ही रहता है। सहज लोकोपकार होता है। यह पद भी एक पारस पत्थर (परसमणि) के समान हैं। इसे रखने वाला पुरुष अकिंचन प्रतीत होता हो तो भी परम सम्पन्न ही है।

जो सन्त शांति पद पर आसीन,हैं, उन्हें विषयासक्त बद्धजीवों पर करुणा आती है, क्योंकि जो सम्पन्न विषयी पुरुष अपनी कल्पना में सुखी भी है वह भी उनकी दृष्टि में अति दुःखी है, क्योंकि––

तहँ मगन मज्जसि पान करि, त्रयकाल जल नाहीं जहाँ। वि· प·।
जो लौकिक दृष्टि से भी विपन्न हैं, वे तो दुःखी हैं ही—

नहि दरिद्र सम दुख जग़ माहीं। (उत्तरकाण्ड)

सन्त सतोगुण में स्थित रहते हैं, प्रेम मैत्री कृपा उपेक्षा, यह चार वृत्तियां सतोगुणी में होती हैं। सन्त ईश्वर से प्रेम करते हैं, भगवान् के शरणागत भक्तों से मैत्री करते हैं, अज्ञानी जीवों पर कृपा करते हैं, द्वेष

रखने वालों की उपेक्षा करते हैं। श्री गोस्वामी जी ने दीनतापूर्वक भगवान् से कहा—

तुम सम हेतु रहित कृपालु आरतहित ईसहि त्यागी।
मैं दुख सोक विकल कृपालु केहि कारण दया न लागी ॥ वि॰ प॰

जीव माया बस भ्रमित, बद्ध तथा दुखी है, मुक्त पुरुष उसकी ओर करुणा की ही दृष्टि रखते हैं। जीव कितना हीं दर्प अभिमान रखता हो, सन्तों के लिए दयनीय ही है। यदि वह अपने दुःख को और दीनता को नहीं समझता तो वह सरसामी (त्रिदोप पीड़ित) रोगी या पागल की तरह है, या नशे में पड़े हुए व्यक्ति तरह अवास्तविक कल्पना विहार कर रहा है।

यह तो है ही कि दर्पाभिमान रखने वाले और अपने को योग्य, सम्पन्न समझने वाले (ईश्वरोऽहं अहं भोगी, सिद्धोऽहं बलवान् सुखी) (गीता १६·१४) लोग सन्तों को चरण शरण में जाते नहीं उनकी कृपा का लाभ लेकर शान्ति पद तक पहुँच नही पाते, प्राय: दूर से ही आलोचक और अश्रद्धालु बने रहते हैं, इसलिए चिन्तित अशांत और दुखी रहते हैं। सन्तों की पहचानने की भी उनकी शक्ति कम ही होती है। तथापि विपन्न पुरुष कभी-कभी विवश होकर ही सही, सन्त-शरण में जाता है, उनकी महिमा को धीरे-धीरे समझता है और प्रेरणा प्राप्त करके शांति पथगामी होता है। इनसे भी कहीं कम उदाहरण सम्पन्न (रईस) व्यक्तियों के मिलते हैं, जो (विशेष कारणों से) सचमुच सन्त चरण शरण प्रपन्न हुए और शांति में प्रतिष्ठित हो सके।

जब शांति-सागर से साधारण जीव परिचित ही नहीं, तो वह कैसे उसका साधक बने। अमृत से परिचय हो तो विष या मद की रुचि क्षीण हो। दशा की अनुभूति बाद की बात है, पहले उसकी स्थिति में

विश्वास हो, अपने लिए उसकी प्राप्ति सम्भव लगे, उसका माहात्म्य विदित हो, उसके साधन में निष्ठा हो। जब शांति की दशा दूसरे में हो, तो साधारण जीव उसे देख नहीं सकता, जान नहीं पाता तथा वह दशा अनिर्वचनीय भी है, तो उसका प्रारम्भिक परिचय भी कैसे हो ? इस विषय में यद्यपि वह दशा गुप्त और गोपनीय है, सन्त अभिमान नहीं रखते न दर्प पूर्वक बोलते हैं और लोक मान्यता से बचे रहना चाहते हैं, अत: ख्याति से दूर भी रहना चाहते हैं, तथापि उन्होंने शांति के सागर का प्रामाणिक वर्णन किया है, जिससे श्रद्धालु जनों को शांति की प्राप्ति हेतु समुचित साधना करने की प्रेरणा मिलती है। सन्त चाहते हैं कि यथा सम्भव उनका अपना मान सम्मान न बढ़े, परन्तु हो सके तो लोगों में शांति के सागर की निमग्नता की ओर रुचि बढ़े, नहीं तो—

तृषित निरखि रविकर भव भारी। फिरहिं मृग जिमि जीव दुखारी।।
(बालकाण्ड)

अत: अपने को विज्ञप्त करना सन्तों को रुचिकर नहीं है, परन्तु शांति सागर को उजागर करने की रुचि उन्हें है। उसी हेतु उन्होंने उसका गायन किया है कि उस दिव्य दशा की ख्याति हो। शांति निरूपण जब सन्तों द्वारा होता है तो प्रयोजन पथ प्रदर्शन व प्रेरणा-प्रदान ही रहता है, न कि अहं भाव की तुष्टि या मान की प्राप्ति। आगे सयझाया है कि सन्त कोटि उपाय करने पर भी अहंकार की अग्नि में नहीं जलते (छन्द सं० ५४))। पाण्डित्य प्रदर्शन सन्तों का प्रयोजन कभी नहीं होता. मान-अर्जन का भी चाव नहीं होता 'सकल काम वासना विलानी' (छन्द सं० ५१) इसलिये कोई और लौकिक प्रयोजन भी नहीं होता, विशुद्ध कारुण्य ही होता है। उसी कारुण्य दृष्टिसे सन्तों ने शांति सागर उजागर (प्रसिद्ध) करने के लिए उसका वर्णन किया है।

श्री गोस्वामी जी कहते हैं कि यदि कोई मनुष्य तन मन को इस शांति सागर में डुबोए रहे, तो वह अहंकार की अग्नि में बिल्कुल नहीं जलेगा। अहंकार वालों को ऐसा नहीं लगता कि वे आग में जले जा रहे हैं। यह वैसा ही है जैसे सरसाम के रोगी को यह नहीं लगता कि उसे ज्वर है, नशे में मस्त व्यक्ति को यह नही लगता वह कमजोर है, पागल यदि अपने को राजा समझता है तो यह नहीं समझता कि वह वस्तुत: असहाय अवस्था में बन्धन में या पागल खाने में है। अहंकारी जिस ताप न तप्त है उसे नहीं समझता परन्तु तटस्थ विशेषज्ञ सन्त उसके ताप को समझता है। अध्ययन, विचार, मनन, सत्संग से साधकों को अहंकार का अग्निरूप और उसकी दाहकता उत्तरोत्तर अधिक अधिक समझ में आती जाती है।

ईर्ष्या और चिन्ता को सभी दाहक मानते हैं। क्रोध भी अग्निरूप है। इन सबकी उत्तपत्ति का आधार अहंकार ही है, वह दाहकों का मूल है। मुख्य दार्शनिक तत्त्व यह है कि विषय सुखों में उत्तेजना है, स्पन्दन है. उद्वेग है, इसी से परिणामत: उष्णता है, दाहकता है, तीक्ष्णता है, शान्ति पद निरुद्वेग है, शान्त व्यक्ति न किसी को उद्विग्न करता है, न स्वय उद्विग्न होता है (गीता १२. १५)। अनुद्वेग, अनुत्तेजना, निस्पन्द, मात्रा-स्पर्श रहित, गुणातीत दशा में ही शान्ति है, उसमें ताप नहीं शीतलता है। विषयासक्ति के क्षीण होने पर और विवेक जागृत होने पर स्पष्ट अनुभूति होती है कि — अशान्तस्य कुत: सुख (गीता २. ६६.) 'निर्ममो निरहकार: स शान्तिमधिगच्छति ।। (गीता २. ७१.)

देहाध्यास ही अहं भाव है ओर वही त्रय तापों का मूल है, कारण है। अत: अहंकार की अग्निरूपता मान्य है। जो तन मन से शान्ति सागर में डूबा रहता है वह अहंकार की अग्नि से बचा रहता हैं, जलता नहीं।

उपर्युक्त विचारों, तर्कों, प्रमाणों आदि के अतिरिक्त यह अनुभव सिद्ध है कि शान्त पुरुष के अन्त:करण में शीतलता रहती, है, शेष सभी के अन्त:करण तप्त रहते हैं। भव ताप से बचने का स्थान शान्ति पद ही है। शान्ति पद ही राम प्रताप है जिससे त्रय ताप से तप्त मन रूपी तवा शीतल होता है (पूर्व छन्द सं० ६)। जो लोग शान्ति पद का किंचित मात्र आस्वादन कर सके हैं, पुन: पुरातन दृढ़ संस्कारों व पूर्वाभ्यास वश पुन: अस्मिता (अहं भाव) में स्थित हो जाते हैं, वे पुन: भव दु:ख व ताप का अनुभव करते हैं और पुन: अस्मिता रहित शान्ति पद मे स्थित होने की इच्छा करते है, परन्तु जो तन मन से शान्ति सागर में निमग्न रहते हैं, उनमें अहंकार का उत्थान नहीं होता। वे अहं अग्नि से नहीं जलते। उन्हें देह की विस्मृति होने लगती है –

> देहं च तं न चरमः स्थितमुत्थितं वा, सिद्धो विपश्यति यतोऽध्यगमत् स्वरूपम्।
>
> दैवादुपेतमथ दैववशादपेतं, वासो यथा परिकरो मदिरा मदान्धः।
>
> (श्री मद्भागवत ३, २८. ३७)

तन मन से डूबने का अर्थ पूरी तरह निमग्न होना है। मन तो समाधिमग्न होता ही है, शरीर की भी चंचलता समाप्त होती है और भौतिक शरीर पर भी शान्ति सागर स्नान का अत्यधिक शुभ प्रभाव पड़ता है, अनेक रोग दोषादि का शमन होता रहता है। ऐसे सन्तों के जीवन में यदि चमत्कार दिखाई दें तो भी वे भगवदीय शक्ति की सहज लीलावत् होते हैं। जान बूझकर किये नहीं जाते, न प्रदर्शित या विज्ञप्त किए जाते हैं। उन चमत्कारों का सम्बन्धित सन्तों को यदि आभास भी हो तो अभिमान् नहीं होता। चन्द्रमा की सी शीतलता उनके हृदय में व्याप्त रहती है। रामचन्द्र चन्द्र तू चकोर मोंहि कीजै। (वि० ५०)

———————

अहंकार की अगिनि मैं, दहत सकल संसार।
तुलसी बाचैं सन्तजन, केवल शान्ति अधार ॥५३॥

सारा संसार अहंकार की अग्नि में जल रहा है, तुलसीदास जी कहते हैं कि सन्त जन इस अग्नि से केवल शान्ति का आश्रय लेकर बच जाते हैं।

साख्य कारिका के लेखक ईश्वर कृष्ण नास्तिक थे। उन्होंने सांख्य कारिका के प्रारम्भ में ही प्रश्न उठाया कि ससार में जितने भी दु:ख हैं, उनके लौकिक उपाय हैं, उनसे वे दु:ख दूर होते हैं। तो फिर आध्यात्म (तत्त्वज्ञान) की क्या आवश्यकता है? इन प्रश्न का उत्तर देते हुए ईश्वर कृष्ण ने कहा कि विशिष्ट दु:खों के लौकिक उपाय तो हैं, परन्तु निवृत्त दु:खों की पुन: प्राप्ति की आशंका बनी रहती है तथा नए नए दु:ख भी प्राप्त होते रहते हैं। अत: इन सब लौकिक उपायों से दु:ख का अत्यन्ताभाव नहीं होता, दु:ख का प्रवाह वन्द नहीं होता। उसके लिए अध्यात्म (तत्त्वज्ञान) की आवश्यकता है। यह सर्वत्र विदित है कि साख्य दर्शन में प्रकृति को ही कर्म शक्ति युक्त माना गया है, पुरुष को अकर्ता माना है। पुरुष प्रकृति के साथ तादात्म्य (देहाध्यास) स्थापित करके प्रकृति के किए को भोगता हुआ वद्ध बना रहता है।

बँध्यो कीर मर्कट की नाईं। (उत्तर काण्ड)

सूरदास नलिनी को सुबटा कहु कौने जकर्यो। (सूरसागर) यह विपरीत ख्याति की अविद्या है, जो अस्मिता की जननी है। अहंभाव के

आधार पर ही तापत्रय का उदय है। संसार अविवेकी की दृष्टि में रमणीक है, विवेकी की दृष्टि में अति भयावह है।

श्री अश्वघोष नामक प्रतिभाशाली बौद्ध कवि ने बुद्ध चरित्र काव्य ग्रन्थ लिखा है। इस ग्रन्थ में भगवान बुद्ध का कथन है —

नाशीविषेभ्यो हि तथा बिभेमि, न चाशनिभ्यो गगन च्युतेभ्यः।
न पावकेभ्यो ऽनिल सहितेभ्यो, यथा भय मे विषेभ्य एव ।।

'मैं सर्पों से इतना नहीं डरता, न आकाश से गिरती हुई बिजलियों से, न हवा से जोर पकड़ती हुई अग्नि से इतना डरता हूँ जितना भय मुझे विषयों से लगता है। अष्टावक्र गीता भी विषयों को विषवत् बतातीहै। (१ २)

आसुरी सम्पत्ति वाले लोग दर्पाभिमान को अपनाए रहते हैं, दाहक नहीं पाते। साधारण जन भी यह अनुभव नहीं करते कि अभिमानी जन प्रदाह (जलन) से पीड़ित हैं। यह ऐसा ही है जैसे जीर्ण ज्वर का ताप अनुभव में नहीं आता। इस विषय में भोगी ओर योगी के अनुभव एक से नहीं हैं। जिस योगी को शान्ति पद का अनुभव हैं वह उसे शीतल पाता हैं, उसकी तुलना में अहंकार की दशा दाहक है। मायावश जीव की दृष्टि में अहभाव, मान, अभिमान की दशा उत्तम है, दीनता की दशा दु:खद हैं, परन्तु सन्त दृष्टि इसके विपरीत है।

शील गहनि सबकी सहनि, कहनि हीय मुख राम।
तुलसी रहिये एहि रहनि, सन्त जनन को काम।।
(दोहावली)

इहाँ को सयानप अयानप सहस सम,
सूधे सति भाव कहे मिटति मलीनता। (वि० प०)

भलो बुरो सबको सुनि लीजे, गरि गुजरान गरीबी में। (कबीर)

अभिमानी व्यक्ति यथेष्ट मान न मिलने से जलता है, उसकी अपेक्षा मन्द पुरुष अधिक सम्मानित है, इसलिए जलता है, वास्तविक या अपने द्वारा कल्पित अपमान की प्राप्ति से जलता है, उचित उपाधि, पदोन्नति नहीं मिलती तो जलता है। जीवन का जो भौतिक स्तर वह अभीष्ट और आवश्यक समझता है उस स्तर पर प्रतिष्ठित और स्थिर नहीं हो पाता तो भी जलता है। विद्या, जप, तप, भक्ति, ज्ञान, वैराग्य आदि गुणों में वह अपने को जैसा श्रेष्ठ मानता है वैसा समाज क्यों नहीं मानता इसलिए जलता है। यह सब तो अभिमान अर्थात घमण्ड का प्रभाव है, परन्तु अस्मिता (मैं हूँ की भावना) भी दाहक है।

अहं के साथ इदं की भावना का उदय होता हैं, द्वैत कीं सिद्धि होती है। मैं हूँ इसलिए शेष विराट् संसार बाहर पड़ा है। अहं दृश्य संसार को बश में नहीं कर पाता इसलिए दुःखी रहता है, संसार (दृश्य) असीमवत् है, अहं क्षुद्र है। विभिन्न अहं भी परस्पर टकराकर दुःखी होते हैं। अहं ज्ञानार्जन के पट बन्द करता है, विनयशीलता ज्ञान की आकर्षक है।

इस पर कहा जा सकता है कि अभिमान तो सबको होता है, अस्मिता के बिना जीवन कैसे चलेगा ? शरीर यात्रा कैसे चलेगी ? देहाध्यास हो जाने पर ऐसा ही प्रतीत होता है। जहाँ शान्ति के सागर में अस्मिता नमक की तरह घुल जाती है, ऐसे प्रश्न व सशय समाप्त हो जाते हैं। फिर अभिमान की दाहकता प्रत्यक्ष होती है, केवल अनुमान या शास्त्र प्रमाण पर आधारित नहीं रहवी।

श्रुति गुरु साधु स्मृति सम्मत यह दृश्य सदा दुःखकारी।
तेहि बिनु तजे भजे बिनु रघुपति विपति सकै को टारी।।

(वि० प०)

बिरले बिरले शान्ति निष्ठ सन्तों की छोड़कर सभी अहंकार की अग्नि में जल रहे हैं, जाने या बेजाने तप्त हो रहे हैं। शान्ति सागर निमग्न सन्तों की दृष्टि में थोड़े से सन्तों को छोड़कर सारा संसार ही इस अग्नि में जल रहा है। अन्य लोगों का कोई अपवाद नहीं है। या तो अहंभाव की अग्नि में जलना या शान्ति सागर निमग्न होंना, तीसरा कोई विकल्प नहीं हैं— नान्या: पन्था विद्यतेऽयनाय (उपनिषद्) इसके अतिरिक्त कोई रास्ता नहीं है।

श्री गोस्वामी जी महाराज घोषित करते है कि सन्तजन अहंकार की अग्नि से बचे हुए हैं वह केवल शान्ति के आधार पर, कोई और तरकीब नहीं है। 'केवल' का तात्पर्य यह है कि न कोई दूसरा उपाय है न कोई दूसरा सहायक या अनुपूरक साधन है। सन्त जन किसी और उपाय से नहीं केवल शान्ति के आधार पर अहंकार की अग्नि से बचे रहते हैं, तथा शान्ति पद स्वयमेव अहं अग्नि से बचाने में सक्षम है, केवल उसी से बचत हो जाती है, उसके साथ किसी अन्य साधन की आवश्यकता नहीं होती।

इस भाव के पीछे एक दार्शनिक रहस्य है। अहं के उदय के साथ ही इदं (यह दृश्य संसार) भासता है। अहं (मैं) जितना सत्य भासता है, उतना ही सत्य इदं भी भासता है। इस आभास से द्वैत का अनुभव होता है। फिर व्यावहारिक जगत् में विषयों का संस्पर्श होता है वह ज्ञानेन्द्रियों के अनुकूल प्रतिकूल पड़ता है। इससे सुख दुःख की अनुभूति होती है। तब सुखद विषय में राग, दुखद विषय में द्वेष होता है। तब जीव सुख की आशा में दुःख उठाता रहता है और त्रय ताप को प्राप्त होता है। निज सुख (शान्ति, आत्मानन्द) के बिना मन शान्त नहीं होता। — निज सुख बिनु मन होइ कि थीरा। (उत्तर काण्ड)

जब लगि नहिं निज हृदि प्रकाश अरु विषय आस मन माहीं।
तुलसीदास जग योनि भ्रमत, तब लगि सपनेहु सुख नाहीं।।
(वि० प०)

इसलिए अहं के उदय और विकाश के साथ महर्षि पतञ्जलि कथित पंच क्लेशों (अविद्या अस्मिता राग द्वेषाभिनिवेशा: पञ्चक्लेशा:। योगसूत्र २ ३) की प्राप्ति अनिवार्य हो ही जाती है।

साधारण व्यक्ति सोचता है कि ईश्वर परम शक्तिशाली है तो उसका अभिमान भी बहुत होना चाहिए, परन्तु अभिमान जीव का लक्षण है, ईश्वर का नहीं। 'जींव धर्म अहमिति अभिमाना' उत्तर काण्ड। अभिमान द्वैत दर्शन के साथ के साथ होता है, अद्वैत दर्मन के साथ नहीं। अभिमान के केन्द्र विभिन्न बद्ध जीवों के अन्त:करण हैं, यदि सर्व शक्तिमत्ता का अभिमान विभिन्न अन्त:करणों में हो जाय तो वे आपसी संघर्ष में सीमित शक्ति वाले सिद्ध होंगे। ईश्वर की चेतना में अभिमान अप्रासंगिक है, क्योंकि अद्वैत है, दूसरे सभी प्रतीत होने वाले उसके स्वरुप से भिन्न नहीं हैं न उनकी शक्ति ही वस्तुत: ईश्वर की शक्ति से स्वतन्त्र या भिन्न है। इससे विपरीत आभास मायाकृत है।

छाया प्रत्याह्वया भासा, ह्यसन्तोऽप्यर्थ कारिण:।
(श्रीमद्भागवत)

छाया, प्रतिध्वनि (मिथ्या) आभास, असत्य (अविद्यमान्) होने पर भी प्रभाव रखते हैं।

जग नभ वाटिका रही है फल फूलि रे।
धुआं के से धौर हर देखि तू न भूलि रे।। वि० प०।।
कायस्थोऽपि न कायस्थ:, विद्वान स्वप्नवदोत्थित:।
अकायस्थोऽपि कायस्थ:, कुमति: स्वप्न दृग्यथा।।
[श्रीमद्भागवत]

ज्ञानी शरीरधारी होते हुए भी शरीर में स्थित नहीं है, जैसे जागने के बाद यह कोई नहीं मानता कि वह स्वप्न देखते समय स्वप्न वाले शरीर में स्थित था परन्तु अज्ञानी आत्म रूप से अशरीरी होते हुए भी देहधारी है जैसे स्वप्न दृष्टा, स्वप्न वाले शरीर को ही निज स्वरूप अनुभव करता है।

संसृति मूल शूल प्रद नाना। सकल शोक दायक अभिमाना।।

(उत्तर काण्ड)

अत: अनन्य शरणागत का भक्ति का अभिमान श्री भगवान् दूर कर देते हैं। न केवल अतिशय अभिमान (घमण्ड) दूर कर देते हैं, बल्कि मूल अभिमान (अहंभाव) भी दूर कर देते हैं। जब श्री नारद जी को अभिमान हुआ भगवान् ने सोचा —

उर अंकुरेउ गर्व तरु भारी। वेगि सो मैं डारिहौं उखारी।।

(बालकाण्ड)

इसी प्रकार गरुड़ जी को भी अभिमान हुआ तो वह भी दूर किया गया।

होइहि कीन कबहुँ अभिमाना। सो खोवै चह कृपा निधाना।।

(बालकाण्ड)

पहले तो गरुड़ जी को यह सन्देह हुआ कि सर्व शक्तिमान् भगवान् नागपाश में कैसे बँध गए, और जब में उन नागों को खा गया तब मुक्त हुए। परन्तु अभिमान के दूर होने पर तो उन्हें यह जान पड़ा कि भगवान् नागों के बस में नहीं हुए थे, वे (गरुड़) स्वयं संशय रूपी सर्प द्वारा डसे गए थे श्रीराम जी ने काकभशुण्डि जी के रूप में गरुड़ का काम किया और संशय रूप सर्प के विष को निवृत्त करके नया आध्यात्मिक जीवन दिया।

संशय सर्प ग्रसेउ मोहि ताता। दुःखद लहरि कुतर्क बहु व्राता ।।
तव स्वरूप गरुड़ि रघुनायक। मोहि जियाएउ जन सुखदायक ।।

(उत्तर काण्ड)

इस प्रकार गरुड़पने का भी भाव गलित हो गया।

इसी प्रकार श्री भगवान् अपने सभी शरणागत भक्तो का अभिमान दूर करते हैं।

जिमि सिसु तन व्रण होइ ग़ोसाईं। मातु चिराव कठिन कीनाईं ।।

जदपि प्रथम दुःख पावै, रोवै बाल अधीर।
व्याधि नास हित जननी, गनै न सो सिसु पीर।
तिमि रघुपति निज दास कर, हरहिं मान हित लागि।
तुलसीदास ऐसे प्रभुहि, कस न भजहु भ्रम त्यागि ।।

(उत्तर काण्ड)

शास्त्र ने अभिमान को फोड़े की तरह एक महान् व्याधि बताया है, जिसके निवृत्त होने से ही चैन (शान्ति) मिल सकता है। इस हेतु अपमान रूप शल्य चिकित्सा भी आवश्यक और हितकारी सिद्ध हो सकती है।

अभिमान निवृत्ति के साथ संसृति [भव बन्धन] के मूल की निवृत्ति हो जाती है, और चित्त चिर-विश्रान्त (सदा के लिए शान्त) हो जाता है। जैसे श्री गोस्वामी जी "परम विश्राम" को प्राप्त हुए।

ऐसी शान्ति को अपने बल और अपने साधन से प्राप्त कर लेने का भी अभिमान सन्त को नहीं होता, नहीं हो सकता। इसका रहस्य इस प्रकार है।

ऊपर कह आए हैं–जहाँ शान्ति सतगुरु की दई (छन्द संख्या ५१)

अत: शान्ति को अपने बल बूते पर प्राप्त नहीं माना जा सकता ।

यदि यह कल्पना कोई करे कि जिसे शान्ति प्राप्त हुई है, उसने साधन किया है तब प्राप्त हुई है, अत: उसके द्वारा अर्जित (कमाई हुई) है तो यह दोष प्राप्त होगा कि कि साधना तो तन मन बुद्धि द्वारा की गई, यदि वह उसकी साधना मानी जाय तो तन मन बुद्धि को उसका स्वरूप मानना पड़ेगा । इससे देहाध्यास अर्थात अभिमान सिद्ध होगा, जिसके छूटे बिना शान्ति पद मिलता नहीं । अत: शान्ति पद पर आरुढ़ होने वाले को साधनादि का भी अभिमान नहीं हो सकता ।

राम कीन चाहै सो होई । करै अन्यथा अस नहि कोई ।।
उमा दारु योषित की नाईं । सबहि नचावत राम गोसाईं ।।
जेहि जब रघुपति करहिं जस सो तस तेहि क्षण होइ ।।
(बालकाण्ड)

तथा —

सो जानइ जेहि देहु जनाई । जानत तुमहिं तुमहिं होइ जाई ।।
(अरण्य काण्ड)

जिस प्रकार सोता हुआ व्यक्ति अपने जागने का कुछ साधन नहीं कर सकता उसी प्रकार बद्ध जीव भी मोह-निशा में सो रहा है । वह स्वयं अपने पुरुषार्थ से जाग नहीं सकता । स्वप्न जगत् के पुरुषार्थ का फल स्वप्न जगत् में ही प्राप्तव्य हैं ।

जानकीश की कृपा जगावती सुजान जीव,
जागु त्यागु मूढ़ताऽनुरागु श्री हरे । वि० प० ।

इस प्रकार अभिमान के सर्वथा गलित होने पर ही शान्ति पद प्राप्त होता है और उसे 'अति शीतल, अति ही अमल' (छन्द ४८) कहा है । शान्ति पद में अहंकार की अग्नि का स्पर्श भी नहीं होता, उससे पूरी-पूरी

बचत रहती है। सन्तों को अहंकार की अग्नि से बचने के लिए अन्य कोई सावधानीं भी नहीं बरतनी पड़ती। केवल शान्ति पद में प्रतिष्ठित रहना पर्याप्त है।

किसी राजा को दुर्ग (किले) में रहने पर भी शत्रु के प्रहार से बचने के लिए शस्त्रादि की व्यवस्था करनी पड़तो है, परन्तु यह शान्ति रूप दुर्ग सब ओर से पूर्णत: सुरक्षित व अभेद्य हैं – तहँ उतपात न भेदँ आई। (छन्द सं० ४६)। इतना निर्विघ्न है यह शान्ति पद। गहराई से देखा जाय तो –

सुखी मींन जे नीर अगाधा। जिमि हरि शरण न एकउ बाधा॥
(किष्कन्धा काण्ड)

का यही तात्पर्य है।

महा शान्ति जल परसि कँ, सांत भए जन जोइ ।
अहं अगिनि ते नहिं दहैं, कोटि करै जो कोइ ॥५४॥

जो (सन्त) जन महा-शान्ति रूप जल का स्पर्श करके शान्त हो गए हैं, वे अहंकार की अग्नि में नहीं जल सकते, चाहे कोई इसके लिए करोड़ों उपाय करे ।

पिछले दोहे में बता चुके हैं कि केवल शान्ति के आधार पर सन्त जन अहंकार कीं अग्नि से बचे रहते हैं, जलते नहीं । अब इसके आगे बढ़कर शान्ति की महिमा बताते हैं । सन्त जन साधारण परिस्थितियों में शान्ति पद में बने रहते हैं, अहंकार का उदय नहीं होता, परन्तु यदि योजना बद्ध प्रयास किया जाय कि उनमें अहंभाव पैदा हो और वे अहं अग्नि में फिर से जलने लगें, तो उसका क्या परिणाम होगा ? क्या किसी साधन से उनमें पुन: अहं अग्नि जलाई जा सकती है । लोक व्यवहार में अग्नि जलाईं भी जाती हैं । बुझाई भी जाती है, क्या अहं अग्नि बुझाने के बाद किसी प्रकार पुन: जलाई जा सकती है ? देहात मे अक्सर लोग दूसरे घर से आग लाकर अपने यहाँ आग जलाते हैं । क्या किसी अन्य के अहभाव की प्रतिक्रिया में शान्त सन्त हृदय में अहं अग्नि पुन: प्रज्वलित हो सकती है ? यह प्रश्न अत्यन्त सूक्ष्म और जटिल है ।

शान्ति की श्रेणियां हैं, सोपान हैं । इसी से विभिन्न वचनों में अलग अलग विशेषण लगाए गए हैं । कहीं शान्ति, कहीं अमल अदाग

शान्ति पद, कही शीतल सुखद शान्ति को सागर- कहीं अति शीतल अति अति ही सुखद, कहकर निरूपण किया गया है। यहां महा शान्ति का उल्लेख है।

महाशान्ति शान्ति से भिन्न नहीं है, शान्ति पद में कैसी, कितनी दृढ़ स्थिति है, इसको लेकर विशेषण प्रयुक्त हुए हैं। साधारण जीव के लिए व्यावहारिक जगत् निश्चित रूप से सत्य है, इससे भिन्न, प्रथक, बेमेल, जो कुछ है असत्य है, संदिग्ध, भ्रमात्मक, स्वप्नवत्, मृगतृष्णावत् या सिनेमावत् आभास मात्र हैं। जगत् की सत्यता में दृढ़ आस्था रखने वाले ध्यान, समाधि आदि दशाओं के अनुभवों को भ्रमात्मक या स्वप्नवत् मिथ्याभास ही समझते हैं। यदि किसी की कुछ काल तक समाधि रही, फिर उसकी चेतना जाग्रत अवस्था में लौट आई तो ऐसे लोग यही समझते हैं कि उसका काल्पनिक जगत से वास्तविक जगत में पुनरागमन हुआ, जैसा स्वप्नावस्था से जाग्रत अवस्था में पुनरागमन का अनुभव होता हैं। ऐसी धारणा रखने वाले शान्ति पद के अयोग्य हैं। वे शान्ति पद नहीं पा सकते। वे अहं अग्नि में दह्यमान (जलते) रहते हैं। वे देहाध्यास से युक्त हैं और द्वंद्वात्मक जगत् में सत्य वुद्धि रखते हैं। देहाभिमान गलित होने पर शान्ति पद प्राप्त होता है।

जब तक साधक को ध्यान व समाधि की साधना, मानसिक व्यायाम या मनोविनोद की तरह प्रतीत होगी, तब तक शान्ति पद दूर रहेगा। योगी की दृष्टि में समाधि में ही सत्य का संस्पर्श होता है।

सुखेन ब्रह्म संस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते ।। गीता ६. २८ ।।

जिस तरह भोगी के लिए जगत् सत्य हैं, यह स्वतः प्रमाणित है, योगी के लिए ब्रह्म की सत्यता अनुभूत व स्वतः प्रमाणित है। इसके लिए उसे तर्क या प्रमाण की अपेक्षा नहीं है। समाधिगत अनुभव की

सत्यता की धारणा बनने पर व्यावहारिक जगत् पर आस्था घटने लगती है। भोगी और योगी की दृष्टि में दिन रात का अन्तर ठहरता है (गीता २. ६९.)। योगी की दृष्टि में जाग्रत अवस्था मोह निशा में सोये हुए व्यक्ति का स्वप्न दर्शन है।

मोह निशा सब सोवनि हारा। देखहिं सपन अनेक प्रकारा।।
(अयोध्या काण्ड)

जिस स्वप्न को हम असत्य मानते हैं जागने पर जिसके सभी अनुभव असिद्ध होते हैं, उसी स्वप्न की दशा में स्वप्न के शरीर से स्वप्न जगत् में आवश्यक और उपयुक्त व्यवहार करते ही हैं। इसलिए सन्तों ने जगत् की व्यावहारिक सत्ता मान्य की है, पारमार्थिक सत्ता मान्य नहीं ,की।

सपने होइ भिखारि नृप, रंक नाकपति होइ।
जाणे हानि न लाभ कछु, तिमि प्रपंचु जिय जोइ।।
(अयोध्या काण्ड)

प्रबोध (ज्ञान) होने पर जगत् के हानि लाभ पूर्णत: महत्त्वहीन हो जाते हैं। शान्ति पद प्रबोध कीं स्थिति है, उसमें व्यावहारिक जगत् का महत्त्व समाप्त हो जाता है, देहाध्यास (अहंभाव) नहीं रहता।

अनेक जन्मों के संस्कारों के प्रभाव से जगत् में सहसा अनास्था नहीं होती, क्रमागत रूप से ही होती है। अवस्थाओं का परिवर्तन होता है, धारणा भी एक सी नहीं रहती। परन्तु समाधि सिद्ध (दृढ़) होने पर जगत् में अनास्था भी दृढ़ होती है, उसकी पारमार्थिक (अन्तिम रूप से तत्वत: या सिद्धान्तत:) सत्यता प्रतीत नहीं होती। तब जैसे जागने पर स्वप्न वाले देह का अध्यास नहीं होता वैसे ही प्रबोध होने पर जाग्रत अवस्था वाले देह में अध्यास नहीं रहता, अर्थात अहंभाव नष्ट होता है। अत: प्रबोध होने पर देहाभिमान, अहं अग्नि, की सम्भावना नहीं है।

पहले ज्ञान की कच्ची अवस्था होती है जिसके लिए कहा है–

ि्वनसइ उपजइ जान जिमि, पाइ कुसंग सुसंग । किष्किन्धा काण्ड ।

इस भूमिका में ज्ञान का उदय और अस्त होता रहता है। जैसे बार बार स्वप्नावस्था आती है और लुप्त व असिद्ध होती हैं। यह ज्ञान की अन्तिम अवस्था नहीं है। प्रतीतित: यह समाधि अवस्था चौथी अवस्था जाग्रत, स्वप्न व सुषुप्ति अवस्था की भाँति ही परिवर्तनीय है, तस्मात् इस पर भी उन अवस्थाओं की असत्यता के तर्क लागू होंने लगते हैं। परिपक्वावस्था में तुरीय [चौथी] अवस्था शेष तीन की तरह नहीं है। यह उनमें व्याप्त है (तुरीयं त्रिषु संततम्)। ज्ञानी तीनों अवस्थाओं का साक्षी मात्र एकरस बना रहता है न कि ज्ञान की चौथी अवस्था शेष तीन को हटाकर या हटने पर आती है। जो कुछ दिखाई पड़ता है वह सब दृश्य हैं (जैसे सिनेमा के रजत पट पर प्रदर्शित दृश्य), दृष्टा उस दृश्य में कहीं अपना स्वरूप नहीं मानता, वह दृश्य में सक्रिय नहीं, केवल साक्षी है। यह दशा शान्ति की दशा है, जो एकरस अखण्ड चलती है, यह जाने आने वाली नहीं है, यह सहज समाधि है, लगाई नहीं जाती, न छूटती है, न छोड़ी जाती है, न छुड़ाई जा सकती है। इसलिए शान्ति सागर का, आनन्द सिन्धु निमग्नता का, तथा यहाँ महाशान्ति का उल्लेख है, और घोषणा है कि उत्पात उसका भेदन नहीं कर सकते।

जो व्यक्ति जाग चुका है, क्या विगत स्वप्न वाली देह में उसका देहाध्यास [अहंभाव] कराया जा सकताहै ? नहीं। इसकी कोई तरकीब नहीं है, करोड़ों उपाय कीजिये वह जाग्रत पुरुष स्वप्न वाली देह में अह भाव नहीं रख सकता।

स्वप्नं पुनर्नं भजते, प्रतिबुद्ध वस्तु: । श्री मद्भागवत ।

जागा हुआ व्यक्ति स्वप्न की वस्तु का यथार्थवत् सेवन नहीं करता। इसी प्रकार दृढ़ ज्ञान होने पर [यथा – चितइ बितइ दीन्हेउ दृढ़ ज्ञाना ।। लंका काण्ड, महाशान्ति प्राप्त होती है। इस महाशान्ति के पद पर आते ही, महाशान्ति के [परम शीतल] जल का स्पर्श होते ही अहं अग्नि बुझ जाती है, और फिर अन्त:करण में ऐसी शीतलता छाई रहती है कि उसके कारण अहं अग्नि का पुन: जल उठना सम्भव नहीं रहता।

निम्नतर सोपान वालों को यह जान पड़ता है कि जैसे जाग्रत अवस्था वाले पुकार कर, शोर मचा कर, अन्यत: विघ्न बाधा, उत्पात उपस्थित करके सोते हुए व्यक्ति को जगा सकते हैं, वैसे ही यह भी सम्भव होंना चाहिये कि योग निद्रा भी भंग कर दी जाय, शान्त व्यक्ति को पुन: अशान्त कर दिया जाय, निवृत्त अहं भाव को फिर से उदित व सक्रिय कर दिया जाय। यह कल्पना ठीक नहीं है। एक तो जाग्रत अवस्था में आस्था रखने वाले मोह निशा में सों रहे हैं, परम शान्त योगी ही जाग रहे हैं। एहि जग जामिनि जागहिं जोगी। अयोध्या कान्ड। सोते हुए लोग जागते हुए लोगों का कुछ नहीं विगाड़ सकते। जागा हुआ व्यक्ति सोते हुए को जगा सकता है, उसी तरह ज्ञानी शान्तिनिष्ठ सन्त दूसरे लोगों को शान्ति दे सकते हैं। अत: कह चुके हैं — जहाँ शान्ति सतगुरु की दई। [छन्द सं० ५१] स्वप्न देखता हुआ और बकता हुआ पुरुष जागे हुए व्यक्ति के लिए विघ्नकारी नहीं हो सकता।

जो व्यक्ति महाशान्ति में स्थित सन्त को सोया हुआ और अपने को जागा हुआ मानता है, उसकी मान्यता त्रुटिपूर्ण है। सचमुच मोह निशा में हम लोग सो रहे हैं और स्वप्न देख रहे हैं। हम लोगों के लिए श्री गोस्वामी जी का उपदेश है कि ––

दोष दुख सपने के जागे ही पै जाहिं रे। वि० प०।

इसलिए महाशान्ति का स्पर्श होते ही, अहंभाव की निवृत्ति है, फिर अखण्ड असीम शीतलता और परमानन्दता है, वहाँ कोटि उपाय करने पर भी, अहं अग्नि का पुन: प्रज्जवलन संभव नहीं है।

इस स्थिति को भली भाँति समझ जाने पर यह हो नहीं सकता कि साधक को विषय वासना से छूटने और महाशान्ति पद में आरूढ होने का आकर्षण न हो। यही वैराग्य संदीपनी का प्रेरक व उत्साहवर्धक सन्देश है। हम इसे हृदयंगम करके वैराग्य के रसिक, भक्ति निष्ठ और शान्ति पदेच्छु बनें —

वैराग्य राग रसिको भव भक्ति निष्ठ:।

पद्म पुराण, उत्तर खण्ड, श्री मद्भागवत्माहात्म्य
(४. ७९)

तेज होत तन तरनि को, अचरज मानत लोइ ।
तुलसी जो पानी भया, बहुरि कि पावक होइ ॥५५॥

श्री गोस्वामी जी कहते हैं कि (उपर्युवत महाशान्त सन्त का सूर्य के समान तेज हो जाता है, उसके तेज को देखकर लोग आश्चर्य करते हैं । परन्तु वह सन्त जल के समान शीतल हो चुका, अब फिर अग्नि के समान (अहं अग्नि से युक्त तप्त और दाहक) नहीं हो सकता ।

शान्ति सागर निमग्न सन्त की सौम्य शीतल निर्विकार दशा बता चुके। परन्तु श्री गोस्वामी जी का यह अर्थ कदापि नहीं है कि ऐसे सन्त व्यवहारिक जगत् में निष्प्रभावी हैं । अत: तेजस्विता का कथन करते हैं । आग और पानी परस्पर विरोधी हैं । अग्नि उष्ण है, दाहक हैं. जल सौम्य है, शीतल है । विपरीत प्रकृति के तत्व हैं । पूर्व प्रसंग में शान्ति को जल निधि (समुद्र की तरह बता चुके हैं और अहंकार को अग्नि की तरह । परन्तु वह रूपक उस विरोधाभास को प्रकट करने के लिए ही उपयोगी था । अग्नि जल से बुझ जाती है उसी तरह अहं अग्नि भी महाशान्ति के जल के संस्पर्श से बुझ जाती है, यह भी बता दिया गया । परन्तु अन्यत: वह रूपक पूरा नहीं पड़ता । जल में शीतलता है परन्तु तेज (प्रकाश) नहीं है' अग्नि में दाहकता है परन्तु तेज भी है । शान्ति पद में शीतलता भी है, तेज भी है, इसलिए शान्ति एकदम जल की तरह नहीं है । सौम्यता, शीतलता, अगाधता प्रकट करने के लिए शान्ति को सागर कहा गया परन्तु शान्ति पद में भी तेज है, प्रताप भी है, अब यह विरोधाभास अलंकार का आश्रय लेकर समझाते हैं ।

शान्त सन्त के शरीर में सूर्य का सा तेज होता है, ऐसा तेज कि जिसे देखकर लोग आश्चर्य चकित होते हैं। इस वचन का अक्षरार्थ लेकर भौतिक जीवन में घटित करें तो वर्णन की अतिरंजना या अतिशयक्ति ही जान पड़ेगी, क्योंकि किसी भी सन्त में सूर्य क्या दीपक की तरह का भी प्रकाश नहीं मिलेगा कि अन्धकार निवृत्ति के लिए किसी अन्य प्रकार से उजाला करने की आवश्यकता न पड़े। अत: इस वचन को समझने के लिए अ[illegible] गहराई में जाने की आवश्यकता है। लोक भाषा में भी यह [illegible] जाता है कि अमुक व्यक्ति (सन्त) का चेहरा शूर्य की तरह देदीप्यमान है। साधारण मनुष्य के समझने लायक, इस वचन का सुगम अर्थ, इतना ही समझना चाहिए। परन्तु इस वचन का भावार्थ इतनां ही नहीं है।

यह सही है कि तपोनिष्ट, ब्रह्मचारी, भजनानन्दी सन्त का मुख अत्यन्त तेजस्वी जान पड़ता है। यह लक्षण किसी किसी सन्त में प्रमुख होता है। उनके चेहरे पर विशेष चमक या दमक प्रतीत होती है। किरनें फूटती हुई तो नहीं दिखाई देतीं परन्तु फिर भी एक विशेष तेज (उर्दू भाषा के अनुसार जलाल) प्रतीत होता है। यह तेज सब लोगों को एक सा स्पष्ट प्रतीत नहीं होता, परन्तु तेजस्वी चेहरा जन सामान्य द्वारा जाना ओर माना जाता है। चेहरे के रंग काले या गोरे होने से इसका कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं होता।

सूक्ष्म बात यह है कि प्रत्येक व्यक्ति का एक तेजो बलय होता है, मुख के चारों ओर एक ज्योति चक्र होता है। यह ज्योति चक्र या तेजो वलय सबका एक सा नहीं होता। उसमें अनेक रंग होते हैं। तपस्वी या सन्त पुरुष का तेजो वलय अधिक चमकीला होता है और उसमें आकर्षक रंगों की प्रधानता रहती हैं। किसी के भावोद्रेक के अनुसार तेजो वलय के रंगों में परिवर्तन होता रहता है। भगवान् के ध्यान के समय तेजो वजय विशेष उत्तम हो जाता है। उत्तम सतोगुणी भावों के उदय

के समय भी वह श्रेष्ठतर हो जाता है। इसी प्रकार शोक, क्रोध, ग्लानि आदि का भी तेजोनलय पर प्रभाव पड़ता है। तेजोधलय साधारण व्यक्ति को दिखाई नहीं देता, योगी को स्पष्ट दिखाई देता है। साधारणत: किसी कमरे का अँधेरा तेजो वलय से दूर नहीं होता, तेजो वलय का प्रकाश साधारण प्रकाश की तरह काम नहीं करता, उसमें गुणात्मक भेद होता है। इसी तरह कभी कभी योगी को अनुभव होता है कि कमरा सुगंध से भर गया है, परन्तु उसके पास बैठे दूसरे साधारण आदमी को इस सुगंध का अनुभव नहीं होता। जैसे योगी की अनहद (अनाहत) ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं, जो पास के अन्य व्यक्ति को नहीं सुनाई पड़तीं। इन कारणों से भी इन्हें दिव्य अनुभूतियाँ कहा जाता हैं। जब किसी को भगवान् के दर्शन ध्यान में होते हैं या किसी दिव्य सृष्टि के सन्त के इसी प्रकार दर्शन होते हैं तो उस समय उनका तेजोमय रूप स्पष्ट रहता है। यह भगवान् की लीला है कि वे किसी को कितना तेज दिखाएँ। इसमें यह भी प्रश्न रहता है कि कितनो तीव्र अनुभूति करने की शक्ति दर्शनकर्ता में विकसित हो पाई है। कभी कभी श्री भगवान् के प्रताप से सन्तो को अपार तेज का अनुभव होता है, अनुभव के समय उस प्रकार की तीव्रता स्पष्ट रहती है, परन्तु केवल अनुभवकर्ता को, अन्य साधारण जनों को नहीं। बाइबिल व कुरान में (दोनों ग्रन्थों में) यह उल्लेख है कि हजरत मूसा (मोज़ेज़्) को कोहे तूर (तूर नामक पर्वत पर भगवान् का इमना प्रकाश दिखाई पढ़ा कि यह जान पड़ा कि वह पर्वत जला जा रहा है। कथा के अनुसार जो कुछ मूसा को दिखाई पड़ा वह भगवान् का पूर्ण तेज नहीं था, उनके लिए उपयुक्त सौम्य स्वरूप दिखाया गया था। श्री गीता जी के ग्यारहवें अध्याय में विराट् स्वरूप के दर्शन का वर्णन है अर्जुन को उस विराट् स्वरूप में इतना तेज दिखाई पड़ा कि यदि एक हजार सूर्य एक साथ आकाश में उदय हों तो उनके सदृश भगवान् का तेज था। (११. १२) संस्कृत के महाकबि माघ ने शिशुपाल बध महाकाव्य लिखा है। उसमें

प्रारम्भ में ही देवर्षि नारद के आकाश मार्ग से अवतरण का वर्णन है। पहले एक ज्योति नुञ्ज आकाश से उतरता दिखाई पड़ा, निकट आने पर श्री नारद जीं का का स्वरूप प्रकट हुआ। भगवान् का जो अपार तेज अर्जुन ने देखा, वह चर्म चक्षुओं से देखा जाना सम्भव नहीं था, भगवान् कृष्ण ने दिव्य दृष्टि दी जब दर्शन हो सका।

इस तरह यह स्पष्ट होता है कि सन्त जनों का दिव्य तेज सूर्य के समान हो सकता है, होता है। हाँ साधारण जन उसे यथावत् नही देख पाते, यद्यपि उन्हें भी मुख तेजस्वी जान पड़ता है। साधारण जन कभी इस तेजस्वी मुख को देखकर ही आश्चर्यचकित होते हैं। तेजोवलय के प्रताप, प्रभाव से ही मुख तेजस्वी या मलीन दिखाई पड़ता है। मुखाकृति या उससे सूचित होने वाले भाव सब तेजो वलय के ही प्रभाव हैं। ग्रहण के समय सूर्थ को सीधे देखना इष्ट नहीं माना गया है। लोग शीशे में करखा लगाकर ग्रहण ग्रस्त सूर्य का प्रतिबिम्ब मात्र देखते हैं। कुछ न कुछ ऐसा ही मामला मुख तेज का भी है। व्यावहारिक जगत् में साधारण व्यक्ति को जो मुख तेज दिखाई देता है वह वास्तविक तेज का एक मलिन प्रतिबिम्ब मात्र हैं। उस प्रतीक दर्शन से हीं लोग आश्चर्य मानते हैं, परन्तु दिव्य दृष्टि सम्पन्न योगी तो सूर्प के समान तेज को यथावत् देख सकते हैं, जो सचमुच आश्चर्य जनक होता है।

आश्चर्य तभी एक आश्चर्य रहता है, जब तक उसका रहस्य प्रकट न हो। अत: आश्चर्य जनक लक्षण को पहचानना चाहिए तथा उसका रहस्य भी समझना चाहिए। श्री गोस्वामी जी ने आश्चर्य अंकित कर दिया है। जल की सी शीतलता अह अग्नि का पूर्णत: अभाव परन्तु सूर्य का सा तेज एक साथ कैसे ? यही तो आश्चर्य का विषय है। अग्नि में दाहकता है, तेज भी है जल में इन दोनों में से कुछ नहीं है, तो फिर शान्त सन्त में चन्द्रमा की सी शीतलता व सूर्य का सा तेज एक साथ कैसे ? जब

प्रचण्ड तेज है तो दाहकता क्यों नहीं ? यही विचित्रता है, यही आश्चर्य है। अब इसका रहस्य देखिये। विज्ञान के अनुसार ऊष्मा की लहरें और प्रकाश की लहरें अलग अलग हैं। दोपहर के घाम के समय हमें सूर्य से दोनों प्रकार की लहरें खूब मिलती हैं, परन्तु संभव है कि सूर्य की किरणों को सौम्य बनाया जाय, इसमें प्रकाश भी कम होगा, लेकिन ऊष्मा (गरमीं) तो बहुत कम हो सकती हैं, व्यवहार में तो मिट ही सकती है। यदि आप दोपहर के समय एक ऐसे कमरे में बैठे हों जिसके द्वारों और खिड़कियों में गहरे हरे या नीले रंग के शीशे लगे हों और बाहर का प्रकाश इन शीशों में होकर बन्द कमरे के भीतर आता हो तो आपको सौम्य प्रकाश मिलेगा, जिसमें गरमी का अभाव होगा। उमस लग सकती है, परन्तु बिजली का पंखा चल रहा हो तो उमस भी नहीं लगेगी। इससे यह सम्भावना सिद्ध होती है कि प्रकाश खूब हो परन्तु उसमें गरमी (दाहकता) विल्कुल न हो। उपर्युक्त प्रबन्ध तो शीशमहल में सम्भव है, पर साधारण दैनिक जीवन में भी हम चन्द्रमा को शीतल पाते हैं, यद्यपि सूर्य का प्रकाश (घाम) ऊष्ण है और विज्ञान वेत्ता बताते हैं कि चन्द्र का प्रकाश भी सूर्य का ही चन्द्र तल से परावर्तित प्रकाश है, अर्थात चन्द्रमा सूर्य के प्रकाश को ठंडा बनाकर पृथ्वी पर भेजता है। इस सबसे यह प्रदर्शित हो जाता है कि तेज और दाहकता में अटूट संबन्ध नहीं है। प्रबल परन्तु शीतल तेज सम्मव है। शरत्पूर्णिमा के चन्द्र का इसी सम्बन्ध में यश हैं। ऐसी मान्यता है कि शरत्पूर्णिमा की चन्द्रिका में अमृत का प्रभाव रहता है। इसलिए शान्त सन्त का एक साथ शीतल व अत्यन्त तेजस्वी होना साधारण दृष्टि से आश्चर्यजनक होते हुए भी विचार विवेक दृष्टि से संभव है जल की शीतलता और अग्नि की दाहकता विरोधी लक्षण हैं, परन्तु शीतलता और तेजस्विता का कोई वास्तविक विरोध नहीं है। अहंभाव युक्त रजोगुणी जीव में आसुरी सम्पत्ति के प्रबल होने पर दाहक लक्षण मिल सकते हैं, पर सन्तों में उनसे कहीं अधिक शक्ति, प्रभाव, प्रतापः

कौशल होते हुए भी क्षमा, करुणा, उपकार, सेवा, 'सर्वभूत हित' आदि कोमल गुणों का बाहुल्य रहता है। शीतलता और तेजस्विता का समन्वित रूप सन्तों के जीवन में दिखाई देता है।

सूर्य पराक्रम का भी प्रतीक है, सन्तों के निष्काम निर्विघ्न शान्त जीवन में निष्क्रियता प्रतीत होती हो तो वह मिथ्याभास है उनके जीवन में प्रभाव, प्रताप, चमत्कार पराक्रम है। सन्तों का जितना प्रभाव जन जीवन पर पड़ा है, उतना सेनापतियों, सम्राटों' विद्वानों, शास्त्रार्थ महारथियों, लेखकों, शोधकर्त्ताओं आदि में से किसी वर्ग का नहीं पड़ा। सन्त कुछ न करके भी बहुत कुछ कर जाते हैं. सूर्य की तरह।

प्रस्तुत दोहे पर विचार करते समय यह न भूलना चाहिए कि श्री गोस्वामी जी के इष्ट देव श्री राम जी स्वयं रवि कुल रविराम हैं, तवापि शीतल हैं, शील सिंधु हैं सबको सुख देने वाले हैं। रामचन्द्र हैं। छन्द सं० २ में कह चुके हैं।

तुलसी मिटै न मोह तम, किये कोटि गुण ग्राम।
हृदय कमल फूलै नहीं, बिनु रवि कुल रवि राम॥

हृदय कमल को विकसित करने के लिए राम सूर्य हैं; मोहान्धकार निवारण के लिए भी राम सूर्य हैं (विद्रावितो मोह महान्धकारो। श्रीमद्भागवत ११. २९. ३७,)। सूर्य से नजर नहीं मिला सकते, उसके वास्ते राम 'चन्द्र हैं' कृष्ण भी 'चन्द्र' हैं।

राम चन्द्र चन्द्र तू चकोर मोंहि कीजै। वि० प०।

सबको आराम देने वाले का नाम राम, सबको आकर्षित करने वाला 'कृष्ण' है, सबको रुलाने वाला रावण है।

श्री राम नाम को भी– 'हेतु कृशानु भानु हिमकर को' कहा। श्री राम नाम अग्नि का भी बीज है, सूर्य का भी बीज है, चन्द्र का भी बीज है। श्री राम नाम में पापों को भस्म करने की अपार शक्ति है, मोहान्धकार की चिर निवृत्ति के लिए सूर्य के समान प्रचण्ड तेज है अन्त:करण को चिर शीतल करने के लिए चन्द्रमा की सी शक्ति हैं।

तेज और शीतलता का एकत्र निवास जैसे राम नाम में है, जैसे भगवान् में हैं, वैसे ही सन्त में भी हैं। न उनका बल शारीरिक बल या पराक्रम पर आश्रित है, न उनकी शीतलता बनावटी पुष्पितावाणी या दम्भ पर निर्भर है, उसका रहस्य और गौरव आध्यात्मिक है। वैराग्य को साधारणत: जैसा नीरस समझा जाता है, वह वैसा नहीं है, सच्चा वैराग्य भगवदीय रस से परिपूर्ण, परम सरस होता है, इसको अविवेकी जन नहीं समझ पाते।

कंचन को मृतिका करि मानत। कामिनि काष्ठ शिला पहिचानत।।
तुलसी भूलि गए रस एहा। ते जन प्रकट राम की देहा।।
––– (पूर्व छन्द सं० २८)

यद्यपि सीतल सम सुखद, जग में जीवन प्रान ।
तदपि शान्ति जल जनि गनौ, पावक तेज प्रमान ।।५६।।

यद्यपि शान्ति शीतल, समतापूर्ण, सुखदाई है,' इस जग (लौकिक व्यवहार में) शान्ति पद निष्ठ सन्तों के लिए जीवन और प्राण के समान है, तथापि उसे (मात्र) पानी नहीं समझना जाहिये, उसमें अग्नि का सा तेज है ।

पूर्व निरूपण को दृढ़ करते हुए श्री गोस्वामी जी कहते हैं कि यद्यपि जल के से सौम्य गुण शान्ति में पाये जाते हैं यथा शीतलता, समता, सुख प्रद होना, जीवन प्राणवत् आवश्यक व श्रेयस्कर होना, परन्तु शान्ति को पराक्रम हीन नहीं समझना चाहिए, उसमें अग्नि का सा तेज प्रमाणित है । शान्ति एक रस शान्ति ही रहती है तथापि उसमें सौम्य गुणों के साथ प्रचण्ड प्रताप भी पाया जाता है, यही उसकी अलौकिकता हैं, चमत्कार है ।

शान्ति की शीतलता का ऊपर निरूपण हो चुका है, वह अहं भाव नाशिनी व अन्तःकरण को शान्त, अनुद्विग्न, आनन्दित रखने वाली है । अहं अग्नि क्रोध अग्नि तथा अन्य विकारों की अग्नि को वह सुलगने नहीं देती अन्तःकरण कभी भी अशान्त या तप्त नहीं होता ।

जैसे जल में समतलता बनाए रखने का गुण है । कूप में से या जलाशय (तालाब आदि) में से जल निकालने पर गड्ढा नहीं पढ़ता, जल तल समान हो जाता है, उसी तरह शान्ति के प्रताप से अन्तःकरण सम

अर्थात् संतुलित, अचंचल, शान्त, एकरस रहता है। पूर्व छन्द सं० १३ में सन्तों की समता का उल्लेख हो चुका है। जो शान्त हैं, स्थिर प्रज्ञ है, सम है, न उद्विग्न होता है, और न किसी को उद्विग्न करता है, वह शान्ति के दिव्य लोक का वासी हैं, जहाँ स्पन्दन, हलचल, उत्तेजना, विकार, उष्णता, संघर्ष, राग, द्वेष आदि का प्रवेश नहीं। समता ही शान्ति की पहिचान है। शान्त पुरुष शत्रु, मित्र जय, पराजय, हानि, लाभ, मान, अपमान, आदि द्वंद्वों से परे रहता है, उसकी प्रज्ञा स्थिर रहती है, समता एकरस बनी रहतीं है, मुख कान्ति कभी मलीन नहीं होती। जैसा कि श्रीं अयोध्या काण्ड नें श्री रामचन्द्र जी की मुख कान्ति के विषय में प्रारम्भ में ही स्तवन हुआ है—

प्रसन्नतां या न गता ऽभिषेकतस्, तथा न मम्ले वन वास दुःखतः।
मुखाम्बुज श्री रघुनन्दनस्य मे, सदा सा मंजुल मंगल प्रदा॥

श्री रगुनाथ जी के मुखारविन्द की शोभा जो राज्याभिषेक के प्रसंग से विकसित नहीं हुई, न बनवास के प्रसंग से मलीन हुई, वही [एकरस] मुखश्री मेरे लिए मंजुल मंगल प्रदायिनी हो। इष्टदेव के मुख की कान्ति की समता, एकरसता पर श्री तुलसीदास जी न्योछावर हैं। जिस किसी के हृदय में शान्ति प्रतिष्ठित हो जाती है वहाँ भी यही समता ऐसा ही मानसिक सन्तुलन द्वंद्वातीत शान्त, निर्विकार दशा बरावर बनी रहती है। समता की जगह विषमता कभी नहीं आती।

जल सुखद भी है। शरीर शुद्धि, मानसिक स्फूर्ति, प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए स्नान किया जाता है। स्नान करने से जल सुस्ती, उदासी, आलस्य आदि दोषों को कम करता है या निवृत्त करता है। शान्ति का भी ऐसा ही प्रभाव है। श्रान्ति [थकान] क्लान्ति [अनुत्साह, ग्लानि] आदि विकार स्नान से दूर होते है। जल पीने से तृषा (प्यास) दूर होती है। जल शरीर की अतिरिक्त गरमी को प्रवाहित कर देने में उप-

योगी है । भोजन की पाचन क्रिया में भी जल का बड़ा हाथ हैं । शुद्ध जल का प्रबन्ध रखने से और विधि पूर्वक प्रबन्ध रखने से स्वास्थ्य ठीक रखने में बड़ी सहायना मिलती है ।. परिपाक संस्थान की सफाई में जल का अत्यन्त उपयोग है । भोजन के बिना मानव जितने समय तक जी सकता है जल न मिले तो वससे भी कम समय तक जी सकता है । जल अनेक रूपों में सुखद है । फल शाकादि में भी प्राकृतिक रूप से शुद्ध जल की मात्रा रहती है, शुद्ध दूध में भी पर्माप्त मात्रा में शुद्ध जल रहता है । खाद्योजों [विटामिनों] की रक्षा व उपयोग में जल का हाथ है ।

इस प्रकार जल कितने ही रूपों में प्राण-धारण, जीवन यापन में सहायक है । 'जीवन' जल का एक नाम ही मान लिया गया है । जैसे अन्न को लोग प्राणों का आधार मानते हैं, उससे अधिक प्राणों को [जीवन को] जल का आधार है ।

शान्ति को जल कहकर संक्षेप में यह सूचित कर दिया गया है । कि जीवन में [साधारण मनुष्य के जोबन में भी] शान्ति का वैसा ही या उससे भी अधिक महत्त्व मान्य है ।

चिन्ता, व्यग्रता, वेचैनी, चंचलता, विकार आदि का क्षीण होना, यह व्यावहारिक शान्ति हैं, शोक, मोह, क्रोधादि से जलन न हो तो यह भी सापेक्ष (अपेक्षाकृत) शान्ति है, ज्वर, फ़ोड़ा, फुंमी सूजन अदि की जलन या कष्ट न हो तो यह स्वास्थ्य सम्बन्धी शान्ति है । इस प्रकार की शान्ति हर एक को चाहिए । इसकी फिक्र उसे करनी ही होती हैं । इस निम्न सोपान की शान्ति के विना काम नहीं चल सकता । जीवन यापन के साधन यदि अन्न की तरह आवश्यक हैं तो यह जल (या वायु) की तरह आवश्यक है ।

जिस शान्ति का निरूपण प्रस्तुत प्रसंग में किया गया है, वह तो निरपेक्ष, पूर्ण शान्ति है, परन्तु वह तो साधना के उच्च सोपान पर अपना चमत्कार दिखाती हैं। साधारण ममुष्य के व्यावहारिक जीवन के लिए, निम्न स्तर पर भी शान्ति का महान् उपयोग है। उससे कम उपयोग नहीं, जितना जल का है।

काम करने से गरमी पैदा होती है, ज्वर में भी गरमी होती है, क्रोधादि बिकारों में भी, परन्तु यह गर्मी जाड़े को दूर करने में सक्षम नहीं होती उल्टे जाड़ा लगने की आशंका, रोग हो जाने का डर बढ़ जाता है। परन्तु यह मान लिया गया है कि विश्राम (साधारण स्तर पर शान्ति ऐसे ताप को कम कर सकती है या दूर करने में सहायक हो सकती है। प्राकृतिक चिकित्सा या योग की दृष्टि से बहुत से रोग विना दवा के या दवा के स्वल्प प्रयोग से शान्त हो सकते हैं, परन्तु शान्ति की अधिक आवश्यकता होती है।

इससे आगे बढ़कर हम देखते हैं कि विकारग्रस्त अशान्त मन ही अनेक रोगों का कारण है। डाक्टरी के साधारण पाठ्यक्रम से इस विषय की अधिक जानकारी नहीं मिलती परन्तु मानसिक चिकित्सा विशेषज्ञ महत्त्वपूर्ण जानकारी प्राप्त कर सके हैं और उन्होंने आश्चर्य जनक परिणाम निकाले हैं। सिग्मण्ड फ्रायड नाम के महापुरुष ने मनोविश्लेषण की पद्धति निकाली और वह मत प्रतिस्थापित किया कि दबे हुए मनोविकार अचेतन मन में सक्रिय रहते हैं, और वे मानसिक रोगों की विकृतियों (अपलक्षणों) के कारण हैं। यदि वे चेतना मे लाए जा सकें तो उतने से ही सबन्धित विकृतियां ठीक हो जाती हैं। आज वह माना जाने लगा है कि अनेक भयंकर रोग मानसिक जटिलताओं, विषमताओं, ग्रन्थियों आदि के कारण ही होते हैं, शुद्ध प्रशान्त मन वाले को नहीं हो सकते। अह आभास भी हो रहा है कि मन प्रशान्त ओर शुद्ध हो जाय तो यह

रोग ठहर भी नहीं सकते। ऐसा आभास हो भी जाय तो डाक्टरी इस समस्या पर अटकी रहती है कि भयंकर रोगों के शिकार लोगों का मन सहसा शुद्ध, प्रशान्त (स्वस्थ) कैसे बनाया जा सकता है ? दवाइयों से तो यह काम हो नहीं सकता। योग व अध्यात्म के पास इसकी कुंजी है। शान्ति के बढ़ते हुए चरण किस प्रकार त्रयताप का शमन करते हैं यह क्रम हथेली पर रखे हुए आँवले की तरह स्पष्ट नहीं किया जा सकता, यहाँ उसकी प्रसांगिकता नहीं है. वह चिकित्सा सास्त्र, मनोविज्ञान, योग, शास्त्र, दर्शन शास्त्र अदि के क्षेत्र में आता है, यहाँ स्थानाभाव, योग्यता-भाव आदि का भी अवरोध है, परन्तु यह वात अकाट्य है कि शान्ति का विकास ताप त्रय नाशक और अन्त:करण को शीतल करने वाला है। इतने से ही हमारा यहाँ प्रयोजन है।

शान्ति में समता का भी गुण है। समता ओर शान्ति का अटूट संबंध हैं। गुणातीत व्यक्ति ही सम है और वही शान्त हैं। समता अनुद्वेग का कारण है, अनुद्वेग में ही शान्ति मिलती है। सुख, दुख, हानि, लाभ, सफलता, विफलता, आदि में एक समान रहने वाले कीं ही शान्ति स्थिर रह सकती हैं। भक्तराज प्रहलाद के अनुसार समत्व ही अच्युत भगवान् की आराधना है। (श्रीमद्भागवत) स्वार्थ वश ही मनुष्यों में भेद दृष्टि व विषम दृष्टि होती है। नितान्त नि:स्थार्थ, निष्काम, निरीह व्यक्ति समदृष्टि ही रखता है। शान्ति के साथ स्वाभायिक गुण समता है। जिसने मन में समती धारी। उसने सृष्टि विजय की सारी।। (गीता ५. १९.)। सर्वत्र भगवान् को देखने वाला भक्त समदृष्टि ही रख सकता हैं।

अविवेकी मन में यह कल्पना होती है कि जिसकी प्रत्येक परिस्विति में और प्रत्मेक व्यक्ति में समदृष्टि हो उसका जीवन बड़ा ही नीरस होगा, क्योंकि वह किसी व्यक्ति या परिस्थिति में सुखानुभव नहीं करेगा। यह

कल्पना इस भ्रम पर आधारित है कि सुख का एक मात्र स्रोत है कामना पूर्ति। समभाव होने पर निष्कामता इस स्रोत को समाप्त कर देती हैं। अतः सुख संभव नहीं रहता। भगवान् बुद्ध का ज्ञान इस कल्पना से उल्टा है। तृष्णा, कामना या वासना ही दुःख का मूल है, उसके विनाश से हीं दुःख का विनाश होगा (सुख का नहीं)। वेद, स्मृति, आगम, महाभारत, पुराण आदि सास्त्रों में भी सुखी जीवन के लिए कामना की पूर्ति नहीं, निवृत्ति आवश्यक बताई गई है। जैन धर्म ने भी वासना की निवृत्ति को आवश्यक माना है। सारा आध्यात्मिक जगत् वासना की निवृत्त में दुख से छुटकारा [मोक्ष] देखता है। साधारण व्यक्ति की उल्टी दृष्टि माया के कारण है।

विषयों का सुख निषेधात्मक, ऋणात्मक, नकारात्मक, है। प्यास के दुख की निवृत्ति पानी से, भूख की भोजन से, रोग की दवा से होती हैं। विशेष दुःखों के प्रतिकार हेतु विषय सेवन होता हैं। श्री भर्तृहरि ने कहा है :—

प्रतिकारो व्याधेः सुखमिति मन्यन्ते ऽबुध जनाः।
(वैराग्य शतक)

जो व्याधि (या दुःख) का प्रतिकार मात्र है उसको अज्ञानी लोग सुख मानते हैं।

जिस प्रकार श्री भर्तृहरि जी ने सांसारिक सुखों को दुःख का प्रतिकार मात्र बताया है, उसी प्रकार अविवेकी जन शान्ति में केवल दुःख का अभाव मात्र देखते हैं, उसका कुछ अपना विलक्षण सुख है यह उनकी समझ में नहीं आता। परन्तु श्री गोस्वामी तुलसीदास ता कह चुके हैं कि शान्ति के समान सारी सृष्टि में कोई सुख है ही नहीं। (पूर्व छन्द ५०) इसलिए शान्ति को यहां सुखद कहकर उसका स्वाभाविक और प्रबल लक्षण ही बताया गया है। सुखमक्षयमश्नुते [गीता ५. २१.] अक्षय सुख

प्राप्त करता हैं । सुखे । ब्रह्म संस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते । गीता ६. २८.) ब्रह्म की अनुभूति से अत्यन्त सुख पाता है । ये वै भूमा तत्सुखम् नाल्पे सुखमस्ति (उपनिषद्) असीम में ही सुख है अल्प में नहीं । फिरहिं सनेह मगन सुख अपने । बाल काण्ड । आदि प्रमाणों से इस सुख का आभास मिलता है ।

शान्ति जीवन प्राण के समान है क्योंकि – अशान्तस्य कुतः सुखम् [गीता २ ६६.], सुखात्सर्वः प्रमोदते । सुख पूर्वक ही जीवन धारण की इच्छा होतीं हैं । विषय सुख परिणाम में दुःखद है – दु ख योनय एव ते [गीता ५. २२.] तथा प रणामे विषमिव (गीता १८. ३८.) जब कि शान्ति सुख अक्षय है, स्थिर है, अगाध है ।

तत्वतः हर एक को इसी शान्ति सुख की खोज है, वह दुःख का अत्यन्ताभाव चाहता है और उसकी आशा में जीवन धारण करता है, परन्तु वह मोह वश अपनी सुखेच्छा का मर्म समझता नहीं और विषयोपभोग में उस पूर्णानन्द को खोजता है परन्तु 'न वित्तेन तर्पणीयों मनुष्यो' उपनिषद्, [मनुष्य धन से तृप्त नहीं होता] ।

सुखाय कर्माणि करोति लोको, न तैः सुख वान्यदुपारम वा ।
विन्देत भूयस्तत एव दुःखं यदत्र युक्तं भगवान् वदेन्नः ।।
(श्री मद्भागवत ३. ५. २.)

सुख के लिए सारा ससार कर्म करता है, परन्तु न सुख मिलता है न उधर से मन हटता है, बार बार दुःख का ही अनुभव होता है । भले ही हम अपनी प्रवृत्ति का मर्म न समझें परन्तु शान्ति सुख की खोंज ही जीवन का संबल है, प्राप्त होने पर प्राण के समान प्रिय है ।

ऐसे उत्तम अलौकिक गुण होते हुए भी शान्ति को मात्र जल नहीं समझना चाहिये क्योंकि उसमें अग्नि का सा तेज और प्रभाव भी है ।

अग्नि का सा तेज, प्रताप इसलिए मान्य है कि अहंभाव, काम, क्रोध, आदि विकारों की अग्नि को भी भस्म और समूल नष्ट करने की शक्ति शान्ति में है, शान्त सन्त के मुख पर अभूतपूर्व तेज (चमक, जलाल) रहता है, उसके निरीह भाव के होने पर भी उसके तेज के प्रभाव से कितने ही सज्जन प्रेरित होते हैं और दुष्टजन आशंकित होते हैं।

यहाँ सन्देश यही है कि कोई मूर्ख यह न समझ बैठे कि गुप्त तेज वाले शान्त सन्तों का अपराध करने में, उन्हें सताने में, किसी अनिष्ट परिणाम की आशंका नहीं है, निर्भय होकर उनका अपराध किया जा सकता है। ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें अपराधी के प्रति शान्त ऋषि ने कुछ भी प्रतिकूलता नहीं दिखाई, तथापि अपराध का महान् अनिष्ट परिणाम हुआ। च्यवन ऋषि की कथा, परीक्षित की कथा, जड़ भरत जी की कथा आदि इसके प्रमाण हैं।

एक तो अनन्य शरणागत भक्तों की रक्षा, योच-क्षेम की व्यवस्था भगवान् स्वयं करते हैं, दूसरे राज्य शक्ति और लोकमत ऐसे पापियों से विशेष प्रतिकूल होजाते हैं। बड़ी निष्ठा से जो पाप किया जाता है, उसका फल भी शीघ्र मिलता है। (योग सूत्र १. २१)। दिव्य शक्तियाँ भी ऐसे पापियों के विरुद्ध सक्रिय होती हैं। अहंभाव स्वयं पाप कर्म का और फिर उसके फल परिपाक का सहायक है, जिन पापों के विषय में यह मान लिया जाता है कि उनका अनिष्ट फल उदय हो ही नहीं सकता, इस मान्यता से ही सम्बन्धित फल परिपाक में सुविधा मिल जाती है। बहुत से डाकू आदि अपने शरण क्षेत्र में हो निवास करते वाले सन्तों का आदर करते हैं, उन्हें कभी नहीं लूटते और उनसे सशंकित भी नहीं होते। उनका अपराध करते डरते हैं, यद्यपि साधुओं के पास आत्म रक्षा का कोई लौकिक प्रबन्ध नहीं होता। महाराज अम्बरीश की रक्षा भगवान् का सुदर्शन चक्र करता था और दुर्वासा के क्रुद्ध होने पर महाराज तो परम

विनीत और शान्त ही बने रहे परन्तु दुर्वासा घोर कष्ट में पड़ गए। अम्बरीश की प्रार्थना पर ही वे अन्त में चक्र-भय से मुक्त हुए। शास्त्रों में ऐसे ही अन्य दृष्टान्त भी हैं। इसीसे तपस्वियों को निगूढ़ या गुप्त तेज से युक्त माना गया है। हमें शान्ति का परमानन्द स्वरूप भी समझना चाहिए और प्रचण्ड प्रताप भी, जिससे अज्ञान या प्रमाद वश सन्तों का अपराध न हो जाय।

जरैं बरैं अरु खीझि खिलावैं ।
राग द्वेष महँ जनम गवाँवैं ।।
सपनेहु शान्ति नहीं उन देही ।
तुलसी जहाँ तहाँ ब्रत एही ।।५७।।

श्री गोस्वामी जी कहते हैं कि जो लोग काम क्रोधादि के विकारों में जलते रहते हैं राग, द्वेष में अपना जीनन नष्ट कर देते हैं, ऐसे व्रत (स्वभाव, अभ्यास) वाले लोगों को स्वप्न में भी शान्ति नहीं मिलती ।

अब श्री गोस्वामी तुलसी दास जी विपरीत मार्ग पर चलने वालों की वशा बताते हैं । जो शान्ति मार्ग के पथिक नहीं हैं, मोह माया वश विकारग्रस्त हैं, वाह्य जगत् के व्यक्तियों व विषयों के सहारे ही सुखी होना चाहते हैं, उनका जीवन कैसा चलता है उसका चित्र इस, चौपाई में प्रस्तुत है ।

जैसा कि यहर्षि पतञ्जलि ने योग दर्शन में बताया है, मोह अविश्रा (विपरीत प्रतीति) से अस्मिता (अहंभाब) का उदय होता है । देहात्मभाव का परिणाम यह होता है कि देह को जो सुखद लगे उसमें ममता या आसक्ति उत्पन्न होती है, राग हो जाता है, प्रतिकूल विपय में द्वेष हो जाता है । तब राग वाले विषयों की प्राप्ति, संग्रह दृढ़ीकरण, संवर्धन, द्वेषपात्रों का प्रतिकार, उनसे संघर्ष, उन्हें क्षीण करना, निरसन या निर्मूलन ही जीवन का कार्यक्रम बन जाता है । यह कार्य किसी भी निश्चित अवधि में पूरा होने वाला नहीं है क्योंकि परिस्थितियों का विकास या

परिवर्तन एकदम किसी की इच्छानुसार नहीं हो सकता। अतः इस कार्यक्रम में ज़टिलताएँ, विषमताएं बाधाएँ आती रहती हैं, जिनका सामना जीवन के अन्तिम क्षण तक करना पड़ता है। कभी कभी ऐसी कल्पना होती है कि कुछ बड़ी बड़ी समस्याएँ हल हो जायँ तो जीवन निश्चिन्त हो जायगा या बनाया जायगा। यह प्रतीति मृग मारीचिका के समान मिथ्या भास है।

कृताकृते च द्वंद्वानि कदा शान्तानि कस्य वा।
एवं ज्ञात्वेह निर्वेदाद्भव त्याग परोऽ व्रती ।।

(अष्टावक्र गीता ९.१.)

क्या क्या कर लिया है: क्या क्या करने को बचा है, ऐसे द्वंद्वात्मक भाव किसके और कब शान्त हुए हैं, ऐसा जान करके वैराग्य प्राप्त करो, त्याग परायण हो, लौकिक कार्यों के सम्पन्न कर डालने का व्रत (आग्रह) न करो।

श्री स्वामी रामतीर्थ ने सुख सम्कन्धी मृग मरीचिका को एक प्रवचन में बहुत अच्छी तरह समझाया है। उन्होंने भलीभांति प्रदर्शित किया है कि हर एक व्यक्ति को सुख में कमी जान पड़ती हैं, भविष्य में ठीक ठीक सुख प्राप्ति की संभावना दिखाई पड़ती है, कभी कभी बीते हुए (यथा बालपन के) बड़े सुख के दिन थे ऐसा प्रतीत होता है। यथेष्ठ सुख है और रहेगा, ऐसी अनुभूति वर्तमान् में कभी नहीं होती। यह वैसा ही है जैसे प्यासे मृग को दूर पर जलाशय का मिथ्याभास होता है, परन्तु ज़हाँ पर वह पहुँचा हुआ है (या पहुँच जाय) वहाँ जब नहीं मिलता कि वह अपनी प्यास बुझा सके। मायाबद्ध भगवद्विमुख जीव का भी यही हाल है—

तृषित निरखि रविकर भव भारी।
फिरिहहिं मृग जमि जीव दूखारी।।

(बालकाण्ड)

राग द्वेष से प्रेरित होकर, लौकिक पुरुषार्थं करते रहने का कहीं भी अन्त नहीं होता। वैसे अखण्ड पुरुषार्थ खत्ताव नहीं परन्तु जहाँ अविवेक पूर्ण व्यर्थ कर्म की श्रंखला चलती रहती है, वह कदापि प्रसशनीय यहीं है —

जरहिं पतंग विमोह वस भार वहहिं खर वृन्द।
ते नहिं सूर कहावहीं, समुझि देखु मति मन्द ।। लंकाकाण्ड ।।

विषयाभिलाषी का श्रम योगी की दृष्टि से व्यर्थं है, सुख प्राप्ति के लक्ष्य से उल्टा परिणाम देता है, अविवेकपूर्ण और निष्फल है। उल्टे तृष्णा के त्याग से तुरन्त शान्ति व सुख होता है। प्रह्लाद ने कहा कि — "दुःखौषधं तदपि दुःखम्" (श्री मद्भागवत ७. ९. १७)

दुःख दूर करने के उपाय रूप किया जाने वाला कर्म भी दुःख रूप है। सर्वत्र तापत्रय रहने पर भी गृहासक्त जीव उपरामता को प्राप्त नहीं होता। (श्रीमद्भागवत ७. ६. १४.) लोग बिषय सेबन में लगे हैं, उसे छोड़ते नहीं, इतने से उनकी सुखी दशा सिद्ध नहीं होती, क्योंकि विषयासक्त भोगी की सुखानुभूति घटती जाती है पर निर्भरता बढ़ती जाती है। यही मोह का बन्धन है।

अजानन्माहात्म्यं पतति शलभो दीप दहने,
स मीनोप्यज्ञानाद् द्बडिशयुतमश्नाति पिशितम्।
विजान्नन्तोप्येते वयमिह विपज्जाल जटिलान्।
न मुञ्चामः कामानहह गहनो मोह महिमा ।।
श्री भर्तृहरि, वैराग्य शतक।

पतिंगा अज्ञान वश दीपक की लौ पर गिर कर जलता है, मछली कटिया को न जानकर चारे को निगलती हैं परन्तु हम लोग खूब जानते

हैं कि विषय भोग विपत्ति के जाल से जटिल हैं तथापि विषय सेवन करते हैं, मोह की कैसी महान् महिमा है।

पहचानता हूँ तुझको व तेरे सितय को मैं।
लेकिन तुझीं को मांग रहा हूँ, खुदा से मैं ॥

वस्तुत: कोई विषयाभिलाषी सुखी नहीं है, चाहे सम्पन्न हो या विपन्न।

संसार सुख दुख मिश्रित है और रहेगा, तथा परिस्थितियां भी बदलती रहेंगीं, स्थिर नहीं रह सकतीं। चक्रवत्परिवर्तन्ते दु:खानि च सुखानि च। घूमते हुए चक्र की तरह सुख दु:ख बदलते रहते हैं। आसक्त पुरुष अपने स्वजनों के लिए सुख की परिस्थिति की प्राप्ति व उसकी स्थिरता चाहता है, जिनसे द्वेष करता है उनके लिए स्थिर दु:ख चाहता है पर यह संभव नहीं है। कामनाओं की पूर्ति न होने से विषयी सदा ताप त्रय पीड़ित रहता है। जिन कामनाओं की क्वचित् पूर्ति हो जाती है, वे बढ़ जाती है, जैसे आहुति से अग्नि शान्त नहीं होती और भी प्रचण्ड हो जाती हैं।

न जातु काम: कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविष: कृष्णवर्त्मेव, भूयएवाभिवर्धते ॥

(महाभारत)

बुझै कि काम अगिनि तुलसी कहुँ विषय भोग बहु घी ते।

(वि० प०)

अहं, काम, क्रोध सभी अग्निरूप हैं, किसी भी लौकिक उपाय से यह अग्नि शान्त नहीं होती, भोग से तो बढ़ती ही जाती है।

भोग विलासी सदैव विकारों की अग्नि में तपता ही रहता है, जल कर मर तो नहीं जाता, राख नहीं हो जाता, क्योंकि वैसा परिणाम प्रचण्ड भौतिक अग्नि के प्रभाव से स्थूल शरीर का होता है, परन्तु अन्तःकरण की जलन को अमान्य नहीं किया जा सकता। उससे व्याधि व मृत्यु होना संभव है। श्री विनय पत्रिका जी में कहा है—

राम नाम के जपे जाय जिय की जरनि।

यतः भोगाधिलाषी भगवत्सन्मुख नहीं होता, श्री राम नाम का अवलम्ब लेकर शान्ति पद नहीं प्राप्त करता, उसके जी की जरनि नहीं मिटती। इस अखण्ड दाह की व्यथा से हीं साधारण व्यक्ति बेचैन रहता है, यद्यपि इसका अभ्यस्त होने के कारण यह उसे पूरी तरह जलन के समान नहीं लगती और कभी कभी वह अपने को जलन से बिल्कुल मुक्त पाता है। वह कभी समाधान को प्राप्त नहीं होता। तत्वतः वह प्रबल प्रदाह में ही पड़ा रहता है, इसी से कहा गया है — जरै बरै।

अब दूसरी बात पर आइये, 'खीझि खिझावै'। स्वयं खीझता है और दूसरों को खिझाता है। खीझना अर्थात् परिस्थिति को प्रतिकूल पाकर असन्तुष्ट, रुष्ट या विषादयुक्त होना। किसी चक्रवर्ती सम्राट की भी यह स्थिति नहीं हो सकती कि सारी परिस्थितियाँ सदैव मनोनुकूल ही रहें। अभिमान जितना बढ़ जाता है, परिस्थति की थोड़ी सी भी प्रतिकूलता अधिक व्यथा देती है। अतः यह संभव ही नहीं सहज प्राप्त है कि अति सम्पत्ति शाली व्यक्ति अधिक व्यथित पाए जायँ। उन्हें इसलिए भी खीझ होतीं है कि उनकी दृष्टि से उनकी सम्पत्ति के साथ वैसी व्यथा होनी ही नहीं चाहिये थी, परन्तु उल्टे वे उस व्यथा को अपने भौतिक साधनों से दूर करने में असमर्थ रहते हैं. अतः खीझते हैं।

खीझने वाले व्यक्ति असन्तुलित चित्त के हो जाते हैं, वे महत्त्वहीन बातों पर क्रुद्ध होने लगते हैं, नगण्य बातें उन्हें अशान्त कर देती हैं, वे समाहित नहीं रह पाते। जरन बरन वाली समस्या का ही परिणाम वह खीझ है। खीझ की अवस्था किसी को सुखदायी नहीं प्रतीत होती। खीझने वाले व्यक्ति के अनुचर या आश्रित लोग भयभीत हो सकते हैं, पर योगी की दृष्टि में वह बीमार की तरह करुणा का पात्र है। बहुत बार तो डाक्टर भी ऐसे व्यक्ति को रक्त चाप, मधुमेह या ऐसी ही किसी बीमारी का रोगी बताएगा। वह निर्णय भी दे सकता है कि उसकी मानसिक दशा ही उसकी बीमारी पैदा होने या बढ़ने का कारण हैं।

जो खीझता है वह न चाहते हुए भीं दूसरों की खीझ का कारण बनता है। खीझ, अशान्ति, असमाधान की दशा में होती है, वह शान्ति की विपरीत दिशा में प्रगति होने की सूचक है। शान्ति व अशान्ति दोनों दशाएँ संक्रामक हैं। शान्त पुरुष के पास से शान्ति का संक्रमण होता है, अशान्त पुरुष के संसर्ग से अशान्ति का।

खीझता हुआ मनुष्य शान्ति पदारूढ़ मनुष्य को नहीं खिझा सकता। यह तो पहले ही स्पष्ट हो चुका है। शान्त पुरुष क्रोध, अभिमान आदि से नितान्त मुक्त रहता है। न वह किसी को उद्विग्न करता है, और न किसी से उद्विग्न होता है। (गीता १२ १५.)। यहाँ जो खिझाने का उल्लेख है वह साधारण जनों के सम्बन्ध में है, सन्तों के सम्बन्ध में नहीं है। जब खीझने वाला व्यक्ति स्वल्प (हल्के) या असमुचित कारणों से बार बार उत्तेजित होता हैं और दूसरों से रुष्ट होकर असंतुलित बातें करता है और उसी प्रकार के काम भी करता है तो दूसरों को भी उत्तेजना होती है। पत्नी, पुत्र, अनुचर, आदि उससे असंतुष्ट होने लगते हैं। यदि स्नेही जन यत्न करने पर भी उसे प्रसन्न और सन्तुष्ट नहीं कर पाते तो उन्हें भी खीझ होती है। फिर वे भी झुँझला सकते हैं, चिड़-

चिड़े हो सकते हैं। अशान्ति, असन्तोष का वातावरण बढ़ता जाता है। बिलकुल व्यावहारिक दृष्टि से भी यह दशा शान्ति और समाधान की उल्टी है। यदि सयम, नियम, मर्यादा आदि का कोई अंकुश नहीं लगा और लोग विकार ग्रस्त प्राकृतिक प्रेरणानुसार ही कार्य करते रहे तो नारकीय वातावरण बन सकता है। श्री गीता में काम, क्रोध, लोभ नरक के तीन द्वार बताए ही गए हैं। (गीता १६. २१.)

राग द्वेषमय जीबन विताने से ऐसे ही भयंकर परिणाम उदय होते हैं। साधारणत: यदि ऐसे भयंकर परिणाम नहीं उदय होते तो उसका कारण यह है कि स्वस्थ पारिवारिक परम्परा, सभ्य समाज का शिष्टाचार, लोकमत की मान्य मर्यादा, गुरुजनों का प्रभाव आदि तत्त्व अपना काम करते हैं और अशुभ की क्वचित् रोकथाम कर पाते हैं। यदि नशे, जुए आदि के प्रभाव से यह तत्त्व निष्प्रभावी हो गए तो तीव्र गति से से पतन होता है और भयंकर परिणाम आते ही हैं जो सर्व विदित है।

यदि कोई भगवद्भिमुख रहकर राग द्वेष के प्रभाव में ही बरतता है और मर्यादाओं को तोड़कर व्यसन और विलास में काल यापन करता है तो उसका जीवन अवश्य ही दु:खी रहना है, व्याधि भी आकर्षित हो सकती है, मृत्यु भी जल्दी आ सकती है। अंग्रेजी में कभी कभी ऐसे जीवन को तेज जीवन (फ़ास्ट लाइफ) कह देते हैं। यानी जीवन यात्रा तीव्र गति से कम समय में पूरी कर लेना। यह अलंकारिक प्रयोग अविवेक पूर्ण है। अशुभ, व्यसनी जीवन को तेज़ कहना मूर्खता है क्योंकि इससे किसी को यह प्रेरणा मिल सकती है कि वह तेज रेलगाड़ी की तरह इसको अच्छा समझे और पसन्द करे। सचमुच तेज़ जीवन तो वह है जिसमें शुभ दिशा में तीव्र प्रगति दिखाई दे और छोटे जीवन में इतना अधिक, उच्चस्तर का शुभ कार्य दिखाई दे जो अन्य लोगों के दीर्घ जीवन में भी आशातीत होता। इसलिए यदि आदि शंकरचार्य, सन्त ज्ञानेश्वर, स्वामी रामतीर्थ या

स्वामी विवेकानन्द के जीवन को तेज़ कहें तो अधिक उपयुक्त होगा। यदि किसी तरह जल्दी से जल्दी मृत्यु तक पहुँचना ही तेज जीवन की पहिचान हो तो आत्म हत्यारों का जीवन सबसे तेज़ मानना होगा। तेज़ जीवन के मुहावरे के प्रचलित प्रयोग से लोग अपने को धोखा देते हैं। 'नष्ट जीवन' को 'तेज़ जीवन' कहना विडम्बना है। यहाँ चोपाई में यह उल्लेख सही है कि ऐसे लोग ज़न्म गवाँ देते हैं, यानी खो देते हैं, नष्ट हो जाने देते हैं।

जिन लोगों का साधारण विषयी जीवन है, एकदम विषय निष्ठ नहीं है उनके जीवन में राग द्वेष जनित अनर्थ परिपाक भी साधारण है। मनुष्यों को तीन श्रेणियों में बाँटा गया है —

विषयी साधक सिद्ध सयाने। त्रिविधि जीव जग वेद बखाने।।
(अयोध्या काण्ड)

विषयी जीव, साधक और सिद्ध — यह तीन वर्ग हैं। विषयी भी सब एक से नहीं होते। कोई अपने को विबशता से विषयी पाते हैं, कोई विपयी समाज से सामञ्जस्य करने के नाम पर विषयी हैं, और कोई उसी प्रकार के जीवन में निष्ठा रखते है, वे उस जीवन के व्रती है। साधारण विषयी जीवन भी शान्ति पद के अयोग्य बना देता है। विषयी शान्ति पदारूढ़ नहीं हो सकता। परन्तु साधारण विषयी जीव को अपने दैनन्दिन जीवन में, बदलती हुइ परिस्थितियों में कभी कभी कुछ अपेक्षाकृत शान्ति की घड़ियों की अनुभूति हैं। यह असली शान्ति की अपेक्षा कुछ नहीं है, यह शान्ति के अप्रतिम सुख का एक अंश मात्र भी नहीं है। यह स्वप्नवत् या क्षुद्र आभास मात्र है।

परन्तु जो विषय सुख के ही उपासक हैं, उसमें एकान्तिक निष्ठा रखते हैं, जिनका यह निश्चिय है कि कामोपभोग हो परम सुख है (गीता

१६. ११.) जो राग द्वेषमय जीवन ओर इन्द्रिय सुखोपभोग के बती हैं, जो सिद्धान्तत: विषयी हैं केवल विवशता, सुविधा, या अनुकरण से नहीं, उन विपरीतपथ निष्ठ जनों को स्वप्न में भी शान्ति का असली सुख नहीं मिल सकता। वे कल्पना कर सकते हैं – 'मै ईश्वर हूँ, भोगी हूँ, सिद्ध हूँ बलवान हूं सुखी हूँ' (गीता १६. १४.) परन्तु उनका साधारण जीवन अखण्ड-चिंता-ग्रस्त रहता है, जिसका कोई बारापार नहीं। सच्चे शान्ति सुख का तो उन्हें सपना भी नहीं आता, व्यावहारिक जीवन में आभासमान् शान्ति से भी वे वंचित रहते हैं। अभिमान वश कभा वे मिथ्या कल्पना में अपने को सम्पन्न और सुखी यानते हें – कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया। (गीता १६ १५) मेरे समान और कौन है? परन्तु सदैव चिन्ता के भार से दबे हुए, व्यग्र बेचैन ही रहते हैं, शान्त कभी नहीं होते। राग द्वेष पर आधारित जीवन में शान्त हो ही नही सकते।

सोइ पण्डित सोइ पारखी, सोई सन्त सुजान।
सोई सूर सचेत सो, सोई सुभट प्रभान ॥५८॥

सोइ ज्ञानी सोइ गुनी जन, सोई दाता ध्यानि।
तुलसी जाके चित्त भई राग द्वेष की हानि ॥५९॥

श्री गोस्वामी तुलसी दास जी कहते हैं कि वही पण्डित है वही पारखी है, वही चतुर सन्त है, शूरवीर है, सावधान है, वही प्रमाणिक योद्धा मान्य है, वही ज्ञानी है, गुण सम्पन्न है, वहीं दाता है और वही ध्यानी भी है जिसके चित्त से राग द्वेष मिट गए हों।

यहाँ दो दोहों में श्री गोस्व मी तुलसीदास जी ने परमार्थ का यह तत्त्व भर दिया है कि राग द्वेष की निवृत्ति होने पर मनुष्य सभी उल्लिखित गुणों से युक्त हो जाता है और उसी रूप में मान्य है। यहाँ अतिशयोक्ति अलंकार बिल्कुल नहीं है, यथार्थ कथन है, और इस उपदेश का रहस्य समझना आवश्यक है। राग द्वेष की हानि मात्र से कैसे उक्त सभी गुण हो जायँगे।

राग द्वेष रहित व्यक्ति ही पण्डित है। कैसे? कबीर ने कहा है –

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पण्डित भया न कोय।
ढाई अक्षर प्रेम का पढ़ै, सो पण्डित होय ॥

संस्कृत में भी कहा है—

यथाखरश्चन्दन भार वाही, भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य ।

,जैसे गधा जो चन्दन की लकड़ी को ढोता है, बोझ को जानने वाला है, चन्दन का जानने वाला नहीं हैं ।' इसी प्रकार श्रुति शास्त्र वेत्ता पडित (विद्वान्) भी जिसका आचरण तदनुकूल नहीं है, वह केवल अपने ज्ञान का बोझा ढोता है, उसका लाभ लेने बाला नहीं है । विद्या का फल विवेक हैं । जिस विद्या से विवेक का उदय नहीं होता, वह शीघ्र ही इष्ट हो जाती है । ,विद्या बिनु निवेक उपजाए'

(अरण्य काण्ड)

शब्द पण्डित में कुशल पुस्तकीय ज्ञान विद्या का अर्थ नहीं है, विवेक का भी अर्थ है । सच्चा पण्डित विवेकी होता है, केवल शास्त्र वचनों की तोता रटन्त सच्चा पाण्डित्य नहीं है । यह तो सही है कि राग द्वेष की हानि होने मात्र से बहुत सा पुस्तक ज्ञान नहीं प्राप्त हो जाता । वेपढ़ा बेपढ़ा ही रहता है, कम कम पढ़ा कम पढ़ा ही रहता है । परन्तु राग द्वेष रहित चित्त में विमल विवेक उदय होता हे, जिससे तत्त्व का निर्भ्रान्त (निश्चित, भ्रम रहित, ज्ञान होता है, जैसा पुस्तक ज्ञान से नहीं हो सकता ।

राग द्वेष रहित चित्त में विवेक के प्रकाश के होने का रहस्य इस प्रकार है कि जहाँ राग है वहाँ दोष दर्शन अंशत. या पूर्णत: बाधित होता है, जहां द्वेष है वहाँ गुण दर्शन अंशत: या पूणंत: बाधित होता है । इस तरह दृष्टि विकृत होती है, दृष्टि एकांगी बनती है, समग्र व निष्पक्ष दृष्टि नहीं बनती । राग, द्वेष मुक्त चित्त सव्यग्राही बनता है । राग, द्वेष वश शास्त्रों को समझने में भी भूल हो जाती है, अर्थ विषयर्य होने लगता है । राग, द्वेष मुक्त चित्त अपनी अनुमूति से ही शास्त्र के मर्म को समझ जाता है । वह बेपढ़ा हो तो भी सहज ही एसी वातें करता है, जिनमें

शास्त्र का मर्म भरा रहता है। सुनने वाला विद्वान् आश्चर्य चकित होता है कि बिना शास्त्र पढ़े यह व्यक्ति शास्त्र की बातें कैसे कह रहा है। विद्वान की वाणी शास्त्र प्रमाणों से मण्डित होती है, सन्त वाणी अनुभव पर आधारित होती हैं।

तू कहता कागद की लेखी। मैं कहता आंखिन की देखी।।
(कबीर)

विद्वान को शास्त्र वचन तो बहुत याद रहते हैं, परन्तु मर्म को समझने में सन्त अधिक समर्थ होते हैं। विवेक अधिक होने से सन्त ही सच्चे अर्थ में पण्डित होते हैं, पुस्तक ज्ञान से रहित हों तो भी।

जाना चहहिं गूढ़ गति जेऊ। नाम जीह जपि जानहिं तेऊ।।
(बाल काण्ड)

एक वात और है, कोरे विद्वान का ज्ञान उस पर बोझ की तरह लदा रहता है। नई नई बातें वह सीखता जाय, उन्हें याद करके, भूल न जाय, समय पर प्रमाण याद आएँ और ठीक ठीक कहे या लिखे जायँ इस सब के लिए विद्वान को परिश्रम करना पड़ता है। शास्त्र प्रमाणों को कहाँ कहाँ से लिया गया है, इसे याद रखना भी श्रम साध्य है। परन्तु सन्त इस सब उत्तरदायित्व व भार से मुक्त रहता है। प्रसिद्ध (स्वर्गीय) शरणानन्द जी अन्धे थे परन्तु वे हाजिर जवाब बहुत थे, प्रश्न का उत्तर तुरन्त देते थे और वह ठीक शास्त्रानुकूल ही होता था। हाँ ! कभी कभी कह देते डे मैं क्या जानूँ शास्त्र में क्या लिखा है, मैं तो अनुभव के आधार पर बोलता हूँ। तत्त्व दृष्टि से स्वामी राम कृष्ण परमहंस जी, श्री रमण महर्षि व शरणानन्द जी सच्चे पण्डित थे, पुस्तक ज्ञानियों व उपाधि धारियों से कहीं अच्छे। सन्तों की यह दृष्टि उपलब्धि और प्रभाव राग द्वेष रहित होने पर ही आश्रित है।

यही नहीं कि राग द्वेष युक्त व्यक्ति शास्त्र बचनों के मर्म को ग्रहण नहीं कर पाता, विकृत ग्रहण करता है, प्राय: वह द्विधा व्यक्तितत्व भी रखता है। शास्त्रोपदेश (जैसा उसकी समझ में आता है, उसे भी व्यवहार में नहीं लाता इसलिए निरूपण जिन बिचारों का करता है, आचार उनसे भिन्न विचारों, विपरीत विचारों पर भी, करता है। इस तरह दभ होता है। हाथी के दांत खाने के और दिखाने और होते हैं। दूसरों को धोखे में रखने की चेष्टा होती है, उसके साथ स्वयं अपने को धोखा देना प्रारम्भ होता है। जिन विचारों को वह निरूपित करता है, उन पर उसे स्वयं विश्वास नही क्योंकि उसे उनसे असम्बद्ध (बेमेल) विचारों पर आचरण करना आवश्यक जान पड़ता है। इस प्रकार वह सभ्रम की दशा में रहता है। शास्त्र के कुछ सिद्धान्तों के विषय में वह संशयशील या अविश्वासी होता है, कुछ को वाणी से निरूपित करता है परन्तु अपने विकृत ग्रहण के अनुसार, कुछ बातों को सही बताता है, परन्तु अपने लिए अशक्य या कठिन समझता है, उनके अनुसार चलता नहीं है। ऐसा व्यक्ति विवेकी नहीं माना जा सकता और यदि पुस्तकीय विद्या खूब है परन्तु विवेक क्षीण है तो सच्चे अर्थ में वह पण्डित नहीं माना जा सकता। ऋषि मुनियों ने सत्य निष्ठा से जो उपदेश किये हैं उन्हें जो विश्वास पूर्वक ग्रहण नहीं कर पाया वह शास्त्र का मर्मी या विद्वान् कैसे मान्य हो हो सकता है? वह पढ़तमूर्ख है जिसके लक्षण श्री स्वामी समर्थ राम दास जी द्वारा दास बोध में बताए गए हैं। तस्मात् वह पण्डित नहीं है। विपरीतत: राम द्वेष मुक्त पुरुष शुद्ध अन्त:करण होने के कारण, शास्त्रो को पढ़ा हो या न पढ़ा हो शास्त्रों के मर्म का जानने वाला, बता सकने वाला, शास्त्रानुसार आचरण करने वाला, तदनुसार सम्मति देने और मार्ग दर्शन करने में समर्थ होता है। अत: वही असली पण्डित है।

वही 'पारखी' है। 'पारखी' अर्थात् सही पहिचान कर सकने वाला। किसकी पहिचान? विशेषत: यहाँ तात्पर्य है सन्त की पहिचान

से । माया मोह के बन्धन से छूटने के लिए राग द्वेष युक्त पुरुष को भी सच्चे सन्त का आश्रय चाहिये । विरले विरले पाइए, माया त्यागी सन्त (पूर्व छन्द स० ३२) के अनुसार सच्चे सन्त दुर्लभ हैं ।

सत्संगति दुर्लभ संसारा । निमिष दण्ड भरि एकउ बारा ।।
(बाल काण्ड)

महत्संगस्तु दुर्लभोऽ गम्यो ऽमोघश्च । नारद भक्ति सूत्र ।

आदि शकराचार्य ने भी 'महापुरुष संश्रय' को दुर्लभ बताया है । साधवो न हि सर्वत्र, चन्दन न वने वने ।

सच्चे सन्त का सम्पर्क आवश्यक है परन्तु वे दुर्लभ हैं, कम होने से दुर्लभ हैं, परन्तु इसलिए भी दुर्लभ हैं कि उनको पहिचानना कठिन होता है ।

सन्त ही सन्त को पहिचान सकते हैं, ऐसा कहा जाता है । यहाँ भी राग द्वेष विहीन (सन्त) को पारखी माना है । यह वात सही मान्य हो तो भी इससे पूरा काम नहीं चल सकता, क्योंकि आवश्यकता तो यह पड़ती है कि मोह ग्रस्त, मायावश जीव, सन्त को पहिचाने और उसका आश्रय ग्रहण करे । अत: राग, द्वेष क्षीण होने से पहले ही सन्त की पहिचान करना आवश्यक है, यह कैसे होती है, या हो सकती है, इसका स्पष्टीकरण यहाँ आवश्यक नहीं है, विषयान्तर होगा । संक्षेप से यह संकेत देना पर्याप्त होगा कि श्रद्धा (या सात्विक श्रद्धा) का विकास इसमें बहुत सहायक है । पहिचान और परख एकदम पर्यायवाची (समानार्थक) शब्द नही है । पीतल और सोना पास पास हों तो साधारणत: सोने को पहिचान सकने वाले बहुत हैं, परन्तु जौहरी को ही स्वर्ण पारखी माना जायगा । जो वात यहाँ समझनी है वह यह है कि सन्त की पहिचान की शक्ति (विशेषत: परखने की शक्ति) उसी अनुपात में प्राप्त होती जिस अनुपात में राग, द्वेष क्षीण होते हैं । राग, द्वेष मुक्त पुरुष ही सन्तों के पारखी हैं ।

जैसे धूर्त और सज्जन व्यक्तियों को पहिचानने में अनुभवी, दक्ष और चतुर व्यक्ति समर्थ होता है, उसी शक्ति से सन्त की भी पहिचान (या परख) कीं जा सकती है, ऐसी कल्पना ठीक नहीं है। इसी कल्पना का आश्रय लेकर बरतने से बड़े बड़े विद्वान और चतुर व्यक्ति धोखा खा सकते हैं। साधारण लौकिक चतुरता बरतने से यह सभावना बनी रहती है कि सतर्क या सावधान रहते हुए हम सन्त को भी असन्त मान लें। लौकिक चतुर मनुष्य को इसकी हानि नहीं जान पड़ती, क्योंकि वह केवल इसलिए सतर्क रहता है कि असन्त को सन्त मानकर हानि न उठा जाय। परन्तु इसमें उसे कोई हानि नहीं प्रतीत होती कि वह सच्चे सन्त को प्राप्त करके भी न पहिचान सके असन्त मान बैठे। यह हानि उसे इसलिए समझ में नहीं आती कि उसे सच्चे सन्त के पाने की तीव्र आवश्यकता का अनुभव नहीं है। सच्चे सन्त से मिलने की लगन या तड़प ही नहीं है। इसलिए वह इस बात की सतर्कता नहीं रखता कि कहीं ऐसा न हो कि सच्चे सन्त मिलें पर वह उन्हें पहिचान न सके उनसे लाभ न उठा सके। जहाँ सतर्कता बहुत है, श्रद्धा या मुमुक्षुत्व शिथिल है, सन्त की उपेक्षा की संभावना भी अधिक है।

राग, द्वेष का अभाव सन्त की खास पहिचान है। रूप, वेश, कुल, धन, क्रिया, उपासना पद्धति, दार्शनिक विचारधारा, रहन सहन के भेद गौण हैं। राग द्वेष का अभाव एक आन्तरिक गुण है, बाहरी आचरण के निरीक्षण से उसका पता लगाना कठिन है। यह ठीक है कि ऐसे आन्तरिक लक्षण का आचरण पर प्रभाव पड़ता ही है परन्तु इस प्रभाव की पकड़ (परख) राग द्वेष दूषित चित्त को ठीक ठीक नहीं हो पाती। इस प्रभाव का भी दम्भ संभव है। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि कई बार सन्त गुप्त रहने की इच्छा से ऐसे प्रभाव के विपरीत आभास दे देते हैं, जिससे किसी मन्द अधिकारी या अनधिकारी पुरुष की उन पर श्रद्धा न जमने पाए। ऐसे कारणों से यह अति कठिन कार्य है

कि स्वयं राग द्वेष से युक्त होते हुए हम दूसरे की राग द्वेष विहीनता को परख ले। परन्तु राग द्वेष रहित सन्त इस विषय में सच्चा और पक्का पारखी होता है।

साधारणतः लौकिक चातुर्य से लोग कुछ ऐसी धारणाएं बना लेते हैं कि सच्चा सन्त ऐसे ऐसे लक्षणों वाला नहीं हो सकता। वैसा कोई भी लक्षण मिलने पर तुरन्त किसी व्यक्ति का सन्त होना अमान्य कर देते हैं। यह धारणाएं एकदम व्यर्थ, निराधार या गलत तो हैं नहीं परन्तु इनका कसौटी की तरह प्रयोग कई बार गलत परिणाम तक पहुंचा देता है। ऐसी धारणाएं निम्नवत् हैं—

सच्चे सन्त हिमालय की कन्दराओं में ही हो सकते हैं या बीहड़ वनों में, शहरों में मिल ही नहीं सकते।

सिद्ध सन्त शहरों में भीख मांगते नहीं दिखाई पड़ते।

सच्चे सन्त की रहनि अवश्य ही तपस्यापूर्ण होगी, भोजन, वस्त्र, आवास आदि में उसका रईसी ठाठ नहीं हो सकता।

सन्त के जीवन में समाज, साधुता, शिष्टता आदि की मर्यादाओं के पालन में कोई कमी नहीं मिलनी चाहिए।

सच्चे सन्त अमीरों का आतिथ्य स्वीकार नहीं कर सकते।

सच्चे सन्त गद्दीश्वर, महन्त, प्रचारक या अध्ययन प्रधान, विद्वान या सार्वजनिक काम में लगे हुए नहीं हो सकते। आदि आदि।

यह नहीं कहा जा सकता कि ऐसी धारणाओं में सत्य का कोई अंश नहीं है, परन्तु इनका कसौटी की तरह प्रयोग भयावह हो सकता है। इन सबको पूरा सही मान लें तो इनका सम्मिलित प्रभाव यह होगा कि

शहरों में रहने वाले पढ़े लिखे तार्किक नागरिकों की जिस किसी से भेंट होगी उसका सन्त होना तो पहले से ही असिद्ध रहेगा। इस बात की भी उपेक्षा नहीं की जा सकती कि उपर्युक्त कसौटियों का लापरवाही म प्रयोग होने पर बहुत महान् ऐतिहासिक सन्तों की भी अमान्यता होने लगेगी, जिनकी अमान्यता के पहले यह कसौटियां ही अमान्य हो जायेंगी।

श्री राम कृष्ण परमहंस जी महान् नगर कलकत्ता में दक्षिणेश्वर मन्दिर में रहते और पूजा करते थे, श्री स्वामी विवेकानन्द व श्री स्वामी रामतीर्थ महान् प्रचारक थे, अनेक वैष्णवाचार्य, जगद्गुरु, जगदाचार्य, महामण्डलेश्वर आदि गद्दीधर थे और हैं, प्रचार कार्य से महान् सन्त नगरों में आते ही हैं, महोत्सवों में उनका प्रवचन होता है। कुछ के स्थायी केन्द्र महान् या उप नगरों में हैं और उन केन्द्रों में लौकिक सम्पन्नता भी मिलती हैं। इसलिए उपर्युक्त कसौटियाँ अन्तिम और निर्विवाद रूप से सही नहीं हैं। इसका यह अर्थ विल्कुल नहीं है कि इनकी उल्टी धारणाएँ सही हो सकती हैं।

उपर्युक्त के अतिरिक्त यह भी एक विचित्र रोचक तथ्य है कि कुछ लोग यह अपेक्षा रखते हैं कि सन्त महान् विद्वान होना चाहिए, कुछ लोग विद्य ाप्रधान व्यक्ति को सन्त मानने को तैय्यार नहीं है, कुछ लोग स्वामी हरिदास जी जैसे सन्त के प्रति इसलिए विशेष श्रद्धालु हैं कि अप्रतिम गयनाचार्य थे, कुछ गायनाचार्य को उसी रूप में मानेंगे सन्त रूप में मान ही नही सकते, कुछ लोगों के अनुसार सन्त को प्रचार में पड़ना ही नहीं चाहिए, कुछ समझते हैं कि केवल सन्तों दारा किया हुआ प्रचार सार्थक है। इस प्रकार परस्पर विरोधी मान्याताओं में पड़कर भटकते रहते हैं। सहज श्रद्धालु भक्त ऐसे तार्किकों की दृष्टि में अन्ध-विश्वासी असावधान व मूर्ख ठहरते हैं।

इसलिए राग देष मुक्त सन्त ही सच्चे पारखी हैं, अन्य प्रकार की योग्यताएँ रखने वाले सच्चे पारखी नहीं हो सकते। वही सुजान सन्त हैं। सुज़ान हैं अर्थात् चतुर हैं, दक्ष हैं, विवेकी हैं, कुशाग्र बुद्धि हैं। सुजान सन्त की चतुराई परमार्थ के क्षेत्र में सदुपयुक्त होती हैं। आध्यात्मिक क्षेत्र में भी चतुराई का उपयोग है। सुजान का अर्थ चतुर अवश्य है, परन्तु इस अर्थ में साधरण अर्थ वाली चालाकी का तात्पर्य बिल्कुल नहीं है। साधारण अर्थ में जो व्यक्ति चालाक माना जाता है वह ऋजु (सरल) नहीं कुटिल होता है जबकि सन्त—

सरल स्वभाव न मन कुटिलाई। यथा लाभ सन्तोष सदाई ।।
(उत्तर काण्ड)

संसार का साधारण चालाक आदमी और यहाँ उल्लिखित सुजान सन्त दोनों की चतुराई एक सी नहीं होती, बहुत भिन्न भिन्न प्रकार की होती है। इसलिए इस चतुराई को पहचानना हैं कि वह कैसी होती है जो आजंव (सरलता) को नष्ट नहीं करती, उसके साथ साथ साथ चलती है। परमार्थ की दृष्टि से चतुराई कैसी होनी चाहिए, होती है, उस पर दृष्टिपात् कीजिये। योगी और भोगी की दृष्टि इस विषय में भी भिन्न, बल्कि विपरीत है।

श्री गोस्वामी जी ने स्वयं दोहावली जी में कहा है —

तुलसी चतुराई सोई, वृत्ति राम पद लीन।
पर धन पर मन हरन कहँ, वेस्या परम प्रवीन ।।

इससे ही स्पष्ट हो गया कि गोस्वामी जी पर धन' पर मन हरण करने वाली चालाकी को अभीष्ट या सच्ची चतुराई नहीं मानते। श्री विनय पत्रिका जी में कहा है —

इर्हा को सथानप अयानप सहस सम,
सूघे सतिभाय कहे मिटति मलीनता ।

श्री राम चरित मानस में श्री रामचन्द्र जी का ही कथन है–

निरमल मन जन सो मोहि पावा । मोहि कपट छल छिद्र न भावा ।।

श्री भर्तृहरि जी कहते हैं–

या लोक दय साधिनीं चतुरता, सा चातुरी चातुरी ।

जो चतुराई लोक परलोक दोनों को सवाँरने वाली चतुराई है, वही चतुराई है । जो लोक परलोक को बिगाड़ कर इस लोक में सुख सुविधा सवाँरते हैं, और अन्त में सँवारा हुआ सभी कुछ यहीं छोड़कर दुर्गति भोगने के लिए परलोकगामी होते हैं, वे शास्त्रों व सन्तों की दृष्टि में चतुर नहीं मूर्ख ही हैं ।

एक पुराना चुटकुला है । एक राजा के दरबार में एक बिदूषक (मसखरा) था । राजा से उसकी हास्य विनोद की बातें होती रहती थीं । एक दिन राजा ने बिदूषक को एक छड़ी भेंट की और कहा कि तुम्हें कोई अपने से भी बड़ा मूर्ख मिले तो उसे यह छड़ी भेंट करना । विदूषक ने छड़ी ले ली । काल क्रम से राजा बीमार पड़ा और गंभीर रूप से बीमार रहा । विदूषक राजा को देखने पहुँचा । इस प्रकार बातचीत हुई :–

विदूषक –कहिये सरकार आपकी कैसी तबियत है ?
राजा –अरे ! कुछ न पूछिये अब चला चलाई है ।
विदूषक –सरकार कहाँ जा रहे हें ?
राजा –बहुत दूर जाना है ।
विदूषक –सरकार की कब तक वापसी होगी ?
राजा –वापसी कभी नहीं होगी ।

विदूषक –अच्छा तो सरकार की लम्बी यात्रा के लिए (जिससे वापसी होगी ही नहीं) क्या क्या तय्यारी की गई है ?

राजा –तय्यारी कुछ नहीं है।

विदूषक –छड़ी हाजिर है, हम लोग तो छोटी छोंटी अल्पकालिक यात्राओं की तय्यारी आवश्यक समझते हैं।

यदि किसी को भी चिरकालीन या सदैव के लिए प्रवास करना हो और वह उन्हीं वस्तुओं की चिन्ता करे जो साथ नहीं जायेंगी ओर साथ जाने वाले सामान को ठीक करने की सावधानी न रक्खे तो ऐसे व्यक्ति को कोई भी बुद्धिमान् (या चतुर या सुजाने) नहीं कहेगा, उसे मूर्ख या या पागल ही कहा जायगा। परन्तु परलोक यात्रा के विष्य में प्राय: सभी मनुष्य प्रमाद करते ही रहते हैं। विवेक दृष्टि से इसे चतुराई नहीं माना जा सकता, इसे अविवेक या मूढ़ता ही कहा जायगा।

श्री गुरू नानक जी की एक चटना है। वे एक सज्जन के यहाँ ठहरे। जब चलने लगे तो वे सज्जन उन्हें बहुत दूर तक पहुँचाने गए। रास्ते में एक कोठी मिली जिस पर सात झण्डे लगे हुए थे। गुरू जी ने पूछा, यह क्या हैं ?' वे बोले यहां एक सेठ जी रहते हैं, बड़े धनी हैं। जब वे एक लाख रुपया कमा कर रख लेते है तो एक झण्डा लगा देते हैं। गुरूजी सेठ जी से मिले। सेठ जी ने उनका बड़ा सत्कार किया और अपने करने योग्य सेवा पूछी। गुरू जी ने कहा –सेठ जी ! मेरे पास एक सोने की सुई है, आशंका है कि कहीं खो न जाय, कोई ले न ले। आप वह सुई लेकर रख लीजिये। परलोक में वापस कर दीजियेगा।' सेठ जी ने कहा, 'परलोक में कैसे वापस कर सकूँगा ? वहां कैसे जायगी ? गुरू जी ने कहा, 'जैसे और सब सामान जायगा वैसे, यह भी जायगी। सुई में कौन बोझा है ? इस तरह सेठ जी को बोध करा दिया गया कि

तमाम सम्पत्ति अर्जित करके रख रहे हो, जिसमें से एक सुई भी परलोक न जा सकेगी। काम न आ सकेगीं। इसलिए जिनकी चतुराई 'लोक द्रय साधिनी' नहीं है, वह अविवेक युक्त है' सच्ची चतुराई नहीं है। कोई कोई इस लोक की परवाह न करके परलोक बनाना चाहते हैं, परन्तु इस लोक का व्यवहार बिगड़ने से परमार्थ पथ में भी विघ्न बाधा उपस्थित होती है। यतोऽभ्युटसः निःश्रेयस् सिद्धिः सः धर्मः। जिससे संसार में उन्नति हो और परलोक में भी कल्याण (मोक्ष) हो वह धर्म है।

श्री मद्भागबत में भी सन्त की चातुरी का रहस्य बताया है —

एषा बुद्धिमतां बुद्धि मंनीषा च मनीषिणाम्।
यत्सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति माऽमृतम्।।

(श्री मद्भागवत ११. २९. २२.)

यही असली लाभ है और सच्ची चतुराई है कि मिथ्या संसार के बदले सत्य स्वरूप परमात्मा को पा जाय, इस मरण शील देह के द्वारा अमृत स्वरूप (भगवान्, मीक्ष) की प्राप्त करे इससे बढ़िया व्यापार और लाभ क्या हो सकता है? जो प्रलोभन में, या आकर्षण में फँस जाता है, दूरदर्शी नहीं है, वह चतुर कहाँ है? सच्ची चतुराई में दूरदर्शिता सम्मिलित है। अतः राग द्वेष मुक्त व्यक्ति सन्त भी है, सुजान भी, चाहे दुनियाँ उसकी चतुराई की समझ सके या नहीं।

सन्तों की ऋजुता (सरलता) ही कभी कभी इसलिए चतुराई सिद्ध हो जाती है कि कुटिल लोग सरल आचरण का भी कुटिल अर्थ लगाकर धोखा खा जाते हैं जैसे –

सहज सरल रघुबर बचन, कुमति कुटिल करि जान।

जिस क्षेत्र में जो कार्यरत है उसी में प्रगति होने से चतुराई लक्षित होती है। सन्त भगवान् की प्राप्ति में लगे हैं, उनकी चतुराई इसी में है कि साधना सफल हो, भगवान् मिलें। भगवान् न मिल पावें, थोड़ी माया मिल जाय इसमें न सफलता है न चतुराई। भगवान् सरल व्यक्ति को ही मिलते हैं, कुटिल को नहीं –

तं सुखाराध्यमृजुभिरनन्य शरणैं नृंभिः।
कृतज्ञः को न सेवेत 'दुराराध्यमसाधुभिः ।।

(श्रीमद्‌भागवत ३. १९. ३६.)

भगवान् ऋजु (सरल स्वभाव वाले) पुरुष के लिए 'सुखाराध्य' हैं, असाधु के लिए दुराराध्य हैं।

श्री गीतावली जी में तो श्री कौशल्या जी ने इसे भी कुशलता का का कार्य नहीं माना कि श्री दशरथ जी ने श्री राम जी को छोड़कर (वन वास देकर) धर्म का पालन किया–

हरि तजि धर्म शील भयो चाहत, नृपति नारि बस सरबस हारे।

दोहे में राग द्वेष मुक्त पुरुष को सूर (वीर, बहादुर, साहसी) भी माना है। वह कैसे? यहाँ जिस साहस या शौर्य का उल्लेख है वह अखाड़े या युद्ध भूमि वाला नहीं है। अखाड़े की कुश्ती, या अन्य संघर्ष या सैनिक युद्ध के सच्चे वीर भी थोड़े ही होते हैं, वे प्रसंसनीय हैं, देश या धर्म के लिए आत्म-बलिदान करने वाले क्रान्तिकारी भी स्तुत्य शूरवीर गिने गए हैं। परन्तु समरभूनि के शूरवीरों से कहीं अधिक महान् वे लोग हैं जो मनोविजय करते हें। 'मन के हारे हार है मन के जीते जीत।'

राग द्वेष से रहित व्यक्ति सचमुच शूर वीर, बहादुर,) है। युद्ध के सिपाही या अखाड़े के पहलवान अपनी वीरता दिखाते हैं, परन्तु राग

द्वेष से प्राय: प्रेरित रहते हैं। उनकी वीरता राग द्वेष रहित नहीं है। जिस तरह की वीरता वे दिखाते हैं, वह प्राय: रजोगुणी वीरता है और रजोगुण में राग द्वेष की प्रबलता रहती है। रजोगुणी व्यक्ति यह आशा ही नहीं कर सकता कि राग द्वेष रहित व्यक्ति वीर सिद्ध होगा। इसलिए उसे शंका हो सकती है कि श्री गोस्वामी जी ने यहाँ राग द्वेष रहित व्यक्ति को शूर क्यों माना है ?

लड़ाई के सिपाही हिंसा के कार्यों में अपनी वीरता दिखाते हैं, प्रतिपक्षी की पराजय या मृत्यु से उनकी वीरता का निश्चय होता है। सिपाही इसलिए वीर है कि मरने को तैय्यार है, परन्तु उसकी योजना मारने की ही है, मरने की नहीं। युद्ध में कभी कभी बलिदानी-दल गठित किये जाते हैं और उन्हें ऐसे काम में लगाया जाता है जिसमें उनकी मृत्यु तो अनिवार्य हो, परन्तु शत्रु को बहुत बड़ी हानि हो। जैसे भारतीय सेना के कुछ सिपाही शत्रु सेना के मार्ग में, सीने पर बम बाँध कर लेट गये, मुर्दे की तरह पड़े रहे। शत्रु के टैंक उन पर से निकले तो बम फटे। एक सिपाही मरा पर एक टैंक टूटा। इसी प्रकार द्वितीय विश्व युद्ध में एक जापानी वायुयान से बम हाथ में लेकर कूदा और अंग्रेजी युद्ध पोत की चिमनी में चला गया। इंजन में जाकर बम फटा, जपानी मरा परन्तु युद्धपोत टूटा व डूबा। उस पोत के सिपाही भी सब मरे। ऐसे सिपाही अधिक वीर माने जाते हैं, क्योंकि उन्हें जीवित बच जाने की आशा नहीं होती। इसी तरह बहुत से क्रान्तिकारियों की वीरता की प्रशंसा हुई। महात्मा गाँधी अहिंसक सत्याग्रही की वीरता हिंसक सेना के सिपाही की वीरता से अधिक मानते थे, क्योंकि सत्याग्रही के सामने प्रतिपक्षी की जान लेकर स्वयं बचे रहने का विकल्प नहीं होता। भय या भौतिक हानि शत्रु की नहीं सत्याग्रही की ही हो सकती है। सच्चा सत्याग्रही सिद्धान्त पर बलिदान होने निकलता है, शत्रु का रक्त बहाने के लिए नहीं। अत: वह श्रेष्ठतर वीर है।

कहा जाता है कि तलवार के घाव तो कालक्रम से भर जाते हैं, परन्तु बात (मर्मोक्ति व्यंग्य, अपमान के शब्द) के घाव नहीं भरते हैं। शस्त्र के घाव सहन करने वाले भी बात के घाव नहीं झेल पाते। यथा—

सूल कुलिस असि अँगवनि हारे। ते रतिनाथ सुमन सर मारे।।

(अयोध्या काण्ड)

बाग्वाणों की नोक, लोहे के तीरों की नोक से भी अधिक तीखी, पैनी, हो सकती है। ऐसे तीक्ष्ण शर को झेलकर जो शीतल सन्त तनिक भी विकारबान् (क्रुद्ध) नहीं होता [पूर्व छन्द ४९] वह क्यों न श्रेष्ठतर या सच्चा शूर [वीर] मान्य हो ?

एक दृष्टि से जीवन का हर क्षेत्र संघर्षमय है। सिपाही का संघर्ष शत्रु से है, बलिदानी का अधर्म या अन्याय से, सुधारक का संघर्ष कुरीतियों से है, अध्यापक का संघर्ष अज्ञान से, चिकित्सक का संघर्ष रोग से है, साधक का संघर्ष विकारों, प्रलोभनों से इत्यादि। प्रत्येक संघर्ष क्षेत्र में शूरता प्रदर्शन का अवसर है। वीरता का सदुपयोग हर क्षेत्र में प्रशंनीय है, दुरुपयोग (परेषाम् परिपीडनाय प्रयोग) निन्दनीय है। हिंसात्मक वीर का शौर्य व्यावहारिक जगत में प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है और शीघ्र प्रभावी जान पड़ता है, इसलिए जन दृष्टि में प्रमुख हो जाता है। परन्तु खतरे उठाकर आविष्कार या खोज करने वालों या उद्धारकों या सस्कृति उन्नयन-कारियों या धर्मनिष्ठों की वीरता विवेकियों की दृष्टि में कम नहीं अधिक है। दानवीर खड्गवीर से भी अधिक प्रशसनीय होता, है।

राग द्वेष मुक्त पुरुष की शूरता साधन के क्षेत्र में है। सम, विषम सुखद, दुखद परिस्थितियों को झेलते हुए चित्त को निर्विकार और सम, एकरस रखना अप्रतिम वीरता मानी गई है। जिसने अपने चित्त को समता में स्थित कर लिया उसने सारी सृष्टि पर विजय प्राप्त कर ली।

(गीता ५. १९.) तस्मात् वह अप्रतिम विजेता है। वह पुरुष जगन्नियन्ता से अभिन्न होकर सृष्टि विजय लाभ प्राप्त करता है।

यह भी समझना चाहिये कि हिंसा की लड़ाई जीतने पर अविवेकी की दृष्टि में लड़ाई समाप्त हो जाती है, सत्ता प्राप्त हो जाती है, परन्तु सत्ताधारी को असा भ्रम होना ही विनाश का कारण है। क्योंकि लड़ाई जीतने और सत्ता प्राप्त करने के बाद विजयोन्माद सहज संभव है। यह भ्रम सहज संभव है कि अब कोई संघर्ष नहीं है, अत: निश्चिन्त होकर मनमानी कर सकते हैं। युद्धकाल में त्याग की आवश्यकता थी, अब भोग का सुयोग प्राप्त है। बिवेक की दृष्टि से ऐसा कुछ नहीं है। उल्टे सत्ताधारी को धर्म स्थापना का कर्तव्य प्राप्त है। सत्ताधीश को राजमद हो जाय तो वह अपने को लौकिक पारलौकिक सभी नियमों से ऊपर मान लेता है। अत: वह मर्यादा पालक न होकर, मर्यादा का घातक बन जाता है। मर्यादाघात को उसका प्रश्रय मिल जाता है। इस प्रकार धर्म (कर्तव्य, नियतकर्म, मर्यादा, सदाचार) का हनन् होने लगता है। धर्म ही प्रजा को धारण करता है। धर्म एव हतो हन्ति, धर्मो रक्षति रक्षित:।` धर्म का हनन् होने से समाज विश्रखलित होने लगता है ओर सत्ताधारी भी विनाशोन्मुख होने लगता है, जिसका कुछ समय तक उसको अनुभव ही नहीं होता। इसलिए व्यावहारिक जगत में भी युद्ध विजय के बाद धर्माधर्म के संघर्ष में विजय का प्रश्न ज्वलन्त रहता है। प्रमाद होने पर राजा भगवान् का अंश न बनकर शैतान का अनुचर बन जाता हैं। इस श्रेय और प्रेय के युद्ध मैं यदि श्रेय की विजय न हुई तो युद्ध विजय का सारा नैतिक मूल्य समाप्त हो जाता है।

श्रेय और प्रेय के संघर्ष में श्रेय की विजय आत्म संयम के ही द्वारा हौती है, धन, सत्ता या सेना से नहीं हो सकती। इसलिए समाज और राष्ट्र के कल्याण के लिए रार्जाष चाहिये विलासी सम्राट नहीं। राग

द्वेष मुक्त सन्त ही सत्तायुद्ध और धर्मयुद्ध में कल्याणकारी भूमिका निभा सकते हैं। शेष लोगों का भोग के प्रवाह में वह जाना अवश्यंभावी हो जाता है, इसलिए राग द्वेष रहित दशा में ही सच्ची वीरता समाविष्ट है। यही सच्चे सन्त का गौरव है।

जो सबसे कठिन लड़ाई जीते, वही सबसे बड़ा वीर है। मन ही मनुष्य के बन्धन व मोक्ष का कारण है। अपना मन ही अपना शत्रु या मित्र है संयमित, नियंत्रित, सुविजित मन मित्र है, असंयमित मन ही शत्रु का काम करता है। इसलिए मन को जीतना आवश्यक है। 'मन के हारे हार है मन के जीते जीत।' मन को जीतना युद्ध विजय से कहीं अधिक कठिन कार्य है। मन के जीतने में अखण्ड जागरूकता की आवश्यकता पड़ती है। इस लड़ाई में दिन रात, किसी समय बिना पूर्वाभ्यास के युद्ध प्रारम्भ हो सकता है। सदैव तय्यार रहने की बात है।

युद्ध के सिपाही को मारू बाजे बजाकर और नशे में लाकर, कुछ समय के लिए जान लेने और देने के लिए तत्पर कर दिया जाता है। उसका अनुशासन परेड में और उसकी वीरता युद्ध के समय ही रहती है, हर समय नहीं। साधक को अखण्ड सावधानी चाहिये, कहीं किसी समय मन धोखा न दे जाय।

सूर सती होना सहज, घरी पहर को काम।
साधू होना कठिन है, निशि दिन आठो जाम।।

सारा संसार माया वश है, विरले विरले सन्त ही बचे हैं, अतः काम, क्रोध, आदि बिकारों से रहित व्यक्ति अप्रतिम वीर हैं। श्री राम के राज्य में शत्रुओं के जीनने की समस्या नहीं थी परन्तु मन को जीतने की चर्चा चलती रहती थी।

जीतहु मनहिं सुनिय अस, राय चन्द्र के राज।
(उत्तर काण्ड)

राग द्वेष रहित व्यक्ति को 'सचेत' भी कहा है। राग द्वेष से ही प्रमाद प्राप्त होता है, मनुष्य असावधान हो जाता है। पशु हो या मनुष्य आसक्ति के स्थान पर ही उनकी सावधानी में कमी की आशा की जाती है और शिकारी या शत्रु इस कमजोरी को जानकर इसका फायदा उठाता है। आसक्ति पराभव का मार्ग प्रशस्त करती है। जिसके राग और द्वेष क्षींण हों गए हैं, उसमें यह कमजोरी है ही नहीं, तस्मात् उसके लिए सदैव 'सचेत' व सावधान रहना सहज संभव है।

यहाँ 'सचेत' का अर्थ साधारण लौकिक व्यवहार में पूरी सावधानी और सतर्कता नहीं है। यद्यपि विकारमुक्त सन्त विवेकी होते हैं और आसानी से धोखा नहीं खाते, परन्तु लौकिक परिणामों को अधिक महत्त्व न देने के कारण वे कई बार लापरवाह या असावधान जान पड़ते हैं। उनकी असली सतर्कता पारमार्थिक ही है। वे माया के संभावित प्रलोभन या प्रहार के प्रति पूरे 'सचेत रहते हैं कि कहीं धोखे से भी विकारवश न हो जायँ। इस प्रकार से सचेत रहना सबसे अच्छा है, क्योंकि इस प्रकार सचेत रहने से जो विकार रहित जीवन दृढ़ ओर स्थिर रहता है, उसका पारमाँथिक ही नहीं लौकिक या व्यावहारिक शुभ फल भी अत्यन्त महान् है। संसार कैसा है और इसके लोग आपस में कैसा व्यवहार करते हैं, इस विषय में अलग अलग साधकों का अनुभव एक सा नहीं है, भिन्न भिन्न यहां तक कि विपरोत भीं है। यह अनुभव अन्तःकरण की भूमिका से सम्बन्ध रखता है। शुद्ध सन्त के लिए 'सर्वा सुखामया दिशः' 'सुखमय ताहि सदा सब आसा॥ (उत्तर काण्ड) चोर, डाकु, दुष्टजन भी सन्तों के प्रति अच्छा व्यवहार करने लगते हैं। सेन्त को सभी जगह सुख है। जिस पवित्र अन्तः करण का यह चमत्कार है, उसकी पवित्रता को स्थिर रखना और बढ़ाते जाता ही सच्ची सुजानता है।

सन्तों की दृष्टि में वही सचेत है जिसे माया ठग न सके। वह सचेत नहीं है जो वर्तमान् जीवन की व्यवस्था में ही सारा जीवन लगा देता है और परलोक के भावी जीवन की कोई व्यवस्था नहीं करता। यदि कोई यात्रा पर जाता है तो उन वस्तुओं की व्यवस्था करता है जो साथ जायँगी और यात्रा में काम आएँगी। इसके विपरीत जो साथ न जाने वाली वस्तुओं की व्यवस्था में लगा रहता है और यात्रा की और प्रवासी जीवन की आवश्यकताओं की परवाह नहीं करता वह सही अर्थों में सचेत नहीं कहा जा सकता। इसलिए रागद्वेष विमुक्त व्यक्ति ही सचमुच सचेत है।

वही प्रामाणिक योद्धा भी है। पहले शूर ओर सचेत कह चूके हैं, तथापि प्रमाणिक योद्धा कहकर एक प्रकार से पुनरुक्ति या पुष्टि की है। जो युद्धों में अथवा कुश्तियों में बार बार वीरता प्रदर्शित करता है वह शूर कहलाता है, परन्तु अविवेकी शूर होना पर्याप्त नहीं। अँग्रेजी में एक कहावत है कि विवेक ही वीरता का श्रेष्ठ अंश (सार) है। वीरता का कब. कैसा और कितना प्रयोग करना, इसका जानने वाला ओर तदनुसार व्यवहार करने वाला शूर और विवेकी दोनों है। श्री हनुमान् जी को सुन्दर काण्ड में 'अतुलित बल धामं। तो कहा परन्तु साथ ही ज्ञानिनामग्रगण्यम् भी कहा। 'बुधि विवेक विज्ञान निधाना। साधारण समय में आप ऐसे सीधे सादे बैठे रहते थे कि रावण को यह सूचना दे दी गई कि —

जेहि पुर दहेउ हतेउ सुत तोरा। सकल कपिन्ह महँ तेहि बल थोरा।।
(सुन्दर काण्ड)

परन्तु पराक्रम के अवसर पर आपने अकेले ही लंका दहन व निशिचर बध किया ओर सभी लंकावासियों को ऐसा आतंकित कर दिया कि महाराणी जी को उत्पीड़ित करने का साहस भी न कर सकें।

'जरै नगर अनाथ कर जैसा। सुन्दर काण्ड।

आध्यात्मिक दृष्टि से प्रवृत्ति ही लंका का दुर्ग है। प्रबल वैराग्य ही दारुण 'प्रभंजन तनय 'श्री हनुमान हैं' आसक्ति का नाश ही लंका दहन है।

जो बल विवेक से सम्पन्न हैं, बार बार बिजयी होता हैं वह प्रामाणिक योद्धा मान लिया जाता है। जो आन्याध्मिक संघर्ष में बार बार विकारों पर विजयी होता हुआ अन्तिम विजय प्राप्त करता है वह प्रमाणिक वीर (सुभट प्रमान) मान्य है। राग द्वेष से नितान्त मुक्त सन्त ऐसा ही प्रामाणिक योद्धा है। उसकी वीरता और विजय सबके सामने नहीं आती, न उसका महोत्सव मनाया जाता है, अधिकारी पुरुष ही उसका गौरव समझ पाते हैं।

ऐसे सन्त को ही ज्ञानी कहा है। यहाँ ज्ञानी का अर्थ पुस्तक ज्ञानी या शास्त्र ज्ञानी नहीं है। अनुभूति-संयुक्त ज्ञान, अपरोक्षानुभूति से तात्पर्य है। राग द्वेष रहित सन्त को तत्त्वानुभूति हो जाती है। राग द्वेष से ही यंसार सत्य सुखद व कल्याणप्रद लगता है।

संसार स्वप्नतुल्यो हि राग द्वेषादि संकुलम्।
स्वकाले सत्यवद्भाति प्रवोधे ऽसत्यवद्भवेत्।।

राग द्वेष के अभाव में संसार न सत्य लगता है, न सुखद, न स्थिर, न श्रेयस्कर। तब संसार का सही रूप सामने आ जाता है, उसका प्रतीतिमान् स्वरूप किथ्याभास सिद्ध हो जाता है, तब उस परम तत्त्व की भी अनुभूति हो जाती है जिसकी सत्ता से यह जगत् सत्य भासता है।

यत्सत्वादमृषैव भाति संकलं रज्जो यथा ऽहैर्भ्रमः।
(वाल काण्ड)
जासु सत्यता ते जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया। ,, ,, ,,
जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे यथा सपन भ्रम जाई।। ,, ,, ,,

धाम्ना स्वेन सदा निरस्त कुहकं सत्यं परं धीमहि ।।

(श्री मद्भागवत १. १. १.)

जो अपने प्रताप से सदा (जगत् रूपी) भ्रम को निवारण कर रहे हैं, उन परम सत्य स्वरूप भगवान् का हम ध्यान करते हैं ।

राग द्वेष की निवृत्ति से मोह (अविद्या) की निभृत्ति होती है, अहं-भाव की निवृत्ति होती है, विद्या (यथार्थ ज्ञान, तत्त्व ज्ञान) की प्राप्ति होती है, बोध हो जाता है । इसी असली ज्ञान को प्राप्त करने से सन्त ज्ञानी मान्य है ।

पुस्तक या शास्त्र का यथावत् ज्ञान भले ही न हो परन्तु ऐसे ज्ञानी (अनुभवी) सन्त के वचन स्वाभाविक रूप से शास्त्र के मर्म से युक्त, शास्त्रानुकूल, होते हैं यथा श्री राम कृष्ण परमहंस देव जी के या महर्षि रमण के उपदेश ।। ऐसे सन्त की तुलना में मात्र पोथी पण्डित ही अज्ञानी ठहरता है ।

ज्ञानी के साथ साथ ऐसे सन्त को गुणी भी कहा है । राग द्वेष से रहित अन्त:करण में अनेक शुभ गुण सहज ही आ जाते हैं । उनके अबरोधक विकार नहीं होंते तो उनका विकास सहज रूप में होता है ।

सिमिटि सिमिटि जल भरै तलावा । जिमि सद्गुन सज्जन पहिं पावा ।।

(किष्किन्धा काण्ड)

गुनी का यहाँ साधारण अर्थ-विशेषज्ञ कलाकार, विशिष्ट प्रशिक्षण प्राप्त आदि नहीं है । अच्छे, उत्तम, श्रेयष्कर, नैतिक गुणों से युक्त, यह अर्थं है । परन्तु यह समझने की बात है कि ऐसे नैतिक गुणों वाले मनुष्य में अनेक भोतिक गुण या यीग्यताएं स्वत: आ जाती है ।

गुणों का सदुपयोग होने से वे बढ़ते हैं, अनुपयोग से वे घटते हैं, दुरुपयोग से ओर भी तीवता से क्षीण होते हैं । राग द्वेष विहीन व्यक्ति

के द्वारा योग्यताओं और गुणों का सदुपयोग ही होता है, विकार उसमें विकृति उत्पन्न नहीं कर सकते इसलिए उन गुणों से अच्छी सेवा ही पाती है। सेवा बिगड़ती नहीं। असकी आड़ में स्वार्थ सिद्धि नहीं होती, अत: समाज को अधिक लाभ होता है और गुणों की धाक अच्छी जमती है। यश प्राप्त होने पर भी अभिमान नहीं आता इसलिए भी सेवा अच्छी चलती है। हानि लाभ आदि से भी बुद्धि चलायमान नहीं होती है, ऐसी स्थिर बुद्धि (स्थित प्रज्ञा) से भी गुणों की प्राप्ति व उनके विकास में बड़ी सहायता मिलती है। अविकारी पुरुष सात्विक कर्त्ता होता है। अत: उसके कर्म शुद्ध रूप में चलते हैं और विशेष प्रभावी होते हैं। अत: वह गुणी हो जाता है। बहुत बड़ी वात यह है कि उसके निरभिमान शुद्ध अन्त:करण में भगवदीय शक्तियाँ क्रियमाण हो जाती हैं। भगवदीय शक्तियों के चमत्कार उसके सामने आते हैं तथा जोगों को उसकी सेवा में चमत्कारी प्रभाव दिखाई पड़ता है। जो गुण उसमें हो नहीं उसका भी प्रभाव दिखाई पड़ सकता है, और फिर उसका अकाट्य प्रमाण मिलने से वह मान्य हो जाता है।

चरण कमल बन्दौं हरिराई।
जाकी कृपा पंगु गिरि लंघै, अन्धे कहुँ सब कुछ दरसाई।।
बहिरो सुनैं मूक पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराई।।
(सूरदास)

वह दाता भी माना गया। जो लोभी नहीं है, संग्रहीता नहीं है वही दाता हो सकता है। साधारण जन के पास जितना धन होता है, वह उसे कम ही लगता है। अत: वह लोभ वश और अधिक पाने के लिए प्रयत्न शील रहता है। लोभीं को कभी भी यह अनुभव नहीं होता कि वह अधिक रखता है, देने की स्थिति में है, दान कर संकता है। माया की विडम्बना है कि बड़े बड़े रईस पड़े हैं जिनको धनी होने का अभिमान

भी है, परन्तु उन्हें यह नहीं जान पड़ता कि वे उत्सांह से खूब दान कर सकते हैं, दान के नाम से जो कुछ चलता हैं वह प्रायः प्रत्युपकार, परोक्षरूप से घूस होता है, उसमें भी स्वार्थ की प्रेरणा होती है। आजकल का बहुत सा दान अश्रद्धा या असत्कार से भी दूषित होता है, कभी कभी एकदम दाम्भिक होता है। यदि सभी दान सात्विक हो, प्रत्युपकारार्थं न होकर विशुद्ध सेवार्थं, देशकाल पात्र के अनुसार हो (गीता १७. २०.) तो देश और समाज का रूप ही बदल जाय, उद्धार हो जाय।

आचार्य विनोबा ने कहा है, जो समाज से अपने काम की उचित मजदूरी लेता है, वह मजदूर है, जो अधिक लेता है वह उतने अंश तक चोर है और जो सेवा बहुत करता है, लेता कम है, वह उस सीमा तक दानी है। इस दृष्टि से बहुत से सम्पन्न व्यक्ति चोर सिद्ध होंगे और निर्धन दानी सिद्ध होंगे।

सन्त प्रायः धन धान्य से सम्पन्न नहीं होंगे, परन्तु सतोगुण में स्थित होने के कारश दान की प्रेरणा उन्हें अधिक होगी। उनका दान मात्रा में कम भी हो पर अत्यन्त उत्कृष्ट और प्रभावशाली होगा।

यहाँ दाता का अर्थं धन दाता तक सीमित नहीं मानना चाहिए। दवा का दान, विषम परिस्थिति में परामर्शं का दान, सदुपदेश, विद्या दान, अन्नदान, जलदान, सुविधा प्रदान, आदर दान, आश्रय दान, ज्ञान दान, अभय दान, यह सब दान ही है। किसी भी कष्ट पीड़ित व्यक्ति का कष्ट हरण, दान ही है। मुक्त सन्त का जीवन दान मय होता है। उसमें विज्ञापन, प्रदर्शन और अभिमान नहीं होता, प्रतिस्पर्धा, ईर्ष्या, आदि का दोष-स्पर्श भी नहीं होता, इसलिए वह सच्चे अर्थं में दान है, वैसा ही दान समाज में व्याप्त हो जाना चाहिए।

वही सन्त ध्यानी है। ध्यानी का यहाँ अर्थं है भगवान् का ध्यान करने वाला (परं तत्त्व या परं शक्ति या परं सत्य का ध्यान करने

वाला। लोभी धन का ध्यान करता है, परन्तु श्री भर्तृहरि जी ने ग्लानि प्रकट की कि—

ध्यात वित्तमअहर्निश नियमितं, ध्यानैर्न शंभो: पदे।

हमने दिन रात नियमित रूप से धन का ध्यान किया परन्तु श्री शंकर जी के चरण कमल में ध्यान नहीं लगाया। श्री गोस्वामी जी ने राम चरित मानस के अन्त में प्रार्थघा की है कि —

कामिहि नारि पियारि जिमि, लोभिहि प्रिय जिमि दाम।
तिमि रघुनाथ निरन्तर, प्रिय लागहु मोहिं राम॥

जब तक जगत् के पदार्थों व व्यक्तियों में आसक्ति शेष हैं मन उधर जाता रहेगा, ध्यान में विक्षेप होगा, राग द्वेष के क्षोण होने पर बिक्षेप का क्षय हो जायगा, ध्यान अखण्ड और निर्विग्न हो सकेगा। जब जगत् मिथ्याभास रूप मान्य होगा तो जगत् में आसक्ति नहीं रह जायगी, जैसे जागा हुआ व्यक्तिस्वप्न में देखे हुए पदार्थ को पाने की इच्छा नहीं करता। तब मन की अन्य गति नहीं रह जायगी। भगवान् में अनन्य प्रीति होगी। तब ध्यान के बराबर जगत् का कोई भी सुख नहीं, ऐसी अनुभूति के साथ सन्त ध्यान में लीन रहेगा। कामनाएँ ध्यान में विक्षेपकारी हैं, कामनाहीन का ध्यान निर्विघ्न, गंभीर, और आदर्श होता है।

जिस प्रकार जागा हुआ व्यक्ति स्वप्न की वस्तुओं का ध्यान नहीं करता उसी प्रकार ज्ञानी (मुक्त, प्रबुद्ध) व्यक्ति जगत् का ध्यान नहीं करता, तत्त्व चिन्तन में हीं उसका कालयापन होता है। अत: वह उत्तम ध्यानी हैं।

इस प्रकार दो दोहों में श्री गोस्वामी जी ने राग द्वेष मुक्त सन्त के लक्षण कहे।

राग द्वेष की बुझानी। काम क्रोध वासना नसानी ।।
तुलसी जबहिं शान्ति गृह आई।
तब उर ही उर फिरी दोहाई ।।६०।।

श्री गोस्वामी जी कहते हैं कि जब राग द्वेष की आग बुझ गई, काम क्रोध की वासना नष्ट हो गई तो हृदय रूपी घर में शांति छा गई, मन ही मन (प्रदर्शन, विज्ञापन के बिना) श्री राम जी की दोहाई फिर गई। अर्थात् अघोषित घोषणा हो गई कि यहां अन्त:करण पर श्री राम जी का नियन्त्रण है, अत: कोई विकार इस पर आक्रमण (प्रहार) न करे।

छन्द ६० व ६१ में ग्रन्थ का उपसंहार है। अन्तिम परिणति, चरम दशा का उल्लेख करते हुए ग्रन्थ का समापन है। पूर्व कथन की पुनरुक्ति पूर्वक पुष्टि है। यह तो कहा गया है। कि राग द्वेष की अग्नि बुझ जाती है, काम क्रोध के विकार नष्ट हो जाते हैं तो हृदय में शांति छा जाती है। यह नया विचार नहीं है, पहले निरूपित हो चुका है। इतना भेद प्रतीत हो सकता हैं कि पहले शाँति पद के प्रताप से विकार निरसन का उल्लेख था यहां विपरीतत: विकार निरसन हो जाने पर शाँति छा जाने-का उल्लेख है। वास्तव में दोनों का अन्योन्याश्रय संबंध है। विकारनिरसन से शाँति और शांति के कारण विकार हीनता, दोनों क्रम चलते हैं। यह वैसा ही है जैसे वैराग्य से भक्ति और भक्ति से वैराग्य होता है। दोनों बातें ठीक हैं। दोनों क्रम चलते हैं।

दसइँ दसहु कर संजम जो न करिय हित मानि।
साधन वृथा होहिं सब, मिलैं न सारँगपानि ।। वि० प० ।।
मैं जानी हरि पद रति नाहीं। सपनेहु नहिं विराग मन माहीं ।।
(वि० प०)

प्रथमहिं विप्र चरन अति प्रीती । निज निज धरम निरत श्रुति रीती ।।
एहि कर फल पुनि विषय विरागा । तब मम चरन उपज अनुरागा ।।
(अरण्य काण्ड)

जेहि लागि विरागी अति अनुरागी विगत मोह मुनि वृंदा ।
(बाल काण्ड)

वासुदेवे भगवति भक्तियोग: प्रयोजित: ।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं यद् ब्रह्मदर्शनम् ।।
(श्री मद्भागवत ३ ३२. २३.)

उर कछु प्रथम वासना रही । तब पद प्रीति सरित सो बही ।।
(सुन्दर काण्ड)

जिन रघुवीर जरण अपुरागे । तिन सब भोग रोग सम त्यागे ।।
(वि० प०)

सुमिरत रामहिं तजहिं नर, तृण सम विषय विलासु । अयोध्या कांड ।
रमा विलास राम अनुरागी । तजत वमन जिमि नर बड़भागी ।।
हरि निरमल मल ग्रसित हृदय, असमंजस मोहिं जनावै ।।
जेहि सर काक कंक बक सूकर, क्यों मराल तहँ आवै ।।
(वि० प०)

मन ते सकल वासना भागी । केवल राम चरन लव लागी ।।
(उत्तरकांड)

राग द्वेष विनाश और काम क्रोध का निरसन वैराग्य ही है, और जिस शान्ति पद का वर्णन किया गया है वह परा भक्ति ओर शरणागति ही है, यह इस प्रकार प्रकट कर दिया गया है कि शान्ति पद प्राप्त होने पर हृदय में श्री राम जी की दोहाई फिर जाती है । अत: वैराग्य

और भक्ति का अन्योन्याश्रय (पारस्परिक प्रभाव वाला) सम्बन्ध यहाँ लागू है।

श्री गोस्वामी जी कहते हैं जब शान्ति घर (हृदय) में आ जाती है, तो श्री राम जी की दोहाई फिर जाती है। स्पष्ट हो गया कि वर्णित शान्ति के साथ सर्पमण भी है। राम की दोहाई फिर जाती है, अर्थात् राम का संरक्षण हो जाता हैं, राम का कब्जा हो जाता है, राम का नियन्त्रण हो जाता है' राम राज्य कायम हो जाता है। भगवान् का राज्य हृदय में कायम होने का उपदेश ईसाई धर्म में भी दिया गया है और ग़ैब (अदृष्ट, दिव्य शक्ति, भगवान्) के भरोसे जीवन बिताने का उपलेश कुरान के आदि में सूरे बकर में भी है। शब्द इस्लाम में ही शांति और शरणागति का अर्थ भरा है। 'हुकुम रजाई चालना' (भगवदीय आज्ञानुसार आचरण करना) श्री गुरू नानक जी के उपदेश में भी है। सिक्ख शब्द शिष्य का ही अपभ्रंश ,तद्भव रूप) है और शिष्य वही मान्य है जो अनुशासन में हो, आाज्ञपालक हो, अनुगत, शरणागत हो।

प्रश्न यह उठता है कि शान्ति आ जाने से श्री राम जी की दोहाई फिर जाना क्यों आवश्यक है? यह क्यों नहीं हो सकता कि शान्ति है षर शरणागति नहीं है? इसी विषय पर विचार करने से श्री गोस्वामी जी का अन्तिम सन्देश समझने में सुविधा हो सकती हैं। शान्ति और शरणाग़ति की अभिन्नता का सन्देश हृदयंगम करना आवश्यक है।

एक तपस्वी महात्मा कहते थे कि दुनियां में दो तरह के लोग है, मनमुखी और गुरुमुखी। मन की इच्छानुसार चलने वाले मनमुखी, गुरु आज्ञा में चलने वाले गुरुमुखी। बहुत बड़ी संख्या में लोग मनमुख हैं, मनमानी करते हैं। परन्तु राग द्वेष विहीन, काम क्रोधादि से रहित व्यक्ति मनमुखी नहीं हो सकता। उसके मन में कोई इच्छा, वासना या

तृष्णा नहीं हो सकती । अतः वह इच्छा का अनुसरण नहीं कर सकता। उसकी इच्छा (प्रवृत्ति) धर्म पालन की होगी । धर्म का स्रोत शास्त्र है और शास्त्र के द्वारा विश्व नियामक, परमपिता परमात्मा का आदेश ही प्रकट होता है – श्रुति स्मृती ममैवाज्ञे ।' अतः वह भगवदीय आदेश का पालक (रजाकार) होता है । मुस्लिम शब्द भी अरबी भाषा में 'आज्ञा-पालक' के अर्थ में प्रयुक्त होता है । कुरान में इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । आज्ञा सम न सुसाहिव सेवा' (अयोध्या काण्ड) के अनुसार आज्ञापालक ही सबसे बड़ा सेवक है, वही शरणागत है ।

समता में स्थिति ही शान्ति की स्थिति है ।

सुख हरषहिं जड़ दुख बिलखाहीं । दोउ सम धीर धरहिं मन माहीं ।।
(अयोध्या काण्ड)

समत्वमाराधनमच्युतस्य (प्रह्लाद) समत्व ही भगवान् की आराधना है ।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्ण सुख दुःखेषु समः संग विवर्जितः ।। गीता १२. १८. ।
सुख दुःख सहौं रहौं सदा शरणागत तोरे । वि० प० ।
विगत मान सम शीतल मन, सुख दुःख समबुद्धि सहौंगो ।
(वि० प०)

'दैवाल्लब्धेन सन्तोषः (श्री मद्भागवत ३. २८. २.)

दई दई का करत है, दई दई सो कबूल ' (दव का दिया हुआ स्वीकार कर ।

राज़ी हैं हम उसी में जिसमें तेरी रजा हो ।
यही शरणागति है ।

भगवान् के प्रत्येक विधान में सन्तुष्ट व प्रसन्न रहना सच्ची शरणागति है। काम क्रोध आदि विकारों से रहित सन्त इसी रहनि मे रहते हैं।

शील गहनि सउकी सहनि, कहनि हीय मुख राम।
तुलसी रहिये एहि रहनि, सन्त जनन को काम ।। दोहावली ।।

ऐसी समता और शांति ही शरणागति हैं, उससे कुछ भी भिन्न नही। श्री राम जी की दुहाई फिरने की बात में बहुत बड़ा अर्थ भरा है। यह तात्पर्य है कि उर ही उर (मन ही मन) में, बिना किसी विज्ञापन के यह बात दृढ़ हो जाती है कि इस अन्त:करण में राम जी की हुकूमत सक्रिय है, राम जी का संरक्षण है, राम जी ही गति हैं। अत: विना किसी शब्द के ही यह घोषित हो गया कि यहां माया की अमलदारी नहीं चलेगी, काम क्रोधादि विकार यहां कोई उत्पात न करें, श्री राम जी की आज्ञा का ही यहां विशुद्ध और पूर्ण अनुपालन और प्रवर्तन होगा।

दिल गुजर गाहे जलीले आवर अस्त। (हृदय भगवान् के मार्ग में ठहरने का पड़ाव है)।

मम हृदय भवन प्रभु तोरा। तहँ बसे आइ बहु चोरा ।। वि०प०।

जब हृदय में शान्ति छा जाती है तो मानो राजा के लिए कोठी की व्यवस्था सँभल जाती है। राजकीय विश्राम भवन आदि भी जब काम में नहीं आते हैं, तो अव्यवस्थित से पड़े रहते हैं, परन्तु निवास के समय के पूर्व उनकी व्यवस्था ठीक कर दी जाती है। सभी हृदयों में भगवान् का आवास स्थल है, सर्वव्यापी होने से भगवान् सभी जगहों पर सभो अन्त.करणों में हैं ही, परन्तु विशेष रूप से भगवान् का निवास सन्त

हृदयों में होता है। वहाँ उनकी शक्ति क्रियमाण रहती है। जैसे राजा की सत्ता व शक्ति राज्य भर में व्याप्त है, परन्तु राजमहल में उसका विशेष दर्शन होता है, जैसा अन्य क्षेत्रों में राज्य में नहीं होता। उसी प्रकार अनन्य शरणागत सन्त हृदयों में श्री भगवान् की सत्ता व महत्ता का चमत्कार अधिक प्रत्यक्ष होता है।

यहाँ सन्त जीवन की दिव्यता का परोक्ष संकेत है। सन्त हृदय में भगवान् का व्यापक कानून तो चलता है पर इसके अतिरिक्त उनका निजी आदेश भी चलता है, जैसे राजमहल में राजा का निजी आदेश चलता है। महर्षि अरविन्द ने भलीभाँति समझाया है कि निरभिमान निर्विकार समर्पित अन्त:करण के माध्यम से स्वयं भगवदीय सत्ता काम करती है। यह दिव्य शक्ति का अवतरण है। जिसके हृदय में त्रिगुणात्मिका माया और मायाकृत गुण दोषों आदि की समस्त खड़भड़ शान्त हो चुकी है, वह भगवान् के हाथ का यन्त्र बन चुका। अब उसका जीवन भगवान् की मुरली के समान है, उसमें जो स्वर भगवान् भरेंगे वही निनादित होगा। उसके हृदय में जयोध्या नगरी हैं, जिसके विरुद्ध किसी के युद्ध का प्रश्न नहीं होता और इस अयोध्या नगरी में ही राम राज्य स्थापित है, जहाँ राम की मर्जी से ही सब कुछ चलता है, मनमाना व्यवहार बिल्कुल नहीं होता।

यही राम जी की दुहाई फिरने का रहस्य है।

फिरी दोहाई राम की, गे कामादिक भाजि ।
तुलसी ज्यों रवि के उदय, तुरत जात तम लाजि ॥६१॥

गोस्वामी तुलसीदास जी कहते हैं कि जब हृदय में राम की दोहाई फिर गई तो कामादिक विकार भाग गए, जैसे सूर्य के उदय होते ही अन्धकार लज्जित (पराभूत, निवृत्त, विदा) हो जाता है ।

राम जी की दोहाई फिर गई अर्थात् राम प्रताप प्रकट हो गया ।

जब ते राम प्रताप खगेसा । उदित भयउ अति प्रबल दिनेसा ॥
पूरि प्रकास रहेउ तिहुँ लोका । उहुतेन्ह सुख बहुतेन्ह मन सोका ॥
जिन्हहिं सोक ते कहउँ बखानी । प्रथम अविद्या निशा नसानी ॥
अघ उलूक जहँ तहाँ लुकाने । काम क्रोध कँरव सकुचाने ॥
विथिध कर्म गुन काल सुभाऊ । ऐ चकोर सुख लहहिं न काऊ ॥
मत्सर मान मोह मद चोरा । इन कर हुनर न कवनिहुँ ओरा ॥
धरम तड़ाग ज्ञान विज्ञाना । ए पंकज विकसे विधि नाना ॥
सुख सन्तोष विराग विवेका । विगत सोक ए कोक अनेका ॥

यह प्रताप रवि जाके, उर जब करै प्रकास ।
पछिले बाढ़हिं प्रथम जे, कहे ते पावहिं नास ॥

(उत्तर काण्ड)

किसी कठोर शासक के सत्तारूढ़ हो जाने से जैसे चोर, ढाकू, तस्कर, दस्यु, अपराधी, अनाचारी आतंकित हो जाते हैं और इधर उधर भागकर गुप्त स्थानों में शरण ग्रहण करते हैं, वैसे ही श्री राम जी की दोहाई फिर जाने से, अन्त:करण में श्री राम राज्य की घोषणा हो जाने से काम क्रोधादि भाग गये। संगठित व शक्तिशाली अपराधी जन साधारण को आतंकित करते हैं, परन्तु राज्य सत्ता से सीधी टक्कर नहीं ले पाते, राज्य के अधिकारियों से बचते भागते हैं, उसी प्रकार हृदय में राम राज्य स्थापित होने पर काम क्रोंधाधि विकारों का उत्पात नहीं हो पाता। ये भाग जाते हैं।

यहाँ गुप्त रूप से कठोर राज्य में अपराध शमन का रूपक है। शान्त सन्त परम विनीत निरभिमान तथा दीन रहता है परन्तु उसका अन्त:करण विकारों के प्रति सहनशील नहीं है। उनके प्रति वहाँ कठोर शासन है, उन्हें भागना ही पड़ता है, ऐसा कि लौट न सकें। सद्गुणों की बाढ़ आ जाती है, 'प्रजा बाढ़ जिमि पाइ सुराजा। (किष्किन्धा काण्ड) परन्तु विकार क्षीण होते हैं।

'जस सुराज खल उद्यम गयऊ। (किष्किन्धा काण्ड)

बाइबिल व कुरान में मनुष्य के स्वर्ग से मर्त्य लोक में पतन की जो कथा है, उसका भी यही सार हैं कि विषयासक्ति पतन का कारण है। विषयासक्ति रहित समर्पित जीबन पुनुरुत्थान (आरोहण) का साधन है। विकार रहित शान्त जीवन में भगवान् का सामीप्य प्राप्त रहता है। उस सन्त को भनवत्प्राप्ति के लिए कालान्तर, जन्मान्तर, या लोकान्तर की राह नहीं देखनी पड़ती।

दोहे की दूसरी पक्ति में राम दोहाई फिर जाने को सूर्योदय के समान बताया है। विविड़ान्धकार की निवृति के लिए सूर्योदय पर्याप्त

है। रात्रि में अन्धकार का प्रताप दिखाई देता है परन्तु सूर्योदय होते ही अन्धकार तुरन्त और पूर्णतः निवृत्त हो जाता है मानो शरमा कर भाग गया हो। जैसे सूर्योदय मात्र से, किसी अन्य प्रयास या साधन के बिना ही अन्धकार की अत्यन्त निवृत्ति होती है, उसी प्रकार हृदय में राम की दोहाई फिर जाने से, राम प्रताप के प्रकट हो जाने से विकारों की अत्यन्त निवृत्ति होती है। फिर इस शान्ति पद में प्रतिष्ठित होने पर अन्य कोई साधन नहीं करना पड़ता, विकारों का प्रकोप पूर्णतः शान्त होता है, अखण्डानन्द विराजमान रहता है। राम प्रताप रूप सूर्य के उदय होने से मोहान्धकार मिट जाता है। मोह के रहते हृदय में अन्धकार रहता है—जीव हृदय तम मोह विशेषीं। (उत्तर काण्ड) राम दोहाई फिर जाने पर मोह समाप्त हो जाता है। ज्ञान का सवेरा होता है, तब हृदय ज्योति से आलोकित (विकसित) हो जाता है

ग्रन्थ के अन्त में इस सूर्योदय की उपमा का दिया जाता अत्यन्त रहस्यमय और सार गर्भित है। एकतो शास्त्रों में जहाँ तहाँ ज्ञान को प्रकाश रूप और मोह को तम रूप बताया है उसी महान विचार रत्न को ग्रन्थ के अन्त में जटित किया गया है।

श्री मद्‌भागवत में कपिल जी के उपदेश के अन्त में कहा है —

एवं निशम्य कपिलस्थ वचो जनित्री सा कर्दमस्य दयिताकि
किल देवहूतिः।

विस्रस्त मोह पटला तमभिप्रणम्य तुष्टाव तत्व विषयांकित सिद्ध-
भूमिम् ॥ ३. ३३. १.।

कपिल जी के उपदेश से मोह छिन्न भिन्न हो गया।

इसी प्रकार ग्यारहवें स्कन्ध में उद्धव जी के मोहान्धकार के दूर होने का उल्लेख है —

विद्रावितो मोह महान्धकारो य आश्रितो मे तव सन्निधानात् ।
विभावसो: किं नु समीपगस्य शीतं तमो भी: प्रभवन्त्यजाद्य ।।
(११. २९. ३७.)

महा मोह तम पुंज, जासु बचन रवि कर निकर ।। (बाल काण्ड)
जासु ज्ञान रवि भव निसि नासा । वचन किरन मुनि कमल विकासा ।।
(अमोघ्या काण्ड)

सुनु गिरिराज कुमारि भ्रम तम रवि कर वचन मम ।।
(बाल काण्ड)

जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा । तेहि किम कहिय विमोह प्रसंगा ।।
(बाल काण्ड)

वेद सार परम पवित्र गायत्री मन्त्र में भी सूर्योपासना है और बुद्धि के प्रेरक के रूप में ध्यान है ।

एक रहस्य और है. । सोता हुआ आदमी स्वप्न में व्यवहार करत हुआ अपने जागने का कुछ प्रबन्ध नहीं कर सकता, परन्तु सूर्योदय होने पर तो उसकी नींद खुल ही जाती है । भ्रम का कुहरा कितना ही गहरा हो सूर्य के ताप से, प्रताप से थोड़ी देर में छिन्न भिन्न हो ही जाता है, इसी प्रकार ज्ञान से मोंहान्धकार नष्ट होता है, ज्ञान सूर्यवत् है ।

यह मायामय संसार अद्भुत हैं, व्यवहार निष्ठ व्यक्ति को यह संसार सत्य जान पड़ता है और ईश्वर के अस्तित्त्व में भी सन्देह रहता हैं, परन्तु ब्रह्म के निज स्वरूप में जगद् भ्रम का कहीं पता नहीं चलता ।

जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे यथा सपन भ्रम जाई ।।
(बाल काण्ड)

राम सच्चिदानन्द दिनेसा। नहिं तहँ मोह निशा लवलेसा ।। ,, ,,
सहज प्रकाश रूप भगवाना। नहिं तहँ पुनि विज्ञान बिहाना ।। ,, ,,
धाम्ना स्वेन सदा निरस्त कुहकं, सत्यं परं धीमहि।
(श्री मद्भागवत १. १. १.)

संस्कृत में गुरु का अर्थ ही है – 'अन्धकार को दूर करने वाला।' गुरू गीता का वाक्य है —

अज्ञान तिमिरान्धस्य ज्ञानांजन शलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः ।।

अज्ञान के अन्धकार से जो अन्धा हो रहा था उसको ज्ञान रूप अंजन की सलाई लगाकर उसकी आँखें खोल देने वाले गुरु को नमस्कार है।

पूर्व छन्द संख्या २२ में कह आये हैं कि 'मोह अंध रवि वचन बहावै। अन्त में उपक्रम उपसंहार का तारतम्य मिला लेना ठीक रहेगा। इस ग्रन्थ के मंगला चरण (छन्द प्रथम) के बाद छन्द संख्या २ में ही श्री गोस्वामी जी कह आये हैं कि— करोड़ों उपाय करने से भी मोह तम नहीं मिटता, बिना रवि कुल रवि राम के उदय हुए हृदय कमल नहीं खिलता। वहाँ भी रवि के उदय से (मोह) तम का नाश कहा, यहाँ भी सूर्योदय से अन्धकार का पराभव बताया।

प्रवल वैराग्य का निरूपण, वैराग्य से शांति लाभ (ज्ञान प्राप्ति, ज्ञान के प्रकाश से मोह भ्रम विकारादि तम का नाश, भगवत् पद में

निमग्न समर्पित और निरभिमान जीवन इस ग्रंथ का चिरन्तन सन्देश है, यह उपक्रम व उपसंहार से भी स्पष्ट है ।

राम नाम के जपे जाय जिय की जरनि ।
कलियुग अपर उपाय ते अपाय भए,
जैसे तम नसिबे को चित्र के तरनि ।।

(वि० प०)

यह विराग संदीपनी, सुजन सुचित सुनि लेहु ।
अनुचित वचन विचारि कै, जस सुधारि तस हेतु ।।६२।।

सज्जन लोग इस वैराग्य संदीपनी को ध्यान पूर्वक सुन लें, इसमें यदि कोई अनुचित वचन उनके विचार से आ गया हो, तो वे उचित सुधार कर दें ।

इस अन्तिम दोहे में गोस्वामी तुलसी दास जी ने यह बताया है कि इस ग्रन्थ का सेवन कौन करे और किस भाँति करे, साथ ही अन्त में दीनता पूर्ण वाक्य के माध्यम से बड़ी ही कुलशता से सन्देश दिया है ।

सुजन सन्त लोग इसे सुनें । वे ही इसके अधिकारी हैं । राम चरित मानस में भी कहा है—

करउँ मनोहर मति अनुहारी । सुजन सुचित सुनि लेहुं सुधारी ।।

सन्त लोग इसे सुनें, उन्हीं को इसमें रुचि भी होगी । वे भी सुचित होकर सुनें अर्थात् समाहित चित्त से श्रवण मनन निदिध्यासन करें । इस ग्रन्थ का मर्म समझने के लिए सूक्ष्म विचार की आवशमकता है । सन्त जन भी सुचित होकर श्रवण करँगे तब गहराई में पहुँचेगे ।

शब्दार्थ तो सरल है, यद्यपि कहीं कहीं शब्दार्थ विषयक विवाद सम्भव है, परन्तु वैसा विवाद उपयोगी नही, व्यर्थ होगा । ग्रन्थ के विज्ञ

पाठकों को भावार्थ, लक्ष्यार्थ पकड़ना चाहिये। सुचित्त से श्रवण करना (या पाठ करना) इसलिए भी आवश्यक है कि यह ग्रन्थ अखिल ज्ञान का सार (पूर्व छन्द सं० ७) है। अखिल ज्ञान का ग्रहण सुचित्त से ही सम्भव है। शास्त्रों में सब ज्ञान भरा है, परन्तु हम लोग शास्त्र पढ़ पढ़ कर ज्ञानी नहीं हो पाते, क्योंकि प्रत्यक्ष ज्ञान (अनुभूति) का साधन चतुष्टय सम्पन्न व्यक्ति ही अधिकारी है, अन्य व्यक्ति उसे प्राप्त नहीं कर सकता। पुस्तक ज्ञान से वाचालता आ सकती है। फिर यह भी समझना चाहिए कि जहाँ व्यास शैली में अति विस्तृत विवेचन हो वहाँ समझने की अधिक सुगमता रहती है। जहाँ सार मात्र प्रस्तुत है सूत्र मात्र अंकित हैं, समास शैली अपनायी गयी है, वहाँ सम्यक् अर्थ ग्रहण के लिए बहुत अधिक एकाग्रता और सूक्ष्म विचार की आवश्यकता होती है। जहाँ गागर में सागर भरा है, जैसे इस ग्रन्थ में, 'अर्थ अमित अति आखर थोरे (अयोध्या काण्ड) वहाँ सुचित ही एकाग्रता पूर्वक स्वाध्याय करने पर सम्यक अर्थ ग्रहण कर सकता हैं। अतः सुजन को भी सुचित होकर श्रवण करने का आवाहन है।

श्री गोस्वामी जी सन्त वाणी का माहात्म्य पहले कह ही चुके हैं (पूर्व छन्द २०)। सन्त की वाणी अनुभव का सुख उत्पन्न करती है, जगत् भ्रम को तो मानो उठाकर अलग रख देती है, सहज ही निवृत्त करती है। यदि हृदय में जम जाय, गड़ जाय, भिद जाय। इस ग्रन्थ में भी सन्त वाणी है वह वैराग्य को संदीप्त करने में पूर्णतः समर्थ है, ब्रह्मानुभूति करा देने वाली, मोह भ्रम को दूर करने वाली है। परन्तु दस मिनट में इस ग्रन्थ को मात्र पढ़ लेने का यह प्रभाव नहीं है। जब सन्त जन, सुचित (शुद्ध मन से, श्रद्धा, विश्वास, एकाग्रता पुर्वक, समाहित चित्त होकर श्रवण करेंगे तभी इस वाणी का आलौकिक प्रभाव प्रत्यक्ष होगा।

शास्त्र निरूपण के समय उत्तम अधिकारी वक्ता व श्रोंता के लिए सुखासीन, स्वस्थ, समाहित, शान्त, प्रसन्न होना, आवश्यक है। ज्ञानी भी व्यवहार में अन्त:करण की वृत्तियों व इन्द्रियों के माध्यम से सक्रिय होता है अथवा शास्त्र निरूपण के समय श्रमित, क्षुधित क्षुभित या कुपित होना ठीक नहीं है। विवेकी श्रोतागण परिस्थिति व सुपास देखकर प्रश्न करते हैं, प्रश्न कर्ता में केवल जिज्ञासा न हो, श्रद्धा सेवाभाव हो।

श्री राम चरित मानस में जब श्री भरद्वाज ने याज्ञवल्क्य मुनि से प्रश्न किया तो सेवा पहले की—

जागबलिक पुनि परम विवेकी। भरद्वाज राखे पद टेकी।।
सादर चरण सरोज पखारे। अति पुनीत आसन बैठारे।।
करि पूजा मुनि सुजस वखानी। बोले अति पुनीत मृदुबानी।।
(बाल काण्ड)

इसी प्रकार पार्वती जी ने जब शंकर जी से कथा सुननी चाही तो भी देशकाल अवसर की अनुकूलता देखकर प्रश्न किये —

बैठे सोह काम रिपु कैसे। धरे सरींर शान्त रस जैसे।।
पारवती भल अवसर जानी। गईं शंभु पहिं मातु भवानी।।
(बाल काण्ड)

गरुड़ जी काकभुशुण्डि जी के पास पहुंचे तो वे सुखासीन थे, कथा आरम्भ करने ही वाले थे —

कथा आरम्भ करै सोइ चाहा। तेही समय गएउ खगनाहा।।
फिर गरुड़ जी ने समुचित शब्दों में कथा के लिए प्रार्थना की–
सुनत गरुड़ कै गिरा विनीता। सरल सप्रेम सुखद सुपुनीता।।
भयउ जासु मन परम उछाहा। लाग कहै रघुपति गुनगाहा।।
(उत्तर काण्ड)

श्री लक्ष्मण जी ने श्री राम चन्द्र जी से विधिपूर्वक तात्विक प्रश्न किये।

एक बार प्रभु सुख आसीना । लछिमन वचन कहे छल हीना ।।
(अरण्य काण्ड)

इसी प्रकार शास्त्रों में और भी विपुल उदाहरण मिलते हैं। तत्त्व निरूपण तभी अच्छा चलता है जव वक्ता श्रोता समाहित हों।

प्रशान्तमासीनमकुण्डमेधस, मुनिं नृपो भगवतोऽभ्युपेत्य
प्रणम्य मुर्ध्नावहित: कृतञ्जलिर्नत्वा गिरा सूनृतयान्व पृच्छत्
(श्रीमद्भागवत १. १९. ३१.)

देखिये परीक्षित जी ने श्री शुकदेव मुनि से कैसे प्रश्न किया —

प्रशास्तमासीनमकुण्ठमेधसं, मुनिं नृयो भागवतोऽभ्युदत्वा ।
प्रणम्य मूर्ध्नावहित: कृताञ्जलि नत्वा गिरा सूनृतयान्वपृच्छत् ।।
(श्रीमद्भागबत १. १९. ३१)

श्री शुकदेव मुनि प्रशान्त बैठे थे उस समय प्रणाम करके विनयपूर्वक प्रश्न प्रस्तुत किया गया।

इसी प्रकार विदुर जी ने भी मैत्रेय जी से प्रश्न किया–
द्वारिद्युनद्या ऋषभ: करूणां मैत्रेयमासीन मगाध वोधं ।
क्षत्तोपसृत्याच्युत भाव शुद्धं प्रप्रच्छ सौशील्य गुणाभितृप्त: ।।
(श्री मद्भागवत ३. ५. १.)

श्री विदेह जी ने ऋषीश्वरों से भगवद्धर्म पूछे तो कहा कि यदि आप मुझे इस योग्य समझें कि मै इन्हें सुनूँ तो भागवत धर्मों का उपदेश करें। (श्री मद्भागवत ११. २. ३१.)

यदि श्रोता उपदेश का श्रवण करके समझने व धारण करने की स्थिति में न हो तो विवेकी वक्ता उपदेश नहीं करते जैसे शकर जी ने कहा है–

ताते उमा न मैं समुझावा । रघुपति कृपा मरम सब पावा ।
(उत्तर काण्ड)

यदि कोई व्यग्र है, शंसय शील है, श्रद्धालु नहीं है या वहस करके अपनी विद्वता प्रदर्शित करने या वक्ता को नीचा दिखाने के लिए प्रश्न करता है तो वह तत्त्व ग्रहण के अयोग्य है। वह सुचित से सुनने की स्थिति में नहीं है। शास्त्र की मर्यादा है कि — नापृच्छतः क्वचिद् ब्रूयान् न चान्यायेन पृच्छतः। [मनु] बिना पूछे कुछ न कहे, अन्याय पूर्वक पूछने पर भी न कहे। श्री गोस्वामी जी ने सुजनों द्वारा सुचित होकर श्रवण किये जाने का आह्वान किया है। दोहे का उत्तरार्द्ध उसी सन्दर्भ में ग्रहणीय हैं।

यह वैराग्य संदीपनी है। वैराग्य को जगाना, बढ़ाना, संदीप्त करना इसका प्रयोजन है। 'इहाँ न विषय कथा रस नाना बालकाण्ड।

तेहि कारण आवत हिय हारे। कामी काक बलाक बिचारे ।।
(बाल काण्ड)

विषयी लोगों के लिऐ यह ग्रम्थ नीरस है, तस्मात् सर्वविदित और सुप्रचलित भी नहीं है। जो वैराग्य राग रसिक हो उसके लिए यह ग्रन्थ अनुकूल हैं, वह इसके सहारे अपने वैराग्य को तीव्र और दृढ़ कर सकता है। जो विषय सुखों में ही आसक्ति और आस्था रखता हैं उसे इसमें रुचि न होगी। दोहावली जी में कहा है कि – जग ते तुहु छत्तीस (३६) ह्वै राम चरन छत्तीन (६३)। जिसे यह मार्ग अभीष्ट है जो विषय विमुख भगगत्सन्मुख रहना चाहता है, वह सन्त इसका श्रवण करे और वह भी इस प्रयोजन से कि वैराग्य तीव्र और दृढ़ हों, मोह भ्रम नष्ट हो, ज्ञान प्राप्त हो, शान्ति पद में लीनता हो, हृदय में राम की दुहाई फिरे, निर्विकार चित्त, समर्पित जीवन अनन्य भक्ति हो। इसो प्रयोजन से, श्रद्धा

पूरित हृदय से, पूरी एकाग्रता से, सच्ची साधना के रूप में, सम्यक् विचार और मनन पूर्वक श्रवण ही, सुचित होकर श्रवण है, जिसका आह्वान किया गया है ।

जिसका वैराग्य जागा नहीं, ताव्र और दृढ़ नहीं हुआ, उसके द्वारा यदि इस ग्रन्थ का सेवन (श्रवण, पठन, पाठन, स्वाध्याय, अनुसन्धान) हुआ भी है तो वह सार्थक नहीं कहा जा सकता । इसलिए वह सुजन दारा सुचित से श्रवण सिद्ध नहीं होगा ।

'सुचित' में अहंकार का अभाव भी जाता है । जब सन्त सुचित होकर श्रवण करेगा तो छिद्रान्वेशी बुद्धि उसमें होगी नहीं । वह इसमें श्रम करके समय नष्ट नहीं करेगा । कि शायद वह भाषा, व्याकरण, छन्द, अलंकार की कोई त्रुटि निकाल सके । सन्त सार ग्राही होते हैं । वे छोटे और बड़े शास्त्र ग्रन्थो से सार मात्र ग्रहण कर लेते हैं, अन्य बातों की परवाह नहीं करते ।

अणुभ्यश्च महद्भ्यश्च शास्त्रेभ्यो कुशयो नरः ।
सर्वत्र सारमादद्यात् पुष्पेभ्य इव षट्पदः ।।
(श्री मद्भागवत ११. ८. १०.)

सन्त परमार्थ सिद्धान्त तत्व निरुपण, भगवन्महिमा, पर हीं ध्यान देंगे रस, अलंकार, छन्द, शैली, भाषा, आदि पर नहीं ।

सब गुन रहित कुकवि कृत बानी । राम नाम जस अंकित जानी ।।
सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही । मधुकर सरसि सन्त गुन ग्राही ।।
(बाल काण्ड)

श्री मद्भागवत में भी सन्तों की ऐसी ही वृत्ति बताई गई है ।
न यद्वचश्चित्रपदं हरेर्यशो जगत्तपवित्र प्रगृणीत कर्हिचित् ।

तद्वायसं तीर्थमुशन्ति मानसा न यत्र हंसा निरमन्त्युशिक्षया ।।
तद्वाग्विसर्गो जनताघ विप्लवो यस्मिन प्रतिश्लोकमबद्धवत्यपि ।
नामान्यनन्तस्य यशोऽङ्कितानि यच्छृण्वन्यि गायन्ति गृणन्ति-
साधव: ।। (श्री मद्‌भागवत १.५. १०-१)

जैसे राम चरित मानस में ‘सुजन सुचित युनि लेहु सुधारी’ (बाल कांड) कहा वैसे ही यहाँ अन्तिम कथन है, ‘अनुचित वचन विचारि कै, जस सुधारि तस देहु ।’ यह श्री गोस्वामी जी का दैन्य वाक्य है, परन्तु उपेक्षणीय कदापि नहीं हैं । स्मरणीय है कि परमार्थ निरूपण सदैव निरभिमान भाव से ही होना चाहिये । न वक्ता अभिमान युक्त होना चाहिये न श्रोता । शास्त्र निरूपण या तत्त्व तिरूपण यथावत् होना चाहिये, तत्व निष्ठ होना चाहिये, व्यक्ति निष्ठ नहीं । आज कल शोध ग्रन्थों में बताना पड़ता है कि लेखक की अपनी मौलिक देन क्या है । परन्तु शास्त्रकार यथासंभव अपना व्यक्तित्व लुप्त रखते थे । दर्पण का गौरव यह हैं कि बिम्ब के अनुसार ही ठीक ठीक प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करे । दर्पण के कारण प्रतिबिम्ब में अन्तर न पड़े । शास्त्रकार पारमार्थिक सत्य को प्रतिबिम्बित करता है, उसके अपने व्यक्तित्व की छाप उस पर न पड़ने देना ही उसका गौरव हैं । सत्य अर्थं प्रकाशित करना ऋषि का गौरव है, निज रुचि के अनुसार सिद्धि और असिद्धि करना नहीं । यह कहा जा सकता है कि शास्त्रकारों के भेद से निरूपण भिन्न भिन्न होते ही हैं, परन्तु यह सब उसी प्रकार है जैसे विभिन्न न्यायालयों द्वारा विधि के प्राविधानों का अर्थ करण एक सा नहीं होता । योग्य से योग्य श्रेष्ठतम न्यायाधीश का अर्थ करण इसलिए मान्य है कि वह प्राविधान का शुद्धतम् प्रामाणिक अर्थं हैं । उसमें न्यायाधीश की रुचि या व्यक्तिगत विचारधारा का प्रभाव मान्य नहीं है । यही हाल शास्त्रानुकूल ग्रन्थ प्रणेता का है, वह स्वतन्त्र प्रणेता नहीं है, शास्त्र के सही अर्थं का प्रकाशक हैं ।

विचार अपौरुषेय है। उस पर किसी का स्वामित्व नहीं। ऋषि गण मन्त्रों के दृष्टा माने गये, सृष्टा या स्वामी नहीं। अतः विचार के शोध या समर्पण का श्रेय ऋषि को हैं, होगा व रहेगा, परन्तु कोई विचार किसी की सम्पत्ति नहीं है। पण्डितों, प्रचारकों, आचार्यों. सन्तों दारा स्वाध्याय व शोध का कार्यं बराबर चलता रहता है, परन्तु कोई भी कभी यह न कहे कि उसका विचार अन्तिम है, उसमें अब शोध की सम्भावना नहीं रह गई है। जैसे उसने पूर्ववर्ती विचार को अन्तिम नहीं माना, वैसे ही उसके दारा प्रतिपादित विचार भी अन्तिम मान्य नहीं, मनन संशोधन का अवसर है और रहेगा। अतः यह कथन कि सुज
सुचित से सुन करके सुधार कर सकते हैं, किसी भी ग्रन्थ की उत्तम
उपादेयता या प्रामाणिकता को कुछ भी कम नहीं कर सकता। उल्टे इ
लेखक की दीनता की वृत्ति के अतिरिक्त निष्पक्षता, उदारता, व अन
वृत्ति सिद्ध होती है।

श्री भर्तृहरि जी ने नींति शतक में लिखा है कि जब मैं कुछ
जानता था तब मुझे सर्वज्ञता का अभिमान था, जब ज्ञानी जनों के
बैंठ बेंठ कर कुछ कुछ जाना तो पता चला कि मैं कुछ नहीं जान
महत्मा सुकरात्त का यह कथन प्रसिद्ध है 'मैं एक ही बात जानता हूँ
में कुछ नहीं जानता।' ज्ञान के प्रगाढ़ व तेजस्वी होने से अभिमान गलित होता हैं तब यह वृत्ति भी नहीं रहती कि मैं ही ठीक कहता हूँ शेष सब ग़लत कहते हैं। श्री गोस्वामी जी जो कुछ लिखते हैं वह भग़वत्कृपा से भगवत्सेवार्थ ही है और साधु समाज को समर्पित है। श्री राम चरित मानस में वरदान माँगा गया है —

होहु प्रसन्न देहु वरदानू। साधु समाज भणित सनमानू।।
(बाल काण्ड)

श्री गोस्वामी जी महाराज जिस समाज की सम्मति का आदर करते हैं वह साधु समाज हैं। वह पण्डित, प्रचारक, प्रोफेसर, शास्त्रार्थी, विवादी, आलोचक, गर्वान्वित, गौरवान्वित या सिद्ध समाज में अपनी कृति का आदर पाने के लिए उत्सुक नहीं है महत्वाकांक्षा से सर्वथा रहित है। वस्तुत: महत्वाकांक्षी व्यक्ति तत्व निरूपण का अधिकार भी नहीं रखता।

श्री गोस्वामी जी ने जो यह कहा है कोई अनुचित वचन हो तो उसका सुधार कर लिया जाय वह साधु समाज के प्रति कहा है। साधु-समाज यदि सर्वानुमति से किसी वचन को अनुचित पाए तो संशोधन कर ले, इसमें कवि को कोई आपत्ति नहीं है। कोई आलोचक जैसा चाहे ग्रंथ में फेर बदल कर दे, यह गोस्वामी जी का मन्तव्य नहीं है।

सच्चे साधु दोष दर्शी नहीं होते, वे यथासम्भव विचार और मनन के द्वारा सामञ्जस्य पूर्ण, समन्वित अर्थ ही करेंगे। तथापि यदि कोई बात उनकी विवेकपूर्ण दृष्टि में शास्त्र के प्रतिकूल हो तो वे उसे मानने के लिए विवश नहीं हैं। उसे अवश्य संसोधित किया जाय।

ज्यों बालक कह तोतरि बाता। सुनहिं मुदित मन पितु अरु माता।।
(बाल काण्ड)

जैसे माता पिता बालक की तोतली वाणी को प्रेम से, प्रसन्नता से, सुनते हैं, बच्चारण सम्बन्धी त्रुटियों का विचार नहीं करते, उनकी उपेक्षा करके भाव ग्रहण करके प्रसन्न होते हैं, वैसे ही साधुजन भाव ग्राही होते है, वे सार ग्रहण करते हैं, प्रासगिक त्रुटियों को महत्व नहीं देते हैं।

श्री गोस्वामी जी परम विनीत हैं, दास भाव रखते हैं, अपने को दासानुदास की भूमिका में रखते हैं।

नाम लै भरै उदर एक, प्रभु दासी दास कहाइ । वि० प० ।

प्रभु दासी 'तुलसी' उसके दास 'तुलसीदास कहलाते हैं, अतः आप यह नहीं मानते कि आप साधु-समाज को उपदेश देने की स्थिति में हैं। जैसे छोटे विद्यार्थी अपना पढ़ा हुआ पाठ गुरुजनों को सुनाते हैं, उसी विनीत भाव से आप अपना तत्व सम्बन्धी कथन साधु समाज के समक्ष प्रस्तुत करते हैं; अतः संशोधन की सम्भावना को स्वीकार करते हैं।

श्री राम जी ने भी जब प्रजा को उपदेश किया तो सत्ता, अधिकार प्रभुता आदि के भावों से नितान्त अलग रहकर बोले।

नहिं अनीति नहि कछु प्रभुताई। सुनहु करहु जो तुमहिं सोहाई ।।
जो अनीति कछु भाषौं भाई। तौ मोहिं बरजेहु भय बिसराई ।।
(उत्तर काण्ड)

जब इष्ट देव की यह विनयपूर्णता और ऐसा शील है तो फिर अनन्य भक्त का क्यों न हो ?

श्री कृष्ण ने भी गीता में कहा है– विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु। (१८. ६३.) इस सब पर पूरा विचार करके जैसा चाहो करो।

सम्प्रदायिक या संकीर्ण दृष्टि से इस ग्रंथ की आलोचना सरल हैं, परन्तु वह व्यर्थ है, क्योंकि वह साधु समाज सम्मत नहीं हो सकती। तत्व मिरूपण में श्री गोस्वामी जी की दृष्टि सर्व भौमिक हैं, साम्प्रदायिक नहीं। वैसी ही विशाल ओर उदार दृष्टि से इस ग्रंथ का मर्म जाना जा सकता है। साम्प्रदायिक दृष्टि से लिखा हुआ साहित्य उत्कृष्ट होने पर भी प्रायः सम्प्रदाय तक सीमित रह जाता है।

सुधार लेने की वात में सत्य निष्ठा रखते हुए भी, विनयपूर्ण शब्दों में गहन अध्ययन, मनन जादि की प्रेरणा निहित है। क्योंकि सन्त वृत्ति से सावधान होकर समुचित श्रवण मनन पूर्वं शर्त के रूप में अंकित है।

पहले श्री वैराग्य संदीपनी को अखिल ज्ञान का सार (पूर्व छन्द ७) बताया और अब सुजन जन को सुचित श्रवण के लिए आहूत किया। इसी में यह प्रेरणा छिपी है कि इस छोटे से ग्रन्थ में अखिल ज्ञान का सार कैसे आ गया, इसका पता लगाया जाय। श्री राम चरित मानस महाकाव्य में व्यास (विस्तृत) और समास (संक्षिप्त) दोनों शैलियों से निरूपण हुआ है। उसके आदि में कहा कि--

नाना पुराण निगमागम सम्मतं यद्रामायणे निगदितं क्वचिदण्यतोऽपि। (बाल काण्ड)

परन्तु यहाँ इस छोटे से ग्रंथ में ही वेद पुराण मत, पूर्ण शास्त्र विचार और अखिल ज्ञान का सार प्रस्तुत होने का दावा किया गया। अब यदि किसी को भी यह देखना हो कि अखिल ज्ञान का सार यहां कैसे माना गया तो उसे अखिल ज्ञान का विचार करना होगा। और इस पर भी कि वह सार रूप से यहाँ ग्रथित है या नहीं। यह काम विद्वान् सन्त जन ही सम्यक् स्वाध्याय के बाद कर सकते हैं। यदि उनमें ऐसी जिज्ञासा जाग्रत हुई और उन्होंते श्रवन मनन को अपनाया तो इसमें नहीं कि वैराग्य जागृत होगा या दृढ़ होगा। इससे श्री वैराग्य संदीपनी का प्रयोजन सिद्ध होगा। वैराग्य से शुद्ध अन्त:करण में शांति विराजमान् होगी और राम राज्य की दुहाई फिरेगी। तब तो अखिल ज्ञान का सार स्पष्ट लक्षित होगा।

अभिमानी उपदेशक को सुनकर प्रतिकूल प्रक्रिया सहज है। परन्तु जो विनय पूर्वक सद्विचार पूर्ण निबेदन प्रस्तुत करता है और अपनी गलती जानने और मानने को उत्सुक है उसका विचार सहज ही लोकप्रिय हो सकता है।

'सबहिं मान प्रद आपु अमानी। (उत्तर काण्ड) ऐसे सन्त भगवान् को प्राणप्रिय हैं इसलिए भी विवेकी वक्ता श्रोता का आदर करते हुए प्रवचन करते हैं। वे मानते हैं कि शास्त्र तो सही हैं ही यदि कोई त्रुटि होती उसका उत्तरदायित्व उनका है न कि शास्त्र का। इसलिए सन्तों ने जहाँ तहाँ 'मति अनुसार कहने की बात अकित की हैं। श्रीमद्भागवत की कथा के विषय में श्री सूत जी ने स्वय कहा है :–

सोहं व: श्रावयिष्यामि यथाधीतं यथा मति: ।
(श्री मद्भागवत १. ३. ४५.)

वह कथा मै आपको सुनाऊँगा, जैसा कुछ मैने पढ़ा है, जैसी भी मेरी बुद्धि है (उसके अनुसार)।

तत्व निरूपण में 'इदमित्थं, (यही है इतना ही है) नहीं कहा जा सकता। इसलिए भी दर्पाभिमान रहित विनय पूर्ण कथन ही विहित है। तस्मात् उसी साधु मर्यादा का पालन करते हुए श्री गोस्वामी जी ने ग्रन्थ का समापन किया हैं।

यहाँ यह देख लेना भी अच्छा होगा कि न केवल शास्त्रकार बल्कि महान भाष्यकार भी भारतीय सस्कृति की स्वस्थ परम्परा के अनुसार विनय पूर्ण कथन के अग्रणी रहे हैं। श्री नद्भागवत के महान टीकाकार श्री धर स्वामी जी ने अपनी बुद्धि को भगवच्चरित्र के अनुशीलन में सक्षम नहीं माना–

क्व तत्र परमाणुर्वं यत्र मज्जति मन्दरः ।

जहाँ मन्दराचल डूब जाता है, वहाँ परमाणु की क्या हस्ती है ?

श्री लोकमान्य तिलक जी का कर्मयोग रहस्य श्री गीता जी पर बहुत ही अनोखा विद्वत्ता पूर्ण भाष्य है, परन्तु उसमें उन्होंने लिखा—

सन्तों की उच्छिष्ट उक्ति है मेरी बानी ।
जानूँ उसका भेद भला क्या मैं अज्ञानीं ।।

जहाँ परम पूज्य ऋषियों की यह भूमिका है और महान् भाष्यकारों की यह लिनय शीलता है, किसी सधारण जन के भाष्यकार के रूप में प्रवृत्त होने का तो प्रश्न ही नहीं उठता, परन्तु श्री भगवान् 'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थ : हैं । 'मूकं करोति वाचालं, वे मूक को भो वाचाख कर सकते हैं, इसी प्रकार सन्तों की कृपा न्ने भी आशातीत कार्य होते देखे गये हैं, जैसे सन्त ज्ञानेश्वर की शक्ति से भैंस के पड़वे के दारा वेदोच्चार । अत: किसी अयोग्य द्वारा भी महत्प्रयास हुआ प्रतीत हो तो सन्त भगवन्त की कृपा से सम्पादित समझना चाहिये । सारा श्रेय भगवान् को हीं है । और किसी को नहीं । 'सन्त भगवन्त अन्तर निरन्तर नहीं । (वि० प०) तथा नाम प्रसाद सही जो कहै कोउ शिला सरोहर जामो । (वि० प०) श्री नरसी मेहता जी ने भगवान् के आशीर्वाद व आज्ञा से भक्तिपूर्ण हजारों पद गाए और गुजराती साहित्य में अप्रतिम स्थान प्राप्त किया ।

श्री गोस्वामी जी महाराज भगवान् के अनुपम कृपापात्र हैं, अत: आपके द्वरा सर्व गुण सम्पन्न आदर्श निरूपण होना सहज और स्वाभाविक है । यदि कोई सदाशय पूर्वक संशोधनार्थं भी इस ग्रन्थ के अध्ययन

में प्रवृत्त होगा तो स्वयं उसके अन्तःकरण का संशोधन होने लगेगा। ऐसा अनुपम यह प्रस्तुतीकरण है।

जय जय सीताराम की, जय लक्ष्मण बलवान।
भक्तन माल गुमेरु जय, तुलसीदास महान।।

---:0:---

स्कैन/Scanned